ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

महाविज्ञान या ब्रह्म-विद्या

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीता

(अमृतवर्षिणी टीका सहित)

तृतीय भाग

अमृतसरिया राम भणोत
(साहलों १४४२१)

मिलने का पता :—

राज पब्लिशर्ज़ (रजि०)

अड्डा होशियारपुर, जालन्धर

प्रथम संस्करण, 1976

मूल्य : रु० 16·00

अमृतसरिया राम भणोत, साहलों, जिला जालन्धर (पंजाब) द्वारा प्रकाशित
तथा श्री सोहन लाल खन्ना, प्रो० स्वैन प्रिंटिंग प्रैस, जंड्डा टांडा,
जालन्धर शहर—१४४००१ द्वारा मुद्रित

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

ॐ इतः पूर्णं ततः पूर्णं पूर्णात्पूर्णं परात्परम् ।
पूर्णानन्दं प्रपद्येऽहं श्रीपरब्रह्मणे नमः ॥

अर्थ—(ॐ) परब्रह्म परमात्मा (इतः पूर्णं) अब यहाँ भी सब प्रकार से पूर्ण हैं। (ततः पूर्णं) इसके अनन्तर फिर भी सदैव पूर्ण रहेंगे तथा पहले भी सदैव पूर्ण थे। (**परात्परं पूर्णात्पूर्णं**) उस सब से पर, पूर्ण परब्रह्म परमात्मा से ही (पूर्णं) इस पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है। उसके बाद अन्त में यह जगत् पुनः उस पूर्ण परब्रह्म परमात्मा में लोप हो जाएगा। (अहं पूर्णानन्दं प्रपद्ये) मैं पूर्णानन्द परब्रह्म परमात्मा की शरण को प्राप्त होता हूँ। (श्री परब्रह्मणे नमः) श्री परब्रह्म परमात्मा के लिए मेरा बार-बार नमस्कार है ॥

नम्र निवेदन

☞ अमृतवर्षिणी गीता का दूसरा भाग प्रकाशित होने के अनन्तर मुझे आशा न थी कि मैं इसके तीसरे और चौथे भागों को प्रकाशित करवाने के लिए समर्थ हो सकूँगा। क्योंकि मेरे पास कोई पैसा नहीं था और न ही कहीं से धन प्राप्ति की आशा थी। पहले दोनों भागों को छापने वाले मुझ से इतना धन लेना चाहते थे जो मैं उनको किसी तरह भी दे न सकता था परिस्थिति बहुत विकट थी। मैंने उनको दोनों पुस्तकों के छापने और बेचने का पूर्णाधिकार देने की पेशकश भी की थी परन्तु उन्होंने इस बात को भी स्वीकार न किया। गोरख पुर, बरेली और बम्बई के प्रैसों में भी प्रयत्न किया गया। परन्तु सब ने धनाभाव का बहाना करके मुझे टाल दिया। अन्त में मैंने इंगलैण्ड की यात्रा करने का विचार किया। जिसकी आज्ञा मुझे सहज ही मिल गई। जिसके लिए मैं दिल्ली में स्थित ब्रिटिश हाई कमिश्नर और उसके सहयोगियों का अत्यन्त आभारी हूँ। मैंने अपनी कृतज्ञता प्रदर्शनार्थ अपनी पुस्तक अमृतवर्षिणी गीता के पहले दोनों भाग प्रेमपूर्वक उनकी लाईब्रेरी के लिए उपहार स्वरूप भेंट कर दिए जो उन्होंने सादर सहर्ष स्वीकार कर लिए। मैं 14 सितम्बर 1975 से लेकर 14 मार्च 1976 तक पूरे छः मास इंगलैण्ड में रहा पूरे देश का भ्रमण किया घूम फिर कर लण्डन, साउथैम्पटन, ग्रैवजण्ड रैडिंग, आक्सफोर्ड, विरमिंघम, नौटिंघम, डर्बी लफब्रो, लिस्टर, ब्रैडफोर्ड, लौंगईटन, साऊथ हाल, हेज और हाई वैकम आदि अनेक नगरों को देखा और हजारों लोगों से मिला, स्थान-स्थान पर बीसियों जलसों में भाषण किए और कई बार बी० बी० सी० लण्डन रेडियो पर बोला। जो कुछ मैंने वहाँ पर देखा और

जो कुछ मैंने वहाँ पर अनुभव किया वह तो एक लम्बी कहानी है। जो "मेरी इंगलैण्ड यात्रा" नामक एक उर्दू पुस्तक मे प्रकाशित होगी यहाँ तो कहने का केवल इतना ही अभिप्राय: है कि वहाँ पर रहने वाले मेरे बन्धु वर्ग और इष्ट मित्रों ने मुझे इतना धन दे दिया है जिससे उसके धन्यवाद पूर्वक अब पुस्तक का यह तीसरा भाग छप कर आपके कर-कमलों में सुशोभित हो रहा है और चौथा और अन्तिम भाग प्रैस में छप रहा है आशा है शीघ्र ही आपका प्रेम प्राप्त करने के लिए छप कर तैयार हो जाएगा।

सारी पुस्तक का प्रूफ़ संशोधन मैंने स्वयं किया है परन्तु फिर भी दृष्टि-दोष और अक्षरों की लग-मात्राओं के टूट जाने से कतिपय अशुद्धियाँ रह गई हैं इसलिए शुद्धि-पत्र पुस्तक के अन्त में लगा दिया गया है कृपया आप पाठक-वृन्द उन्हें यथा स्थान शुद्ध करके पढ़ें दूसरी आवृत्ति में उन सब अशुद्धियों को ठीक कर दिया जाएगा।

मैं उन सब इगलैंड निवासी बन्धु वर्ग और इष्ट मित्रों का आभारी हूँ जिनके सौजन्य और धन की सहायता से मैं गीता-प्रकाशन कार्य में सफल हुआ हूँ। भगवान् इस शुभ कार्य और सहयोग करने का शुभ फल उन सबको शीघ्र प्रदान करे।

मैं आकाशवाणी दिल्ली का बहुत धन्यवाद करता हूँ जिसने अपने जालन्धर रेडियो स्टेशन से 18-4-75 और 3-7-76 को पहले दोनों भागों की समालोचनाएँ ब्राडकास्ट करके अमृतवर्षिणी गीता की प्रत्येक घर में जानकारी करा दी है।

राज पब्लिशर्ज़ और स्वैन प्रैस जालन्धर के स्वामी श्रीमान् लाला सोहन लाल खन्ना जी तथा उनके दोनों सुपुत्रों एवं इस फर्म के सारे कर्मचारियों का मैं अति आभारी हूँ जिनके प्यार और अनथक परिश्रम और सौजन्य से यह पुस्तक सुचारु रूप में छप कर आप सब के नयनानन्द और हृदय हर्ष का कारण बन रही है। लेखक इन सब के लिए सुख, शान्ति और कल्याण का आशीर्वाद देता है और यह तीसरा पुष्प भी पहले दो भागों की भान्ति परब्रह्म-परमेश्वर के अर्पण करता हुआ कहता है—हे गोविन्द! तेरी वस्तु सादर तेरे ही अर्पण है।

अमृतसरिया राम भणोत
साहलों, पंजाब
बुधवार
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी भाद्रपद, २०३३
ता० १८-८-७६

विषय-सूची एवं अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

गीता संसार में एक अद्वितीय ग्रन्थ है जो आकार में तो छोटा है परन्तु उपकार में बहुत महान् है। एक प्रसिद्ध दोहे में यदि थोड़ा सा परिवर्तन करके यों लिखा जाए—"गीता के प्रवचन सभी ज्यों नावक के तीर। देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर।" तो गीता के श्लोकों पर यह सूक्ति पूर्णतया ठीक लागू होती है कारण यह है कि इसके प्रत्येक श्लोक में अमृत-रस भरा हुआ है। जिसे श्रद्धापूर्वक पढ़ने से हृदय में सुख का संचार होता है और उसके अनुसार आचरण करने से मोक्ष का द्वार खुलता है। जिसमें प्रविष्ट होने पर जीवात्मा का परब्रह्म परमात्मा में मिल जाना सम्भव होता है जो कि इस जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। क्योंकि मोक्ष प्राप्ति से सदा के लिए जन्म धारण करने से छुटकारा मिलता है। जन्म लेने पर अनेक दुःखों का सामना करना पड़ता है जिनमें से चार बहुत बड़े हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—जन्म, मरण, जरा, और व्याधि। कम से कम इन चारों में दुःख-दोषों का बार-बार चिन्तन करना चाहिए जैसा कि भगवान् ने स्वयं कहा है 'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥ (गी० १३।८॥) ताकि इन से छूटने और मोक्ष प्राप्त करने का उपाय किया जा सके। गीता उन सब उपायों का मार्गदर्शन कराती है जो इन उक्त चारों महा कष्टों से छुड़ाने वाले और नित्य शान्ति या मोक्ष के प्राप्त कराने वाले हैं उन को भली भान्ति दर्शाने और समझाने के लिए ही इस महाविज्ञान या ब्रह्म विद्या अर्थात् श्री गीता सहित अमृतवर्षिणी टीका का धराधाम पर प्रादुर्भाव हुआ है ठीक इसी तरह जैसे नारायण और नर ने कृष्ण और अर्जुन के रूप में अवतार धारण किया था।

आंगलदेश प्रवास के समय जब लेखक को बहुत सी सभा सोसाइटियों में गीता सन्देश पर भाषण देने पड़े थे तो उसे इस बात का भली भान्ति अनुभव हुआ था कि हमारे देश के कतिपय युवक और युवतियां भ्रम मूलक तथा किसी विशेष उद्देश्य से लिखी हुई पुस्तकों को पढ़ कर उद्भ्रान्त और गुमराह हो गए हैं। जिस से भाषणों के अन्त में उन गुमराह युवकों द्वारा बहुत से ऐसे प्रश्न किए जाते थे। जो विज्ञ युवकों द्वारा किए जाने सम्भव न थे। बानगी-मात्रार्थ उन में से कुछ प्रश्नों का यहाँ उल्लेख किया जाता है १—महाभारत का

युद्ध तो एक काल्पनिक युद्ध है जो कभी हुआ ही नहीं । २—कृष्ण ने अर्जुन को गीता का कभी कोई उपदेश नहीं किया था यदि किया भी होगा तो वह अत्यन्त संक्षिप्त और साधारण बोल चाल में होगा इसलिए वर्तमान गीता कृष्ण अर्जुन के नाम पर उन के बहुत समय के बाद हुए किसी बुद्धिमान् कवि की रचना है । ३—गीता ऐतिहासिक रचना नहीं है, केवल बुद्धि रूपी कृष्ण का मन रूपी अर्जुन के प्रति उपदेश है । ४—महाभारत का युद्ध वास्तव में मनुष्य की आन्तरिक दैवी और आसुरी वृत्तियों का संघर्ष मात्र है । ५—कृष्ण को अर्जुन के प्रति गीता का इतना लम्बा उपदेश करने का तब अवसर ही कहाँ था ? इत्यादि ॥

गीता सम्बन्धी ऐसी कुछ कुतर्कों के उत्तर तो प्रथम भाग के पृष्ठ ४५ पर दिए जा चुके हैं शेष के सम्बन्धों में केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि कई बार बुद्धिमान् पुरुषों से भी अनजाने में कई ऐसी हिमालय जैसी बड़ी भूलें हो जाती हैं जिन का परिणाम बहुत बुरा होता है देश पिता महात्मा गांधी संसार के परम उच्च पुरुष थे जिन की सारी आयु सत्य के अनुसन्धान में व्यतीत हुई । उन्हें गीता पर परम श्रद्धा और विश्वास भी था । उन्होंने गीता को अपनी माता कहा है और साथ ही यह भी लिखा है कि यदि वैदिक धर्म के विरोधी गीता को छोड़ कर हमारी सारी पुस्तकें नष्ट कर देते तो भी मैं गीता के बचे रहने पर सन्तोष प्रकट करता और जाति अमर रहती जब तक गीता जगत् में विद्यमान है ईश्वरी प्राचीन धर्म को कोई नाश नहीं कर सकता । सच पूछो तो यह गीता पर उनकी श्रद्धा और आचरण का ही फल है कि वे न केवल भारत को ही, अपितु सारे संसार को ही राजनैतिक और धार्मिक स्वतन्त्रता दिला गए हैं और सारे मानव जगत् में यह भावना भर गए हैं कि यहाँ पर न कोई उच्च है और न कोई नीच है । ब्राह्मण-हरिजन और नर-नारी सभी अपने शुभ कर्मों और त्याग के बल से उच्च हो जाते हैं और नीच कर्मों और लोभ के नाते नीच बन जाते हैं । पापी से डरने की आवश्यकता नहीं पाप से अवश्य डरना चाहिए । परन्तु इतने उच्चकोटी के व्यक्ति ने भी जब गीता पर तिलक रूप अनासक्ति योग नामक पुस्तक लिखी तो उसमें गीता पर यह सन्देह प्रकट किया कि यह पुस्तक वास्तव में कृष्ण अर्जुन संवाद नहीं अपितु किसी अति बुद्धिमान् पुरुष की कृष्णार्जुन संवाद रूप में अत्युत्तम रचना है । परन्तु सत्य के जिज्ञासु देश पिता को अपनी इस धारणा के मिथ्या होने का अनुभव शीघ्र ही हो गया । जिस से उन्होंने आगामी अडीशनों में से इन सब शब्दों को अपनी पुस्तक से निकाल दिया । और गीता को वास्तव में कृष्णार्जुन संवाद रूप में ग्रहण कर लिया परन्तु यूरोप में पहले अडीशन वाली धारणा वहाँ रहने वाले युवकों के दिलो-दिमाग पर अब तक विद्यमान है । इसी प्रकार कई एक टीकाकरों ने गीता में कृष्णार्जुन के संवाद

को मन की वृत्तियों के झगड़े में वर्णन किया है तथा न जाने और क्या-क्या अनोखे अर्थ किए हैं जिन को पढ़ कर बहुत से लोग कृष्ण और अर्जुन से विमुख हो कर अपने मन की उलझनों और भूलभुलैयों में पड़ गए हैं। तथा उनके मन और मस्तिष्क ऐतिहासिक महाभारत के युद्ध को काल्पनिक मानने लगे हैं। जब चित्रपट ही न रहा तो उस पर स्थित चित्र रूप कृष्ण और अर्जुन कहाँ रह सकते थे? इन ऊट-पटाँग टीकाकारों की अनजाने में की हुई भूलों के कारण लोगों को गीता पर कुछ अश्रद्धा सी होने लगी थी। उसका निराकरण करने के लिए ही गीता को अमृत बरसाने वाली होकर संसार में प्रकट होना पड़ा है। और लोगों को जताना पड़ा है कि मैं वास्तव रूप में ही भगवान् कृष्ण द्वारा गाया हुआ गीतामृत हूँ। जिस को अर्जुन के अतिरिक्त संजय और वेदव्यास ने भी अपने-अपने कानों और नेत्रों से दिव्यनेत्रों (उस समय के टैलीविज़नों) द्वारा सुना और देखा था तथा महर्षि व्यास ने छन्दबद्ध किया था ताकि इसे सस्वर सदा भक्त जन गा सकें।

इंगलैण्ड में एक भाषण के अन्त में एक प्राध्यापक (प्रोफैसर) ने मुझ से पूछा कि आप के पास क्या प्रमाण है कि महाभारत और रामायण काल में वर्तमान युग से अधिक विज्ञान की उन्नति और प्रगति हुई थी? मैंने उत्तर दिया कि आप मेरी पुस्तक के प्रथम भाग को पढ़िए, यदि फिर भी सन्तोष न हो तो मेरे साथ विचार विनमय कीजिए। यदि आप सन्तुष्ट और शान्त चित्त न हो सके तो मैं अपनी पुस्तक में परिवर्तन करने के लिए तैयार हूँ। उन्होंने पुस्तक को पढ़ा जिससे उनकी तसल्ली हो गई। गीता का प्रथम श्लोक धृतराष्ट्र के हृदय की उसकी वेदना का सूचक है, जो उसे संजय के मुख से भीष्म के क्षत-विक्षत हो कर रथ से धरती पर गिर जाने को सुन कर हुई थी। इस श्लोक को धृतराष्ट्र का प्रश्न मान कर ही संजय ने धृतराष्ट्र को गीतामृत सुनाना प्रारम्भ किया था। सब से पूर्व दुर्योधन द्वारा दोनों सेनाओं का निरीक्षण करना वर्णित है। फिर दोनों सेनाओं के शूरवीरों के नामों और युद्ध की तैयारी का उल्लेख है। पुनः अर्जुन द्वारा दोनों सेनाओं में युद्ध की इच्छा से उद्यत योद्धाओं का अवलोकन कहा गया है। परन्तु उस अवसर पर रीछ बन्दरों की भान्ति संसार के सम्पूर्ण जीवों को नचाने वाले भगवान् ने अपनी माया के बल से उन सब शत्रु मित्र योधाओं को अर्जुन के सम्मुख उस के तायों, चाचों, पिताओं-पितामहो, पुत्र-पौत्रों, भाई-बन्धुओं तथा अन्य प्रिय सम्बन्धियों के रूप में परिवर्तित करके ला खड़ा किया था जिस से अर्जुन का हृदय ममता और दया-रस से परिपूर्ण हो गया था अतः वह धनुषादि आयुधों को नीचे रखकर स्वयं भी रथ के उपस्थ में जहाँ खड़ा था वहीं बैठ गया तथा उस दीन और दया प्रदर्शित करते हुए ने लड़ने से इन्कार कर दिया।

उसकी यह दशा देख कर तथा अपनी माया की प्रबलता को देख कर भगवान् मुस्कराने लगे थे तथा व्यंग्य से उस पर फबती कसते हुए कहने लगे कि अर्जुन ! यह महाराजा विराट् का घर नहीं है जहाँ पर आप अज्ञातवास के दिनों में राजकन्याओं को गाना बजाना और नाचना सिखलाया करते थे यह तो युद्ध क्षेत्र है जिस में सारे संसार के आध करोड़ योद्धा लड़ने के लिए उद्यत खड़े हैं। यहाँ तो आप भाग कर भी कहीं जा नहीं सकते ये लोग तुम्हें पकड़ कर अपमानित करेंगे। जिसकी पीड़ा तुम्हें मृत्यु से भी अधिक दु:खदायी होगी। अर्जुन ने जब यह सुना तो संभल कर उत्तर दिया कि आप तो केवल शत्रु दैत्यों और राक्षसों को ही मारा करते हैं परन्तु गुरु द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह तो न मेरे शत्रु हैं न दैत्य और न राक्षस हैं अपितु हमारे बड़े और पूज्य हैं। इन को मारने की अपेक्षा तो हमें भिक्षा माँग कर शेष जीवन व्यतीत कर लेना बेहतर है इनके लहू से भीगे हुए भोगों को भोगने से तो हमारा कदापि कल्याण न होगा। फिर यह भी कोई निश्चित बात नहीं है कि जीत हमारी ही होगी। इस समय मैं बुद्धि संकट में पड़ा हुआ हूँ। अक्ल ने जवाब दे दिया है। कुछ भी सूझता नहीं है। मैं कठिन धर्म संकट सागर में निमग्न हो रहा हूँ। इसलिए आप की शरण हूँ आप मेरे सच्चे गुरु और पथ प्रदर्शक हैं। ऋजुमार्ग दर्शाइए तथा मेरा बाहु पकड़ कर उस पर चलाइए।। तब भगवान् अर्जुन को अपनी प्रबल माया द्वारा मोहित हुआ जान कर मुस्कराते हुए उसे गीता का उपदेश करते हुए कहने लगे—हे अर्जुन ! तुम्हें किसी बात की भी चिन्ता न करनी चाहिए क्योंकि जिस आत्मा का शरीरों में निवास है वह तो सदैव अजर और अमर है। उसे मार सकने में कोई भी समर्थ नहीं है। सारे जीवों के शरीर नित्य ही नाशवान् हैं, जिन की निर्माता मेरी प्रकृति है ये सदा बनते और बिगड़ते रहते हैं वास्तव में किसी का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है सारे सम्बन्ध और नाते केवल लेन देन के ही हैं। जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही जन्म धारण करता है तथा सुख दु:खों को भोगता है जिस प्रकार देह की कौमार, यौवन और जरा तीन अवस्थाएँ होती हैं इसी प्रकार मरने के अनन्तर देहान्तर की प्राप्ति भी जीवात्मा को अवश्य होती है। सुख दु:खों को देने वाले इन्द्रियों और विषयों के सब संयोग तो क्षण भंगुर अनित्य और सदा आने जाने वाले होते हैं इस लिए बुद्धिमान् और ज्ञानी लोग उन को शान्ति पूर्वक धैर्य से सहन कर लेते हैं।

अविनाशी तो केवल वही एक महान् शक्ति परब्रह्म परमात्मा है जिसका यह सारा संसार प्रसार है। कोई स्थान ऐसा नहीं है जो उस के प्रकाश तथा जानकारी से रहित या परे है।

फिर तुम्हें अपने क्षत्रिय धर्म पर भी आचरण करना चाहिए। जिस का सब से बड़ा धर्म दीन, दु:खी, देश तथा धर्म की रक्षा के लिए शत्रुओं से युद्ध

करना होता है अब तो अपने आप ही यह अवसर आप लोगों को प्राप्त हो गया है। निश्चय पूर्वक खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग ही प्राप्त किया करते हैं। ऐसे धर्म युद्ध में लड़ कर मरने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा विजय प्राप्त करने पर पृथिवी पर सुख संपत्ति और प्रभुता प्राप्त होती है। इस लिए तुम्हें इस युद्ध में डट कर संग्राम करना चाहिए। सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ और जय-अजय को ज्ञानी लोग एक समान समझा करते हैं।

दूसरों की बहकाई हुई बातों पर ध्यान न देना चाहिए। जिस प्रकार शीतल, स्वच्छ और निर्मल गंगाजल से भरे हुए सरोवर को त्याग कर कोई मनुष्य गर्म, गन्धले और दुर्गन्धमय क्षुद्र ह्रद को कामना नहीं करता है। इसी प्रकार अच्छी तरह ब्रह्म को जानने वाले लोग ब्रह्म की छोड़ कर संसार में पपीलिका नगरियों की भान्ति फैले हुए मतमतान्तरों में जाने की कभी कामना नहीं करते हैं। वे तो उन्हें दूर से ही हाथ जोड़ कर नमस्कार कर देते हैं। क्योंकि इन मतमतान्तरों का सामीप्य मनुष्य को गन्दे पानी और कीचड़ से लथपथ वस्त्रों वाले पुरुष की भान्ति मलीन और ब्रह्म से दूर कर देता है।

हे अर्जुन ! कर्म करना तो मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है परन्तु उस कर्म के फल की प्राप्ति केवल ईश्वर की इच्छा पर आश्रित है। इसलिए मनुष्य को सदैव कर्म करते रहना चाहिए परन्तु उस में आसक्ति और फलेच्छा का सर्वदा त्याग रहना चाहिए तथा मन दिन रात ब्रह्म में लीन होना चाहिए। शुभाशुभ कर्मों के फलों को मन से त्याग के अभ्यास से मन ईश्वर से जुड़ जाता है और पुन: पुनर्जन्म का झगड़ा मिट जाता है। उस समय उस पुरुष का नाम स्थित प्रज्ञ या स्थिर बुद्धि हो जाता है। उस समय उसकी अपने में ही सन्तुष्टि हो जाती है। तब दु:ख में उसे दु:ख अनुभव नहीं होता और सुख में उसे सुख की कामना नहीं होती। न किसी का भय होता है न उसे किसी पर क्रोध होता है। जो मिलता है खा लेता है जैसा घर हो, वहाँ सो लेता है न अच्छे की आकांक्षा करता है न बुरे की अवहेलना करता है। न किसी से मोह करता है। न किसी से द्रोह करता है। उस का न किसी से प्रेम होता है न किसी से द्वेष होता है। न खुश होता है तथा न गमगीन होता है। अपनी इन्द्रियों को विषयों की ओर से इसी प्रकार सुकेड़ कर अपनी बुद्धि में स्थित कर लेता है जिस प्रकार कछुआ अपने सारे अंगों को सुकेड़ कर अपने कवच में छिपा लेता है। परन्तु प्रत्येक मूर्ख पुरुष इस आर्ट को भली भान्ति जानता नहीं है वह अपने मन में विषयों का चिन्तन करता है। जिस से उस की आसक्ति विषयों में हो जाती है और उस आसक्ति से उन विषयों में रमण करने की कामना उत्पन्न हो जाती है। कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से अविवेक और मूढ भाव उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् बुद्धि ठिकाने

नहीं रहती । होश मारे जाते हैं इस बात का ज्ञान ही नहीं होता कि मैं क्या महा अनर्थ कर रहा हूँ अर्थात् स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है स्मृति के नष्ट हो जाने से ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है । ज्ञान के लुप्त हो जाने से मनुष्य किसी काम का नहीं रहता है और अपने श्रेय साधन मुक्ति पथ से भ्रष्ट हो जाता है ।

मन की निर्मलता के होने पर मनुष्य के सारे दु:खों का अन्त हो जाता है तथा प्रसन्न चित्त मनुष्य की बुद्धि शीघ्र स्थिर हो जाती है ।

यदि बुद्धि स्थिर न हो तो मन में सच्ची श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती । श्रद्धा के बिना शान्ति प्राप्त नहीं होती और शान्ति के बिना सुख की प्राप्ति नहीं होती । जल से भरे हुए समुद्र में अनेक नदियाँ निरन्तर गिरती रहती हैं परन्तु वह फिर भी अपनी मर्यादा का त्याग नहीं करता इस प्रकार संपूर्ण भोग मिलकर भी स्थिर-बुद्धि महात्मा में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते हैं । सच्ची शान्ति को ऐसे महापुरुष ही प्राप्त करते हैं न कि विषयवासनाओं के चेरे और कामनाओं में फँसे हुए लोग । हे अर्जुन ! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति होती है । इस को प्राप्त हुआ पुरुष ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है ।

कोई भी मनुष्य कर्मों के न करने से निष्कर्मता को प्राप्त नहीं होता और न कर्मों का त्याग मात्र करने से मोक्ष रूप सिद्धि को प्राप्त होता है । क्योंकि कोई जीव भी किसी काल में क्षणमात्र के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रहता है । सम्पूर्ण जीव प्रकृति के तीनों गुणों के परवश हुए सदा कोई न कोई कर्म करते ही रहते हैं । खाना, पीना, पहनना, सोना, जागना, फिरना, दौड़ना, भागना, टट्टी पेशाब त्यागना और साँस लेना ये सब भी कर्म ही हैं तो फिर इन को कैसे त्याग किया जा सकता है । इसी प्रकार अन्य कर्त्तव्य कर्मों का त्याग भी केवल मूर्खता मात्र ही कहा जा सकता है । जो पुरुष कर्मेन्द्रियों को तो संयम में करने का प्रयत्न करता है परन्तु उस का मन सदा विषयों का चिन्तन करता रहता है । वह तो मिथ्याचारी या दम्भी होता है ।

मनुष्य को अपने कर्त्तव्य कर्मों का अनुष्ठान अवश्यमेव करना चाहिए । क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से मनुष्य का जीवन निर्वाह भी नहीं हो सकता है परन्तु सम्पूर्ण किए जा रहे कर्मों में आसक्ति और फलेच्छा का त्याग अवश्य होना चाहिए ताकि जीव पुनर्जन्म दिलाने वाले शुभाशुभ सब कर्मों के पल से बँध न सके ।।

प्रजापति ने कल्प के आदि में पुरुष और पुरुषार्थ को एक साथ ही रचा था और दोनों को आज्ञा दी थी कि तुम दोनों एक दूसरे की सहायता करो । हे पुरुषो ! इस पुरुषार्थ के द्वारा तुम लोग खूब बढ़ो, फलो और फूलो ।



न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम् ।
तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे ॥
॥ ॐ तत्सत् ॥

मेरा आशीर्वाद है कि यह पुरुषार्थ तुम्हें इच्छित कामनाओं को देने वाला हो। इस पुरुषार्थ द्वारा तुम विज्ञान की उन्नति करो। अनेक प्रकार के यन्त्र तैयार करो अधिक अन्न उगाओ। धन और सुख सुविधाओं के अनुसन्धान के लिए स्थल, जल और वायुमण्डल का चप्पा-चप्पा ढूँढ निकालो, इसके अतिरिक्त चन्द्रमा और तारा मण्डल पर भी कमन्दे डाल दो जिस से आप सब का जीवन सुख और शान्ति से भरपूर हो जाए तथा सारे स्वर्ग सिमिट कर इस पृथ्वी पर उतर आएँ। अपने इस पुरुषार्थ द्वारा अर्जित किए हुए धन धान्य आदि से दीन दुःखियों तथा धर्मात्मा लोगों की सेवा और उन्नति करो और ये महापुरुष आप लोगों की उन्नति करें। इस प्रकार के यज्ञ द्वारा उन्नति किए हुए ये देवता लोग तुम्हारे लिये उन प्रिय भोगों को देंगे जिन से प्रजावर्ग के मस्तिष्क, हृदय और शरीरों की वृद्धि और प्रगति होगी इस प्रकार देश की रक्षा होगी और शान्ति की स्थापना होगी। इस प्रकार आप का परम कल्याण होगा।

यदि आप लोग धन-धान्य और धरती का परस्पर बाँट कर उपयोग न करोगे, तो निश्चय पूर्वक चोर कहलाओगे। इतने पर ही बस नहीं और भी अपमान जनक नामों से पुकारे जाओगे। जिनको सुन कर लज्जा के मारे मुख छिपाते फिरोगे। बाँट कर खाने से धन-धान्य अमृत तुल्य हो जाते हैं। ऐसे श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं और जो पापी पुरुष अपना कमाया हुआ सब आप ही खा जाते हैं तो ऐसा समझिए कि वे लोग साक्षात् पाप या विष को ही खाते हैं।

सब जीवों का पालन-पोषण भोजन से होता है। जिस का अधिक भाग अन्न होता है। अन्न की वृद्धि वृष्टि या जल से होती है और यह वृष्टि दान पुण्य तथा विज्ञान की उन्नति में होती है। जिससे नहरें और नलकूप भी बनाए जा सकते हैं और कृत्रिम वर्षा भी बरसाई जा सकती है और यज्ञ या पुरुषार्थ नाना प्रकार की प्रयोगशालाएँ बना कर कर्मों के करने से उत्पन्न होता है। इस प्रकार सारे संसार के जीवित और सुखी रहने के लिए एक प्रकार का चक्र चलता रहता है। परन्तु जो पुरुष इस चक्र के अनुसार अपने जीवन को ढालता नहीं है। वह इन्द्रियों के सुख को भोगने वाला पाप-आयु व्यर्थ ही जीवित रहता है। परन्तु जो महापुरुष महात्मा गाँधी की भान्ति आत्मा में ही तृप्त आत्मा में ही सन्तुष्ट और आत्मा में ही प्रीति वाला है। उसके लिए अपने पराये का भेद मिट जाता है तथा उसके लिये कोई भी कर्त्तव्य कर्म शेष नहीं है वह जो कुछ भी करता है। सर्वोदय और लोक कल्याण के हेतु ही करता है। इस संसार में उस पुरुष के कर्म किए जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है और न किये जाने

से भी कोई मतलब नहीं है तथा सम्पूर्ण भूतों में उस का कुछ भी स्वार्थ नहीं होता है। इसलिए मनुष्य अनासक्त होकर अपने कर्म को करे क्योंकि ऐसा करता हुआ वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

जनकादि ज्ञानी जन भी आसक्ति तथा फलेच्छा रहित कर्म करते हुए परम सिद्धि या मोक्ष को प्राप्त हुए थे। इसलिए पुरुष, लोक संग्रह को देखता हुआ भी सदा कर्म करता रहे।

श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करते हैं। अन्य पुरुष उनको देख कर ही उनका अनुसरण करते हैं। हे अर्जुन ! मुझ परब्रह्म को सारे संसार में कोई कर्म भी करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि कोई वस्तु भी मुझे अप्राप्य नहीं है तो भी मैं सदा कर्म करता हूँ। यदि मैं ऐसा न करूँ, तो सारे ब्रह्माण्ड के लोकों की मर्यादा नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी और मैं ही स्वयं उथल-पुथल करने वाला समझा जाऊँगा। जिस से सारी प्रजा नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी।

कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त और फलेच्छा से रहित हुआ विद्वान् भी लोक-शिक्षा को चाहता हुआ सदा कर्म करे।

ज्ञानी पुरुष कर्मों में आसक्ति वाले तथा उनके फलों की इच्छा करने वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम या कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे परन्तु स्वयं परमात्मा के स्वरूप में स्थित हुआ तथा सब कर्मों को भली-भान्ति करता हुआ वैसे ही उन से भी करावे। सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए हुए समझे। अहंकारी मूर्खों की भान्ति अपने आप को उनका कर्ता न माने ।।

अच्छी प्रकार आचरण किए हुए, दूसरों के धर्म से अपना धर्म गुण रहित भी अति उत्तम होता है। क्योंकि अपने धर्म में मरना भी श्रेयस्कर होता है और दूसरे का धर्म धारण करना बहुत भयंकर और पर्याप्त उलझने उत्पन्न करने वाला होता है।

हे अर्जुन ! मैं अविनाशी और अजन्मा होने पर भी सब भूतों का ईश्वर हूँ। परन्तु फिर भी अपनी प्रकृति को आधीन करके योग माया से प्रकट हुआ करता हूँ। जब जब भी धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब ही मैं अवतार धारण करता हूँ। सज्जनों का उद्धार करने के लिये, दुर्जनों का संहार करने के लिये तथा धर्म संस्थापन के लिये मैं युग युग में प्रकट होता हूँ। जो पुरुष मेरे दिव्य और अलौकिक जन्म और कर्म को तत्त्व से जानता है वह शरीर त्याग कर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता है अपितु मुझ में ही समा जाता है।

जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित होते हैं और जिसने

ज्ञान रूप अग्नि से अपने सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों को भस्म कर दिया है। ज्ञानी लोग उसी को पण्डित कहते हैं क्योंकि वह मोक्ष की प्राप्ति में अति चतुर माना जाता है।

जो पुरुष संसार को अनित्य समझ कर नित्य तृप्त रहता है अपने भीतर बाहर परमानन्द परमात्मा को अनुभव करता है. वह कर्मों के फल और कर्तृत्व अभिमान को त्याग कर सब कार्य करता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता है।

अन्तःकरण और शरीर की इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने वाला, सम्पूर्ण भोगों को तुच्छ समझ कर त्याग देने वाला तथा आशा रहित पुरुष शरीर सम्बन्धी कर्मों को करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता है। साधारण रूप में ईश्वर प्रदत्त पदार्थों में सन्तुष्ट रहने वाला हर्ष शोकादि से रहित, मत्सर या ईर्षा से हीन, सिद्धि और असिद्धि में समचित रहने वाला सारे संसार के सम्पूर्ण कर्मों को करके भी उनसे बंधायमान नहीं होता है।

आसक्ति और मोह से हीन ईश्वरीय ज्ञान में स्थित हुए चित्त वाले यज्ञ के लिए आचरण करते हुए मुक्त-जन के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं॥

अर्पण (आहुति अर्पण करने का साधन स्रुवादि) भी ब्रह्म है। होम करने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है। हवन कुण्ड की अग्नि भी ब्रह्म है। हवन करने वाला यजमान भी ब्रह्म है। हवन की क्रिया भी ब्रह्म है। इसलिए इस ब्रह्म रूप कर्म में लगे हुए उस पुरुष द्वारा जो कुछ प्राप्त होने योग्य है। वह भी ब्रह्म ही है॥

कुछ योगीजन तो देवताओं के पूजन रूप यज्ञ का ही अनुष्ठान करते हैं। और कुछ ज्ञानी लोग परब्रह्म परमात्मा रूप अग्नि में ज्ञान रूप सामग्री से ही होम करते हैं। और कुछ मोक्ष के अभिलाषी लोग इन्द्रिय-संयम रूप अग्नि में विषय वासनाओं तथा सम्पूर्ण कर्मों का हवन किया करते हैं। अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं। तथा राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा शब्दादि विषयों को संयमाग्नि में स्वाहा कर देते हैं। तथा अन्य कई योगी जन इन्द्रियों की कुत्सित चेष्टाओं और प्राणों के व्यापार को ज्ञान से जलाई गई परमात्मा रूप अग्नि के कुण्ड में स्थित हुई योग अग्नि में होम करते हैं। और कुछ दानी पुरुष ब्रह्म-अर्पण बुद्धि से लोक सेवा रूप अग्नि कुण्ड में द्रव्य की आहुतियाँ अर्पण करके हवन करते हैं। वैसे ही कुछ लोग स्वधर्म का पालन और तप रूप यज्ञ करते हैं। कई लोग अष्टाँगयोग रूप यज्ञ को किया करते हैं तथा कुछ यति और मुनि जन अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों को धारण करके हरि के नाम का जप तथा भगवत्प्राप्ति विषयक शास्त्रों का अध्ययन रूप ज्ञान प्राप्ति यज्ञ करते हैं। कुछ योगीजन प्राणायाम रूप यज्ञ को करने वाले अपानवायु (कार्बानिक ऐसड गैस) में प्राण वायु (आक्सीजन गैस) को हवन करते या झौंकते हैं। फिर कुछ काल

तक प्राणों की गति को रोक कर अपान वायु को प्राण वायु में हवन कर देते हैं इस प्रकार ये लोग प्राणायाम परायण हुए ही हवन करते हैं। कुछ नियत मात्रा में सात्विक भोजन करने वाले संयमी लोग प्राणों का प्राणों में ही हवन करते हैं।

इस प्रकार ये लोग अनेक प्रकार के यज्ञ करके अपने द्वारा पूर्व किए हुए पापों को नाश करने वाले होते हैं और यज्ञों के परिणाम स्वरूप ज्ञानामृत को भोगने वाले योगी लोग सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं।

यज्ञक्रिया हीन पुरुष को तो यह मनुष्य लोक भी सुख प्रद नहीं होता तो फिर उसे स्वर्गप्राप्ति तो कैसे हो सकती है। इस प्रकार के शरीर, मन, इन्द्रियों की क्रियाओं और द्रव्य पदार्थ आदियों से उत्पन्न होने वाले यज्ञों का पुरश्चरण करके निष्काम कर्मयोग द्वारा फलेच्छा से रहित हुआ पुरुष संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है।

हे परंतप पार्थ ! सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान रूप यज्ञ अति श्रेष्ठ होता है क्योंकि वह परब्रह्म से शीघ्र मेल करा देने वाला होने के कारण उन सब यज्ञों की पराकाष्ठा है।

अत: परब्रह्म परमेश्वर के तत्त्व को भली भान्त जानने वाले ज्ञानी पुरुषों से उन की सेवा में निष्कपट भाव से जाकर जिज्ञासु नम्रता पूर्व उन्हें दण्डवत प्रणाम करे फिर उनका मूड देखकर तथा आज्ञा पाकर ब्रह्म विषयक प्रश्न मधुर और कोमल वाणी से करे। तब वे ब्रह्मवेत्ता महात्मा लोग उस जिज्ञासु भक्त प्रति ब्रह्म ज्ञान का उपदेश अवश्य करेंगे। जिस के फल स्वरूप उसके अज्ञानान्धकार का नाश हो जाएगा। और मुक्ति की प्राप्ति होगी।

परब्रह्म से युक्त हुआ पुरुष तत्त्व को भली भान्ति जान लेता है फिर वह नेत्रों से देखता हुआ भी भगवान् के विना और किसी को देखता नहीं है। कानों से सुनता हुआ भी प्रभु वाणी के अतिरिक्त और किसी भी वाणी को सुनता नहीं है। भोजन करता हुआ भी स्वयं न खाकर भगवान् को ही खाता या भोजन करता हुआ अनुभव करता। गमन करता हुआ भी उसी प्रभु को गमन करता हुआ देखता है। सोता हुआ भी स्वयं नहीं सोता उसका भगवान् ही सोता है। श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आंखें खोलता हुआ तथा आंखें बन्द करता हुआ इत्यादि सब कुछ क्रियाएँ करता हुआ केवल एक भगवान् को ही देखता है। और यह समझता है कि सब इन्द्रियाँ ही अपने अपने अर्थों में वर्त रही हैं। और मैं तो कुछ भी नहीं हूँ। न कुछ करता हूँ। फिर अभिमान किस बात से हो सकता है। और पराया कौन रह सकता है। इस प्रकार जो पुरुष सारे कार्यों को परमात्मा में आरोपित या अर्पण करके करता है। तथा आसक्ति और फलेच्छा को त्याग कर कर्म करता

है वह पुरुष जल से कमल के पत्र के सदृश पाप से लिपायमान नहीं होता। उसके सारे कर्म अन्त:करण की शुद्धि के लिए ही बिना आसक्ति और फलेच्छा के शरीर, इन्द्रियों मन और बुद्धि के द्वारा किए जाते हैं। जिस से वह परम शान्ति या परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। परन्तु साकामी पुरुष फलेच्छा से युक्त हुआ कामना अर्थात् उसके फलस्वरूप सदा जन्म मरण के बन्धन से बंधा रहता है।

जिन के अन्त:करण का अज्ञान आत्म-ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाता है। उनका वह आत्मज्ञान सूर्य के सदृश परमात्मा को प्रकाश में ला देता है अर्थात् परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करा देता है। ज्ञानी लोग विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल आदि सब प्राणियों में रम रहे केवल एक परमात्मा को ही देखते हैं। जिन का मन इस प्रकार समत्व भाव में स्थित होता है। उनके द्वारा इस जीवितावस्था में ही सारा संसार जीत लिया जाता है। क्योंकि परब्रह्म परमात्मा निर्दोष और सम है। इस से समत्व योग युक्त ज्ञानी लोग उस ब्रह्म में ही स्थित हो जाते हैं। प्रिय और अप्रिय को पाकर जो पुरुष न खुश होता है। तथा न ही दिलगीर होता है। स्थिर बुद्धि और संशय रहित हैं वह पुरुष ब्रह्मवेत्ता और नित्य ब्रह्म में स्थित है। सांसारिक भोगों में आसक्ति रहित अन्त:करण वाला पुरुष अपने अन्त:करण में भगवद्-ध्यान जनित आनन्द को प्राप्त होता है फिर शरीर त्याग के अनन्तर अक्षय आनन्द को प्राप्त हो जाता है॥

जो इन्द्रियों तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण भोग हैं वे यद्यपि साधारण पुरुषों को सुहावने और सुख-प्रद भासमान होते हैं तो भी वास्तव में दु:खों के हेतु होते हैं तथा अस्थायी और अनित्य हैं॥ इस बात को विचार कर बुद्धिमान विवेकी पुरुष उन में रमण नहीं करता। जो पुरुष शरीर-त्याग से पूर्व ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है वह पुरुष इस लोक में योगी यति और सुखी है। जिस पुरुष के अन्त:करण में सुख और शान्ति का प्रकाश या निवास है या जिसे अपने भीतर ब्रह्म का निवास भासमान होता है ऐसा पुरुष शीघ्र ही ब्रह्म से एकीभाव को प्राप्त होकर पुनर्जन्म से रहित हो जाता है। विषय भोगों का चिन्तन न करता हुआ दोनों नेत्रों की दृष्टि को दोनों भवों के मध्य में स्थिर करके, नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके जीते हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियों वाला मोक्ष मार्ग पर चलने वाला इच्छा, भय और क्रोध से रहित हुआ मुनि नित्य मुक्त होता है।

मुझ को सम्पूर्ण यज्ञों और तपों का ग्रहण करने वाला, सब लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सब प्राणियों का सुहृद या स्वार्थ रहित मित्र तत्त्व से

जानकर मेरा भक्त परम शान्ति या ब्रह्मलीनता को प्राप्त हो जाता है उस के अनन्तर उसके पुनर्जन्म का कोई झगड़ा शेष नहीं रहता ॥

जो पुरुष कर्म के फल को न चाहता हुआ करने योग्य कर्म को करता है वह संन्यासी और योगी होता है परन्तु केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी और योगी नहीं होता है तथा केवल क्रियाओं या कर्मों को त्यागने वाला भी संन्यासी और योगी नहीं होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने प्रयत्न द्वारा ही अपना संसार सागर से उद्धार करे और अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचने दे क्योंकि यह जीवात्मा केवल एकमात्र आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। इस के अतिरिक्त दूसरा और कोई इस का शत्रु और मित्र नहीं है ॥

जिस जीवात्मा द्वारा मन, बुद्धि और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है वह जीवात्मा स्वयं अपना मित्र है और जिस जीवात्मा ने इन सब पर अपना नियन्त्रण नहीं किया हुआ है वह जीवात्मा स्वयं अपना शत्रु है क्योंकि अपना आप मित्र होने से उसकी मुक्ति या उर्ध्व गति होती है और शत्रु हो जाने से वह पुनर्जन्म रूपी अधोगति को प्राप्त हो जाता है। जिस महापुरुष के अन्तःकरण की वृत्तियाँ शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमान के प्राप्त होने पर भी भली भान्ति शान्त स्थिर और विकार रहित रहती हैं उस स्वाधीन आत्मा वाले महा-पुरुष के ज्ञान में यह सारा संसार एक ब्रह्म के बिना और कुछ भी नहीं होता है तथा जिस महापुरुष का अन्तःकरण ज्ञान और विज्ञान दोनों से भरपूर या तृप्त हो चुका है और जिस की स्थिति विकार रहित है तथा जिस को मिट्टी, पत्थर और सुवर्णादि संपूर्ण वस्तुएँ एक समान हैं। वह पुरुष भगवान् से मिला हुआ होता है। जो पुरुष सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धुओं, पापियों और साधुओं में समभाव होकर सद् व्यवहार से युक्त है। वह अति श्रेष्ठ है ॥

योगी के लिए उचित है कि वह मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वशीभूत करके तथा वासना और संग्रह दोनों से रहित होकर एकाकी एकान्त स्थान में स्थित हुआ आत्मा को निरन्तर परमात्मा के ध्यान में लगावे। जिस की विधि यह है—अत्यन्त उत्तम स्वच्छ निर्मल स्वास्थ्यवर्द्धक जलवायु वाले स्थान में पहले कुशा फिर उसके ऊपर मृगछाला और मृगशाला पर वस्त्र बिछाए। उस आसन का स्थान न अति ऊँचा हो तथा न अति नीचा हो। न हिलने-डुलने वाला हो अपितु भली भान्ति स्थिर हो उस आसन पर बैठ कर तथा मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में किए हुए अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करना चाहिए। शरीर, शिर और ग्रीवा को एक सीध में समान करके स्थिर या अचल करना चाहिए। फिर नासिका के अग्र भाग पर

दृष्टि स्थिर करके अन्य दिशाओं को न देखते हुए, ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिर होकर, भय रहित हुए शान्तचित् हुए मन पर नियन्त्रण किए मुझ में लगे हुए चित्त वाले द्वारा मेरे परायण हो जाना चाहिए ॥ इस प्रकार आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगाता हुआ स्वाधीन मन वाला योगी मुझ में स्थिति रूप परम शान्ति या परमपद को प्राप्त होता है ।

योगी को चाहिए कि वह न पेट को ठसाठस भर कर खाए, न ही इतना अल्प मात्रा में खाए कि जिस से शरीर कृश होकर जीवन ही संकट में पड़ जाए। न ही कुम्भकर्ण की नींद सोए तथा न ही सदा जागता रहे । युक्त आहार और यथायोग्य व्यवहार या विहार करे । यथायोग्य चेष्टा करे । यथा योग्य शयन और जागरण करे । जिस से उसका दु:ख नाशक योग सफल हो सके । जिस समय वश में किया हुआ चित्त भली भान्ति परमात्मा में स्थित हो जाता है । उस समय सारी कामनाओं से स्पृहा रहित पुरुष योगयुक्त हो जाता है । जिस प्रकार स्थिर वायु युक्त स्थान में जलते हुए दीपक की ज्वाला चलायमान नहीं होती वैसे ही शान्त वातावरण में सुखमय आसन पर समाधिस्थ योगी का चित्त् ईश्वर में स्थिर होकर स्थित रहता है । योगी को चाहिए कि वह सम्पूर्ण कामनाओं से रहित होकर तथा मन और इन्द्रियों को वशीभूत करके धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरामता को प्राप्त होकर मन को ब्रह्म में स्थित करे क्योंकि भली-भान्ति पाप से रहित रजोगुण से हीन और प्रशान्त मन वाला योगी सच्चिदानन्द घन ब्रह्म के साथ एकी भाव होकर परमानन्द को प्राप्त होता है ।

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में मुझ परब्रह्म को देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ में देखता है । उस से मैं अदृश या ओझल नहीं हूँ और वह भी मेरी दृष्टि में होता है ।

हे अर्जुन ! योग भ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों अर्थात् स्वर्गों को प्राप्त होकर बहुत वर्षों तक वहाँ रह कर आनन्द का उपभोग करता है । फिर अपने पुण्य का शेष भाग भोगने के लिए इस पृथिवी पर शुद्ध आचरण श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है अथवा योग करने के लिए ज्ञानवान् योगियों के कुल में उत्पन्न होता है । इस प्रकार योगाभ्यासी पुरुष का जन्म इस संसार में अति दुर्लभ है ॥

अनेक जन्मों में योगाभ्यास करने से सिद्धि को प्राप्त हुआ योगी संपूर्ण पापों से रहित होकर अपनी साधना के प्रभाव से परमगति (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ॥

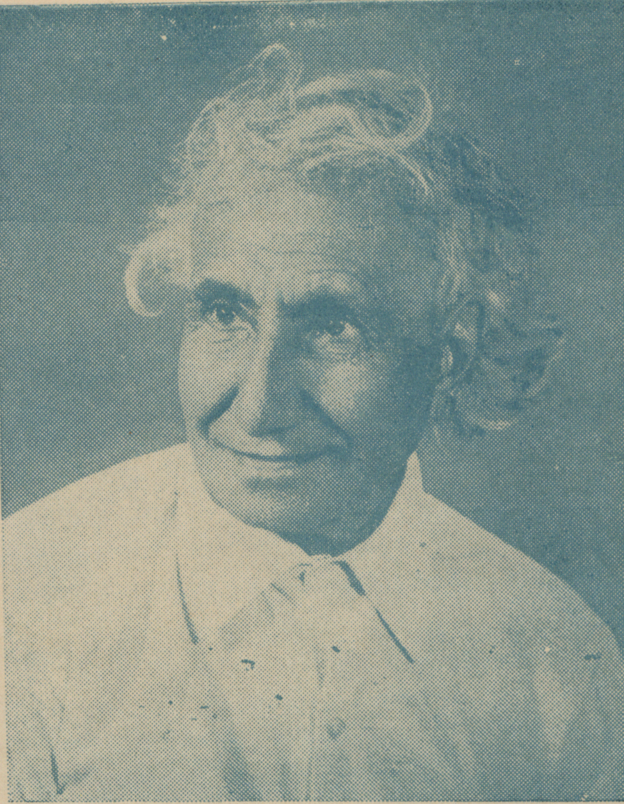
योगाभ्यास के द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त हुआ योगी सब तपस्वियों और शास्त्र-ज्ञानियों से श्रेष्ठ होता है ।

हे पार्थ ! सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक मनुष्य ही मेरी प्राप्ति के निमित्त प्रयत्न करता है। उन प्रयत्न करने वालों में भी कोई एक पुरुष ही मुझ को जानता है।

मेरी एक प्रकृति पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ भागों में विभक्त है। इन आठ भागों वाली मेरी प्रकृति का नाम अपरा या जड़ प्रकृति है। हे महा बाहो ! मेरी दूसरी प्रकृति का नाम परा प्रकृति है जो चेतन है औरजिसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है। संसार में सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि ये दोनों प्रकार की प्रकृतियाँ मेरे प्रभाव से उत्पन्न हुई हैं इसलिए यह सारा संसार वास्तव में मुझ से ही उत्पत्ति और प्रलय को प्राप्त होता है। ठीक बात तो यह है कि मेरे बिना और कोई भी वस्तु यहाँ असल में नहीं है। यह सारा संसार मुझ ब्रह्म के सत्ता सूत्र में मणियों के सदृश गूँथा हुआ भासमान् होता है वास्तव में जल में रहने वाला रस मैं ही हूँ। चन्द्रमा और सूर्य में दिखाई देने वाला प्रकाश भी मेरे बिना और कुछ नहीं है। सम्पूर्ण वेदों में ॐकार (मूल तत्त्व) भी केवल मैं ही हूँ। आकाश में सदैव विद्यमान रहने वाला शब्द भी तू मुझ को ही समझ। पुरुषों में प्रकट होने वाला पौरुष या पुरुषत्व भी स्वयं मैं हूँ। पृथिवी में जो पवित्र गन्ध है जिसका प्रकटन कमल, गुलाब, मोतिया, चमेली, मौलसरी और क्योड़े आदि के पुष्पों चन्दन, काफूर आदि काष्ठों तथा अन्य सुगन्धित वस्तुओं द्वारा होता है वह भी मेरा ही स्वरूप है। अग्नि का तेज भी मेरा ही रूप है। सम्पूर्ण जीवों में जीवन भी मैं ही हूँ। तपस्वियों में तप भी मैं हूँ। सब जीवों का सनातन या पहला बीज मैं हूँ। बुद्धिमानों में बुद्धि भी मेरा ही स्वरूप है। तेजस्वियों में रहने वाला तेज भी मैं हूँ। बलवानों का कामना और आसक्ति से रहित बल या सामर्थ्य तथा सब भूतों में धर्मानुसार काम भी मैं ही हूँ। इनके अतिरिक्त और भी जो सत्त्वगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं केवल वही नहीं अपितु जो रजो गुण और तमो गुण से भी होने वाले भाव हैं वे सब भी केवल एक मात्र मेरे ही स्वरूप हैं। परन्तु वास्तव में न मैं उन में हूँ तथा न ही वे मुझ में हैं।

परन्तु प्रकृति के कार्यरूप तीनों गुणों के विषयों से यह सारा संसार मोह को प्राप्त हो रहा है। इसलिये इन तीनों से परे मुझ अविनाशी परब्रह्म को तत्त्व से नहीं जानता है। कारण यह कि यह अलौकिक और त्रिगुणमयी मेरी माया अति दुस्तर है। परन्तु जो लोग मुझे निरन्तर भजते हैं वे मेरी कृपा से सहज ही इस माया को तर जाते हैं।

ऐसा आसान और सुगम उपाय होने पर भी जो लोग मेरी माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले हैं वे आसुरी स्वभाव को धारण करके मनुष्यों में नीच



अमृतसरिया राम भणोत
(सन् 1976 में)



अमृतसरिया राम भणोत
(सन् 1956 में)

और मूढ लोग दूषित और पापमय कर्मों को करते हुए मुझ को भूलकर भी नहीं भजते हैं।

हे भरत वंश में श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्म करने वाले ये चार प्रकार के भक्त मुझ को भजते हैं—१—अर्थार्थी २—आर्त्त या दु:खी ३—जिज्ञासु और ४—ज्ञानी।

इनमें से ज्ञानी अत्युत्तम होता है क्योंकि वह नित्य मेरे एकी भाव में स्थित और मेरा अनन्य प्रेमी भक्त होता है। मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्रिय होता हूँ और वह मुझ को बहुत प्रिय होता है। बेशक ये चारों भक्त ही उत्तम होते हैं। परन्तु ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही होता है। जो कि स्थिर बुद्धि हुआ नित्य ही मुझ में स्थित रहता है। जो ज्ञानवान् महात्मा अपने कई जन्मों के अन्त के जन्म में यह जानता है कि इस संसार में सब कुछ केवल भगवान् वासुदेव ही है। वह बहुत दुर्लभ है।

कुछ लोग अपने स्वभाव से प्रेरित होकर भोगों की कामनाओं से हरे हुए ज्ञान वाले देव पूजा के लिये कथित नियमों का आश्रय लेकर अन्य देवताओं को भजते, पूजते तथा प्राप्त होते हैं॥ साकामी भक्त की देवपूजा के फल को देने वाला भी मैं ही हूँ॥ परन्तु उन अल्प बुद्धि वालों का देवपूजा द्वारा प्राप्त किया हुआ वह फल नाशवान् होता है और देवताओं को पूजने वाले भक्त अपने पूज्य देवताओं को ही प्राप्त होते हैं। परन्तु मेरे भक्त तो सीधे मुझे ही प्राप्त होते हैं॥

संसार में जो लोग उत्तम बुद्धि से हीन हैं वे मेरे सर्वोत्तम, परम श्रेष्ठ और अविनाशी भाव, प्रभाव, स्वभाव स्वरूप और सामर्थ्य को न जानते हुए मुझ अव्यक्त को जन्म धारण करके देहधारी समझते हैं। मैं अपनी योगमाया से स्वयं ढका हुआ जनसाधारण के लिये अप्रत्यक्ष हूँ। इसलिये यह मूढ जन समुदाय मुझ को अजन्मा और अविनाशी नहीं जानता है॥

हे अर्जुन ! मैं पूर्वकाल में हो चुके, वर्तमान समय में हो रहे और भविष्य में होने वाले सब भूतों को जानता हूँ परन्तु मुझ को पूरी तरह से कोई भी नहीं जानता है॥

जो पुरुष मुझ को अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित जानते हैं। वे मुझ में जुड़े हुए चित्त वाले मरणकाल में भी मुझ को जानते हैं॥

हे अर्जुन ! परम अक्षर या अविनाशी ब्रह्म है। स्वभाव (जीवात्मा या आत्मस्वरूप) अध्यात्मक कहा जाता है। भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला विसर्ग (दान देना आदि शुभ कार्य) कर्म कहलाता है॥ उत्पत्ति और विनाश धर्म वाले सब पदार्थ अधिभूत होते हैं। सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, ब्रह्मा आदि नामों से पुकारी जाने वाली शक्ति को अधिदैव या अधिदैवत कहते हैं तथा इस देह में मैं परब्रह्म ही अधियज्ञ हूँ॥

जो प्राणी अन्त काल में मुझे स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है। वह निःसन्देह मेरे स्वरूप में मिल कर मेरा रूप हो जाता है॥ इसलिए मनुष्य आजीवन मेरा ही स्मरण करता रहे क्योंकि सदा जिसका चिन्तन किया जाता है अन्त काल में भी प्रायः उसी का स्मरण होता है। अतएव सब समयों में तू मेरा अर्थात् परमात्मा के स्वरूप का स्मरण कर और युद्ध कर। इस प्रकार तू निज मन और बुद्धि को मुझ में अर्पण करने वाला हो कर निःसन्देह मुझ में ही मिल जाएगा, क्योंकि परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करने से और अन्य ओर न जाने वाले चित्त से चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाशमय दिव्य पुरुष परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त होता है॥

इसी प्रकार जो पुरुष कवि या सर्वज्ञ, पुराण या चिरंतन अर्थात् अनादि, सारे ब्रह्माण्ड के अनुशासक या नियन्ता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, सब के धाता, अचिन्त्य स्वरूप, सूर्यवर्ण प्रकाशमय और अन्धकार से सर्वथा अतीत शुद्ध परब्रह्म परमात्मा को स्मरण करता है वह भक्ति और योगबल से युक्त पुरुष मरण काल में अचल मन हुआ दोनों भ्रुवों के मध्य में प्राणों को भली-भान्ति स्थापित करके उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है॥

सब इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन को भ्रमरवत् हृदय रूप शतदल कमल में निरुद्ध करके अर्थात् संकल्प विकल्पों से रहित करके और प्राणों को मस्तिक में स्थापित करके तथा ब्रह्म में मिलने के लिये ध्यान की एकाग्र स्थिति में भली-भान्ति स्थित हुआ परब्रह्म स्वरूप ॐअक्षर का उच्चारण करता हुआ एवं मेरे स्वरूप का चिन्तन करता हुआ जो साधक शरीर को त्याग करता है। वह भी परम गति को प्राप्त होता है॥

परम सिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा लोग मुझ को प्राप्त होकर फिर दुःखों के घर और अशाश्वत पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते। ब्रह्मलोक पर्यन्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान सारे लोक पुनरावर्ती हैं। अर्थात् कालान्तर में स्वयं नाशवान हैं। और वहाँ पर पुण्यों के प्रभाव से गए हुए लोग अपने पुण्यों के फलों को भोग चुकने के अनन्तर वापस लौट कर कर्म भूमि पृथिवी पर जन्म धारण करते हैं। परन्तु मुझ को प्राप्त हुओं का फिर कभी पुनर्जन्म नहीं होता है। क्योंकि यह सारा संसार अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसके भीतर रची हुई सारी रचना मुझ अनादि ब्रह्म अव्यक्त का ही एक साधारण खेल या स्फुरण मात्र है॥

ब्रह्म देव के दिन के प्रारम्भ होने पर सम्पूर्ण स्थावर जंगम प्रजाएँ अव्यक्त ब्रह्म से ही उत्पन्न होती हैं। फिर रात्रि या प्रलयकाल होने पर उसी में समा जाती हैं परन्तु इन दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म पूर्ण ही रहता है। न उस में कोई न्यूनता होती है और न ही अधिकता होती है। तथा इस महान् और परम शक्ति का कभी नाश भी नहीं होता है। जिस को पाकर फिर कभी पुनर्जन्म नहीं होता है. वही मेरा परम धाम कहलाता है।

अग्नि प्रकाशमान्-ज्वाला, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण में सूर्य जाने के छः मास ये सब देवयान मार्ग के क्रमशः पांच सोपान हैं। उन पर चलकर ब्रह्मवेत्ता लोग अव्यक्त और अविनाशी परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। तथा धूम, रात्रि अन्धकार कृष्ण पक्ष और सूर्य के दक्षिणायन मार्ग के छः मास ये सब पितृयान मार्ग के क्रमशः पाँच सोपान हैं। उन पर चलकर सकाम कर्मकाण्डी लोग चन्द्र ज्योति वाले स्वर्ग लोकों को प्राप्त होते हैं वहाँ पर आनन्द भोगते हुए शुभ कर्मों के फल के क्षीण हो जाने पर पुनर्जन्म के लिए पृथिवी पर लौट आते हैं। देवयान और पितृयान ये दोनों मार्ग अनादि कालिक माने जाते हैं।

वेदों के पढ़ने से यज्ञों के करने से तपों के तपने से और दान आदियों के करने से जो पुण्य फल प्राप्त होता है। उस फल को देवयान मार्ग पर चल कर ब्रह्म को प्राप्त होने वाले योगी अतिक्रमण कर जाते हैं। जिस से उन का फिर पुनर्जन्म कभी नहीं होता। कारण यह है कि जिस प्रकार अशुभ कर्म पुनर्जन्म का कारण होते हैं। उसी प्रकार शुभ कर्म भी पुनर्जन्म को देने वाले बन जाते हैं।

हे पार्थ ! यह महा-विज्ञान या ब्रह्म विद्या सम्पूर्ण विद्याओं का राजा है क्योंकि इस के द्वारा मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति होती है। शेष विद्याओं और विज्ञान द्वारा तो अधिक से अधिक चन्द्र मंगल आदि ग्रहों तक ही पहुँच हो सकती हैं। यह ब्रह्म विद्या या महा विज्ञान अत्यन्त पवित्र है। अत्युत्तम है धर्म से युक्त है हिंसा से रहित है। साधन या अनुष्ठान करने में सुगम है साथ ही अविनाशी है परन्तु श्रद्धा हीन पुरुष इस पर आचरण करने में असमर्थ होते हैं जिस से वे लोग मुझे न पाकर सदैव जन्म मरण के चक्र में भ्रमण करते रहते है। व्यर्थ आशाओं वाले व्यर्थ कर्मों को करने वाले व्यर्थ ज्ञानों वाले नाम मात्र के ज्ञानी पक्षपात के दुर्गन्धमय कीचड़ में निमग्न हुए केवल अपनी देह के लिए मार धाड़ करने वाले तथा मनुष्यता से गिराने वाले दुष्कर्मों को करने कराने वाले एवम् स्वयं को मनुष्य न समझ कर पशु और हिंसक जीव जन्तु मानने वाले नाम मात्र के मनुष्य देह धारी लोग राक्षसी और आसुरी प्रकृति को धारण करके घोर नरक के अन्ध कूपों में गिरते हैं।

परन्तु हे पार्थ ! दैवी प्रकृति को धारण किए हुए अनन्य मन से मुझ को भजने वाले महात्मा पुरुष मुझे समस्त भूतों का आदि कारण और अविनाशी समझकर भजते हैं तथा सदैव मेरे ध्यान में मग्न हुए, दृढ़ निश्चय से शम दम आदि व्रतों को धारण किए हुए भक्त जन कीतर्न करते हुए मुझ को मिलने का यत्न करते हैं। तथा मुझ को नमस्कार करते हुए, श्रद्धा युक्त भक्ति से मुझ को उपासते हैं।

मैं ही इस जगत् का पिता, माता, धाता तथा पितामह आदि सब कुछ हूँ। जानने योग्य हूँ। ॐकार और सम्पूर्ण वेद हूँ। गति या प्राप्ति स्थान हूँ। भरण

पोषण करने वाला हूँ प्रभु निवास, शरण, सुहृद उत्पत्ति तथा नाश का कारण स्थिति सुरक्षित रहने का स्थान और अविनाशी बीज हूँ । मैं अग्नि सूर्य और विद्युत् आदि में तेज बन कर सब को तपाता हूँ । मेघों में छिपा हुआ जलवाष्प रूप में वर्षा को धारण करता हूँ तथा वृष्टि बन कर बरसता हूँ । मैं भक्तों के लिए अमृत हूँ, दुष्टों के लिए मृत्यु हूँ सत् (परब्रह्म) और असत् (मिथ्या जगत्) हूँ । मैं अपने अनन्य भक्तों के योग और क्षेम को पूर्ण करता हूँ । देवताओं और मुझ में भेद बुद्धि से रहित होकर जो लोग देवताओं को पूजते हैं । वे लोग वास्तव में अविधि पूर्वक मेरा ही पूजन करते हैं ।

जो लोग मुझे इस प्रकार पूजते हैं वे मुझ को ठीक तरह से न जान कर ही ऐसा करते हैं । वास्तव में मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी हूँ । तथा फल प्रदाता हूँ । मरनेके बाद देवताओं के पूजक देवता पितरों के पूजक पितर और भूतों प्रेतों के पूजक भूत प्रेत बन जाते हैं । परन्तु मुझ को पूजने वाले मुझ परमेश्वरको ही प्राप्त होते हैं ।

जो भक्त मुझ को पत्र पुष्प फल और जल भी प्रेम भक्ति पूर्वक अर्पण करता है मैं उसके उस उपहार को सादर स्वीकार करता हूँ । हे मनुष्य श्रेष्ठ ! तू अपना किया जा रहा कर्म खाया जाने वाला भोज्य पदार्थ किए जाने वाला हवन दान पुण्यादि शुभ कर्म और किया जा रहा तप सब कुछ मेरे ही अर्पण कर दिया कर । इस से तू कर्मों के बन्धन से मुक्त हो कर मद्रूप को प्राप्त हो जाएगा । यद्यपि मैं सब भूतों के लिए समभाव वाला हूँ । मेरा न कोई शत्रु है और न ही मित्र है परन्तु जो लोग मुझ को प्रेम पूर्वक भजते हैं । मैं उन का हूँ । वे मेरे हैं ।

यदि कोई पुरुष अतिदुराचारी होने के अनन्तर भी मेरा अनन्य भक्त होकर मुझ को भजता है तो वह वाल्मीकि की भान्ति महात्मा या महर्षि माना जाता है और तदनन्तर वह शाश्वत् शान्ति रूप मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।

इसी प्रकार सब प्रकार की स्त्रियां पाप योनियों में उत्पन्न हुए पुरुष तथा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि सभी वर्णों और जातियों के लोग मेरा सहारा लेकर परमगति को पा लेते हैं । इस लिए हे नर ! तू मुझ में मन लगाने वाला बन । मेरा सच्चा भक्त हो एक मात्र मेरी पूजा कर मुझे सदा नमस्कार कर इस प्रकार अपने को मुझ से युक्त करके तू मेरे परायण हुआ मुझ को ही प्राप्त हो जाएगा ।

हे अर्जुन ! मेरे प्रभुत्व और उत्पत्ति को न तो ब्रह्मादि देवता लोग जानते हैं न ही महर्षि-जन जानते हैं । अन्य किसी के जानने का तो प्रश्न ही क्या है, क्योंकि मैं अव्यक्त, अगोचर, अनादि, परब्रह्म परमेश्वर सारी सृष्टि का ही आदि कारण हूँ । पिता के जन्म की पुत्र को क्या खबर हो सकती है ॥

इस लिए जो कोई भी मुझ को अज, अनादि और लोकमहेश्वर जान कर भजता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है ।

प्रसिद्ध सप्त महाऋषि उन से पूर्व पैदा होने वाले चार सनकादि और चौदह मनु ये सब मेरे मन के संकल्प से उत्पन्न हुए हैं और मेरे ही भाव हैं । फिर लोक में सारी प्रजा इन से उत्पन्न हुई है । जो कोई व्यक्ति मेरी महान् विभूति अर्थात् जीवों के भीतर देदीप्यमान मेरे उत्तम प्रकाश को जान लेता है । वह निःसन्देह निश्चल मेरे ध्यान योग से युक्त होकर मुझ को प्राप्त हो जाता है ॥

इस समय भी मैं सारे संसार का प्रभव हूँ । भावी काल में भी सम्पूर्ण जगत् मुझ से ही प्रवृत्त होगा । इस प्रकार श्रद्धापूर्वक जान कर बुद्धिमान् पुरुष मेरा भजन करते हैं । इस प्रकार के भक्तजन मुझ में मन लगाए हुए, मुझ में अपने प्राणों को अर्पण किए हुए, मेरे परम तत्त्व का परस्पर बोध करते कराते हुए तथा मेरे महान् प्रभाव के यश को कहते और सुनते हुए नेत्र प्रेम अश्रुओं से भर कर सन्तुष्ट होते हुए निरन्तर मुझ में ही रमन करते हैं । उन को मैं बुद्धि योग प्रदान करता हूँ । जिस के द्वारा वे देहत्याग के अनंतर मुझ में मिल जाते हैं । मेरा यह सहज स्वभाव है कि मैं अपने भक्तों के अनुग्रह के लिये उनके अन्तःकरणों में स्थित हुआ, अज्ञान से उत्पन्न हुए संसार की मिथ्या प्रतीति रूप अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञान दीपक से दूर करता हूँ ॥

हे अर्जुन ! अब मैं तेरी इच्छा के अनुसार तेरे प्रति अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करूँगा । वैसे तो मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है ॥ पहले तो तुम केवल इतना ही समझो कि जिन भूतों में दूसरों की अपेक्षा मेरा अधिक तेज, अधिक बल, अधिक विद्या, अधिक ज्ञान या अन्य कोई अधिक विशेषता या गुण है अथवा अधिक विकास है उसको मेरी विभूति जान लेना चाहिए ।

"**टिप्पणी**—यहाँ विशेष जानने योग्य बात यह है कि क्या भगवान् जिन चीज़ों या जीवों को अपनी विभूतियाँ कह कर अर्जुन को बतलाते हैं क्या उनके बिना शेष सारा संसार भगवान् की विभूतियों का समूह नहीं है । क्या शेर, साँप और जूआ आदि भी भगवान् की विभूतियाँ हैं ?॥ तो फिर भगवान् का इन विभूतियों के कथन करने का रहस्य क्या है ?

उत्तर सुनिये—भगवान् ने गीता का उपदेश उस समय अर्जुन को देना प्रारम्भ किया था जब अर्जुन ने सच्चे मन से हाथ जोड़ कर चरणों पर झुक कर भगवान् से कहा था, कि "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" अर्थात् हे जगद्गुरु ! मैं एक सच्चा शिष्य हो कर तेरी शरण को प्राप्त हुआ हूँ इसलिए मुझ को सच्ची शिक्षा दीजिए । यह सुन कर भगवान् ने अर्जुन को शिष्य रूप में ग्रहण कर लिया । अब समझाने वाला विषय है—'ब्रह्म विद्या' गूंगा गुड़ का स्वाद तो अनुभव करता है । परन्तु उसका वर्णन करना उसके लिए असम्भव

है। कोई प्राणी भी अपने तन मन की कसक और पीड़ा दूसरे व्यक्ति को दिखला नहीं सकता। संकेतों, उपमाओं द्वारा ही कह सकता है। उस समय भगवान् अर्जुन को उस अल्प व्यस्क अबोध बालक के सदृश समझ रहे हैं जो ब्रह्मविद्या सिखलाने वाली पाठशाला में अभी-अभी प्रविष्ट हुआ है। साधारण गुरु जब बालक को एक, दो, तीन, चार आदि गणना के अंकों की शिक्षा देने लगता है तो उस के सामने कौड़ियाँ, घोंघे, मनके, तीलियाँ और पैसे आदि अनेक वस्तुएँ रखता है। बालफ्रेम दिखाता है। इस प्रकार अमूर्त अंकों को समझाने के लिए मूर्तिमान् वस्तुएँ दिखा कर उस बालक को गिनती करना सिखला देता है। अब तक अमूर्त ब्रह्म का स्वरूप समझाने के लिए जगद्गुरु भगवान् कृष्ण ने भी इसी शिक्षा शैली का अवलम्बन किया है। अनेक उदाहरणों से अव्यक्त परमात्मा के स्वरूप की व्याख्या की गई है और उस से मिलने और मोक्ष प्राप्ति के साधनों को बतलाया है। अब तक तो अ—अनार, आ—आम, इ—इंजन, ई—ईख, उ—उल्लू आदि ज़बानी कलामी समझाया जा रहा था। परन्तु इस दशम अध्याय में पहले दिव्य विभूतियों के मिस सरल अक्षरों को लिखना सिखाना भगवान् ने प्रारम्भ किया था तदनन्तर सर्प, सिंह, द्यूत आदि के व्याज कठिन अक्षरों का लिखना सिखाया गया है। जिस महा विज्ञान या ब्रह्म विद्या पर पहले दस अध्याओं में भाषण दिया गया है। ग्यारहवें अध्याय में उसे नक्शों, चित्रों, मौडलों, नमूनों और प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया गया है, बेशक महात्मा मूसा सरीखे अनेक महापुरुष अर्जुन से पूर्व और पीछे ब्रह्म के प्रकाशमान दिव्य और अचिन्त्य स्वरूप को देखने में असमर्थ रहे हैं। परन्तु अपने सच्चे शिष्य अर्जुन पर जगद्गुरु भगवान् कृष्ण की अपार कृपा थी जो वह उस स्वरूप को देख सका। हो सकता है उसने भी किसी कवि की तरह कुछ ऐसी ही प्रार्थना की होगी—

"हूँ मुश्ताके तजल्ली, लन्तुरानी मत सुना मुझ को।
मैं दिलदादा नहीं कुछ तक्लीदे मूसा का।"

अर्थात् "हे परब्रह्म परमेश्वर! मैं तेरा दिव्य प्रकाशमय स्वरूप देखना चाहता हूँ। तू मूसा की तरह मुझे यह न कह, कि हे मूसा! तू मुझे नहीं देख सकेगा। क्योंकि मैं तो न मूसा हूँ और न मूसा का कोई अनुयायी हूँ। मैं तो श्वेत वर्ण प्रकाश स्वरूप अर्जुन हूँ और साक्षात् जगद्गुरु कृष्ण भगवान् का शिष्य हूँ॥"

हे अर्जुन! जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है। वह भी मैं हूँ। क्योंकि कोई चर और अचर भूत ऐसा नहीं है जो मुझ से रहित हो। "सौ हाथ भर का रस्सा और अन्तिम छोर पर गाँठ" इस लोकोक्ति के अनुसार इस बहुत कहने और सुनने से भी क्या प्रयोजन है—मैं इस सारे संसार को अपनी योग-माया के अंशमात्र से धारण किए हुए हूँ॥

प्रभु के अविनाशी स्वरूप को देखने की इच्छा वाले अर्जुन से भगवान् बोले—मैं अपना अलौकिक स्वरूप दिखलाने लगा हूँ। परन्तु उस को तू अपने इन चर्म चक्षुओं से नहीं देख सकेगा। इसलिए मैं तुझ को दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ ।।

इतना कहने के अनन्तर अर्जुन ने वह सब कुछ देखा जो इस पुस्तक के एकादश अध्याय में वर्णित है। यद्यपि हम लोग टैलीविज़न या दूर दर्शन में भी बहुत कुछ देखते हैं। चल-चित्रों में भी बहुत कुछ देखा जाता है परन्तु वह सब कुछ एक सीमित पर्दे या टैलीविज़न के बक्स में ही दिखाई देता है और उसके रील मात्र या केवल फिल्म होने का हमें ज्ञान होता है। परन्तु अर्जुन ने जो कुछ विराट् रूप में देखा वह किसी पर्दे या सन्दूकची तक ही सीमित न था वह रील तो उसके चारों ओर दशों दिशाओं में घूमती हुई जल्दी जल्दी दृश्य परिवर्तन कर रही थी। धरती आकाश पर कोई स्थान भी अर्जुन को बिना विराट् रूप दिखाई न दे रहा था। जिसकी वास्तविकता में उसे सन्देह न था परन्तु बोलते चलचित्रों या दूर दर्शन में दिखाए जा रहे दृश्यों में तो वे पात्र भी होते हैं जो संसार से मर कर कभी के जा चुके हैं ।।

अर्जुन द्वारा, विविध प्रकार से प्रार्थना करने और डर जाने के अनन्तर भगवान् से अपने विराट् रूप को संवरण कर लिया और अर्जुन के सामने अपना सौम्य मानुष रूप प्रकट किया यह देख कर भयभीत हुए अर्जुन की जान में जान आई तब भगवान् ने उसे आश्वासन देते हुए प्रिय वचन कह कर सन्तुष्ट किया और अन्त में कहा—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेष यः स मामेति पाण्डव ।।

बारहवें अध्याय में भगवान् अर्जुन को समझाते हैं—कि हे अर्जुन मेरे दो प्रकार के भक्त ये हैं १—निराकार उपासक २—साकार उपासक ! इन में से निराकार उपासकों का मार्ग अधिकतर क्लिष्ट है क्योंकि उन्हें बिना नाव या वायुयान के ही संसार सागर से पार जाना होता है। साकार भक्तों की सहायता भगवान् का अवतार रूप विग्रह अथवा मूर्ति इस कार्य में नाव आदि की तरह करती है। यद्यपि यह मार्ग अधिक लंबी है परन्तु इस में कहीं भी कोई कठिनाई नहीं है सारा मार्ग शान्तिमय और सुख सम्पन्न है। परन्तु इसमें पड़ाव और विश्राम बहुत करने पड़ते हैं और बहुत से जन्म धारण करके साधना की जाती है। भक्त परम धाम की ओर जितनी यात्रा कर लेता है। अगले जन्म में उस से आगे ही बढ़ता है। पीछे नहीं लौटता है अन्त में परम धाम में पहुँच कर पर ब्रह्म परमेश्वर से मिल जाता है। भक्तिमार्ग उस रेलगाड़ी के सदृश होता है जो व्लाडीवास्टक से लैनन ग्रेड या मास्को तक

चलती है अथवा वाशिंगटन से सानफ्रांसिस्को तक चलती है किंवा जम्मू से कन्या कुमारी तक जाती हो परन्तु ज्ञान मार्ग उस विमान के सदृश है जो थोड़े घण्टों में ही २५ हज़ार मील लम्बा पृथिवी का घेरा तै कर लेता है अथवा उस राकट के तुल्य है जो चन्द्र, मंगल आदि ग्रहों की ओर जा रहा हो अपने लक्ष्य स्थान परम धाम तक पहुँच जाए तो बेड़ा पार है यदि मार्ग में ही फेल हो कर च्युत हो जाए तो रसातल के बिना और कोई ठिकाना नहीं होता है। भक्ति मार्ग को इस बाहरवें अध्याय में भली भान्ति दर्शाया गया है भक्त लोग उसे समझ कर आचरण करने से परमधाम प्राप्ति के भागी बन सकते हैं ।। क्योंकि अन्त में कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।।

अर्थात् जो मेरे परायण हुए तथा श्रद्धा को धारण किए हुए पुरुष इस बारहवें अध्याय में कहे हुए धर्ममय साकार भक्ति रूप अमृत को निष्काम भाव हो पान करते हैं । वे भक्त लोग मुझ को अत्यन्त प्रिय हैं ।।

इस प्रकार गीता का यह तृतीय भाग अर्थात् द्वितीय षटक वेद के द्वितीय भाग—उपासाना काण्ड के रूप में कथित हुआ है ।। तीसरा और अन्तिम षटक जो वेद के ज्ञान-काण्ड के रूप में है शीघ्र ही गीता के चतुर्थ भाग के रूप में प्रकाशित हो रहा है प्रतीक्षा कीजिए ।।

हे गोविन्द ! यह तेरी वस्तु अमृतमय पारिजात वृक्ष के तीसरे पुष्प के रूप में सादर तुझे समर्पित है । स्वीकार करो।

आप का
टीकाकार

ॐ श्री परमात्मने नमः

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

मयि+आसक्त—मनाः पार्थ ! योगम् युञ्जन्+मत्+आश्रयः । असंशयम् समग्रम् माम्+यथा ज्ञास्यसि तत्+शृणु ॥

मयि=(सर्व०) असमद्+सप्त० ए० व०=मुझ में।

आसक्त—मनाः=आसक्तं मनो यस्य सः (बहुव्री०)

[आसक्त=आ√सञ्ज् (भ्वा० पर० सक०=चिपकाना)+क्त=लगे हुए। अनुरक्त। लिप्त। लीन।

मनस्=(नपुं०) मन्यते बुध्यते अनेन, √मन्+असुन्=प्राणियों में वह शक्ति जिस के द्वारा उनको वेदना, संकल्प, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, बोध और विचार आदि का अनुभव होता है। अन्तःकरण। चित्त]

मुझ में लगे हुए मन वाला। मुझ में अनुरक्त या आसक्त हुए मन वाला (प्र० ए० व०)।

पार्थः=(पुं०) पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण्=पार्थ+सम्बो० ए० व०=हे पृथा पुत्र (अर्जुन) !

योगम्=(पुं०)√युज्+घञ्=योग+द्विती० ए० व०=योगम् (यहाँ √युज्' के योग में द्विती० वि० हुई है) योग के साथ।

युञ्जन्=√युज्+शतृ=युञ्जत्+(पुं०) प्र०, ए० व०=जुड़ता हुआ।

मत्+आश्रयः=अहम् एव (परमेश्वर) आश्रयो यस्य स मदाश्रयः (बहुव्री०)= मेरे आश्रय हुआ। मेरे परायण हुआ।

असंशयम्=(नञ् बहुव्री०) न संशयंयस्मिन् सः। द्विती० ए० व०। बिना संशय के। बिना सन्देह के। संशय रहित हुआ।

समग्रम्=(वि०) समं सकलं यथा स्यात् तथा गृह्यते। सम√ग्रह्+ड=समग्र+ द्विती० ए० व०=सम्पूर्ण को। समूचे को।

माम्=अस्मद् (सर्वनाम)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

यथा=(अव्यय) यद्+थाल्=यथा। जैसा। ज्यों। जिस प्रकार।

ज्ञास्यसि=√ज्ञा (क्रिया० पर० सक०=जानना)+लृट्० म० पु० ए० व०
=(तू) जानेगा। अनुभव करेगा।

तत्=तद् (सर्वनाम)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उस को।

शृणु=√श्रु (स्वा० पर० अक०=सुनना)+लोट्० म० पु० ए० व०=(तू)
सुन ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

हे पार्थ !-मुझ में अनुरक्त हुए मन वाला, मेरे ही आश्रय हुआ, योग में जुड़ता हुआ, तू जिस प्रकार मुझ को संशय रहित हुआ जानेगा। उस को सुन ॥ १ ॥

व्याख्या—बहुत से विद्वानों का विचार है कि गीता के पहले छः अध्यायों में कर्म का वर्णन है। दूसरे षट्क में उपासना या भक्ति का कथन है। तथा तीसरी षडध्यायी ज्ञान से सम्बन्धित है। इस प्रकार गीता के जो तीन स्वतन्त्र विभाग किए जाते हैं वे तत्वतः ठीक नहीं हैं क्योंकि प्रत्येक षट्क में इन तीनों का वर्णन किसी न किसी रूप में वर्णित है। स्थूल रूप में यह धारणा मानी जा सकती है।

कुछ भक्तों की धारणा है कि गीता के पहले छः अध्याय श्री गणेश जी का स्वरूप हैं। दूसरे छः अध्याय सिंहवाहिनी वरदायिनी महामाई भगवती श्री पार्वती जी का आनन्ददायी विग्रह हैं तथा अन्तिम षट्क श्री कार्तिकेय का स्वरूप है और गीता माहात्म श्री शंकर रूप में है। यह सब उन की श्रद्धा और भक्ति का परिचायक है जिस से उन को परम शान्ति, ब्रह्मानन्द, सिद्धि और मोक्ष मिलते हैं।

यह सत्य है कि जो तत्त्व पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है और उस तत्त्व या परमेश्वर का स्वरूप कभी तो व्यक्ति या इन्द्रियगोचर होता है और कभी अव्यक्त या इन्द्रिय अगोचर होता है परन्तु ज्ञानी के लिए व्यक्त स्वरूप तो उसके दृष्टि गोचर रहता ही है क्योंकि सब जगह उसका इष्टदेव हँसता हुआ सुन्दरतम रूप में उसे दिखाई देता है अव्यक्त रूप उसके तन मन और प्राणों में इस प्रकार समाया रहता है जिस प्रकार आकाश सब के बाहर भीतर समाया हुआ है। ज्ञानी और भक्त को उस का सुखदायक अनुभव सदैव होता रहता है। परमात्मा की प्राप्ति के लिये पहले निष्काम कर्म अवश्य करना चाहिए जिस के निरन्तर करते रहने से अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है फिर परमात्मा को जान कर उस में श्रद्धा और भक्ति द्वारा एक रूपता प्राप्त कर लेनी चाहिए यह कोई कठिन काम नहीं है केवल प्रभुकृपा की आवश्यकता है जो अपने भक्त को मोक्षमार्ग पर चला देती है और यह कृपा तब प्राप्त होती है जब उस परमेश्वर में मन अत्यन्त आसक्त हो जाता है। विषय वासनाओं

का लेश मात्र भी शेष नहीं रहता । भक्त ज्ञानी बन कर उस परमात्मा से सदा जुड़ा रहता है जो सदा उस के अंग-संग भीतर बाहर और सर्वत्र सारे ब्रह्माण्डमें एक रस होकर व्यापक है । यह भक्त बिना सर्वव्यापक परमात्मा के अपने लिए और कोई आश्रय भी नहीं देखता है । जीवित अवस्था में भी उसी के आश्रित रहता है और शरीर छोड़ कर भी उसी पर-ब्रह्म में मिल जाना चाहता है । इसी ज्ञान को समझाने के लिये भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू परमबुद्धिमती पृथा या कुन्ती का पुत्र है । इसलिए तू मेरे द्वारा बताए हुए उस ज्ञान को निःसन्देह शीघ्र समझ जाएगा । जिस से तू परमात्मा को भली भान्ति सम्यक जान लेगा । मैं उसका वर्णन करने लगा हूँ । तू दत्तचित होकर श्रवण कर ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

ज्ञानम्+ते+अहम्+स—विज्ञानम्+इदम्+वक्ष्यामि+अशेषतः ।
यत्+ज्ञात्वा न+इह भूयः+अन्यत्+ज्ञातव्यम्+अवशिष्यते ॥

ज्ञानम्=(नपुं०)√ज्ञा (क्रया० पर० सक०=जानना)+ल्युट्=ज्ञान+द्वितीय० ए० व०=ज्ञान को

[ज्ञान=१—आत्मा का शास्त्रों द्वारा जानना ।
२=संसार और संसार के रचयिता का साधारण ज्ञान ।
३=जानने योग्य पदार्थों का जानना ।]

ते=युष्मद् (सर्वनाम)+चतु० ए० व०=तुभ्यम् (ते)=तेरे लिए । तुझ को ।
अहम्=अस्मद् (सर्वनाम)+प्र० ए० व०=मैं ।
स—विज्ञानम्="वोपसर्जनस्य" (पा० ६।३।८२)
अर्थात् बहुव्रीहि समास में 'सह' अव्यय को विकल्प से 'स' आदेश होता है—
विज्ञानेन सह=सविज्ञानम्=विज्ञान के साथ । विज्ञान सहितम् । स्वानुभव युक्तम् । अपने अनुभव सहित [आत्मा के अनुभव ज्ञान को । विशेष ज्ञान को । ऐसे ज्ञान को जिस से आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का असली स्वरूप दृष्टि गोचर हो जाता है ।]

[वि√ज्ञा+ल्युट+द्विती० ए० व०=विज्ञानम्]
इदम्=इदम् (सर्वनाम)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इस (ज्ञान) को ।
वक्ष्यामि=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+लृट्० उ० पु० ए० व० =(मैं) कहूँगा ।
अशेषतः=कात्स्न्र्येन=सम्पूर्णता से । (नञ् बहु व्रीहि०) । न शेष+तस् =न शेष रखने से । सारे का सारा ।

यत्=यद् (सर्वनाम)+(नपुं०) द्वितीο एο वο=जिस (विज्ञान सहित ज्ञान) को।

ज्ञात्वा=√ज्ञा+क्त्वा=जान कर।

न=(अव्यय) न। नहीं।

इह=(अव्यय) इदम्+ह, 'इ' आदेशः। यहाँ। इस स्थान में। इस संसार में। इस ब्रह्मण्ड में।

भूयः=(अव्यय) भुवे भावाय यस्यति यतते, भू√यस्+क्विप्=भूयस्। पुनः। फिर।

अन्यत्=और दूसरा कुछ भी। और कोई अन्य पदार्थ।

ज्ञातव्य=√ज्ञा+तव्य+(नपुं०) प्र० ए० व० जानने योग्य।

अवशिष्यते। अव√शिष्+लट्० प्र० पु० ए० व०=शेष रह जाता है। बाकी रह जाता है॥

अर्थ—मैं तेरे लिए इस ज्ञान को विज्ञान सहित सम्पूर्णता से कहूँगा, जिस को जान कर फिर इस (ब्रह्माण्ड या संसार में) और दूसरा कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता है॥ २॥

व्याख्या—भगवान्, अर्जुन को वह ज्ञान विज्ञान सहित बतलाने लगे हैं, जिस को जान कर मनुष्य का मेल परब्रह्म परमेश्वर से हो जाता है। यही एक मनुष्य जीवन का अन्तिम या उच्चतम लक्ष्य है। सब प्रकार की विद्याओं, ज्ञान और विज्ञान का जानना मानव को ऊँचा उठाता है परन्तु सर्वज्ञ नहीं बनाता। सर्वज्ञता तो मानव को तब ही प्राप्त होती है जब वह ब्रह्म-रूप हो जाता है। आत्मा परमात्मा और प्रकृति को तत्त्व से जान लेना ज्ञान कहलाता है। जो केवल सुना हुआ और पुस्तकों में पढ़ा हुआ ही होता है। और उस की वास्तविकता का अनुमान केवल मन और बुद्धि द्वारा ही किया जाता है। परन्तु जब इस ज्ञान को इन्द्रियों द्वारा प्रयोग करके सिद्ध किया जाता है तो इस की संज्ञा विज्ञान हो जाती है। विज्ञान में सब वस्तुओं की वास्तविकता मूर्त्तिमान् होकर दिखाई देने लगती है। अर्थात् आत्मा या परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। परन्तु ज्ञान में प्रैक्टीकल अनुभव नहीं होता। इसलिए भगवान् अब गीता के शेष अध्याओं में अर्जुन को ज्ञान का उपदेश भी देंगे और विज्ञान रूप अपने विराट रूप को भी दिखाएंगे। अब यह बात स्पष्ट ही है कि जिस अर्जुन ने ज्ञान सहित विज्ञान स्वरूप विराट रूप को भी देख लेना है उस के लिए और क्या जानना शेष रह जायेगा इसलिए इस श्लोक में भगवान् द्वारा कही गई यह बात शत प्रतिशत ठीक है।

छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि अरुण के पत्र आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—

"येनाश्रुत ँ भवत्यमतं मतमविज्ञातमिति ॥६।१।३॥ पूर्वार्धं"

[**अर्थ**—जिस आदेश के द्वारा अन्य से विना सुना हुआ भी सुना हुआ हो जाता है। अर्थात् जिस एक के जान लेने से ही सब कुछ न सुना हुआ भी सुना हुआ हो जाता है। अमत (विना विचार किया हुआ) मत (विचार किया हुआ) हो जाता है अर्थात् सब न समझा हुआ भी समझ लिया जाता है। और अविज्ञात (सब न जाना हुआ) विज्ञात (जाना हुआ) हो जाता है।]

यह सुन कर श्वेतकेतु ने इसी मन्त्र के उत्तरार्ध में कहा—

"कथं नु भगवः! स आदेशो भवतीति ? ॥ ६।१।३॥"

[**अर्थ**—हे भगवन्! वह आदेश कैसा है ?]

तब पिता ने कहा :—

"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात ँ
स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव
सत्यम् ॥६।१॥४॥"

[**अर्थ**—हे सौम्य! जिस प्रकार मिट्टी के एक गोले द्वारा (अर्थात् उस का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने से) मिट्टी से बने हुए सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है अर्थात् यह ज्ञात हो जाता है कि ये सब पदार्थ उसी मिट्टी के बने हुए हैं। भिन्न भिन्न नाम रूप धारी विकार हैं। केवल एक मिट्टी ही सत्य है।]

फिर पिता ने कहा—

"यथा सौम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञात ँ स्याद्,
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्।" ६।१।५॥"

[**अर्थ**—हे सौम्य! जिस प्रकार एक लोहमणि (सोने के डले) का ज्ञान होने से सम्पूर्ण लोहमय (सुवर्णमय) पदार्थ जान लिए जाते हैं क्योंकि विकार (रूप की बदली) वाणि पर अवलम्बित नाम मात्र है। सत्य केवल सुवर्ण ही है।]

इसी प्रकार—

हे अर्जुन! सब के अधिष्ठान केवल एक परब्रह्म के साक्षात्कार करने से ही तू कृतार्थ होगा क्योंकि जगत् का मूल तत्त्व तो एक ही परब्रह्म है, नाम और रूप के भेद से वही सर्वत्र सब में समाया हुआ है। इस के बिना और कोई दूसरी वस्तु कहीं भी है ही नहीं। "परमेश्वरी ज्ञान के ही समष्टिरूप (ज्ञान) और व्यष्टि रूप (विज्ञान) ये दो भेद हैं।" ऐसा तिलक महाराज का कथन है। परन्तु इस विषय में श्री ज्ञानेश्वर जी ने इस प्रकार कहा है :—

"ज्ञान' परब्रह्म है। यह सब प्रपंच 'विज्ञान' है और इस प्रपंच में सत्य बुद्धि रखना ही "अज्ञान" है॥" ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

मनुष्याणाम्+सहस्रेषु कश्चित्+यतति सिद्धये । यतताम्+अपि सिद्धानाम्+कश्चित्+माम्+वेत्ति तत्त्वतः ।

मनुष्यानाम्=(पुं०) मनोः अपत्यम्, मनु+यत् षुक् आगम=मनष्य+षष्ठी० ब० व०=मनुष्यों के (मध्य में)।

सहस्रेषु=(नपुं०) समानं हसति, √हस्+र, समानस्य सादेशः- सहस्र+सप्त० ब० व०=हज़ारों में (अनेकों मनुष्यों के मध्य में)

कश्चित्=कः (किम् सर्वनाम का 'पुं०' प्र० ए० व०)+चित्=कोई (एक ही)।

यतति=√यत् (भ्वा० आत्म० अक०)+लट्०, (उभ०) प्र० पु०, ए० व०= यत्न करता है ।

सिद्धये=(स्त्री०)√सिध्+क्तिन्=सिद्ध+चतु० ए० व०=सिद्धि के लिए । सफलता के लिए । मोक्ष की प्राप्ति के लिए । परमात्मा में मिल कर एक हो जाने के लिए ।

यतताम्=√यत्+शतृ=यतत् (पु०)+षष्ठी० ब०व० (मोक्ष के लिये) यत्न करते हुओं के ।

अपि=(अव्यय) भी ।

सिद्धानाम्=√सिध्+क्त=सिद्ध+षष्ठी० ब० व०=सिद्धों के (मध्य में)।

कश्चित्=कोई (एक ही)।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को ।

वेत्ति=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= जानता है ।

तत्त्वतः=(नपुं०)√तन्+क्विप्, तुक्, पृषो० साधु, तस्य भावः, तत्+त्व= तत्त्व+तस्=तत्त्वतः=तत्त्व से । यथार्थ रूप से ।

अर्थ—हज़ारों (अनेकों) मनुष्यों के मध्य में कोई एक ही सिद्धि (मोक्ष-प्राप्ति) के लिए यत्न करता है । (मोक्ष के लिए) यत्न करते हुओं के भी सिद्धों के मध्य में कोई एक मुझ को तत्त्व से अर्थात् यथार्थ रूप से जानता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—साधारण मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् में चौरासी लाख योनियां हैं । जिन में जरायुज, अण्डज और उद्भिद् सब प्रकार के प्राणी सम्मिलित हैं । इन सब जीवों का वर्गीकरण इस प्रकार भी किया जाता है :—

सारे जन्तुओं को दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है १—रीढ़धारी अर्थात् हड्डी वाले जीव, २—अरीढ़धारी अर्थात् बिना हड्डी के जीव ।

रीढ़धारी जन्तुओं को पाँच प्रमुख वर्गों में बाँटा जाता है १ मत्स्य वर्ग (मछलिया) २— उभयचर वर्ग (मेढ़क) ३—सरीसृप (छिपकली) वर्ग । ४—पक्षी वर्ग और ५—स्तन धारी ।

अरीढ़धारी जीव छः प्रकार के होते हैं १—एक कोशिका वाले सूक्ष्म जीव-अमीबा पैरामीशियम आदि ।

२—स्पंज जैसे छिद्रों वाले जीव ।

३—मूंगे आदि शाखा युक्त जीव ।

४—कृमि या कीड़े ।

५—आरथ्रोपोडा वर्ग । जीवों का यह सबसे बड़ा समुदाय है । इसमें सहस्रपाद (खन खजूरे) तितली, टिड्डी, मकड़ी, बिच्छू, चीचड़, केकड़े और झींगर आदि होते हैं इस वर्ग के जीवों की संख्या कुल जीवों में लगभग $\frac{3}{4}$ है ।

६—घोंघा, शंख, कौड़ी और सीपी आदि समुदाय ।

इन सब प्रकार के प्राणियों में स्तनधारी जीव अधिक चुस्त और चालाक होते हैं । उन में भी केवल मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो परमात्मा को प्राप्त होने के लिए यत्न कर सकता है क्योंकि पशु पक्षी, कीट, पतंगादि तिर्यक योनियों में तो ईश्वर प्राप्ति के लिए साधन करने की योग्यता और शक्ति ही नहीं होती । देवादि योनियों में ऐसी शक्ति होने पर भी वे भोगों की अधिकता के कारण साधन नहीं कर सकते । इसलिए इस श्लोक में भगवान् ने इस सम्बन्ध में केवल मनुष्य का ही वर्णन किया है । मनुष्यों में भी अधिकांश लोग ऐसे हैं जो माया से मोहे हुए हैं । जिस से विषय विकारों में फँस कर मनुष्य योनि के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति को भूले हुए हैं । इन हज़ारों लाखों मनुष्यों में से कुछ एक ही ऐसे पुरुष हैं, जिन पर परमात्मा की अपार कृपा है, जिस से वे जन्म जन्मान्तर से भगवत्प्राप्ति के लिए यत्न करते चले आ रहे हैं और इस सिद्धि के पाने का यत्न करने वाले हज़ारों सिद्ध (अधिकारी, जिज्ञासु, साधक) पुरुषों में कोई एक ही मेरे वास्तव स्वरूप को तत्त्व से जानने के लिए समर्थ होता है । हे अर्जुन ! यदि तुम यह समझते हो कि जब मैं इस समय इस कृष्ण स्वरूप को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ और फिर अब भगवान् को तत्त्व से देखना और क्या हो सकता है ?.........हे अर्जुन ! ऐसा विचार करना तेरा ठीक नहीं है । यह तो हमारा माया कृत स्वरूप है । हमारे वास्तव स्वरूप को जानना बहुत ही कठिन है जैसा कि मुण्डकोपनिषद ३।१।८।। में लिखा है :—

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व—
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।।

[अर्थ—वह परमात्मा न आँखों से देखा जा सकता है। न वाणी से कथन किया जा सकता है, न अन्य इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है, न तप और (पूजा अर्चायज्ञहवनादि) अन्य किसी कर्म से पाया जा सकता है। जब ज्ञान के प्रसाद से पुरुष विशुद्ध चित्त हो जाता है फिर वह उस निष्कल (सम्पूर्ण अवयव भेद से रहित—निर्गुण और निर्व्यय) परमात्मा को ध्याता हुआ देखता है।]

यद्यपि परमात्मा अत्यन्त समीपस्थ है। तदपि मल से ढके हुए दर्पण-वत् तथा चंचल जल के समान डाँवाडोल चित्त में वह प्रतिविम्बत नहीं होता। इसलिये जिस समय इन्द्रियों और विषयों के संसर्ग से होने वाले रागादि दोष रूप मल के दूर हो जाने पर दर्पण और जल के समान चित्त प्रसन्न, स्वच्छ और शान्त भाव से स्थित हो जाता है। उस समय ज्ञान का प्रसाद होता है। जिस से शुद्ध चित्त हुआ पुरुष ब्रह्म का साक्षात्कार करने के योग्य हो जाता है। परन्तु अनेक यत्न करने वाले सिद्धों में भी कोई एक ही शुद्धान्तः करण हुआ ही परमात्मा को यथार्थ जानता है॥

श्री ज्ञानेश्वर जी ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है:—

हज़ारों मनुष्यों में किसी एक को ही इस सम्बन्ध में रुचि उत्पन्न होती है और इस प्रकार की रुचि रखने वाले बहुत से मनुष्यों में सच्चा ज्ञानी कोई विरला ही होता है। जिस प्रकार सारे संसार में अच्छे अच्छे वीर पुरुष चुन चुन कर लाखों की सेना तैयार की जाती है। परन्तु पश्चात् जिस समय युद्ध क्षेत्र में खनखनाती हुई तलवारों के द्वारा बहुत से वीरों के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। उस समय विजय श्री के पद पर एक ही मनुष्य बैठता है। वैसे ही अनेक लोग इस ब्रह्मज्ञान रूपी मीठे सागर में प्रवेश करते हैं। परन्तु पार कोई विरला ही पहुँचता है। इसी प्रकार यत्न करने वाले सिद्धों में भी परमात्मा को कोई एक तत्त्व से जानता है॥ ३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

भूमिः+आपः+अनलः+वायुः खम्+मनः+बुद्धिः+एव च। अहंकारः+इति+इयम्+मे भिन्ना प्रकृति+अष्ट-धा॥ ४॥

अपरा+इयम्+इतः+तु+अन्याम्+प्रकृतिम्+विद्धि में पराम्। जीव-भूताम्+महाबाहो! यया+इदम्+धार्यते जगत्॥ ५॥

भूमिः=(स्त्री०) भवन्ति भूतानि अस्याम्, √भू+मि, कित्=भूमि+प्र० ए० व०=भूमिः=पृथ्वी।

आपः=(पुं०)√आप्+घञ्=आप+प्र० ब० व०=जल।

अनल:=(पुं०) नास्ति अलम्=पर्याप्ति: यस्य बहुदाह्यदहनेऽपि तृप्तेरभावात् (नञ् बहुव्री०) अग्नि। आग।

वायु:=(पुं०)√वा+उण्, युक् आगम+वायु+प्र० ए० व०=वायु: =पवन।

खम्=(नपुं) ख+प्र० ए० व०=खम्=आकाश।

मन:=(नपुं०) मनस्+प्र० ए० व०=मन:। मन।

बुद्धि:=(स्त्री०)√बध्+क्तिन्=बुद्धि+प्र० ए० व०=बुद्धि:। बुद्धि।

एव=(अव्यय)√इ+वन्=एव=(ऐसे) ही। च=(अव्यय) और।

अहंकार:=(पुं०) अहं+कार=अहङ्कार+प्र० ए० व०=अहङ्कार: =अन्त:करण की पाँच वृत्तियों में से एक (वेदान्त तथा साँख्य)। अभिमान। अहंकार।

इति=(अव्यय)√इ+क्तिन्=इस प्रकार।

इयम्=इदम् (सर्वनाम)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=यह।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी ए० व०=मम, मे=मेरी।

भिन्ना=(स्त्री०)√भिद्+क्त, तस्य न=भिन्न+टाप्=भिन्ना=भिन्न भिन्न (प्रकार वाली)।

प्रकृति:=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अन्या, प्र√कृ+क्तिन्=प्रकृति +प्र० ए० व०=प्रकृति:=परब्रह्म का मूर्तिमान् संकल्प, जिस के कारण सृष्टि की उत्पत्ति होती है। ईश्वरीय—माया शक्ति।

अष्ट-धा=(अव्यय) अष्ठन्+धा=आठ प्रकार की॥ ४॥

अपरा=अपर (न पर:, नञ् तत्पु०। न परो यस्मात् बहुव्री० स०)+टाप् =अपरा (स्त्री०)+प्र० ए० व०=अपरा (है)। निकृष्ट। जड़।

इयम्=इदम् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व० =यह (प्रकृति)।

इत:=इदम्+तसिल्=इतस् (अव्यय)=इस से।

तु=(अव्यय) तो। परन्तु। और।

अन्याम्=अन्य+टाप्=अन्या (स्त्री०)+द्विती० ए० व०=अन्याम्=दूसरी (प्रकृति) को। इतर को। अन्य को।

प्रकृतिम्=(स्त्री०) प्रकृति+द्विती० ए० व०=प्रकृति को। (मेरी) ईश्वरी माया को।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व० =(तू) जान।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे—मेरी।

पराम्=√पृ+अप्=पर+टाप्=परा (स्त्री०)+द्विती० ए० व०
पराम्=परा (प्रकृति) को परे की (प्रकृति) को। उत्कृष्ट (प्रकृति) को।
जीव-भूताम्=जीवधारणनिमित्तभूताम्=जीव या प्राण धारण की निमित्त बनी हुई को। जीव स्वरूपा को। चेतन को।
महाबाहो!=[महत्' शब्द को समास में आत्व हो जाने से 'महा' रूप हो जाता है।]
[बाहु (पुं) बाधते शत्रून्, बाध्+कु, हकारा देशः]
महान्तौ बाहू यस्य सः (बहुव्री०)=महाबाहु+सम्बोधन ए० व० =महाबाहो!=हे अर्जुन!
यया=यद् (सर्व०)+(स्त्री०) तृती० ए० व०=जिस (प्रकृति) से। जिस के द्वारा।
इदम्=इदम् (सर्व०)+नपुं०) प्र० ए० व०=इदम्=यह।
धार्यते=√धृ (भ्वा० उभ० सक०=धारण करना)+णिजन्त, कर्म वाच्य, लट्० प्र० पु० ए० व०=धारण किया जाता है।
जगत्=(नपुं०)√गम्+क्विप्, (निपातनात्) नि० द्वित्व, तुगागम=जगत् =चलने वाला। जगत्। संसार॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ('मैं हूँ' भाव) ही, इस प्रकार यह मेरी (=परमात्मा की) आठ प्रकार की (जड़—) प्रकृति है॥ ४॥

(ऊपर कही हुई प्रकृति) यह अपरा (जड़ या निकृष्ट) है। हे महाबाहो! इस से दूसरी (उस) जीवभूता (जीव या प्राणधारण की निमित्त बनी हुई) परा (उत्कृष्ट-चेतन) प्रकृति को (तू) जान। जिस के द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है॥ ५॥

व्याख्या—यह बात पहले बताई जा चुकी है कि यह ब्रह्माण्ड अनेक आकाश गंगाओं से भरा हुआ है। प्रत्येक आकाश गंगा में अरबों, खरबों जगमगाते सूर्य हैं जो ग्रहों, उपग्रहों, क्षुद्रग्रहों, उल्काओं और पुच्छल तारों को साथ ले कर गांगीय केन्द्रों के चारों ओर चक्कर काट रहे हैं: प्रत्येक सूर्य को एक चक्र पूरा करने में अरबों खरबों वर्ष लग जाते हैं हमारा सूर्य बाईस सौ लाख वर्ष में अपना एक चक्र पूरा करता है। यह जो नीला आकाश दृष्टिगोचर होता है, यह तो केवल शून्य है और अन्धकारमय है। कारण यह है कि प्रकाश की किरणें केवल ठोस, तरल और गैस रूप प्रकृति को ही प्रकाशित कर सकती हैं। आकाश, मन बुद्धि और अहंकार रूप प्रकृति को तो कभी प्रकाशित कर ही नहीं सकती। और न ही आत्मा और परमात्मा पर किसी किसम का प्रकाश डाल सकती हैं। इसलिए आकाश

केवल अन्धकार मय है जो हमें नीला भासमान होता है। यह हमारा सूर्य और उस के परिवार के सदस्य ग्रह आदि आठ प्रकार की निकृष्ट या जड़ प्रकृति से बने हुए हैं जिनमें सब से पहले पृथिवी को लिया जाता है। दूसरा जल है तीसरे नम्बर पर अग्नि है चौथा स्थान वायु का है। पृथिवी, जल और वायु में जो भी परिवर्तन होते हैं वे केवल अग्नि के कारण ही होते हैं और पृथिवी जल और वायु अर्थात् ठोस तरल और गैस पदार्थों को आश्रय केवल आकाश या शून्य के द्वारा ही मिलता है क्योंकि ठोस तरल और गैस से निर्मित किसी भी वस्तु को अर्थात् स्वयं इन तीनों में से किसी एक को भी बिना आकाश के स्थिति ही नहीं मिल सकती है जब ठोस तरल और गैस, तीनों मिलकर अग्नि की सहायता से कोई रूप धारण कर लेते हैं, तो आकाश उस रूप को स्थित होने के लिए आश्रय दे देता है। तथा मन बुद्धि उस पिण्ड में प्रविष्ट हो जाते हैं, और अहंकार के द्वारा "मैं हूं" का उसे आभास होने लगता है तथा परब्रह्म का अंश जीव उस में रम जाता है जिस से अपरा जड़ प्रकृति के आठों प्रकारों से मिलकर बना हुआ वह पिण्ड जीवात्मा या परा प्रकृति के मेल हो जाने से मनुष्य पशु पक्षी कीट पतंग अथवा किसी प्रकार की वनस्पति के रूप में दृष्टि गोचर होने लगता है। दोनों प्रकार की प्रकृति का मेल एक साथ होकर ही जीव का निर्माण होता है।

पृथिवी, जल और वायु अपरा प्रकृति के तीनों रूप लग भग सौ तत्त्वों के रसायनिक या भौतिक मेल से बने हुए हैं जैसे पृथिवी में सोना चांदी लोहा गन्धक पारा आदि सब तत्त्व मिले हुए हैं। जल, हाइड्रोजन और आक्सीजन के रसायनिक मेल से बना हुआ है वायु में प्राचीनों के मत में उनचास (४९) तत्त्व मिले हुए हैं और अर्वाचीनों के मत में केवल नाईट्रोजन, आक्सीजन, कार्बन डाई औक्साइड ओज़ोन, जल वाष्प आदि हवा में दस ग्यारह तत्त्व मिले हुए हैं। तत्त्व उस वस्तु का नाम है। जिस को किसी क्रिया या विधि से दो या दो से अधिक तत्त्वों में विभाजित नहीं किया जा सकता है। और तत्त्व का सब से छोटा टुकड़ा परमाणु कहलाता है। परमाणु को तोड़ कर उस के टुकड़े नहीं किए जा सकते यदि उस को तोड़ने का प्रयत्न किया जाए तो उस से ऐसी ऊर्जा उत्पन्न होती है जो सर्वनाश भी कर सकती है और जगत् का महा उपकार भी कर सकती है। सब से हल्का परमाणु हाईड्रोजन गैस का होता है और सब से भारी परमाणु यूरेनियम धातु का होता है यूरेनियम का परमाणु हाईड्रोजन के परमाणु से २३८ गुणा भारी होता है। आज कल इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से ही ऊर्जा उत्पन्न की जाती है परन्तु त्रेता और द्वापर युगों में पारे के परमाणु की ऊर्जा से विमानादि चलाए जाते थे।

प्रत्येक प्राणी की रचना एक सैल से प्रारम्भ होती है यह सैल या कोशिका अत्यन्त सूक्ष्म होती है। पौधों की कोशिका के ऊपर एक प्रकार की कड़ी दीवार होती है। परन्तु जीव जन्तुओं की कोशिकाओं में कोई निश्चित कोशिका-भित्ती नहीं होती। यद्यपि कोशिकाएँ अलग-अलग रूप और आकार की होती हैं परन्तु उन सब की प्रमुख बनावट (संरचना) एक जैसी ही होती है। प्रत्येक कोशिका एक नन्हें डिब्बे या थैले जैसी होती है। जिस में जीवद्रव्य भरा हुआ होता है। जो पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार और जीवात्मा के मेल से बना हुआ होता है। यह कोई ऐसा साधारण मिश्रण नहीं होता जिसे कोई साधारण या विशेष वैज्ञानिक बना सकता हो।

प्रत्येक कोशिका के अन्दर एक गोल या अण्डाकार भाग होता है। जिसे नाभिक कहते हैं। इस नाभिक के भीतर कुछ जालीदार गाढ़ा पदार्थ भरा होता है। यह नाभिक ही कोशिका का स्वामी होता है क्यों कि इस के प्रभाव से कोशिका जीवित रहती है।

वृक्षों में जब पुष्प-पराग पुंकेसर से निकल कर उनके फूल के स्त्रीकेसर-वार्तिका के मुखाग्र में गिरता है तो उसमें लगी हुई चीप उस पराग को लेकर स्त्री केसर के निचले भाग अण्डकोशिका में चली जाती है फिर उस पराग का मिलाप वहाँ स्थित बीजाण्डों से हो जाता है। जिस से बीज और फल दोनों बन जाते जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य पशु पक्षी और अन्य जीव जन्तुओं की उत्पत्ति होती है। सब प्राणियों की मादा के गर्भाशय में सूक्ष्म अण्डों के समूह होते हैं। बच्चा बनने से पूर्व नर जीव के शुक्राणु मादा के अण्डे के सम्पर्क में आने बहुत जरूरी हैं। शुक्राणु बहुत छोटे होते हैं केवल सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से ही देखे जा सकते हैं। एक एक शुक्राणु एक एक अण्डे के भीतर प्रविष्ट हो जाता है। उस समय यह अण्डा एक कोशिका के रूप में होता है। पक्षियों में तो अंडा ही बड़ा होकर गर्भ से बाहर आ जाता है किन्तु पशुओं में कोशिका विभाजन नियम से शिशु के सब अंग माता के उदर में ही बनते रहते हैं और बच्चा पूरा होकर गर्भ से बाहर निकल आता है। उस का शरीर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार और जीवात्मा के मेल से ही बना हुआ होता है और सम्पूर्ण जीव-जगत् की रचना इसी प्रकार रची जाती है अपरा प्रकृति से शरीत बनते हैं और परा प्रकृति उन में चेतना या चेतन भाव उत्पन्न करती है। इसलिए हे महावाहों! हे लम्बी भुजाओं वाले! हे अत्युच्च पहुँच वाले अर्जुन! तू मेरी उस जीव स्वरूपा परा प्रकृति को भली भाँति जान ले कि जिस से यह जगत् धारण किया जाता है।

भगवान् की प्रकृति के दो भाग हैं :—

१—उपरोक्त आठ प्रकार के जड़ पदार्थ, जो अपरा प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध हैं, जो परतन्त्र होने के कारण भोज्य या परार्थ हैं।

२—जीव, जो स्वतन्त्र भोक्ता और द्रष्टा है। इस प्रकार परमात्मा की यह प्रकृति जड़ और चेतन दो रूपों में सर्वत्र व्यापक है। जड़ प्रकृति, चेतन की क्रीड़ा के लिये, नाना प्रकार के रूप धारण करती है। सारे जगत् की शोभा प्रकृति के इन दानों भेदों के मेल से ही उत्पन्न हुई है क्योंकि सब चर-अचर इन दोनों के मेल से ही उत्पन्न होते हैं। जिस शक्ति से यह जगत् प्रभु-प्रेरणा द्वारा बनाया जाता है, उस का नाम प्रकृति है। सत्त्व, रज और तम तीन इस के गुण हैं।

[सांख्य शास्त्र में शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र, गन्ध तन्मात्र, अहंकार, महत्तत्त्व और अव्यक्त ये आठ प्रकार प्रकृति के वर्णन किए गए हैं। इसके अतिरिक्त सांख्य शास्त्र में पांचमहाभूत, पाँच कर्मेन्द्रियां पाँच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन, यह सोलह विकार कहे गए हैं। ये सब चौबीस हुए। तथा पुरुष को मिला का पच्चीस तत्त्व माने गये हैं।]

वास्तव में प्रकृति परमात्मा की माया है और सब कुछ परमात्मा का ही रचा हुआ है। जैसा कि "प्रश्नोपनिषद् ६।४।।" में कहा है :—

"स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिराप: पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्रा: कर्म लोका लोकेषु च नाम च ।।४।।"

अर्थ—उस परमात्मा ने प्राण को रचा। फिर प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज,जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्न को रचा। अन्न से वीर्य तप, मन्त्र, कर्म और लोकों को रचा और लोकों में नाम को रचा।]

मुण्डकोपनिषद् ।।२।१।३।।" में लिखा है :—

"एतस्माज्जायते प्राणो मन: सर्वेन्द्रिययाणि च।

ख वायुर्ज्योतिराप: पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।। ३ ।।

[अर्थ—इस परमात्मा से ही प्राण उत्पन्न होता है। तथा इस से ही मन, सारी इन्द्रियां, आकाश वायु, अग्नि, जल और सारे संसार को धारण करने वाली पृथिवी पैदा होती है।] ।।४, ५।।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।। ६ ।।

एतत्+योनीनि भूतानि सर्वाणि+इति+उपधारय। अहम्+कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलय:+तथा ।।

एतत्+योनीनि=एते (परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञ लक्षणे) प्रकृती योनि: येषां (भूतानां) तानि=एतद्योनीनि=यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूप दोनों 'परा' और 'अपरा' प्रकृति ही जिन की योनि या कारण हैं ये—(बहुव्रीहि०)

(योनीनि=यौनि संयोजयति, √यु+नि=स्त्रियों की जननेन्द्रिय। उद्भव स्थान। उत्पत्ति कारण)।

भूतानि=√भू+क्त=भूत (नपुं॰)+प्र॰ ब॰ व॰=भूतानि=भूतप्राणी प्राणी। पदार्थ।

सर्वाणि=सर्व+प्र॰ ब॰ व॰ (नपुं॰ विशेषण)=सारे।

इति=(अव्यय)√इ+क्तिन्=ऐसा। इस प्रकार।

उपधारय=उप√धृ+णिच्+लोट्॰ म॰ पु॰, ए॰ व॰=(तू) जान ले।

अहम्=अस्मद् (सर्व॰)+प्र॰ ए॰ व॰=मैं।

कृत्स्नस्य=√कृत्+क्स्न=कृत्स्न+षष्ठी॰ ए॰ व॰=समस्त का। सम्पूर्ण का।

जगतः=√गम्+क्विप्, निपातनात् द्वित्व, तुगागम, चलने वाला। जगत्+षष्ठी॰ ए॰ व॰ (नपुं॰)=जगत् का, की, के।

प्रभवः=(पु॰) प्र√भू+ अप्=प्रभव+प्र॰ ए॰ व॰=उत्पत्ति।

प्रलयः=(पुं॰) प्रलीयते अस्मिन्। प्रलय+प्र॰ ए॰ व॰। प्र√ली+अच्=नाश। प्रलय। कल्पान्त में संसार का नाश।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण। तद्+थाल्=वैसे ही। और।

अर्थ—(हे महा बाहो!) तू जान, कि समस्त भूत (अपरा और परा) दोनों प्रकृतियों से उत्पन्न होने वाले हैं और मैं ही सारे जगत् का प्रभव (उत्पत्ति स्थान) और प्रलय (विनाश का स्थान) हूँ। अर्थात् अपनी प्रकृति द्वारा समूचे जगत् का पैदा करने वाला तथा नाश करने वाला हूँ॥ ६॥

व्याख्या—ठीक बात यह है कि केवल एक परमात्मा सत्य है। शेष सब कुछ मिथ्या है। परन्तु सम्पूर्ण जगत् सत्यवत् प्रतीत होता है। जैसा कि हमारी अपनी यह पृथ्वी दिखाई देती है। इस पर जन्मे हुए जीव भी दीख रहे हैं। जन्म मरण का खेल होता भी दिखाई दे रहा है नित्य सूर्य उदय अस्त होता है, चन्द्रमा निकलता और छिपता है। धूप निकलती है। पवनें चलती हैं। मेघ गर्जते और बरसते हैं, रात को तारा मण्डल से रजनी का गात सज जाता है यह तारा मण्डल क्या है? ऐटमी दूरबीनों से देखने पर मालूम होता है कि ये सब चमकते हुए बिन्दू असंख्य बड़े-बड़े सूर्य और उनके परिवार हैं। सिर के बालों की गणना करना सम्भव हैं। परन्तु इन सूर्यों और सृष्टियों का गणना करना सम्भव नहीं है क्योंकि इन की संख्या इतनी अधिक है कि वहाँ तक पहुँचने में हमारी गणना प्रणाली पंगु बन जाती है यहाँ जगत् शब्द उपरोक्त विशाल अर्थ में प्रयुक्त हुआ है न कि केवल अपनी इस तुच्छ पृथ्वी के लिये ही। जिस का घेरा अधिक से अधिक पच्चीस हज़ार मील है। जो चित्र में महाविशालकाय ब्राह्माण्ड की अपेक्षा बहुत बड़े शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी यन्त्र द्वारा भी देखने के लिये असम्भव है। हो सकता है कि दूसरी दुनियाओं में जीव रचना पृथिवी की जीव रचना से भिन्न हों परन्तु भगवान् तो हमारी अपनी पृथिवी के निवासियों को अर्जुन मिस यह उपदेश दे रहे हैं।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उस में की गई रचना परब्रह्म का स्फुरण मात्र ही है यह जगत् अपरा (जड़) और परा (चेतन) प्रकृति का खेल है। जो भगवान् रूपी महा बाज़ीगर या अत्यन्त अद्भुत ऐन्द्रजालक के द्वारा खेला जा रहा है। सब भूत प्राणी जड़ चेतन प्रकृति की ग्रन्थियां मात्र हैं। यह जीव इस ग्रन्थि से जितना ज्यादा छूटने का प्रयास करता है उतना अधिक उलझता जाता है जैसा कि रामचरितमानस में लिखा है :—

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी ॥
ईस्वर-अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं ॥
जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनाई ॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होई सुखारी ॥
स्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥
छोरन ग्रंथि पाव जो कोई। तो यह जीव कृतारथ होई ॥

अपरा प्रकृति तो 'क्षेत्र' है और परा प्रकृति क्षेत्रज्ञ है। ये दोनों प्रकृतियां जिन (जीवों या भूत-प्राणियों) का कारण हैं; उन को इस श्लोक में 'एतद्योनि' कहा गया है। इस बात को तू वैज्ञानिक ढंग से जान ले। अर्थात तू इस चेतन और अचेतन की ग्रंथि के रहस्य को समझ ले। और इस बात को भी जान ले कि ये जगत् रचने वाली दोनों प्रकृतियां मुझ परब्रह्म परमेश्वर की स्फुरण शक्ति मात्र ही हैं। इस लिए वास्तव में जगत् की उत्पत्ति और विनाश का कारण मैं ही हूँ ॥ ६ ॥

मत: परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय !।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

मत्त: परतरम्+न+अन्यत्+किंचित्+अस्ति धनंजय ! ॥ मयि सर्वम्+इदम्+प्रोतम्+सूत्रे मणि-गणा:+इव ॥

मत्त:=अस्मद् (सर्वनाम)+अपादानार्थक तस्=मत्+त:=मत्त:=मेरे से। मुझ से। मुझ परमेश्वर से।

परतरम्=√पृ+अप्=पर+तर=परतर+(नपुं०) प्र० ए० व०=परतरम्। अधिक परे (बिना। अतिरिक्त)।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अन्यत्=(नपुं०) भिन्न। दूसरा। विलक्षण। असाधारण।

किंचित्=किम् (सर्व०)+चित्+(नपुं०) प्र० ए० व०=किंचित्=कुछ (भी)।

अस्ति=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= है।

धनंजय !=हे धनम्+जय=हे सब के धन या बल को जीतने वाले अर्जुन !

मयि=अस्मद् (सर्वनाम)+सप्त० ए० व०=मुझ (परमेश्वर) में।

सर्वम्=सर्व+(नपुं०) प्र० ए० व०=सम्पूर्ण। सारा। सब।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह (जगत्)।

प्रोतम्=प्र√वे (भ्वा० उभ० सक०=बुनना)+क्त्=प्रोत+(नपुं०) प्र० ए० व०=प्रोतम्। अनुस्यूतम्। अनुगतम्। अनुविद्धम्। ग्रथितम् =परोया हुआ है। गुँथा हुआ है। तना बुना हुआ है।

सूत्रे=(नपुं०)√सूत्र् (चुरा० पर० सक०=बांधना)+अच्=सूत्र+सप्त० ए० व०=सूत्र में। धागे में।

मणि-गणाः=मणिनां गणाः। मणियों के समूह। [मणि=(पुं० स्त्री)√मण् +इनि=बहु मूल्य रत्न। गणाः=(पुं०) गण (√गण्+अच्)+प्र० ब० व०=समूह]

इव=(अव्यय)=(की) तरह।

अर्थ—हे सब के धन और बल को जीतने वाले अर्जुन ! मुझ (परमेश्वर) से परतर (=अधिक परे या जिस से अतिरिक्त) दूसरा कुछ भी नहीं है। धागे में परोए हुए मणियों के समूह की तरह यह सब (नाम रूप जगत् और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विचर रही अनेकों गणाओं का समूह) मुझ में परोया या गुँथा हुआ है ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू संसार के धन और बल को जीतने वाला मुझ नारायण का संगी नर है। इस लिए तुझे मैं अपना रहस्य समझा रहा हूँ। इस बात को भली भान्ति समझ लो, कि सब दृश्य प्रपंचाकार परिणाम को प्राप्त हुई माया का अधिष्ठान रूप, सारे संसार का प्रकाशक, सत्ता-स्फुरण रूप करके सम्पूर्ण संसार में अनुस्यूत, स्वप्रकाश परमानन्द चैतन्य घन और परमार्थ से सत्य स्वरूप जो मैं परमेश्वर हूँ, उस से भिन्न दूसरा कोई या कुछ भी परमार्थ में सत्य नहीं है। जैसे स्वप्न देखने वाले पुरुष से भिन्न स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थ परमार्थ से सत्य नहीं होते। और मायावी पुरुष से भिन्न मायिक पदार्थ परमार्थ से सत्य नहीं होते। तथा सीपी में भासमान चाँदी परमार्थ में सत्य नहीं होती। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण संसार वास्तव में मुझ से भिन्न नहीं हैं। जब मैं ही सब कुछ हूँ तो मुझ से बिना और कुछ भी नहीं है। मैं ही परतर या सब से अधिक परे हूँ। मेरी ही सत्ता से यह सारा संसार सत्य की भान्ति भासमान होता है। मैं सारे सूर्यों, सारी पृथिवियों, समग्र ग्रहों उपग्रहों पवनों जलों अग्नियों आकाशों, प्राणियों जड़ों और चेतनों आदि में सब जगह सब कुछ में एक रस रम रहा हूँ। ताने बाने की तरह संसार रूप कपड़े में अनुस्यूत हूँ। ब्रह्मांड में विचर रहे सब पिण्ड धागे में परोई हुई मणियों के समूह की तरह मुझ में परोए हुए हैं। अपनी दृष्टि को

अत्यन्त विशाल करके आकाश में दूरतम दूरियों में उड़ान करके मुझ विराट को देख लो। फिर मुझ में ही विलीन हो जाओगे बेहोशी में प्राणों का त्याग न करो ; चैतन्यता से शरीर से विलग होकर शरीर में रम रहे सत् में विलीन हो जाओ। इसी का नाम निर्वाण है। इसी को मोक्ष कहते हैं। परन्तु यह परमपद पाने के लिए निरन्तर अभ्यास और तन्मयता की आवश्यकता है।

इस श्लोक में 'परतर' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है पहले तो 'अतिरिक्त' अर्थ में। जिस के अनुसार ऊपर व्याख्या की जा चुकी है। दूसरे "बहुत बड़ा" अर्थ में। जिस के अनुसार अर्थ है—हे धनंजय ! मुझ से बहुत बड़ा और कुछ भी नहीं है।

'पर' शब्द' तीन दर्जों में प्रयुक्त हो सकता है—

१. 'पर' अर्थात् बड़ा।

२. 'परतर' अर्थात् बहुत बड़ा।

३. 'परतम' अर्थात् अन्तिम बड़ा।

इस श्लोक में 'परतमम्' न कह कर 'परतरम्' कहा गया है। क्योंकि परतमम् कहने से परमात्मा की शक्ति की अन्तिम सीमा निर्धारित हो जाने का भय था। इस लिये 'परतमम्' न कह कर 'परतरम्' शब्द प्रयुक्त किया गया है क्योंकि 'बहुत बड़ा' कहने से परमात्मा की अनन्त शक्ति की सूचना मिलती है ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्व-वेदेषु शब्दः खे, पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

रसः+अहम्+अप्सु, कौन्तेय ! प्रभा+अस्मि शशि-सूर्ययोः।
प्रणवः सर्व-वेदेषु, शब्दः खे, पौरुषं नृषु ॥

रसः=(पुं०)√रस् (चुरा० पर० सक०=स्वाद लेना, चिकना करना) +अच् वा घ=रस+प्र० ए० व०=रसः=सार। तत्त्व। तरल पदार्थ। स्वाद। ज़ायका। तरलता। "अपानां यः सारः स रसः" जलों का जो सार है, उसका नाम रस है (श्री शंकराचार्य)।" जो तत्त्व जिस का आधार है और जिस में व्याप्त है वही उस का जीवन और स्वरूप है तथा उसी को उस का सार (या रस) कहते हैं।" (कल्याण गीता तत्त्वांक)

अहम्=अस्मद् (सर्वनाम)=प्र० ए० व०=मैं।

अप्सु=(स्त्री०) अप् [√आप् (चुरा० स्वा०, पर० सक०=व्याप्त होना) +क्विप्, ह्रस्वः] ['अप्' शब्द के बहुबचन में ही रूप होते हैं। १—आपः २—अपः ३=अद्भिः ४—अद्भ्यः। ५—अद्भ्यः ६—अपाम् ७—अप्सु।] जलों में। जल में।

कौन्तेय !=(पुं) कुन्त्या अपत्यम्=कुन्ती+ढक् (=एय)=कौन्तेय +सम्बो० ए० व० । हे कुन्ती पुत्र अर्जुन !

प्रभा=(स्त्री०) प्र√भा+अङ् —टाप्=प्रभा+प्र० ए० व०=प्रभा =चमक । जगमगाहट । तेज । प्रकाश तत्त्व ।

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० उ० पु० ए० व० =(मैं) हूँ ।

शशि-सूर्ययो:=इतरेतर द्वन्द्व समास । शशिनि च सूर्ये च । सप्त० द्वि० व० =चन्द्र और सूर्य में ।

प्रणव:=(पुं०) प्रकर्षेण नूयते स्तूयते आत्मा स्वेष्टदेवता च अनेन । प्र√नू =अप्, णत्व=प्रणव+प्र० ए० व०—प्रणव:=ओङ्कार । ॐकार ।

सर्व-वेदेषु=सर्वेषु वेदेषु (सप्त० तत्पु०)=समस्त वेदों में ।

शब्द:=(पुं०)√शब्द् (चुरा० उभ० अक० सक०=शब्द करना)+घञ् =शब्द+प्र० ए० व०=शब्द:=ध्वनि । आवाज़ ।

खे=(नपुं०) ख+सप्त० ए० व०=खे=आकाश में ।

पौरुषम्=पुरुष+तस्येदम् अण् । पुरुषस्य भावो यत: पूंबुद्धि=पुरुषों में जो पुरुषत्व है जिस से उन को पुरुष समझा जाता है । पुरुष का भाव पुरुषत्व । पुरुषार्थ । उद्यम । पराक्रम । ऊर्जा । काम करने की शक्ति ।

नृषु=(पुं०) नी+ऋण्, डित्=नृ+सप्त० ब० व०=नृषु=नरों में पुरुषों में ।

अर्थ—हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! मैं जलो में रस हूँ । चन्द्रमा और सूर्य में प्रभा (तेज, जगमगाहट) हूँ । सब वेदों में ॐकार हूँ । आकाश में शब्द हूँ, और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ ।। ८ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू धीरा वीरा कुन्ती का पुत्र है जिसने तुझे इन्द्र द्वारा प्राप्त किया है । इस से तू भी तेज और पौरुष युक्त है वह तेज और पौरुष मैं ही हूँ । इस से तुझे धर्म-युद्ध करने में कोई आनाकानी या हिचकचाहट न करनी चाहिए । क्योंकि लड़ना या मारना तो वास्तव में "मैं ने" ही है । तू तो केवल निमित्त मात्र ही है ।

सब प्रकार के जलों या पेय पदार्थों में जो रस या सार तत्त्व है वह मैं ही हूँ ।

जल मेरी सत्ता से ही बहता है । मेरी सत्ता से ही तरल ठोस और गैस का रूप धारण करता है । मेरी सत्ता से ही समुद्रों सरोवरों, झीलों और ह्रदों में स्थित है । मेरे कारण ही वाष्प बन कर उड़ जाता है तथा मेघ बन कर वर्षा,

ओलों और बर्फ का रूप धारण करके धरती पर गिरता है और मुझ प्रभु की सत्ता से ही नदी-नदों में बहता है और फूल पत्तियों पर ओस कण बन कर हीरे मोतियों की भान्ति भासमान होता है। उस में शीतलता और उष्णता भी मेरे ही कारण से होती है।

सूर्य और चाँद में जो प्रभा है वह भी मैं ही हूँ। मेरी सत्ता के बिना सूर्य न तो स्वयं प्रकाशित हो सकता है। और न अन्य किसी ग्रह या उपग्रह आदि को प्रकाशित कर सकता है तुम सूर्य चन्द्र के प्रकाश के रूप में सदा मुझे देख सकते हो। सारे संसार में फैला हुआ प्रकाश वास्तव में मैं ही हूँ।

'ॐ' परमात्मा का नाम है और ओङ्कार उस का लिखित रूप है जो वेद के प्रत्येक मन्त्र के पूर्व लिखा जाता है और उच्चारण किया जाता है। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! मैं समस्त वेदों में ॐकार हूँ। इसी से 'ॐ' कह कर वेद मन्त्र पढ़ा जाता है।

मैं आकाश में शब्द हूँ। यद्यपि शून्य स्थान में शब्द सुनाई नहीं देता। इस के लिये विज्ञानशाला में एक प्रयोग किया जाता है हवानिष्कासन पम्प के तबे पर टिक-टिक करता हुआ टाईमपीस रख दिया जाता है फिर उस पर एक काँच का पात्र उल्टा करके रखा जाता है। पात्र का मुख्य तबे पर इस प्रकार फिट कर दिया जाता है कि जिस से बाहर की वायु कांच के पात्र के भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। इस अवस्था में भीतर रखे हुए टाईमपीस की सूईयां भी चलती हुई दिखाई देती रहती हैं और टिक टिक का शब्द भी सुनाई देता रहता है। परन्तु जब पम्प के द्वारा कांच के पात्र की वायु बाहर निकाल दी जाती है तो टाईम पीस की सूईयाँ तो चलती हुई दिखाई देती हैं किन्तु टिक टिक का शब्द सुनाई देना बन्द हो जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि शब्द तो सदा आकाश में स्थित रहता है परन्तु वायु, बिजली, ऐटमी शक्ति या किसी अन्य माध्यम के बिना सुनाई नहीं देता। आज तक जो भी शब्द बोले या किए जा चुके हैं। वे सब आकाश में विद्यमान हैं। वे शब्द तो रेडियों सैट या रसीवर द्वारा सुने जाते हैं जो किसी भी देश के रेडियो स्टेशनों द्वारा प्रसारित किए जाते हैं। विजली एक सैकिण्ड में पूरी पृथिवी के चारों ओर इन शब्दों को सात बार घुमा देती है और पृथिवी का घेरा पच्चीस हजार मील है अथवा दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि बिजली आवाज को एक सैकिण्ड में एक लाख छयासी हजार मील दूर ले जाती है और चाँद पर बैठे हुए मनुष्यों की बातचीत धरती पर बैठे हुए मनुष्यों से करवा देती है वह दिन भी भविष्य में आने वाला ही है जब भगवान कृष्ण और अर्जुन की गीता सम्बन्धी हुई बातचीत भी सुनी जा सकेगी। जो शब्द आकाश में सब जगह व्यापक है, वह शब्द अक्षय है। इस लिये स्वयं भगवान् का ही स्वरूप है।

जो पुरुषों में पौरुष है। पुरुषार्थ है। पुरुषत्व है। उद्यम है। पराक्रम है। बल वीर्य है। उद्योग है। ऊर्जा है अथवा कार्य करने की शक्ति है वास्तव में वह भी भगवान् ही है क्योंकि बिना प्रभु-सत्ता कोई भी जीव किसी भी प्रकार का कर्म करने में असमर्थ होता है ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पुण्यः+गन्धः पृथिव्याम्+च तेजः+च+अस्मि विभावसौ। जीवनम्+सर्व—भूतेषु तपः+च+अस्मि तपस्विषु।

पुण्यः=(वि०) पुण्य्+अच् (अतो गुणे, पर रूपम्)=पुण्य+(पु०) प्र० ए० व०=पुण्यः=पवित्र।

गन्धः=(पु०)√गन्ध्+अच्=गन्ध+प्र० ए० व०=गन्धः=सुगन्ध। खुशबू। गन्ध।

पृथिव्याम्=(स्त्री०) पृथिवी+सप्त० ए० व०=पृथिवी में।

[√प्रथ्+षिवन्, सम्प्रसारण]

च=(अव्यय) और।

तेजः=तेजस् (नपु०)+प्र० ए० व०=सौन्दर्य। जलाल।

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ।

विभावसौ=(पु०) विभायुक्ता वसवः अस्य=जिसकी किरणें बहुत चमकने वाली हैं। विभा+वसु=विभावसु+सप्त० ए० व०=अग्नि में।

जीवनम्=(नपु०) जीव्यते अनेन। √जीव्+ल्युट्=जीवन+प्र० ए० व०=जीवनम्=जीवन। ज़िन्दगी। जिस से जीते हैं। येन जीवन्ति सर्वाणि भूतानि तद् जीवनम् ॥ जीवन शक्ति।

सर्व—भूतेषु=सर्वेषु भूतेषु (सप्त० तत्पु०) (सप्त० ब० व०)=सब भूतों में। सब प्राणियों में।

तपः=तपस् (नपु०)+प्र० ए० व०=तपः=तप। धार्मिक अनुष्ठान। ध्यान। चान्द्रायणादि कर्म।

च=और।

अस्मि=(मैं) हूँ।

तपस्विषु=तपस्+विनि=तपस्विन्+सप्त० ब० व०=तपस्वियों में ॥

अर्थ—मैं पृथिवी में पवित्र गन्ध हूँ। अग्नि में तेज हूँ। (चराचर) समस्त (सजीव) प्राणियों में (उनका) जीवन हूँ। और (मैं) तपस्वियों में तप हूँ ॥ ९ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार आकाश का सारभूत गुण शब्द है, वायु का सारभूत-गुण स्पर्श है, अग्नि का सारभूत—गुण रूप है और जल का सार भूत

गुण रस है। इसी प्रकार पृथिवी का सार भूत-गुण गन्ध होता है। जब ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूप सार भूत-गुण केवल आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथिवी में ही देखे जाते हैं। तो ये परमेश्वरस्वरूप होते हैं परन्तु जब ये नाक, कान, त्वच्, नेत्र, रसना और नासिका इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित हो जाते हैं तो ये उनके विकार और विषय बन कर प्राणी की अधोगति का कारण बन जाते हैं। पृथिवी में सार भूत-गुण गन्ध होता है। जिस के दो रूप हैं १—सुगन्ध और २—दुर्गन्ध। श्लोक में गन्ध का विशेषण 'पुण्य' शब्द दिया गया है। जिसका अर्थ 'पवित्र' होता है। भगवान् ने पृथिवी में अपना स्वरूप "पवित्र गन्ध" कहा है। अपवित्र गन्ध या दुर्गन्ध नहीं कहा। पवित्र गन्ध मन के लिए शान्तिप्रद और तन के लिए स्वास्थ्यवर्धक होती है अपने प्रिय इष्ट की समीपता को पाकर कौन पुरुष प्रसन्न और प्रफुल्लित नहीं होता? इसी प्रकार धरती के इस सारभूत गुण गन्ध को धूप, दीप, यज्ञ हवन, चन्दन और पुष्प स्रक के रूप में सूंघ कर कौन सा भक्त खुश नहीं होता जब कि ये सब कुछ परब्रह्म परमेश्वर के निमित्त होता है। पृथिवी से जो कुछ भी उत्पन्न होता है उस में अधिक भाग पृथिवी तत्त्व का ही होता है। उन पदार्थों में से प्रभु समर्पण के लिये जो सुगन्धित पदार्थ चन्दनादि अग्नि में हवन किए जाते हैं उन की पवित्र गन्ध ईश्वर-स्वरूप ही होती है। अग्नि से जो प्रभा की किरणें विकीर्ण होती हैं वे भी तो साक्षात् ज्योति स्वरूप परमेश्वर ही हैं। सब प्रकार के प्राणियों के प्रत्येक सैल या कोशिका में जो जीवनतत्त्व भरा हुआ है। जिसके कारण प्राणी जीवित रहता है। दुःख सुख का अनुभव करता है। चलता फिरता, सोता जागता, खाता पीता और साँस लेता है। वह जीवन-तत्त्व भी वास्तव में परमेश्वर ही है क्योंकि उस जीवन तत्त्व के बिना शरीर मृतक माना जाता है और अल्पकाल में ही विकृत और दुर्गन्धपूर्ण हो जाता है। तप करने वाले महात्माओं में जो तप रूप-गुण है जिस के द्वारा तपस्वी महात्मा आतप, वर्षा, बात, क्षुधा, तृषा आदि कष्टों को शान्तिपूर्वक सहन करता है और ब्रह्मस्वरूप में लीन रहता है तथा अपनी तपश्चर्या को भंग नहीं होने देता, वह तप भी ईश्वर स्वरूप ही है। क्योंकि बिना परमेश्वर की सत्ता के तो संसार का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। अन्तर केवल इतना है कि जब यह पुरुष ईश्वर द्वारा किए जा रहे कर्मों को अपने द्वारा किए जा रहे समझता है तो पाप और पुण्य का भागी बन कर है जन्म मरण के चक्र में फँस जाता है और जब उन से अपना कोई सम्बन्ध नहीं समझता तब कर्मों के बन्धन से मुक्त हो कर परब्रह्म में लीन हो जाता है॥ ९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बीजम्+माम्+सर्व-भूतानाम्+विद्धि पार्थ ! सनातनम्। बुद्धिः+बुद्धिमताम्+अस्मि तेजः+तेजस्विनाम्+अहम् ॥

बीजम्=(नपुं०) प्ररोह-कारणम् (उत्पत्ति का मूल कारण) विशेषेण कार्यरूपेण अपत्यतया च जायते, वि√जन्+ड, उपसर्ग दीर्घः अथवा विशेषेण ईजते कुक्षिशरीरं वा गच्छति, वि√ईज् (भ्वा० आत्म० सक०=जाना) +अच्=उपादान कारण। उत्पत्ति का मूल कारण।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

सर्व—भूतानाम्=सर्वेषां भूतानाम् (षष्ठी तत्पु०)=सब भूतों का। सब जीवों का। सब प्राणियों का।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व०= (तू) जान।

पार्थ: !=(पुं०) पृथायाः अपत्यम्। पृथा+अण्=पार्थ+सम्बोधन ए० व०= पार्थः=हे पृथा (=कुन्ती)—पुत्र अर्जुन !

सनातनम्=चिरन्तनम्। सदा+ट्युल, तुट् निपातनात् दस्य नः=सनातन (वि)०+(नपुं०) प्र० ए० व०=सनातनम्=पुरातन। अनादि काल से चला आया।

बुद्धिः—(स्त्री)√बुध् +क्तिन्=बुद्धि+प्र० ए० व०=बुद्धिः=जानने, समझने और विचार करने की शक्ति। विवेक शक्ति।

बुद्धिमताम्=बुद्धि+मत्=बुद्धिमत्+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=बुद्धिमानों की।

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०—होना)+लट्० उ० पु, ए० व०=(मैं) हूँ।

तेजः=तेज (नपुं०)+प्र० ए० व०=तेजः=तेज, प्रभाव।

तेजस्विनाम्=तेजस्+विनि=तेजस्विन्+षष्ठी० ब० व०=तेजस्वियों का

अहम्=अस्मद् (सर्वनाम)+प्र० ए० व०=मैं (हूँ)।

अर्थ—हे पृथा पुत्र अर्जुन ! सारे भूत प्राणियों का सनातन बीज (अनादि-काल से चला आया उत्पत्ति का मूल कारण) (तू) मुझ को जान। बुद्धिमानों की बुद्धि (मैं) हूँ। तेजस्वियों का तेज (प्रभाव) भी मैं (ही हूँ)॥ १०॥

व्याख्या—हे बुद्धिमती माता पृथा के पुत्र अर्जुन। मैं परब्रह्म परमेश्वर हूँ। सब जीव मेरे अंश हैं, मैं ही इन की उत्पत्ति का मूल कारण हूँ। मेरी माया (महद्ब्रह्म) मेरी योनि है। मैं उस में बीज डालने वाला पिता हूँ। जिस से सब जीवों की उत्पत्ति होती है। इसलिये तू मुझे सब प्राणियों को उत्पन्न करने वाला सनातन या अनादि काल से चला आ रहा बीज जान ले।

बुद्धि भगवान् की अपरा प्रकृति का ही एक भेद है। प्राणियों में जानने, समझने, विचार करने तथा तत्त्व अतत्त्व वस्तुओं के निश्चय या निर्णय करने वाली जो शक्ति है उसी का नाम बुद्धि है यह बुद्धि ही मन और इन्द्रियों को अपने वश या कण्ट्रोल में रखकर उनका संचालन शुभ कार्यों में करती है। जब सब कुछ केवल मैं एक परमेश्वर ही हूँ और प्रकृति भी मेरा ही रूप है तो फिर

बुद्धिमानों के अन्तःकरणों में बुद्धि भी मैं ही हूँ। जो जीव को शुभ मार्ग पर चलाती है। शत्रुओं को अभिभव करने की सामर्थ्य का नाम तेज है। यह तेज बिना लड़े भिड़े ही शत्रुओं के हृदय में आतंक उत्पन्न किए रखता है। और तेजस्वी पुरुष के मुख-मण्डल से किरणें बन कर विकीर्ण होता रहता है। वास्तव में सब तेजस्वियों में यह तेज रूप प्रभाव शक्ति भी मैं ही हूँ। यह तेज भी मेरी अपरा प्रकृति का ही एक अंश है ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

बलम्+बलवताम्+च+अहम्+काम-राग-विवर्जितम् । धर्म+अविरुद्धः +भूतेषु कामः+अस्मि भरत+ऋषभः ! ॥

बलम्=(नपुं०)√बल्=अच्=बल+प्र० ए० व०=शक्ति। सामर्थ्य ।

बलवताम्=(पुं०) बल+मतुप्, वत्व=बलवत्+षष्ठी० ब० व०=बलवानों का ।

च=(अव्यय) और ।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं ।

काम-राग-विवर्जितम्=कामः च रागः च कामरागौ ताभ्यां विवर्जितम् (इतरेतर द्वन्द्व०, बहुव्री०)। काम और राग से रहित। काम=तृष्णा, कामना इच्छा, विषय वासना। राग=रञ्जना प्राप्तेषु विषयेषु=प्राप्त विषयों में प्रीति या तन्मयता ।

धर्म+अविरुद्धः=धर्मेण (शास्त्रार्थेन) अविरुद्धः यः (बहुव्री०)

अविरुद्धः=न विरुद्धः (नञ् तत्पु०=न विरुद्ध। धर्म के अनुकूल। वि√रुध्+क्त=विरुद्ध=न अनुकूल। उल्ट।

भूतेषु=√भू+क्त=भूत+सप्त० ब० व०=भूतो में। प्राणियों में।

कामः=(पुं०)√कम्+णिङ—घञ्=काम+प्र० ए० व०=कामना। अभिलाषा।

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट् उ० पु० ए० व०=(मैं) हूँ।

भरत+ऋषभः=भारतानां ऋषभः यः (बहुव्री०)। ऋषभ=(पुं०)√ऋष्+अभच्, कित्=ऋषभ+सम्बो० ए० व०=साँड। उत्तम। श्रेष्ठ। हे भरतवंश वालों में श्रेष्ठ अर्जुन !

अर्थ—हे भारत वंश में श्रेष्ठ अर्जुन ! मैं बलवानों की कामना और आसक्ति से रहित बल (सामर्थ्य) हूँ और मैं सब प्राणियों में धर्मानुकूल काम (शुभ इच्छा) हूँ ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू भरतवंशियों में सर्व श्रेष्ठ है जिस की मित्रता मुझ भगवान् कृष्ण से है और जिससे भाग्यवान तू मेरे मुख से महा विज्ञान ब्रह्म-ज्ञान रूपी गीतामृत सुनकर तृप्त हुआ है। मेरी कृपा से तू अति बलवान् है

और सतोगुणी है। जिस से तुझ में कामना, राग, अहंकार और क्रोधादि तमोगुण के दोष लेशमात्र भी शेष नहीं रहे हैं। तुझ में जो बल है वह वास्तव में मैं ही हूँ क्योंकि तेरे सदृश बलवानों में कामना और आसक्ति से रहित जो बल होता है वह मैं ही हूँ। अप्राप्त विषयों की जो तृष्णा है, उस का नाम काम है और प्राप्त विषयों में जो प्रीति या तन्मयता है उस का नाम राग है उन दोनों से रहित केवल देह आदि को धारण करने के लिए जो बल है वह मैं (भगवान्) हूँ। जो संसारी जीवों का बल, कामना और आसक्ति का कारण है। वह मैं नहीं हूँ। जो बल, काम और राग उत्पन्न नहीं करता अपितु शरीर और धर्म के पालन में सहायता करता है। उस का नाम सात्विक बल है। ऐसा बलवानों का बल साक्षात् मेरा ही रूप है तथा सब प्राणियों में धर्म और शास्त्र के अनुकूल जो कामना है जैसे देह-धारण मात्र के लिये खाने पीने, सोने तथा निज कर्तव्य पालन की इच्छा आदि, वह इच्छा रूप काम भी मैं ही हूँ। अर्थात् प्राणियों में जो सात्विक काम है वह मैं ही हूँ। बलवानों का सात्विक बल और प्राणियों की सात्विक इच्छा को अपना स्वरूप कह कर अब भगवान् अगले श्लोक में प्रकृति के तीनों गुणों के सम्बन्ध में बतलाते हैं ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

ये च+एव सात्त्विकाः+भावाः+राजसाः+तामसाः+च ये। मत्त+एव+इति तान्+विद्धि न तु+अहम्+तेषु ते मयि ॥

ये=यद् (सर्व०)+(पु०) प्र० ब० व०=जो।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) ही। भी।

सात्त्विकाः=(वि०) सत्त्व+ठञ्=सात्त्विक+प्र० ब० व०=सात्त्विकाः=सत्त्व गुण सम्पन्नाः। सत्त्व गुण सम्भूत। सत्त्व गुण से उत्पन्न हुए।

भावाः=(पु०)√भू+घञ्, भावयति चिन्तयति वा ज्ञापयति पदार्थान्,√भू+णिच्+अच्=भाव+प्र० ब० व०=भावाः=स्वभाव। पदार्थ। चित्त—वृत्तियां। जीवात्मा।

राजसाः=(वि०) रजस्+अण् वा घञ्=राजस (पु०)+प्र० ब० व०=राजसाः रजोगुण सम्बन्धी। रजो गुण से उत्पन्न हुए।

तामसाः=(वि०) तमस्+अण्=तामस्+(पु०) प्र० ए० व०=तामसाः=तमोगुण सम्बन्धी। तमो गुण से उत्पन्न हुए।

च=(अव्यय) और।

ये=यद् (सर्व०)+(पु०) प्र० ब० व०=जो।

मत्तः=अस्मद् (सर्व०)+पंच० ए० व०=मत्+तः=मत्तः=मुझ से।
एव=(अव्यय) ही (है)।
इति=अव्यय) ऐसा। इस प्रकार।
तान्=तद् (सर्व०)+(पु०) द्विती० ब० व०=उन को।
विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=
(तू) जान।
न=(अव्यय) न। नहीं।
तु=(अव्यय) परन्तु।
अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।
तेषु=तद् (सर्व०)+(पु०) सप्त० ब० व०=उन में।
ते=तद् (सर्व०)+(पु०) प्र० ब० व०= वे।
मयि=अस्मद् (सर्व०)+सप्त० ए० व०=मुझ में।

अर्थ—और जो भी सात्विक भाव हैं तथा जो राजस और तामस भाव हैं। उन (सब) को तू मुझ से होने वाले हैं ऐसा जान। परन्तु मैं उन में नहीं, वे मुझ में हैं। अथवा वास्तव में उन में मैं और और वे मुझ में नहीं हैं॥ १२॥

व्याख्या—यद्यपि इसी अध्याय के छटे श्लोक में भगवान् कह चुके हैं कि "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभव" अर्थात् 'मैं समस्त जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ।" फिर भी अर्जुन का ध्यान दिलाने के लिये कतिपय पदार्थों का वर्णन कर रहे हैं। ताकि अर्जुन प्रभु के परम तत्त्व का वास्तविक स्वरूप अच्छी तरह समझ ले। भगवान् के संकल्प मात्र से ही प्रकृति की उत्पत्ति हुई है जो अपरा और परा दो भागों में विभक्त है। दोनों भागों के मेल से ही सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति होती है। यह प्रकृत्ति त्रिगुणात्मिका है। इसके तीनों गुणों के सहारे सम्पूर्ण जगत् की रचना हुई है। किसी जीव या वस्तु में तो सत्वगुण प्रधान होता है यथा देव, ऋषि, ब्राह्मण और मिश्री आदि में। किन्हीं में रजोगुण प्रधान होता है जैसे गन्धर्व, यक्ष, क्षत्रिय, मिर्च आदि में। किन्हीं में तमोगुण प्रधान होता है जैसे राक्षस, क्रव्याद, गण्ढीला और गांजा आदि में। ये तीन प्रकार के गुण भी परमात्मा द्वारा ही उत्पन्न किए गए हैं। सब चर और अचर इन्हीं तीनों गुणों के पुतले हैं। जब प्रकृति ही परमात्मा से उत्पन्न हुई है। तो त्रिगुणमयी प्रकृति के सभी कार्य भी परमात्मा से ही प्रकट हुए जानने चाहिएँ। यह बात विज्ञान सिद्ध है परन्तु परमात्मा प्रकृति के चालक हैं, वश में नहीं। इस लिये तीन गुणों के भाव भी परमात्मा के वश में हैं। परमात्मा इन गुणों के भावों के वश में नहीं हैं। त्रिगुणमयी माया या प्रकृति दासी की भाँति प्रभु के इंगित पर नाचती है परन्तु परमात्मा पर अपना किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकती। प्रकृति से उत्पन्न हुए पदार्थों और जीवों में परमात्मा लिप्त या आधेय रूप से स्थित नहां हैं। जैसे रस्सी रूप अधिष्ठान कल्पित सर्पादिकों के

विकल्पों द्वारा दूषित नहीं होता वैसे ही परमात्मा भी उन अनात्म पदार्थों के वशवर्ती तथा उनके विकारों से दूषित नहीं होता। क्योंकि इन तीनों गुणों के भावों पर परमात्मा निर्भर नहीं हैं। बल्कि वे भाव ही उस पर निर्भर हैं। उस के आधार पर हैं और उसके वश में हैं।

भगवान् की अपरा प्रकृति से पैदा हुए—मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, तन्मात्राएं, महाभूत और समस्त गुण-अवगुण तथा कर्म आदि जितने भी भाव हैं सभी सात्विक राजस और तामस भावों के अन्तर्गत हैं और परा प्रकृति के मेल से जो प्राणी उत्पन्न होते हैं। वे भी उक्त इन तीनों गुणों से युक्त हैं। ये सब भाव और जीव तो परमेश्वर में ही विद्यमान हैं परन्तु परमेश्वर उन में लिप्त नहीं है। जिस प्रकार सागर कूज़े में समा नहीं सकता। इसी प्रकार मन, बुद्धि और इन्द्रियों से प्रतीत और अकथनीय विराट भगवान् इन तीनों गुणों और उन के भावों में किसी प्रकार भी कभी समा नहीं सकता। यद्यपि बीज के भीतर वृक्ष सूक्ष्म रूप में समाया रहता है और बीज वृक्ष के भीतर समाया रहता है। परन्तु परमात्मा ही एक ऐसा अद्भुत बीज है जिस में संसार रूप वृक्ष तो समाया रहता है परन्तु इस वृक्ष में परमात्मा को उत्पन्न करने की शक्ति कदापि नहीं होती है। साधारण बीज और वृक्ष तो नाशवान् पदार्थ हैं। परन्तु परमात्मा रूपी बीज तो कभी नष्ट नहीं होता। यद्यपि उस से उत्पन्न हुआ संसार बार बार पैदा और नष्ट होता रहता है। जैसे महा आकाश में मेघ उत्पन्न होते हैं और विलीन होते रहते हैं। मेघ तो आकाश में समाए रहते हैं। परन्तु आकाश मेघों में कभी समाता नहीं हैं। ऋण और धन विद्युत् शक्ति वाले बादलों के संघर्षण से जो बिजली उत्पन्न होती है वह तो बादलों में समाई हुई होती है। परन्तु बादल उस विद्युत् में नहीं होते। इसी प्रकार अग्नि में तो वह धूआं होता है जो उससे उत्पन्न होता है। परन्तु धूएँ में वह अग्नि नहीं होती जिस से वह पैदा होता है। इसी प्रकार परमात्मा की रची हुई समस्त सृष्टि तो परमात्मा में होती है परन्तु सर्व शक्तिमान पूर्ण परब्रह्म परमात्मा उस में कभी समा नहीं सकता।

कल्याण के गीता तत्त्वांक में—"न त्वहं तेषु ते मयि" का अर्थ—परन्तु वास्तव में उन में मैं और वे मुझ में नहीं हैं।' किया है।"

यह अर्थ भी ठीक ही है क्योंकि वास्तव में वे तीनों गुण और उन के भाव भगवान् में नहीं हैं और भगवान् उन में नहीं है। यह सम्पूर्ण विश्व रचना तो उस भगवान् का केवल संकल्प मात्र ही है जो सर्वथा और सर्वदा गुणातीत है। जिस वस्तु का वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है उस का किसी में होना या उस में किसी का होना सम्भव ही नहीं होता ॥ १२ ॥

त्रिभिगुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

त्रिभि:+गुणमयै:+भावै:+एभि: सर्वम्+इदम्+जगत् । मोहितम्+न+अभिजानाति माम्+एभ्य: परम्=अव्ययम् ॥

त्रभि:=त्रि (संख्या वाचक शब्द)+(पुं०) तृती० ब० व०=तीनों द्वारा । तीनों से ।

गुणमयै:=गुण+मय+(पुं०) तृती० ब० व० गुणमय । गुणों से युक्त । गुणों वाले ।

भावै:=भाव+(पुं०) तृती० ब० व०=भावों द्वारा । भावों से ।

एभि:=इदम् (सर्व०)+(पुं०) तृती० ब० व०=इन के द्वारा । इन से ।

सर्वम्=सर्व+(नपुं०) प्र० ए० व०=सारा ।

इदम्—इदम् (सर्व०)+नपुं०) प्र० ए० व०=यह ।

जगत्=(नपुं०) जगत्+प्र० ए० व०—जगत् ।

मोहितम्=√मुह्+णिच्+कर्मणि क्त=मोहित+(नपुं०) प्र० ए० व० मोहा हुआ ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

अभिजानाति=√अभि√ज्ञा (क्रिया० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=जानता है ।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को ।

एभ्य:=इदम्=(सर्व०)+पंच० ब० व०=इन से ।

परम्=पर+(पुं०) द्विती० ए० व०=सर्वोच्च को । सब से बड़े को । पर को ।

अव्ययम्=(वि०) वि√इण्+अच् (नञ् बहुव्री०)=अव्यय+(पुं०) द्विती० ए० व०=अव्यय को । अपरिवर्तनशील को । सदा एक रस रहने वाले को । अक्षय को । निर्विकार को ।

अर्थ—गुणों के विकार या कार्य रूप सात्विक, राजस और तामस इन तीनों प्रकार के भावों से मोहा हुआ यह सारा जगत् (प्राणी समुदाय) इन (तीनों गुणों) से पर (कुछ भी सम्बन्ध न रखने वाले—परम श्रेष्ठ) मुझ अविनाशी को नहीं जानता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—संसार के सारे प्राणी अपने अपने स्वभाव, प्रकृति और विचार के अनुसार प्रकृति द्वारा निर्मित इस अनित्य और दु:ख-पूर्ण सांसारिक पदार्थों को सुखमूलक समझ कर उन के मोह में फँसे हुए हैं । मनुष्य अपने अन्त:करण में स्थित सौन्दर्यमयी रेशमी न नज़र आने वाली चादर से त्रिगुणमय भावों या पदार्थों को ढक कर उन को अत्यन्त सुन्दर और प्रिय रूप में देखता है,

यद्यपि इन सब वस्तुओं में सौन्दर्य और प्रियपन उस के अन्त:करण की चादर के कारण ही उत्पन्न होता है। वास्तव में इन में क्षणभंगुरता होने के कारण उन की रमणीयता, सुखरूपिता और चित्त को हरण करने वाली चमक दमक कुछ भी नहीं है यह प्राणि-समूह जीवन के लक्ष्य को भूल जाने से माया के फन्दे में बुरी तरह फँसा हुआ है। यह जीव परब्रह्म परमेश्वर का अंश होने पर भी अपने निज स्वरूप को भूला रहता है। श्री ज्ञानेश्वर जी के शब्दों में जल पर उत्पन्न हुई सेवार (बूर) जिस प्रकार सरोवर के सारे जल पर आच्छादित हो जाती है जिस से जल का स्वरूप दृष्टि गोचर नहीं होता। अथवा जिस प्रकार मेघों से सारा आकाश आच्छादित हो जाता है। अथवा स्वप्नों को यद्यपि मिथ्या कहा जाता है परन्तु फिर भी जब तक निद्रा की सत्ता स्थिर रहती है। तब तक स्वप्न सत्य जान पड़ता है और हमें स्वयं अपनी ही स्मृति नहीं रहती। अथवा जब आंख की पुतली पर मोतियाविन्द का जाला उत्पन्न हो जाता है तो नेत्र की देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार यह मेरी त्रिगुणात्मक माया भी छाया या परदे के समान है। यह माया रूपी जवनिका भी मेरे आत्म स्वरूप को प्राणियों की दृष्टि से ओझल किए हुए है। जिस के कारण प्राणी मुझे देखने या पहचानने में असमर्थ हो जाते हैं। वे प्राणी यद्यपि मेरा ही अंश है और मुझ से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु जिस प्रकार पानी में उत्पन्न हुए मोती कभी पानी में घुलकर पानी रूप नहीं बनते हैं। इसी प्रकार यह प्राणी समुदाय माया रूपी शक्ति में फँसा हुआ मद्रूपिता को प्राप्त नहीं होता। मिट्टी का कच्चा घड़ा तो पानी में घुल जाता है अथवा टूट फूट कर अपने मूलरूप मिट्टी में शीघ्र ही मिल जाता है परन्तु मिट्टी का वही कच्चा घड़ा अग्नि द्वारा पक जाने पर मिट्टी से भिन्न वस्तु बन जाता है और अपने मूल स्वरूप मिट्टी के साथ मिल जाने में असमर्थ हो जाता है। इसी प्रकार जो जीव त्रिगुणात्मिक माया की चमक दमक से मोहित होकर उस के भावों की अग्नि द्वारा संस्कृत हो जाता या पक जाता है। फिर उस का अपने मूलरूप ईश्वर में मिलना कठिन या दुष्कर हो जाता है। मैं तीनों गुणों के भावों से परे हूँ। अविनाशी हूँ। परन्तु प्रकृति के सौन्दर्य की चमक दमक से मोहित जीव समुदाय विवेक शून्य होकर तीनों गुणों के भावों में ही रमा रहता है उस की विवेक दृष्टि इतनी स्थूल हो गई है कि वह विषयों के संग्रह और भोगों को छोड़ कर जीवन का अन्य कोई लक्ष्य या कर्त्तव्य ही नहीं समझता है। और न उस से परे कुछ देखता है। इसलिये मुझ सच्चिदानन्द घन, ज्योतिस्वरूप, प्रकाशमान् परमात्मा को जानता नहीं है। जिह्वा और उपस्थ इन्द्रियों के वशीभूत हो कर नाना प्रकार के रोग शोक और दु:ख भोगता है। जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है—

श्लोक—

'इन्द्रियाभ्यामजय्याभ्यां द्वाभ्यामेव हतं जगत् ।
अहो उपस्थ-जिह्वाभ्यां ब्रह्मादि मशकावधि ॥''

(अर्थ—अल्प प्रयत्न से जीतने में अशक्य जीभ और उपस्थ दोनों इन्द्रियों द्वारा ब्रह्मा से लेकर मशक पर्यन्त सारा जगत् हनन किया गया है।)'' ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

दैवी हि+एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। माम्+एव ये प्रपद्यन्ते मायाम्+एताम्+तरन्ति ते ॥

दैवी=(वि०) देव+अण्=दैव+(स्त्री०)=दैवी=देव सम्बन्धिनी। वैष्णवी। नारायणी।

हि=(अव्यय) क्योंकि। अलौकिक। अद्भूत। दिव्य। निःसन्देह।

एषा=एतद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=यह।

गुणमयी=गुण+मय=गुणमय+(स्त्री०) प्र० ए० व०=तीनों गुणों वाली।

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरी।

माया=(स्त्री०) मीयते अनया, √मा+य—टाप्=माया+प्र० ए० व० =माया। प्रकृति। शक्ति।

दुरत्यया=दुःखेन अत्ययः अतिक्रमणं (लाँघना, उल्लंघन, पार करना, अति √क्रम्+घञ्, ह्रस्वः) यस्याः सा दुरत्यया (बहुव्री०) अतिदुस्तर। [अत्यया=(स्त्री०) अति√इ (भ्वा० पर० सक०=जाना। पहुंचना) +अच्+टाप्=पार होने वाली। तरने योग्य।]

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

एव=(अव्यय) ही।

ये=यद् (सर्व०)+पु०) प्र० ब० व०=जो (लोग)।

प्रपद्यन्ते=प्र√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=जाना, प्राप्त होना) +लट्० प्र० पु०, ब० व०=प्राप्त होते हैं। शरण ग्रहण करते हैं। भजते हैं।

मायाम्=(स्त्री०) माया=द्विती० ए० व०=माया को।

एताम्=एतद् (सर्व०)+(स्त्री०) द्विती० ए० व०=इस को।

तरन्ति=√तृ (भ्वा० पर० सक०=पार होना। तर जाना)+लट्० प्र० पु० ब० व०=तर जाते हैं। उल्लंघन कर जाते हैं।

ते=(सर्व०) तद्+प्र० ब० व०=वे (लोग)।

अर्थ—क्योंकि (निःसन्देह) यह अलौकिक, अद्भुत दिव्य, नारायणी त्रिगुण-मयी मेरी माया अति दुस्तर है। परन्तु जो लोग मुझ को प्राप्त होते हैं, अर्थात् मेरी ही शरण ग्रहण करते हैं, वे इस माया को (सहज ही) अतिक्रमण या उल्लंघन कर जाते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—"गीता १८।६६॥" में भगवान ने अर्जुन से कहा है—

"सर्वधर्मान्परित्यज मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"

[**अर्थ**—तू सब धर्मों को त्याग कर केवल एक मेरी शरण को ही प्राप्त हो। मैं तुझ को सब पापों से छुड़ा लूँगा। (इस विषय में) तू किसी प्रकार की चिन्ता या शोक मत कर।]

जो लोग भगवान् के उक्त कथन को मान कर उस पर आचरण करते हैं, वे प्रभु-अनुकम्पा से सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। और तीन गुणों से निर्मित हुई दृढ़ रज्जु के समान त्रिगुणमयी माया के मज़बूत बन्धन से छूट जाते हैं। तथा भगवान् की उस सत्त्व-गुणमयी, रजोगुणमयी, और तमोगुणमयी दिव्य नारायणी माया रुप नदी को सहज ही तर जाते हैं। जो बहुत अद्भुत, अलौकिक और अत्यन्त दुस्तर है। कहने का भाव यह है कि भगवान् के स्फुरण मात्र से ही अपरा (जड़) और परा (चेतन) दो प्रकार की प्रकृति प्रकट हुई है। जड़-चेतन की ग्रन्थि बन जाने से जीव का जन्म होता है। जीव वास्तव में ईश्वर का ही एक अंश है। जैसा कि भगवान् ने स्वयं कहा है—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' [गी० १५।७]

जो अपने परम शुद्ध स्वरूप को भूल कर त्रिगुणमयी माया के वशीभूत हो जाता है। और उस माया या प्रकृति से उद्भूत भावों या पदार्थों की झूठी चमक दमक से मोहित होकर उनमें निज-मन-कल्पित सौन्दर्यों को देखने लगता है। जिस से उनमें अनुरक्ति और तन्मयता उत्पन्न हो जाती है। इस अनुरक्ति और तन्मयता के कारण फिर वह अपने शुद्ध परमात्मा को देखने में असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार वह माया या प्रकृति के दलदल में फँसा हुआ जन्म मरण के चक्र में पड़ा रहता है और सदा दुःखों और नाना प्रकार की यातनाओं को भोगता है। परन्तु जिस जीव पर परमात्मा की अनुकम्पा हो जाती है। वह प्रभु को भजता है। उस के स्वरूप में अपना ध्यान लगाता है। सदा उस की ही शरण को प्राप्त रहता है। उस की जड़-माया और चेतन जीव की सांझ रूप ग्रन्थि टूट जाती है और वह जीव माया से मुक्त होकर परमात्मा में मिल कर तद्रूप हो जाता है।

श्रुति में कहा है—

"लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिर्मुक्ताः ॥" (श्वे० ३०१।७॥)

अर्थात् ध्यान योगी लोग ब्रह्म में तत्पर होकर लीन हो जाने पर जन्म मरण से मुक्त हो जाते हैं।

इसी मोक्ष-अवस्था का नाम दुस्तर माया का तर जाना है।

"संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीश: अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृ भावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥" (श्वे० १।८॥)

[अर्थ—परस्पर मिले हुए इस क्षर-अक्षर अथवा व्यक्ताव्यक्त रूपों को विश्वेश्वर पालन पोषण करता है। मायाधीन जीव (माया में) भोक्तृ-भाव के कारण इस में बँधता है और परमात्मा का ज्ञान हो जाने पर सारे पाशों से मुक्त हो जाता है ॥]

यह माया देव या नारायण के आश्रित रहने से दैवी या नारायणी माया कहलाती है। महाभारत शान्ति पर्व ३३९।४४॥ में भगवान् ने नारद से कहा—

"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यति नारद !।
सर्वभूत गुणैर्युक्तं नैव त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥"

[अर्थ—हे नारद ! तुम जिस को देख रहे हो, यह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। तू मुझ को सब प्राणियों के गुणों से युक्त जानने के योग्य नहीं है। अर्थात् मैं प्राणियों के गुणों से युक्त नहीं हूँ।]

इसी सम्बन्ध में यह एक उपनिषद् वाक्य है—

"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ॥"

[अर्थ—प्रकृति को माया जानो, और परमेश्वर को माया वाला या माया-पति समझो।]

श्वेमाश्वतरोपनिषद् में लिखा है—

"सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥"
(श्वे० १।६॥)

अर्थ—जीव अपने को और सर्व-नियन्ता परमात्मा को अलग-अलग मान कर, सारे जीवों के इस जीवन निर्वाहक (भोग-भूमि) और सब के आश्रय भूत (प्रलय स्थान) इस महान् ब्रह्मचक्र में भ्रमण करता रहता है, और जब उस से अभिन्न रूप से सेवित होता है, तब अमृतत्व प्राप्त हो जाता है।]

फिर आगे चल कर इसी उपनिषद् में लिखा है।

तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः ॥ (श्वे० उ० १।१० ॥)

[अर्थ—उस परमात्मा के चिन्तन से, उस में (चित्त को) जोड़ने से, उस के तत्त्व की भावना करने से अर्थात् उस में तन्मय हो जाने से. फिर अन्त में

विश्वरूप सारी माया की निवृत्ति (नबेड़ा—समाप्ति) हो जाती है।]

"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः ।। (श्वे० १।११")

अर्थ —परमात्मा को जान कर माया के सारे बन्धन टूट जाते हैं।]

"तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिराप: स्रोत:स्वरणीषु चाग्नि: ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ।। (श्वे० १ । १५ ।।)

[अर्थ—जिस प्रकार तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों (चश्मों) में जल, अरणी काष्ठों में अग्नि, (प्रयत्न करने पर ही) देखे जाते हैं। उसी प्रकार वह पुरुष परमात्मा को आत्मा अर्थात् देह में ही पा लेता है जो सत्य और तप के द्वारा बारंबार उसे देखने का प्रयत्न करता है ।।]

एक और श्रुति में कहा है :—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" अर्थात् एक ही परमात्मा सब भूतों में गुप्त रूप से विराजमान है।" ।। १४ ।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।। १५ ।।

न माम्+दुष्कृतिन:+मूढा: प्रपद्यन्ते नर+अधमा: । मायया+अपहृत—ज्ञाना:+आसुरम्+भावम्+आश्रिता: ।।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

माम्=अस्मद् (सर्वं०)+द्विती० ए० व०=मुझ को ।

दुष्कृतिन:=दुस्+कृत्+इन्=दुष्कृतिन्+(पुं०) प्र० ब० व०=दुष्कृतिन:=पापकारिण:=पाप कर्म करने वाले । खोटे कर्म करने वाले । दूषित कर्म करने वाले ।

मूढा:=(वि०)√मुह् (दिवा० पर० अक०)+क्त=मूढ+(पुं०) प्र० ब० व० =मूढा:=मूर्च्छित हुए । व्याकुल हुए । मूर्ख बने हुए । भटके हुए । महामूर्ख ।

प्रपद्यन्ते=प्र√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=जाना । प्राप्त होना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=प्राप्त होते हैं ।।

नर-अधमा:=(वि०) नराणां मध्ये अधमा: (निकृष्टा:) ये (बहुव्री०) नीच लोग । दुष्ट पुरुष ।

मायया=(स्त्री०) माया+तृती० ए० व०=माया द्वारा । माया से ।

अपहृत-ज्ञाना: —अपहृतानि ज्ञानानि येषां ते (बहुव्री०)=हर लिए गए हैं ज्ञान जिन के, वे ।

[अप √हृ+क्त=अपहृत+ज्ञान+(पुं०) प्र० ब० व०=हरे गये ज्ञान वाले]

आसुरम्=(वि०) असुर+अण्=आसुर+(पुं०) द्विती० ए० व०=आसुरम् =असुरों सम्बन्धी। असुरों वाले। असुरों जैसे। हिंसा करने, झूठ बोलने और मदिरा पान आदि करने वाले दुष्टों जैसे।
भावम्=(पुं०) भाव+द्विती० ए० व०=भाव को।
आश्रिताः=(पुं०) आ√श्रि+क्त=आश्रित+प्र० ब० व०=आश्रय किए हुए। आश्रय लिए हुए (लोग)॥

अर्थ—दूषित कर्म करने वाले, महामूर्ख, माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले और आसुर स्वभाव को धारण किए हुए ये सब मनुष्यों में अत्यन्त नीच-नर मुझ को नहीं प्राप्त होते हैं॥ १५॥

व्याख्या—जो पुरुष दूषित कर्म करते हैं। पाप कर्म करते हैं। जन्म जन्मान्तर से पाप कर्मों में रत हैं। और इस जन्म में भी दुष्ट-कर्म करने में ही प्रवृत्त हैं—पर-प्राण हरण करने में लगे हुए हैं पर-द्रव्य हरण करते हैं, दूसरे जीवों का मांस भक्षण करते हैं। पर-नारियों से रमण करते हैं। झूठ बोलते और मद्य पीते हैं ऐसे दुष्कृति नर भगवान् को कदापि प्राप्त नहीं होते। क्योंकि सदा पापरत रहने के कारण न वे भगवान् की शरण में जाते हैं न ही उसका भजन करते हैं।

दूसरी प्रकार के वे लोग हैं जो मूढ़ या महा-मूर्ख हैं जिन को सत्-असत् का तनिक विवेक या ज्ञान नहीं है क्योंकि पूर्वले जन्मों के पापों के कारण वे अल्पज्ञ और बुद्धिहीन होकर संसार में जन्मे हैं। न उन को ठीक विद्या की प्राप्ति हुई है और न ही किसी सद्गुरु के ज्ञान से प्रभावित हुए हैं क्योंकि गोस्वामी श्री तुलसी दास के शब्दों में—"मूर्ख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें विरंच सिव"। वाली बात होती है। ज्ञानी कहते हैं पृथिवी गोल है। ये महामूर्ख इस विषय में किसी युक्ति-उक्ति को मानते ही नहीं हैं यद्यपि अपोलो नं० १३ और १५ के तीन तीन यात्री चन्द्र तल पर उतरने में सफल हो चुके हैं और सारे जगत् की वेधशालाओं के विज्ञानियों ने उन के इस सराहनीय कार्य को विशालकाय दूरदर्शियों तथा ऐटमी दूरबीनों द्वारा देखा है परन्तु ये मूढ़ पुरुष इस बात का विश्वास ही नहीं करते। केवल एक ही रट लगाए जाते हैं कि यह बात नितान्त असम्भव और सफेद झूठ है। ये लोग परमात्मा पर विश्वास ही नहीं करते। कहते हैं जब किसी ने परमात्मा को देखा या हमें दिखाया ही नहीं है तो वह कहीं हो भी कैसे सकता है? परमात्मा पर आस्था केवल कपोल कल्पित बात है। ऐसे मूढ़ या महामूर्ख पुरुष भी परमात्मा को प्राप्त नहीं होते। क्योंकि वे न कोई पूजा अर्चा करते हैं। न उस को भजते हैं। न उस की शरण में जाते हैं तीसरी प्रकार के वे पुरुष हैं जो पूर्वले कर्मों के अनुसार धनियों के घरों में जन्मे हैं। या पढ़ लिख कर कर्म वश उच्च-पदाधिकारी बन गए हैं अथवा किसी प्रकार के व्यापार, हेरा-फेरी, रिशवत-

खोरी, बददयान्ती या ब्लैक धंधे द्वारा धनी मानी बन चुके हैं इन के ज्ञान माया ने हर लिये हैं आत्मा-अनात्मा की परख करने वाली सद्बुद्धि नष्ट कर दी है। इन का ईश्वर से लगाव छीन लिया है। ऐसे माया से अपहृत हुए ज्ञान वाले पुरुष पराए लड़कों लड़कियों को बलात्कार से अपनी मोटरों में डाल कर अपनी कोठियों में ले जाते हैं। उनसे व्यभिचार करने के बाद उन को ठिकाने लगा देते हैं। ताकि ये अभागे जीवित रह कर उन के पाप कर्म का उद्घाटन करके उनकी निन्दा या कलंक का कारण न बनें ये माययापहृत ज्ञान वाले लोग नित्य जूआ खेलते और मद्यपान करते हैं। नाना प्रकार के पशु-पक्षियों तथा मछलियों के मांस भक्षण करते हैं कंचनियाँ नचाते हैं। व्याह शादियों पर लाखों लुटाते हैं। वेद विरुद्ध, देश विरुद्ध, वंश विरुद्ध और मानवता विरुद्ध सब प्रकार के कर्म करते हैं भला इन बेचारों को परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ये लोग तो जान बूझ कर परमात्मा का नाम लेना पाप समझते हैं। एक बार हम लोग चर्खीदादरी में एक धर्म सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए गए थे हमारी मोटर में आधे से अधिक युवक मायापहृत ज्ञान चढ़े हुए थे जो चलती मोटर में भी सारा मार्ग द्यूतक्रीड़ा करते रहे और विश्राम स्थान पर सारी रात भी यही धंधा जारी रखा चार बजे प्रातः जब लेखक सस्वर गीता गाने लगा तो एक युवक उसे सुनाता हुआ अपने साथियों से कहने लगा कि यदि हम इस महाशय का ऐसा करना पहले से ही जान लेते तो इस धर्म सम्मेलन के शुभ अवसर पर इन को कभी साथ न लाते। मेरे भगवान् उस समय हंस कर कह रहे थे—

"माययापहृतज्ञाना मां न प्रपद्यन्ते मूढाः।"

अर्थात् माया से हरे हुए ज्ञान वाले मूर्ख लोग मुझे प्राप्त नहीं होते ।।

चौथी प्रकार के नीच नर वे होते हैं जो आसुर भाव के आश्रित हैं। जिन के सम्बन्ध में भगवान् ने स्वयं गी० १६।४।। में कहा है—

"दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ।।

[**अर्थ**—हे पार्थ ! दम्भ, दर्प (घमण्ड) अभिमान, क्रोध पारुष (कठोरता या क्रूरता) और अज्ञान ये छः स्वभाव आसुरी सम्पदा में उत्पन्न हुए पुरुष के होते हैं ।।]

आसुरभाव आश्रित लोग अपना जीवन दम्भ, दर्पादि द्वारा ही बताते हैं। और ये लोग नीच वृत्ति होने के कारण से न कभी परमात्मा को भजते हैं और वे न ही परमेश्वर की शरण लेते हैं। इस से कभी परमेश्वर को प्राप्त नहीं होते इस प्रकार ये चारों प्रकार के नीच नर होते हैं जो परमात्मा को न पाकर मर कर नीच और अधमाधम योनियों में भ्रमण करते रहते हैं ।। १५ ।।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

चतुर+विधा:+भजन्ते माम्+जना: सुकृतिन:+अर्जुन !। आर्त्त:+जिज्ञासु:+अर्थ+अर्थी ज्ञानी च भरत+ऋषभ ! ॥

चतुर+विधा:=(वि०) चतुर्णां विधानां ये ते (बहुव्री०)=चतुष्प्रकारा: =चार प्रकार के ।

भजन्ते=√भज् (भ्वा० उभ० सक० अक०)+लट्० प्र० पु०, ब० व० भजते हैं। स्मरण करते हैं। पूजा अर्चा करते हैं। प्यार करते हैं। सेवा करते हैं ॥

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को ॥

जना:=(पु०)√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+अच्=जन +प्र० ब० व०=जना:=लोग। मनुष्य। भक्त जन।

सुकृतिन:=(वि०) सुकृतम् अनेन (बहुव्री०) सु√कृ+क्त=सुकृत+इनि =सुकृतिन्+(पु०) प्र० ब० व०=भली भान्ति काम करने वाले। पुण्यकर्माण:। पुण्यकर्म करने वाले। पुण्यात्मा।

अर्जुन !=हे अर्जुन !।

आर्त्त:=(वि०) आर्त्ति-परिगृहीत:—तस्कर-व्याघ्र-रोगादिना अभिभूत-आपन्न: =मुसीबत में फँसा हुआ—चोर, बाघ या रोगादि के वश में हुआ। आ√ऋ+क्त=आर्त+(पु०) प्र० ए० व०=आर्त:=अस्वस्थ। पीड़ित। कष्ट प्राप्त।

जिज्ञासु:—भगवत् तत्त्वं ज्ञातुम् इच्छति य: (बहुव्री०) भगवान् का तत्त्व जानने की इच्छा वाला। √ज्ञा+सन्+उ=जिज्ञासु+(पु०) प्र० ए० व० =जज्ञासु:=मुमुक्षु।

अथ+अर्थी=(वि०) अर्थानाम् अर्थी य: (बहुव्री०) धनों का चाहने या मांगने वाला। धनकाम। अर्थ+अर्थ+इनि=अर्थार्थिन्+(पु०) प्र० ए० व० =अर्थार्थी। धन चाहने वाले। अपने उद्देश्य की सिद्धि चाहने वाले। मतलब प्रस्त। मतलबी लोग।

ज्ञानी=(वि०) ज्ञान+इनि=ज्ञानिन्+(पु०) प्र० ए० व०=ज्ञानी। जिस ने आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है। महात्मा।

च=(अव्यय) और।

भरत+ऋषभ !=भरतेषु ऋषभ: य: (बहुव्री०) ऋषभ=(पु०)√ऋष् +अभच्, किन्=ऋषभ+सम्बोधन ए० व०=साँड। उत्तम। श्रेष्ठ। हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ !

अर्थ—हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्य करने वाले—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी पुरुष मुझ को भजते हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तुम सुकृति और ज्ञानी हो मेरे अनन्य प्रिय भक्त हो। इस लिए सम्पूर्ण भरत वंशियों में श्रेष्ठ हो। जो पुरुष अनेक जन्मों से शुभ कर्म करते चले आ रहे हैं। उन का स्वभाव बार-बार और जन्मजन्मान्तर के अभ्यास से शुभ कर्म शील बन गया है। जिस से वे सदा भगवत्प्रेरणा से शुभ कर्म ही करते हैं। और सुकृती कहलाते हैं ये सब सुकृति लोग भगवान् के भक्त और उपासक होते हैं। इन की चार श्रेणियाँ हैं—

१. आर्त भक्त—ये लोग वैसे तो भगवान् को सदैव भजते रहते हैं परन्तु जब कभी विशेष दुःख या विपत्ति आती है तो ये लोग भगवान् में तन्मय और लीन चित्त हो जाते हैं और सब ओर से ध्यान हटा कर केवल भगवान् में ही दत्तचित्त हो जाते हैं, जिस से तत्काल भगवान् उन की रक्षा करते हैं। एक बार ब्रज वासियों ने इन्द्र की पूजा छोड़कर भगवान् कृष्ण की पूजा करनी आरम्भ कर दी, तो क्रुद्ध हुए इन्द्र प्रलय काल के मेघों द्वारा ब्रज भूमि पर वर्षा बरसाने लगे। तब गो, गोपी, गोपाल आर्त होकर प्रभु से अपने त्राण के लिए प्रार्थना करने लगे। जिस से भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को छंगली पर उठाकर उन सब की रक्षा की।

कहा भी है—

गिरधारी राखे सभी गो गोपी गोपाल ॥

जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाए हुए राजाओं के आर्त नाद को सुन कर भगवान् कृष्ण ने उन सब को उस से मुक्त कराया।

जब कौरवों की सभा में दुष्ट दुःशासन द्रौपदी को नग्न करने लगा। तो द्रौपदी भगवान् के ध्यान में लीन हो कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगी—

गोविन्द ! द्वारिकावासिन् ! कृष्ण ! गोपीजन प्रिय ! ।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि ? केशव ! ॥
हे नाथ ! हे रमानाथ ! व्रजनाथार्ति-नाशन ! ।
कौरवार्णव-मग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ! ॥
कृष्ण ! कृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन !
प्रपन्नां पाहि गोविन्द ! कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥
(महा० सभा० ६७ ॥)

[**अर्थ**—हे गोविन्द ! हे द्वारिका में निवास करने वाले ! हे कृष्ण ! हे गोपियों के प्रिय ! हे केशव ! कौरवों द्वारा तिरस्कार की जा रही मुझ द्रौपदी को इस समय क्या आप नहीं जानते हो ?

हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे दुःखों को नाश करने वाले ! हे जनार्दन ! कौरवरूपी (विकराल) समुद्र में मझ डूबती हुई को बचाओ।

हे कृष्ण ! हे सब को आकर्षण करने वाले ! हे महायोगिन् ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वभावन ! हे गोविन्द ! कौरवों के मध्य दुःख झेलती हुई मुझ शरणागत की रक्षा करो ।]

तब भगवान् ने द्रौपदी स्वप आर्त भक्त की वस्त्रों की अटूट वृद्धि करके रक्षा की ।

जब जल के मध्य में गजेन्द्र को ग्राह ने ग्रस लिया तो गजेन्द्र रूप आर्त भक्त ने कमल तोड़ कर कमल नयन प्रभु की पूजा की । उसके आर्त नाद को सुन कर तुरन्त महा दयाल भगवान् ने ग्राह को मार कर उसकी रक्षा की ।

इसी प्रकार आज तक अनेक सुकृति आर्त भक्तों की भगवान पुकार सुनते और रक्षा करते चले आ रहे हैं ।

(२) **जिज्ञासु भक्त**—जिस पुरुष को सदा आत्मज्ञान या भगवान के तत्त्व को जानने, समझने और प्राप्त करने की इच्छा लगी रहती है उसका नाम जिज्ञासु या मुमुक्षु (मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करने वाला) होता है । वह जिज्ञासु भी सदा मुझ परमात्मा की आराधना करता है ।

इस दूसरी श्रेणी के मेरे भक्तों में राजा जनक, राजा परीक्षित, उद्धव, गुरुनानक और भक्त कबीर आदि की गणना की जाती है ।

(३) **अर्थार्थी भक्त**—इस लोक में स्थित तथा परलोक में स्थित—स्त्री, पुत्र, धन, मान बड़ाई, प्रतिष्ठा; गौरव और सुख-समृद्धि आदि जो भोग साधन हैं। उन का नाम अर्थ है । इन में से किसी एक या बहुतों की इच्छा करने वाले पुरुष का नाम अर्थार्थी है ।

दुष्ट पुरुष, जो रजोगुण और तमोगुण से सम्पन्न होते हैं, वे इन अर्थों की प्राप्ति के लिए कई प्रकार की हेरा फेरी करते हैं । बलात्कार का आश्रय लेते हैं । डाके मारते हैं । ब्लैक व्यापार करते हैं । चीजों में मिलावट करते हैं, रिश्वत लेते हैं । घूंस खाते हैं । दूसरों के बच्चे उठाकर बेचते हैं, और ऐसे ऐसे काम और धंधे करते हैं जिन को देख और सुनकर मानवता भी लजाती और शरमाती है । परन्तु जो अर्थार्थी मेरे भक्त हैं । वे इन अर्थों को प्राप्त करने के लिए मुझ परमेश्वर को भजते हैं । ध्रुव, विभीषणादि भक्त अर्थार्थी माने जाते हैं ।।

(४) **ज्ञानी भक्त**—जिसने आत्म ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया है । उनका नाम ज्ञानी है । केवल नाम मात्र का ज्ञानी —ज्ञानी कहलाते का अधिकारी नहीं होता । चाहे उसने विश्व-विद्यालयों के अनेक प्रमाण पत्र क्यों न प्राप्त कर लिये हों । जिस के कारण अपने नाम से पूर्व ज्ञानी की उपाधि लिखता या लिखवाता हो । वास्तव में ज्ञानी तो वह होता है जो भगवान् के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है । प्राणीमात्र में एक ही परमात्मा को व्यापक देखता है । 'न कोई बैरी न हा बेगाना सकल संग हम को बन आई" । इस गुरु वाक्य को

पूरी तरह से अपने जीवन में ढाल लेता है। "तेरे भाणे सर्वत का भला"—अर्थात् सर्वोदय में आस्था रखता है न कि "हमचूं मा दीगरे नेस्त" अर्थात् हमारे बिना कोई दूसरा भी सभ्य या राज्य करने योग्य नहीं है" के दिन रात-आठों पहर घोष करता है और डेढ़ ईंट की अलग मस्जिद निर्मित करता है। यद्यपि कृत्रिम हीरा चमक दमक में असली हीरे से बढ़ कर दिखाई दे सकता है परन्तु मूल्य में महान्तम अन्तर होने से महर्घता को प्राप्त नहीं हो सकता। भगवान को भजने वाला ज्ञानी शुद्ध कुन्दन के समान सहस्र टँच का सोना होता है जो सब मलों और दोषों से रहित होता है और शरीर त्याग कर तत्काल ही आत्म स्वरूप परमात्मा में मिलकर तद्रूप हो जाता है।

उपरोक्त पहले तीन प्रकार के भक्त यद्यपि सकाम होते हैं परन्तु ईश्वर-कृपा से पूर्ण-काम हो जाने पर वे ईश्वर में आस्था अधिक बढ़ जाने से उसको और भी अधिक भजते हैं जिस से अन्त में मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं। ज्ञानी की तो बात ही क्या है? वह तो मुक्त हो ही जाता है।

इस विषय को महा० शां० ३४१।३३-३५॥" में इस प्रकार दर्शाया गया है:—

"चतुर्विधा मम जना भक्ता एवं हि मे श्रुतम्।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्य दैवताः॥
अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्।
ये च शिष्टास्त्रयोभक्ताः फलकामा हि ते मताः॥
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक्।"

[**अर्थ**—मेरे भक्त चार प्रकार के हैं, ऐसा ही मेरा सुना हुआ है? उन में अनन्य-दैवत और एकान्तिक भक्त श्रेष्ठ हैं। क्योंकि उन निष्काम कर्म करने वालों की मैं ही गति हूँ। और जो शेष तीनों तरह के भक्त किसी न किसी फल की इच्छा मन में रख कर मुझ परमात्मा को भजते हैं। वे सब च्यवनधर्मा अर्थात् कभी न कभी मोक्ष रूपी लक्ष्य से डगमगाने वाले हो सकते हैं। परन्तु एकान्तिक भक्त श्रेष्ठता का भागी और प्रतिबुद्ध (ईश्वर स्वरूप में जागा हुआ) होता है॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७॥

तेषाम्+ज्ञानी नित्य—युक्तः+एक-भक्तिः+विशिष्यते।
प्रियः+हि ज्ञानिनः+अत्यर्थम्+अहम्+सः+च मम प्रियः॥

तेषाम्=तेषां चतुर्णां मध्ये=उन चार प्रकार के भक्तों में। तद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=उनका। उनमें।

ज्ञानी=(पुं०) ज्ञान+इनि=ज्ञानिन्+प्र० ए० व०=ज्ञानी। ब्रह्मज्ञान या आत्म ज्ञान प्राप्त पुरुष। तत्त्ववित्=यथार्थ तत्त्व को जानने वाला।

नित्य-युक्त (वि०) नित्यं युक्तः यः (बहुव्री०)=नित्य—युक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=सदैव परमात्मा के ध्यान में जुड़ा हुआ। मुझ में एकी भाव से नित्य स्थित हुआ।

एक-भक्तिः=(वि०) अनन्य भक्त। केवल एकेष्ट देवभक्तिः यस्मिन् सः=केवल एक ही इष्टदेव परब्रह्म परमात्मा की भक्ति करने वाला। (बहुव्रीहि०) एक भक्ति+(पुं०) प्र० ए० व०=एकभक्तिः। अनन्य प्रेम भक्ति वाला।

विशिष्यते=वि√शिष् (दिवा० आत्म० अक०)+लट्० प्र० पु० ए० व०= अति उत्तम है। बढ़ कर है।

[विशेषम् आधिक्यम् आपद्यते अति-रिच्यते इत्यर्थः]

प्रियः=(वि०)√प्री+क=प्रिय+(पुं०) प्र० ए० व०=प्रियः=प्यारा (हूँ)।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

ज्ञानिनः=(पुं०) ज्ञानिन्+षष्ठी० ए० व०=ज्ञानी का।

अत्यर्थम्=अत्यादि तत्पुरुष समास (प्रादि समास के अन्तर्गत) (वि०)=अत्यधिक। बहुत ज्यादा। (क्रिया विशेषण) बहुत अधिकता से।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) ए० व०=वह।

च=(अव्यय) और।

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा

प्रियः=(पुं०, वि०) प्रिय+प्र० ए० व०=प्यारा है॥

अर्थ—उन में नित्य मुझ में युक्त (एकीभाव से स्थित) अनन्य प्रेम भक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है। क्योंकि मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्यारा हूँ। और वह मेरा (अत्यन्त) प्यारा है॥ १७॥

व्याख्या—आर्त पुरुष अपने भय या रोग के नाश के लिए ईश्वर का चिन्तन करता है। जिज्ञासु ज्ञान-प्राप्ति की लालसा से भगवान् की भक्ति करता है। अर्थार्थी पुत्र, कलत्र, धन, धान्य, प्रभव और सर्वभौम राज्यादि की इच्छा से परमात्मा की आराधना करता है। इन तीनों भक्तों की इच्छा की पूर्ति हो जाने पर उन की भक्ति शिथिल हो जाती है। परन्तु ज्ञानी पुरुष तो संसार, परिवार देह, गेह और अपने आप को सर्वथा भूल जाता है क्योंकि वह आत्म-दर्शी हो जाता है। अपने जीवन में उस के ज्ञान रूपी नेत्र खुल जाते हैं क्योंकि वह संसार रूपी स्वप्न की वास्तविकता को समझ लेता है। उसे बिना परमेश्वर के कहीं भी कुछ दिखाई नहीं देता वह पुकार उठता है—'ऐ खिज़र राहे दोस्त में गुम हो गया हूँ मैं। अपने को ढूंढता हूँ पता दे मेरा मुझे" अर्थात् हे जगत्पथप्रदर्शक ! देव ! मैं तो अपने प्रिय (प्रभु) के मार्ग में गुम हो गया या

खोया गया हूँ। इस समय मुझे यह ज्ञात नहीं रहा कि मैं हूँ भी ? और कहाँ हूँ। यदि तू कुछ जान सकता है तो मुझ पूछने वाले को मेरा पता बता दे। फिर ज्ञानी कहता है—हम वहां है जहां से हम को भी। कुछ हमारी ख़बर नहीं आती। आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त तो भगवान् से भिन्न अपनी सत्ता समझते हैं। परन्तु ज्ञानी तो परमात्मा में तल्लीन होकर उसी के रूप को धारण करके एकरूपता को प्राप्त कर लेता है। किसी ने यह ठीक ही कहा है "Not one but two is the beginning, and not two but one is the end" अर्थात् 'प्रेम एक से नहीं परन्तु दो से आरम्भ होता है। और प्रेम का अन्त दो में नहीं किन्तु एक में अर्थात् नितान्त एकता में होता है। महात्मा कबीर ने कहा है—

"तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ में रही न हूँ।
वारी तेरे प्रेम पर जित देखूँ तित तूँ॥"

मीर ने लिखा है—

बहुत ढूंढा उसे फिर भी न पाया।
अगर पाया, पता अपना न पाया।

इस श्लोक में 'एक भक्ति' और "नित्ययुक्त' दो विशेषणों ने ज्ञानी को चार चाँद लगा दिए हैं॥ क्योंकि जो ज्ञानी इहलोक और परलोक का सर्वथा विचार त्याग कर अनन्य भाव से नित्य निरन्तर केवल भगवान् में ही स्थित रहता है वह नित्ययुक्त कहलाता है। और जो केवल विना किसी कारण परमात्मा में निरन्तर प्रेम करता है। उसे "एकभक्ति" कहते हैं। जो भक्त ज्ञानी होने पर नित्ययुक्त और एक भक्ति युक्त भी है। वह भगवान् को सब भक्तों से श्रेष्ठ और बढ़ कर प्रिय होता है क्योंकि उस में कोई ऐसी वासना नहीं होती। जिस की वह तृप्ति करना चाहता हो। बिना परमात्मा के न उसका कोई अन्य इष्ट होता है न ही अन्य प्रिय होता है भृङ्गिणी (भृंगी) कीटवत् निरन्तर अनन्य प्रेम और अविरल भक्ति से वह परमात्मा का ही रूप बन जाता है। सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मा के ज्ञान के प्रकाश से भेदभाव का अन्धकार उसके लिए कहीं भी नहीं रहता। इसलिए वह ब्रह्म रूप हो जाता है। जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक शिला पर जब स्वच्छ और निर्मल नीर बहता है तो वह शिला जल के रूप में ही मिल जाती है (दिखाई देती है)। परन्तु कभी-कभी जल के अधिक हिलने डुलने से साधारण जनों को वह शिला दिखाई भी दे जाती है ठीक यही अवस्था नित्य युक्त एकभक्ति विशिष्ट ज्ञानी भक्त की होती है। अर्थात् इस पर मेरी भक्ति और प्रेम का पूरा रंग चढ़ा होने से सर्व साधारण को वह मेरा स्वरूप ही दिखाई देता है। परन्तु जब शरीर द्वारा कर्मों का आचरण करता है। उस समय वह लोगों को मनुष्य रूप में दिखाई देता है। इस विषय में एक और उदाहरण इस प्रकार है। वायु मण्डल जब शान्त होता है तब हवा और

आकाश का कोई भेद प्रतीत नहीं होता परन्तु जब पंखा डुलाया जाता है अथवा वायु चल रही हो तो वायु का आकाश से पृथक् रूप भासमान होता है। इसी प्रकार नित्य युक्त एक भक्ति विशिष्ट भक्त सब को परमात्मा के स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है परन्तु केवल क्रियाशील होने पर वह मानव रूप में दीखता है। भगवान् कहते हैं कि ऐसे तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी को में अत्यन्त प्रिय हूँ। अर्थात् मैं उसकी निरुपाधिक प्रीति का विषय हूँ। क्योंकि वह ज्ञानवान् पुरुष एक भक्ति है, तथा वह ज्ञानवान् पुरुष भी मुझ परमात्मा को अति प्रिया है। क्योंकि अपना आत्मा सब को प्रिय होता है। और मैं ही उस ज्ञानी का आत्मा हूँ। जिस का भेद उस पर अच्छी तरह खुल चुका है।

प्रीति दो प्रकार की होती है :—

१—सोपाधिक प्रीति।

२—निरुपाधिक प्रीति।

जो प्रीति किसी में किसी अन्य वस्तु के कारण से होती है वह सोपाधिक प्रीति कहलाती है जैसे अपने निजि सुख के लिए स्त्री, पुत्र, भूमि धनादि में प्रीति।

जो प्रीति किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु के कारण नहीं होती। वह निरुपाधिक प्रीति कहलाती है। जैसे ज्ञानी की परमात्मा में प्रीति।

इस निरुपाधिक प्रीति के सम्बन्ध में एक श्रुति इस प्रकार है :—

"तदेतत्प्रेय: पुत्रात् प्रेयोवित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादंन्तरं यदयमात्मा— इति।"

[**अर्थ**—बुद्धि आदिक सर्व संघात के बाद यह आत्मा (परमात्मा) पुत्र से भी अत्यन्त प्रिय है। धन से भी अत्यन्त प्रिय है तथा अन्य सब पदार्थों से भी अत्यन्त प्रिय है। इति॥

ऐसा निष्काम महाज्ञानी भक्त अत्यन्त दुर्लभ है॥ १७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

उदारा: सर्वे+एव+एते ज्ञानी तु+आत्मा+एव मे मतम्। आस्थित: स:+हि युक्त-आत्मा माम्+एव+अनुत्तमाम्+गतिम्।

उदारा:=(वि०) उद्—आ√रा+क=उदार+प्र० ब० व०=दान करने वाले। महान्। श्रेष्ठ। उत्कृष्ट। अच्छे। भले।

सर्वे=सर्व (सर्व०)+प्र० ब० व०=सारे।

एव=(अव्यय)=ही।

एते=एतद् (सर्व०)+(पु०) प्र० ब० व०=ये।

ज्ञानी=(पुं०) ज्ञानिन्+प्र० ए० व०=ज्ञान। ज्ञानवान् पुरुष।
तु=(अव्यय) तो। परन्तु।
आत्मा=(पुं०) आत्मन्+प्र० ए० व०=आत्मा। स्वरूप।
एव=(अव्यय) ही।
मे=अस्मद् (सर्व)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा।
मतम्=√मन्+क्त=मत+(नपु०) प्र० ए० व०=माना हुआ है।
आस्थित:=आ√स्था+क्त=आस्थित+प्र० ए० व०=निवास किया हुआ। ठहरा हुआ। अच्छी तरह स्थित है। भली भान्ति ठहरा हुआ है।
स:=तद् (सर्व०)+(पुं०) ए० व०=वह।
हि=(अव्यय) क्योंकि।
युक्त-आत्मा=(मयि परमात्मनि) युक्त: आत्मा यस्य स: (बहुव्री०)=मुझ परमात्मा में जुड़े हुए आत्मा वाला। युक्त चित्त वाला। मद्गत मन—बुद्धि वाला ज्ञानी।
माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को। मुझ में।
एव=(अव्यय) ही।
अनुत्तमाम्=(वि०) न उत्तमो यस्मात् (नञ् तत्पु०) अनुत्तम+टाप्=अनुत्तमा (स्त्री०) द्विती० ए० व०।
अनुत्तमाम्=सर्वोत्कृष्टा को। सर्व श्रेष्ठा को। सब से बढ़ कर को। सर्वोत्तमा में। सर्वोत्तम में।
गतिम्=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+द्विती० ए० व०=गतिम्=गति को। शरण स्थान को=गति में। शरण स्थान में।

अर्थ—ये सारे ही (भक्त) उदार (बहुत अच्छे) हैं। परन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा (अपना स्वरूप) ही माना हुआ है। क्योंकि वह युक्तात्मा (मद्गत मन-बुद्धि वाला ज्ञानी) अति उत्तम गति (शरण स्थान—मुझ परमात्मा) में ही अच्छी तरह स्थित है॥ १८॥

व्याख्या—ज्ञानी वह होता है जो अपने आत्मा को परमात्मा और परमात्मा को अपना आत्मा करके देखता और भजता है। तथा दोनों में एकता अनुभव करता है। इसी कारण से भगवान् ने ज्ञानवान् को "अपना आत्मा" या निज स्वरूप कह कर वर्णन किया है। भगवान् कहते हैं कि वैसे तो आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चारों प्रकार के भक्त उदार (बहुत अच्छे) होते हैं, क्योंकि ये सारे एकनिष्ठ होते हैं और उनका मुझ में दृढ़ विश्वास होता है। वे मुझे सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ, सर्वेश्वर और परमदयालु मान कर मेरी पूजा-अर्चा और भक्ति करते हैं। और मेरा ही आश्रय लेते हैं। उनका दृढ़ विश्वास ही मेरे द्वारा उनकी इच्छाओं की पूर्ति कराता है। जिस प्रकार बछड़ा अपनी माता

गौ का संग बिना बंधन भी कभी नहीं छोड़ता, इसी प्रकार ये चारों प्रकार के भक्त प्रेम डोरी में बँधे हुए कभी मेरा साथ नहीं त्यागते। और वह गौ भी उसे कभी इधर उधर नहीं होने देती। इसी प्रकार मैं भी अपने भक्तों को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता हूँ उन की रक्षा करता हूँ और उनको सीधे मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता हूँ। पहले तीन प्रकार के भक्त पतिव्रता स्त्री के समान होते हैं। जैसे प्रत्येक पतिव्रता स्त्री अपने लिए जो कुछ भी चाहती है वह केवल अपने पतिदेव से ही चाहती है परन्तु अन्य किसी से कुछ नहीं चाहती। इसी प्रकार मेरे ये सकाम भक्त भी जो कुछ चाहते हैं वे केवल मुझ से ही चाहते हैं अन्य किसी और से नहीं। मैं भी इन अनन्य भक्तों की इच्छा की पूर्ति कर देता हूँ। इसलिये सब प्रकार के मेरे भक्त उदार या श्रेष्ठ होते हैं। इन लोगों ने पूर्व जन्मों में अनेक सुकृत किए होते हैं। जिससे वे मेरी ओर आकर्षित हुए हैं। यद्यपि उक्त तीनों प्रकार के सकाम भक्त अपने अपने स्थान पर बहुत अच्छे हैं और मुझे भी भले लगते हैं। परन्तु ज्ञानी भक्त तो मेरा आत्मा या स्वरूप ही होता है क्योंकि वह ज्ञानवान् मुझ से भिन्न नहीं होता। इस विषय में यह एक श्रुति है—"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (अर्थात् "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अपने आत्मा में अभेद रूप करके ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मवेत्ता ज्ञाती पुरुष ब्रह्मरूप ही होता है।) जिस प्रकार समुद्र के साथ नदी के मिल जाने पर उस का पीछे लौटना असम्भव हो जाता है। इसी प्रकार जिन के अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली अनुभूति-गंगा मेरे स्वरूप सागर में आ कर मिल जाती है। उस भक्त को नितान्त मेरा ही भक्त समझना चाहिये कि वह भक्त स्वयं मैं ही हूँ। (इस प्रकार मद्गत मन—बुद्धि वाला ज्ञानी सदा मुझ परमात्मा में ही स्थित रहता है।

उपासना या भक्ति सब को करनी चाहिए। चाहे वह व्यक्त की हो चाहे अव्यक्त की। व्यक्त की उपासना सुलभ होती है। अव्यक्त की तनिक कठिन होती है। मन में कोई वासना रख कर की हुई उपासना निम्न श्रेणी की भक्ति होती है। जिज्ञासु भी अधूरा ज्ञानी होता है। जिन्हें इस जगत् में कुछ करने अथवा पाने के लिये शेष नहीं रह जाता। ऐसे ज्ञानी लोग निष्काम बुद्धि से उपासना करते हैं। वही सब में श्रेष्ठ हैं ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९ ॥

बहूनाम्+जन्मनाम्+अन्ते ज्ञानवान्+माम्+प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वम्+इति सः+महात्मा सुदर्लभः ॥

बहूनाम्=(वि०)√बंह्+कु, न लोप=बहु+षष्ठी० ब० व०=बहुतों के। बहुत से।

जन्मनाम्=जन्मन् (नपुं०)+षष्ठी० ब० व०=जन्मों के।

अन्ते=(वि०)√अम्+तन्=अन्त+सप्त० ए० व०=अन्त में। अखीर में।
समाप्त होने पर।
ज्ञानवान्=ज्ञान+मतुप्=ज्ञानवत्+(पु०) प्र० ए० व०=ज्ञान वाला।
तत्त्व ज्ञान को प्राप्त हुआ ज्ञानी। परिपक्व ज्ञान को प्राप्त हुआ ज्ञानी।
माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को। मुझे।
प्रपद्यते=प्र√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=प्राप्त होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है। भजता है।
वासुदेवः=(पु०) वसुदेवस्यापत्यम्, वसुदेव+अण्=वसुदेव का पुत्र। भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र।
वासु=(पु०) सर्वोऽत्र वसति, √वस्+उण्=वासु+देव=परब्रह्म देव। परमात्मा। जिस में सम्पूर्ण विश्व वसता है। जगदीश्वर।
सर्वम्=(सर्व०, वि०)√सृ+व=सर्व+(नपु०) प्र० ए० व०=सब कुछ।
इति=(अव्यय) इस प्रकार। इस भाव से।
सः=तद् (सर्व०)+(पु०) प्र० ए० व०=वह।
महात्मा=महा+आत्मन् (पु०)+प्र० ए० व०=महात्मा न तत्समः अन्यः अस्ति अधिको वा। ['महत्' शब्द का समास में आत्व हो जाने से 'महा' रूप हो जाता है।] महापुरुष। परब्रह्म रूप पुरुष। उसके समान या अधिक और कोई नहीं।
सुदुर्लभः—सु, दूर्√लभ्+खल्=सुदुर्लभ+(पु०) प्र० ए० व०=जिसे प्राप्त करना अति कठिन हो। अत्यन्त दुर्लभ॥

अर्थ—बहुत जन्मों के अन्त में [बहुत जन्मों के समाप्त होने पर—अन्तिम जन्म में] तत्त्वज्ञान को या परिपक्व ज्ञान को प्राप्त हुआ जो ज्ञानी, "सब कुछ वासुदेव ही है।" इस प्रकार मुझ को जानकर भजता और प्राप्त होता है। वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है॥ १९॥

व्याख्या--जो मनुष्य भगवान् को भूल कर सदा खोटे कर्मों में निरत रहता है वह मनुष्यता से पतित हो जाता है और मर कर पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि योनियों को प्राप्त होता है फिर सदा अपने कर्मों के अनुसार इसी चक्र में फँसा रहता है। जन्म, मरण, जरा, व्याधि के दु:खों को बार बार भोगता है। न आवा समाप्त होता है, न गधा छूटता है। ईश्वर कृपा से अत्यन्त चिर के बाद ही पुनः नर-देह प्राप्त होती है।

परन्तु नर-देह पाकर जो मनुष्य भक्ति करता है। वह नर मर कर फिर मनुष्य योनि में ही जन्म लेता है। इस प्रकार वह फिर पूर्व जन्म के पुण्यों के प्रभाव से, भगवान् की भक्ति के प्रभाव से, ईश्वर कृपा का भाजन बन जाता है इसी प्रकार अनेक जन्मों में भक्तिमार्ग की सीढ़ी पर चढ़ते चढ़ते वह अन्तिम

जन्म में पूर्ण ज्ञानी हो जाता है। और भगवान् को तत्त्व से जान लेने के बाद उस का पुनः जन्म नहीं होता। ऐसे परिपक्व ज्ञान को प्राप्त हुए ज्ञानी का आत्मा, परमात्मा से अभेद होने के कारण महान् हो जाता है। और मरने के अनन्तर उसी में मिल कर जन्म मरण से रहित हो जाता है। परन्तु कभी कभी ऐसा भी होता है कि साधक की श्रद्धा और प्रेम की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि साधन में तीव्रता अन्तिम सीमा तक हो जाती है जिस से एक ही जन्म में भगवत्प्राप्ति हो जाती है। परन्तु ऐसा पुण्यात्मा लाखों करोड़ों में से कोई एक ही होता है। इसलिए छतरी न्याय से भगवान् का यही कहना उचित और युक्ति-युक्त है कि बहुत से जन्मों के अन्त में—ऐसा अनुभव हो जाने से कि "यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, उस में विचर रहे पिण्ड तथा उन में की सब प्रकार की समूची रचना केवल एक वासुदेव के बिना और कुछ भी नहीं है।" यह जान कर जो ज्ञानी पुरुष मुझ को भजता और प्राप्त होता है। वह बहुत दुर्लभ है। उससे अधिक सफल सृष्टि में और कोई नहीं होता। इसी अध्याय के तीसरे श्लोक में भी कहा गया है—'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः॥"

भगवान् को तत्त्व से जान कर उसमें मिलकर एक स्वरूप हो जाना ही सब से बड़ा स्वाद है, सब से बड़ा रस है। तैत्तिरीयोपनिषद् २।७ में लिखा है "रसो वै सः। रस ɷ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति॥" अर्थात् वह परमात्मा का मेल अत्यन्त उत्कृष्ट रस है। यह पुरुष इस रस को पाकर ही आनन्द वाला होता है।

"स एको ब्रह्मण आनन्दः।" (तै० उ० २।८॥)

सब से बढ़ कर केवल परमात्मा में मिलकर तद्रूप हो जाना ही एक आनन्द है।"

अस्ति भाति प्रिय रूप सब कुछ वासुदेव का ही रूप है। दूसरे शब्दों में इस तरह भी कहा जा सकता है—कि जड़ चेतन रूप दोनों प्रकार की प्रकृति, इस प्रकृति के सम्पूर्ण कार्य-कारण रूप भावों में स्थित जो परमात्मा है। उसी के अधीन इस चराचर प्रकृति के स्वरूप की स्थिति है। इस भाव से सब कुछ वासुदेव ही है। 'वासुदेव' का अर्थ व्यक्त परमात्मा भी है और अव्यक्त परमात्मा भी है। जब इसका अर्थ वासुदेव का पुत्र 'श्री कृष्ण' होता है। तो भाव व्यक्त परमात्मा अर्थात् राम, कृष्ण, विष्णु आदि नाम रूप धारी परमात्मा होता है परन्तु जब "वसतीति वसुः, वसुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः"। अर्थात् जो व्यापक रूप से सब स्थानों में निवास करता है उसका नाम वासुदेव है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्रादि सब पदार्थों के अधिष्ठाता का नाम वासुदेव है। महाभारत शान्ति० ३४१।४० में लिखा है—"सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो

ह्यहम्" मैं प्राणिमात्र में वास करता हूँ। इस लिए मैं वासुदेव हूँ। इस प्रकार अव्यक्त परमात्मा का नाम भी वासुदेव है।

श्वेतश्वतरोपनिषद् में भगवान् की व्यापकता के सम्बन्ध में कहा है :—

यो देवो-अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य औषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥

(२ अध्याय। १७ मन्त्र)

जो परमात्मा-अग्नि में है। जो जल में है और जिसने सम्पूर्ण भुवन को व्याप्त कर रखा है। तथा जो औषधियों और वनस्पतियों में है। उस देव को नमस्कार है। बार बार नमस्कार है॥ १९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ ॥ २०॥

कामैः+तैः+तैः+हृत-ज्ञानाः प्रपद्यन्ते+अन्य-देवताः।
तम्+तम्+नियम[म्]+आस्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

कामैः=(पुं०)√कम्+णिङ्+घञ्+काम+तृती० ब० व०=कामैः=(पुत्र, कलत्र, पशु, धन-और स्वर्गादि की प्राप्ति विषयक नाना प्रकार की) कामनाओं द्वारा।

तैः=तद् (सर्वनाम)+(पुं०) तृती० ब० व०=उनके द्वारा।

तैः=उनके द्वारा।

हृत-ज्ञानाः=(वि०) अपहृताः ज्ञानानि येषां ते (बहुव्रीहि०)=हरे हुए ज्ञान वाले।

प्रपद्यन्ते=प्र√पद् (दिवा० आत्म० सक० अक०=प्राप्त होना, भजन करना)= लृट्० प्र० पु० ब० व०—प्राप्त होते हैं। भजते हैं।

अन्य—देवताः=(स्त्री०) अन्याः देवताः (द्विती० तत्पु०) दूसरे देवताओं को।

तम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको।

तम्=उसको।

नियमम्=(पुं०) नि√यम्+अप्=नियम+द्विती० ए० व०=नियम को। विधान को।

[देवताओं की आराधना के लिए जो जो नियम प्रसिद्ध हैं उन] नियमों या विधानों को।

आस्थाय=आ√स्था+अङ्=आस्था+ल्यप् आस्थाय=श्रद्धा करके। पूज्य-बुद्धि करके। आश्रय करके। आधार बनाकर। आश्रित्य=आश्रय बना कर।

प्रकृत्या=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ+क्तिन्=प्रकृति+ तृती० ए० व०=प्रकृत्या=स्वभावेन। जन्मान्तरार्जित-संस्कार विशेषेण प्रकृति से। स्वभाव से। जन्म जन्मान्तर में इकट्ठे किए हुए संस्कारों के समुदाय रूप स्वभाव से।

नियताः=नि√यम्+क्त=नियत+(पुं०) प्र० ब० व०=नियमिताः। नियम में स्थिर हुए। बंधे हुए। प्रेरित हुए।

स्वया=["प्रकृत्या" का विशेषण]। स्व (सर्वनाम)+टाप्=स्वा (स्त्री०). +तृती० ए० व०=अपनी से।

अर्थ—उन उन (भोगों की) कामनाओं से हरे हुए ज्ञान वाले, अपनी प्रकृति (अर्थात् जन्म-जन्मातर में इकट्ठे किए हुए संस्कारों के समुदाय रूप स्वभाव) से बंधे हुए (प्रेरित हुए) उस उस नियम को आश्रय बना कर अन्य देवताओं को भजते पूजते और प्राप्त होते हैं॥ २०॥

व्याख्या—संसार में बहुत से भक्त ऐसे भी हैं। जो अपने-अपने स्वभानुसार नियम रचकर अथवा अन्य लोगों के रचे हुए नियमों को धारण करके भिन्न-भिन्न भोगों और स्वर्गादि फलों की काम-वासनाओं में उन्मत्त होकर दूसरे देवताओं की उपासना, भजन और पूजा-अर्चा करते हैं।

साधारण मनुष्यों की समझ में यह बात नहीं आती कि परमात्मा सर्व-व्यापक, सर्वान्तर्यामी, अविनाशी, अनादि और अनन्त है। सारी रचना उसी की है और उसकी आज्ञा, प्रेरणा और इच्छा के बिना कोई घटना संसार में या अन्य किसी स्थान में कभी घटित नहीं होती। कुछ लोगों का विचार है कि जिस प्रकार संसार में किसी सर्वभौम राजा के अधीन बहुत से छोटे-छोटे राजा लोग और अनेक पदाधिकारी होते हैं इसी प्रकार ये देवता और महात्मा लोग भी एक भगवान् रूपी सर्वभौम राजा के पदाधिकारी नियुक्त किए हुए हैं जो परमात्मा की आज्ञा से संसार का संचालन करते हैं। राजा के तुच्छ से उच्च पदाधिकारियों की तरह इनको संतुष्ट करना भी परमावश्यक है। ऐसा न करने से ये मनुष्य की परमात्मा तक पहुँच नहीं होने देते। परन्तु वास्तव में यह बात ठीक नहीं है क्योंकि राजा तो अल्पज्ञ होता है और अपने राज्य के सब कार्य अपने पदाधिकारियों के नेत्रों से देखता है इस लिए उस के पदाधिकारियों की संतुष्टि के बिना प्रजा के कार्य सम्पन्न नहीं होते। परन्तु परमात्मा तो सर्वज्ञ और सर्व व्यापक है। उस की जानकारी के बिना तो सृष्टि का कोई कार्य सम्पन्न होता ही नहीं है इसलिये परमात्मा की पूजा अर्चा और उपासना से ही वे सब लाभ प्राप्त हो सकते हैं जो देव-पूजन से प्राप्त होते हैं साथ ही मरने के बाद मोक्ष की प्राप्त भी होती है। हाँ यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि किसी देवी देवता या अन्य किसी के इष्ट देव का अपमान न करना चाहिए। निरभिमान हो कर सत्कार और श्रद्धापूर्वक सब को नमस्कार और पूजा अर्चा तथा सेवा द्वारा प्रसन्न ही करना चाहिए चाहे वह दृष्टिगोचर न भी हो तो भी दृष्टिगोचर की तरह ही—

सियाराम मय सब जग जानी। करूँ प्रणाम् जोर जुग पानी।

इस तुलसी-सूक्ति की भान्ति सारा संसार प्रभु का स्वरूप जानना चाहिए। और सब को नम्रता से प्रणाम किया जाना चाहिए। क्योंकि—

"योऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।'

॥ गी० ९।२३॥

[अर्थ—हे कौन्तेय ! जो भी अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धा से युक्त हो कर उन्हें पूजते हैं । वे भी अविधि पूर्वक मुझे ही पूजते हैं ।] अविधिपूर्वक कहने का आशय यह है कि सीधे मेरी ही शरण में नहीं आते ॥ जिस से शीघ्र मोक्ष के भागी नहीं बनते । केवल विषय वासनाओं और भागों की प्राप्ति ही प्राप्त करते हैं । परन्तु इन फलों की आशा में बिना उलझे ही जो देवपूजन करता है । वह भी भगवान् को प्राप्त कर लेता है । कारण यह है कि देवताओं को भगवान् से अलग मान कर उनकी पूजा करने से ही वह अन्य देवताओं की पूजा होती है । यदि देवताओं को भगवान् का ही स्वरूप समझ कर, भगवान् की आज्ञानुसार निष्काम भाव से या भगवत्प्रीत्यर्थ उन की पूजा की जाये तो वह अन्य देवताओं की न हो कर भगवान् की ही पूजा हो जाती है और उस का फल भी भगवत्प्राप्ति ही होता है । परन्तु देवताओं की पूजा जब मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तंभन, आकर्षण और वशीकरण आदि अभिलाषाओं को लेकर की जाती है । तो वह पूजा, भगवान् की पूजा न होकर केवल देवताओं की पूजा ही रह जाती है । ऐसी देव-पूजा करने वाले लोग ही हृत-ज्ञान कहलाते हैं । यह बात भी उन पूजकों के वश की नहीं है । क्योंकि वे लोग पूर्व जन्मों में इकट्ठे किए हुए संस्कारों के समुदाय रूप स्वभाव से बंधे या प्रेरित हुए ही यह काम करते हैं । प्रभु कृपा से ही सीधे मार्ग पर गमन करने की शक्ति उत्पन्न होती है ।

वास्तव में सब में व्यापक एक परमात्मा ही है उसी की सत्ता से ही यह जगत् भासमान होता है जैसा कि 'मुण्डकोपनिषद् २।२।१० में कहा है— "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।" वास्तव में सब देवता भी उसी के रूप हैं ।" "ऋग्वेद १०।८२।३॥' में लिखा है—"यो देवानां नामधा एक एव ।" अर्थात् परमात्मा वह है जो एक ही सारे देवताओं का नाम धारण करने वाला है ॥ पुनः "ऋक० १०।८२।३॥" में वर्णित है—

"स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् । स सविता भूत्वा अन्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥'

[अर्थ—वह परमात्मा सायंकाल को 'वरुण' और 'अग्नि' नाम वाला होता है । वह प्रातः काल में उदय होता हुआ 'मित्र' देवता कहलाता है और अन्तरिक्ष में चलता है । वह इन्द्र देवता होकर (बिजली द्वारा) मध्य से आकाश को तपाता है ।]

'अथर्ववेद १३।३।१३" में वर्णित है—

स धाता स विधाता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ।।
सो ऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।।
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ।।

[अर्थ—वह धाता है। वह विधाता है। वह वायु है। वह ऊँचा आकाश है। वह अर्यमा है। वह वरुण है। वह रुद्र है। वह महादेव है। वह अग्नि है। वह सूर्य है। और वही परमात्मा महा यम है ।।] हम बल मांगने के लिए इन्द्र रूप परमात्मा की उपासना करते हैं। पवित्रता वरुण रूप परमेश्वर से मांगते हैं। तेज और ऊर्जा की याचना सूर्य रूप परमात्मा से करते हैं। इसी प्रकार सब कुछ परमात्मा के भिन्न भिन्न रूप देवताओं से मांगा जाता है। इसलिए परमात्मा के रूप समझ कर देवता की पूजा भी शास्त्रोक्त हो जाती है। परन्तु यह पूजा सीधी रीति से कम है। घुमा फिरा कर अधिक है ।। २० ।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। २१ ।।

यः+यः+याम्+याम्+तनुम्+भक्तः श्रद्धया+अर्चितुम्+इच्छति ।
तस्य तस्य+अचलाम्+श्रद्धाम्+ताम्+एव विदधामि+अहम् ।। २१ ।।

यः=यद् (सर्वनाम)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।
यः=जो ।
याम्=यद् (सर्वं०)+(स्त्री०) द्विती० ए० व०=जिस को।
याम्=जिस को।
तनुम्=(स्त्री०)√तन्+उ=तनु+द्विती० ए० व०=तनुम्=देह को। शरीर को। रूप को। देवता-तनुम्=देवता के स्वरूप को।
"वृह० उप० अन्तर्यामी ब्राह्मण ३।७।।" में अग्नि वायु सूर्यादि सारे देवताओं को अन्तर्यामी आत्मा का तनु (=शरीर, मूर्ति या बाह्यस्वरूप) कहा गया है।
भक्तः√भज्+क्त=भक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=भक्त=अनुरक्त।
श्रद्धया=(स्त्री०) श्रत्+√धा+अङ्—टाप्=श्रद्धा+तृती० ए० व० =श्रद्धा से। भक्ति पूर्वक विश्वास से।
अर्चितुम्=√अर्च (भ्वा० उभ० सक०=पूजा करना)+तुमुन्=अर्चितुम् पूजा करने के लिए। पूजा करना।
इच्छति=इष् (तुदा० पर० सक०=चाहना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =चाहता है।
तस्य=तद् (सर्वं०)+(पुं०) षष्ठी० प्र० पु०=उस की।
तस्य=उस की।
अचलाम्=(स्त्री०) न चला (नञ् तत्पु०)+द्विती० ए० व०=अचला को। स्थिरा को। न चलने वाली को।

श्रद्धाम्=(स्त्री०) श्रद्धा+द्वितीο ए० व०=श्रद्धा को। भक्ति पूर्वक विश्वास को।
ताम्=तद् (सर्व०)+(स्त्री०) द्वितीο ए० व०=उस को।
एव=(अव्यय) ही।
विदधामि=वि√धा (जहो० उभ० सक०=स्थापित करना। (स्थिर करना) +लट्० उ० पु० ए० व०=स्थिर करता हूँ। स्थापित करता हूँ।
अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

अर्थ—जो जो (सकाम) भक्त जिस जिस (देवता की) तनु (=शरीर स्वरूप या मूर्ति) को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस उस (सकाम भक्त) की (देवता प्रति) उस अचल श्रद्धा को मैं ही स्थिर करता हूँ॥ २१॥

व्याख्या—जिस प्रकार संसार में अनेक देवता विद्यामान हैं, इसी प्रकार उन के पूजक भक्त भी अनेक हैं। प्रत्येक सकाम भक्त अपने इष्ट देवता की पूजा करना चाहता है। उसे जल चढ़ाता है। तिलक लगाता है। पुष्प अर्पण करता है। धूप देता है। दीप दिखाता है। वस्त्र भेंट करता है। मिष्टान्नों और फलों का भोग लगाता है। घण्टियाँ बजाता है। शंख ध्वनि करता है तथा दक्षिणा के लिये द्रव्य अर्पण करता है। उस की स्तुति के लिए सस्वर स्तोत्र पढ़ता है। इस प्रकार यथा शक्ति सब प्रकार से अपने इष्टदेव को प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहता है। क्योंकि उस को देवता की सत्ता में, उस के प्रभाव और गुणों में तथा उस की पूजा के फल में पूर्ण विश्वास और श्रद्धा होती है। वह अपने इष्ट देव की मूर्त्ति धातु, काष्ठ, मिट्टी और पाषाण आदि की बनवाता है अथवा चित्र-पट पर बनी हुई मूर्ति को ही पूजता है। किंवा किसी पुस्तक विशेष या ग्रन्थ साहिब की पूजा करता है जैसा कि कबीर पंथी और सिक्ख (शिष्य) लोग किया करते हैं कई लोग सिंहवाहिनी दुर्गा के स्थान पर उस के कर-आयुध खड्ग या कृपाण की पूजा करते हैं तो कई एक लक्ष्मी के पद्मासन कमल को ही पूजते हैं। प्यारे इष्ट देव के वस्त्रों टोपी, चोले अथवा खड़ावों को भी पूजा जाता है जिस भक्त की जैसी धारणा होती है अथवा जिस देवता की पूजा का जैसा विधान होता है। भक्त उसी प्रकार इष्ट देवता की पूजा करके सन्तुष्टि और शान्ति को प्राप्त करता है। मूर्ख लोग अपने से भिन्न देवता के पूजक भक्त को देख कर दंगा फसाद और वाक् कलह करने लगते हैं क्योंकि वे इस बात से सर्वथा अभिज्ञ होते हैं कि वास्तव में यह सब पूजाएँ एक ही देवाधिदेव परमात्मा की ही हैं। क्योंकि परमात्मा ही अन्तर्यामी रूप से सब में व्यापक है जो भक्त के हृदय में स्थित हुआ स्वयं ही उस भक्त की श्रद्धा को उस देवता के प्रति अचल और स्थिर करता है। इस लिये भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा से जो फल मिलता है। देवाताओं के पूजक तो उसे देवताओं द्वारा मिलने वाला ही समझते हैं। परन्तु पर्याय से वह परमेश्वर की

ही पूजा होती है और तात्विक दृष्टि से उसका फल भी परमेश्वर ही दिया करता है। तथा उस देवता की पूजा करने की बुद्धि भी मनुष्य के पूर्व जन्म-जन्मान्तर के कर्मों के अनुसार परमेश्वर ही देता है। क्योंकि इस संसार में परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भक्त की बुद्धि इन देवताओं की भक्ति करते करते स्थिर और शुद्ध हो जाती है तथा अन्त में एक एवं नित्य परमेश्वर का ज्ञान हो जाता है जो मोक्ष मार्ग पर चला देता है ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधन मीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥ २२ ॥

स:+तया श्रद्धया युक्त:+तस्य+आरधनम्+ईहते। लभते च तत: कामान्+मया+एव विहितान्+हि तान् ॥

स:=तद् (सर्व०)+(पु०) प्र० ए० व०=वह।

तया=तद् (सर्व०)+(स्त्री०) तृ० ए० व०=उस से।

श्रद्धया=(स्त्री)+तृती० ए० व०=श्रद्धा से। (मेरे द्वारा स्थिर की हुई) श्रद्धा से।

युक्त:=(वि०) √युज्+क्त=युक्त+प्र० ए० व०=जुड़ा हुआ। युक्त हुआ।

तस्य=तद् (सर्व०)+(पु०) षष्ठी० ए० व०=उसका।

आराधनम्=(नपुं०) आ √राध्+ल्युट्=आराधन+द्विती० ए० व०= आराधन को। पूजन को। प्रसन्न करने के उपाय को। देवता के स्वरूप की भक्ति करने को।

ईहते=√ईह् (भ्वा० आतमा० सक० अक०=इच्छा करना। चेष्टा करना। प्रयत्न या उद्योग करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्रयत्न करता है। उद्योग करता है। चेष्टा करता है।

लभते=√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना)+लट्० प्र० पु० ए० व० =प्राप्त करता है। पाता है।

च=(अव्यय) और।

तत:=ततस् (अव्यय) तद्+तसिल्=फिर। उस से।

कामान्=(पुं०)√कम्+णिङ्+घञ्=काम+द्विती० ब० व०=कामनाओं को। इष्ट भोगों को।

मय=अस्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा। मुझ से।

एव=(अव्यय) ही।

विहितान् =(वि०) वि√धा+क्त=विहित+द्विती० ब० व०=विहितान्= रची हुई को। रचे हुओं को। निश्चित किए हुओं को। निर्मित किए हुओं को।

हि=(अव्यय) नि:सन्देह।

तान्=तद् (सर्व०)+(पु०) द्वितीय० ब० व०=उनको।

अर्थ—वह (भक्तजन मेरे द्वारा स्थिर की हुई) श्रद्धा, से युक्त हुआ उस (देवता के तनु=स्वरूप) का आराधन करने में प्रवृत्त होता है। और फिर उस (देवता) से मेरे द्वारा उन इष्ट भोगों को नि:सन्देह प्राप्त करता है॥ २२॥

व्याख्या—मेरे द्वारा स्थिर की हुई श्रद्धा से युक्त हुआ पुरुष विधानानुसार यथाविधि जब उस देवता की पूजा, अर्चा, स्तुति, प्रार्थना, उपासना करता है। तो वह भक्त अपनी मन चाही कामनाओं और अभीष्ट भोगों को पाता है। भक्त तो यह समझता है कि आराध्य देवता की कृपा और दया-दृष्टि से ये सब-पदार्थ प्राप्त हुए हैं और मैं इस देवता की अनुकम्पा से पूर्ण-काम हुआ हूँ। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। क्योंकि मैं ही सारी सृष्टि का रचयिता पालक और लयकारी हूँ। सर्वज्ञ और सर्वव्यापक तथा सर्वन्तर्यामी हूँ। सब प्रकार के कर्मों का फलदाता हूँ। सदा देवता लोग भी मेरी कृपा कटाक्ष के अभिलाषी रहते हैं तथा मेरी प्रेरणा और इंगित के बिना किसी प्रकार का भी कोई कार्य करने में असमर्थ हैं जिस प्रकार मैं सब चराचर जीवों में निवास करता हूँ इसी प्रकार सब देवी देवताओं में भी मेरा निवास और प्रकाश है। इस से देवताओं की, की गई, पूजा-अर्चा और उपासना का मनवाँच्छित फल भी मैं ही प्रदान करता हूँ। क्योंकि देवता लोग भी मनुष्य की भान्ति न किसी को कर्मों का फल देने वाले हैं, न स्वतन्त्र हैं। न अन्तर्यामी हैं और न सर्वज्ञ हैं। परन्तु जब मैं चाहता हूँ तो देवता और मनुष्यों में भी सब प्रकार की शक्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। परन्तु उन सब शक्तियों का मूल या सूत्राधार तो मैं ही हूँ। जो मैं देखने वालों की दृष्टि से परोक्ष रहता हूँ। बन्दूक से गोली चलती हुई दिखाई देती है। परन्तु असल में गोली का चलाने वाला बन्दूकची होता है। कोई मशीन कपड़ा बुनती है। कोई मशीन कपड़ा सी देती है। लकड़ी काटने की मशीन लकड़ी काट देती है इसी प्रकार सब प्रकार की मशीनें संसार में अपना-अपना काम करती हैं परन्तु चलाने वालों के बिना सब मशीनें बेकार होती हैं। जिन मशीनों को औटोमैटिक (या अपने आप चलने वाली) भी कहा जाता है। वे भी किसी के बनाने से बनती हैं और पहली बार किसी के चलाने से चलती हैं। इसी प्रकार मनुष्य आदियों के जो शरीर पाँच तत्त्वों से बने हुए हैं और देवता आदियों के जो शरीर केवल प्रकाश से ही निर्मित हुए हैं। सब की चाबी मुझ परमात्मा के ही हाथ में है। मैं ही इन सब में रम रहा हूँ। और इन सब का कार्य करना भी केवल मुझ एक परमात्मा पर ही निर्भर है। सूर्य का उदय-अस्त, वायु का चलना, अग्नि का जलना वा जलाना, बिजली का कड़कना और चमकना, मेघ का वर्षा करना तथा इन्द्रादि देवताओं के सम्पूर्ण कार्य भी मुझ एक परमात्मा की स्फुरण शक्ति पर ही निर्भर हैं। इसलिए सब प्रकार की पूजा अर्चा स्तुति प्रार्थना

मुझ एक परमात्मा के लिए ही है तथा सब प्रकार के शुभ कर्मों का मन चाहा फल भी मेरी कृपा से ही मिलता है। अन्य किसी रीति से नहीं ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अन्तवत्+तु फलम्+तेषाम्+तत्+भवति+अल्प-मेधसाम् । देवान् +देव-यजः+यान्ति मत्+भक्ताः+यान्ति माम्+अपि ॥

अन्तवत्=अन्त+मतुप्=अन्तवत्+(नपुं०) प्र० ए० व०=अन्तवत्=अन्त वाला। नाशवान्। विनाश शील।

तु=(अव्यय) परन्तु।

फलम्=(नपुं०) फल+प्र० ए० व०=फलम्=फल। मन वांच्छित भोग रूप फल। भोगों की कामना की सिद्धि रूप फल। स्वर्गादि की प्राप्ति रूप फल।

तेषाम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=उन का।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=तत्=वह।

भवति=√भू+(लट्०) प्र० पु०, ए० व०=होता है।

अल्प-मेधसाम्=(वि०) अल्पाः मेधाः प्रज्ञाः येषाम् तेषाम् (बहुव्री०)। अल्प-मेधस्+षष्ठी० ब० व०=अल्प बुद्धि वालों का।

देवान्=(पुं०) देव+द्विती० ब० व०=देवान्=देवताओं को।

देव-यजः=(वि०) देवयज्+(पुं०) प्र० ब० व०=देवयजः=देवताओं की पूजा करने वाले। देवताओं के उपासक। √यज् (भ्वा० उभ० सक०= यज्ञ करना। पूजा करना। उपासना करना।) देव-यजः=[देवेभ्यः देवानां वा यजन्ते ये ते। जो देवताओं के लिये यज्ञ करते हैं अथवा जो देवताओं की पूजा करते हैं।

यान्ति=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना। प्राप्त होना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=यान्ति=प्राप्त होते हैं।

मत्+भक्ताः=मम भक्ताः (षष्ठी० तत्पु०) मेरे भक्त। मत्+भक्त+(पुं०) प्र० ब० व०=मुझ को पूजने वाले लोग।

यान्ति=√या+लट्० प्र० पु०, ब० व०=प्राप्त होते हैं।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

अपि=(अव्यय)=भी।

अर्थ—परन्तु उन अल्प बुद्धि वालों का वह फल अन्तवान् (विनाशशील) होता है। देवयाजी भक्त अर्थात् देवताओं की पूजा या आराधना करने वाले लोग देवताओं को प्राप्त होते हैं [अर्थात् मर कर अपने आराध्य देवताओं के स्वरूप हो जाते हैं।] और मेरे भक्त मुझ को प्राप्त करते हैं। (अर्थात् मुक्त होकर मेरे स्वरूप में मिल जाते हैं] ॥ २३ ॥

व्याख्या—जो लोग देवताओं को भगवान् से पृथक मान कर भोगों की कामना से उन की उपासना करते हैं वे अल्प बुद्धि वाले होते हैं और उनको उन की इच्छाओं के अनुकूल स्त्री, पुत्र, धन-धान्य तथा स्वर्गादि की प्राप्ति रूप जो फल प्राप्त होता है वह नाशवान् होता है। कारण यह है कि इन सब स्त्री पुत्रादि का सम्बन्ध केवल इसी जन्म से होता है मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति में ये सब कुछ भोग और इनसे उत्पन्न सुख भी सहायता नहीं करते, बल्कि इनके निमित्त जो पाप-कर्म किए जाते हैं। वे सब मोक्ष की प्राप्ति के बाधक होते हैं। इन देवताओं की उपासना से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है वह भी पुण्यों के क्षीण होने पर स्थिर नहीं रहती क्योंकि उनका स्वर्ग-भोगों की समाप्ति पर फिर जन्म-मरण के चक्र में फँसना होता है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालं।
क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति ॥ गी० ९।२१॥

हो सकता है कि स्वर्ग लोकों में दीर्घकाल तक निवास प्राप्त रहे। किन्तु ये सब स्वर्ग लोक भी तो नाशवान् ही हैं। इस लिए उस से परे अल्प-बुद्धि पुरुष और कौन हो सकता है? जो मोक्ष-दाता परमात्मा की उपासना को छोड़ कर नाशवान् भोगों को प्राप्त करने के लिये केवल देवताओं की ही प्रार्थना करता है और उन देवताओं को परमात्मा के स्वरूप न समझ कर परमात्मा से अनभिज्ञ हो चुका है। यदि उनकी बुद्धि अल्प न होती तो वे इस बात को अवश्य समझ लेते कि समस्त देवताओं के रूप में केवल एक परमात्मा ही सब पूजाओं और अर्पित वस्तु को ग्रहण करते हैं और हवन की हुई समस्त आहुतियाँ भी भगवान् ही लेते हैं। वे लोग जिन देवताओं की उपासना करते हैं। उन से मिले हुए भोगों को भोगने के बाद वे मर कर अपने आराध्य देवताओं के लोकों में चले जाते हैं और उनकी समीपता को पाते हैं। उनके स्वरूप बन जाते हैं और उन देवताओं के लोकों में निवास करके वहाँ के भोग भोगते हैं। परन्तु ये सब देवता और उनके लोक अन्तवत् या विनाशशील हैं।

भगवान् के भक्त तो जन्म जन्मान्तर की भक्ति के प्रभाव से अन्त में भगवान् का ही स्वरूप हो जाते हैं। और फिर उन का जन्म मरण नहीं होता। इसी का नाम भगवत्प्राप्ति है। भगवान् का भक्त तो जीवित अवस्था में भी समूचे संसार को भगवान् का स्वरूप समझ कर उस में ही सदा मग्न या लीन रहता है जिस से किसी दु:ख सुख आदि द्वन्द्व का उसे अनुभव नहीं करना पड़ता। उसकी सब चिन्ताएँ निवृत तथा नाश हो जाती हैं। वह जीवन में ही भगवान् का देह धारी स्वरूप बन जाता है। और शरीर के नष्ट होने पर भगवान् की ज्योति में मिलकर एक रूप या ज्योति स्वरूप हो जाता है। भगवान् की अनन्य भक्ति में एक विशेषता यह भी है कि भगवान् कभी अपने भक्त को अपनी भक्ति से विचलित नहीं होने देते जिस प्रकार सहृदय, वत्सलयुता,

बुद्धिमती माता स्वपुत्र का पथप्रदर्शन करती है और उसको छाती से लगाकर तन्मय या निजमय कर लेती है। इसी प्रकार परमात्मा भी अपने भक्त का पथ-प्रदर्शन करता है और समीप आने पर उसे अपने हृदय से लगा लेता है अर्थात् अपने में मिला लेता है ॥

इस श्लोक में "मामपि" में जो अपि शब्द है। उसका विशेष अर्थ यह है—

भगवान् कहते हैं कि मेरे आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी तीनों प्रकार के सकाम भक्त मेरी कृपा से पहले तो स्वमन वांच्छित फलों को प्राप्त करते हैं। तदनन्तर मुझ परमेश्वर की उपासना के परिपक्व हो जाने पर मुझ अनन्त और आनन्द घन परमेश्वर में मिल जाते हैं। इसलिए मेरी और देवताओं की भक्ति में सब से बड़ा अन्तर यह है कि देवताओं को पूजने से तो केवल नाशवान् भोगादि ही प्राप्त होते हैं परन्तु मेरी उपासना करने से ये नाशवान् भोगादि भी प्राप्त होते हैं। और मोक्ष भी मिलता है।

जो पुरुष जिस देवता की उपासना करता है वह उसी को प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में यह एक श्रुति भी है—

"कर्मणा पितृ-लोको विद्यया देवलोकः।
देवो भूत्वा देवानप्येति ॥"

[**अर्थ**—पितृ सम्बन्धी कर्म करके इस पुरुष को पितृ लोक प्राप्त होता है और देवताओं की उपासना करके देव लोक प्राप्त होता है।]

वृहदारण्यक उपनिषद् अ०, ३। ब्रा ८। मं २०॥ में परमात्मा सम्बन्धी इस प्रकार लिखा है :—

याग्यवल्क्य जी गार्गी से कहते हैं—

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति सः कृपणोऽथ।
य एतदक्षरं गार्गि! विदित्वा ऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ॥"

[**अर्थ**—हे गार्गि! जो कोई पुरुष इस लोक में इस अक्षर (परमात्मा) को न जान कर हवन करता है यज्ञ करता है और बहुत सहस्र वर्षों तक तप करता है उस का वह सब कर्म अन्तवत् (नाशवान्) ही होता है।

और हे गार्गि! जो कोई इस अक्षर को बिना जाने इस लोक से मर जाता है वह कृपण (दीन) है। और हे गार्गि! जो इस अविनाशी परमात्मा को जान कर इस लोक से मर कर जाता है। वह ब्रह्म रूप होता है] ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

अव्यक्तम्+व्यक्तिम्+आपन्नम्+मन्यन्ते माम्+अबुद्धयः । परम्+भावम्+अजानन्तः+मम+अव्ययम्+अनुत्तमम् ॥

अव्यक्तम्=(वि०) न व्यक्तम् (नञ् तत्पु०) । वि√अञ्ज्+क्त=अव्यक्त+(पुं०) द्वितीं० ए० व०=अव्यक्तम्=अप्रकाशम् । अस्पष्ट को । अगोचर को । जो प्रत्यक्ष न हो उसको । अज्ञेय को । अचिन्त को ।

व्यक्तिम्=(पुं०) वि√अञ्ज्+क्तिन्=व्यक्ति+द्वितीं० एक व०=व्यक्तिम्=व्यक्त भाव को । व्यक्ति भाव को । वि√अञ्ज्+क्तिच्=व्यक्ति+द्वितीं० ए० व०=व्यक्तिम्=मनुष्य भाव को ।

आपन्नम्=अ√पद्+क्त=आपन्न+(पुं०) द्वितीं० ए० व०=आपन्नम्=प्राप्त हुए को । प्राप्त हुआ ।

मन्यन्ते=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=मानना, जानना)+लट् प्र० पु० ब० व०=मानते हैं । जानते हैं । समझते हैं ।

माम्=अस्मद्=द्वितीं० ए० व०=मुझ को ।

अबुद्धयः=(वि०) नास्ति बुद्धिः यस्मिन् (नञ् बहुव्री०)=अबुद्धि+प्र० ब० व०=अबुद्धयः=अविवेकिनः=ज्ञान हीन लोग । बुद्धि हीन पुरुष । अज्ञानी लोग ।

परम्=(वि०)√पृ+अप् भावे=(पुं०) पर+द्वितीं० एक व०=परम्=सर्वोत्तम को । सर्वश्रेष्ठ को ।

भावम्=(पुं०)√भू=घञ् । भावयति । चिन्तयति वा ज्ञापति पदार्थान् । √भू+णिच्+अच्=भाव+(पुं०) द्वितीं० ए० व०=भाव को । प्रभाव को । सामर्थ्य को । स्वभाव को । शक्ति को । स्वरूप को ।

अजानन्तः=(वि०) न जानाति तत्त्वं यः (नञ् बहुव्री०)=न+√ज्ञा (क्रया० पर० सक०=जानना)+शतृ=अजानत्+(पुं०) प्र० ब० व०=अजानन्तः=न जानते हुए ।

मम=अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम । मे । मेरे ।

अव्ययम्=यस्य व्ययः नास्ति सः अव्ययः (नञ् बहुव्री०) । अव्यय+(पुं०) द्वितीं० ए० व०=अव्ययम्=व्यय रहितम् । अविनाशी को । अव्यय को ।

अनुत्तमम्=(वि०) न उत्तमो यस्मात् (नञ् बहुव्री०)=अनुत्तम+द्वितीं० ए० व०=अनुत्तम् । अनुत्तम को । सब से अधिक उत्तम को । सर्वोत्तम को । निरतिशय को । सर्वश्रेष्ठ को ॥

अर्थ—बुद्धि रहित लोग मेरे सर्वोत्तम, अविनाशी और परम श्रेष्ठ भाव [प्रभाव, स्वभाव, स्वरूप, सामर्थ्य] को न जानते [या न समझते] हुए मुझ

अव्यक्त (अप्रत्यक्ष, मन इन्द्रियों से परे, सच्चिदानन्द घन परमात्मा) को, व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ (देह धारी) मानते हैं ॥ २४ ॥

व्याख्या—यह बात तो निर्विवाद है कि परमात्मा के बिना और कुछ भी नहीं है। और वह परमात्मा अनादि, अजन्मा, अव्यय, अविनाशी, निर्विकार, निराकार, सर्वव्यापक, सर्वत्र व्यापक, सदैव स्थित, सदा एक रस, सच्चिदानन्द घन स्वरूप, सर्वशक्तिमान् तथा सब गुणों से सम्पन्न है उस के गुणों का वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है। वह कभी गर्भ में नहीं आता। मायापति है। मायातीत है। जैसे कोई बालक अपने स्फुरण के अनुसार मिट्टी के घरौंदे बना कर खेलता है, और खेल चुकने के बाद एक ही बार सब को गिरा कर सो जाता है इसी प्रकार परमात्मा के स्फुरण मात्र से संसार की रचना रची जाती है। 'अपरा' और 'परा' प्रकृति शरीरों और जीवों के मेल मिला कर प्राणियों की रचना करती रहती है। जो जीवों की मृत्यु के बाद पुनः प्रकृति के दो रूपों में परिवर्तित होते रहते हैं। जीव तो गर्भ में आता है परन्तु परब्रह्म परमात्मा कभी गर्भ में नहीं आता, न किसी दु:ख सुख में लिप्त होता है और उस का असली रूप तो अव्यक्त ही है जिसे निराकार परब्रह्म कहते हैं। परन्तु कभी कभी वह खेल करने के लिए भक्तों का दु:ख हरने के लिए और लोगों का पथप्रदर्शन करने के लिए नर रूप भी धारण कर लेता है यही नहीं बल्कि पशु-पक्षी का रूप धार कर भी नारायणी लीला करता है। किसी कवि ने कहा है—

दो जलचर, दो थलचर, दो ब्राह्मण, दो शूर।
दो वन में करें तपस्या भक्त हृदय भरपूर ॥

अर्थात् कूर्म, मत्स्य, नरसिंह, वाराह, परशुराम, कपल, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि ये दस प्रसिद्ध अवतार माने जाते हैं। परन्तु अवतार का जन्म पिता के वीर्य और माता के गर्भ से नहीं होता यद्यपि राम कृष्णादि के माता-पिता जगत प्रसिद्ध हैं परन्तु वास्तव में तो वे लोग भगवान् के भक्त थे जिन्होंने पुत्र रूप में भगवान् को पाने के लिए तप करके परमात्मा से वरदान माँगे थे इन की गणना परमात्मा के सकाम अर्थार्थी भक्तों में की जा सकती है। वैसे तो प्रभु सब शरीरों में व्यापक रूप में विद्यमान हैं। परन्तु वे गर्भ में अन्य बच्चों की भान्ति जन्म नहीं लेते, वे तो अपनी माया से केवल प्रकट मात्र ही होते हैं। जो पुरुष अवतार को जन्म धारी या देह धारी समझता है वह अल्प बुद्धि वाला है। मूर्ख है, क्योंकि अवतार का शरीर एक साधारण मनुष्य जैसा नहीं होता वह तो केवल दृश्य मात्र ही होता है। इच्छामय ही होता है। माया निर्मित नहीं होता। पांच तत्त्वों से बना हुआ नहीं होता इसी से तो इस श्लोक में कहा है :—

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ॥"

ऐसा ही आगे चलकर ९।११।। में भी लिखा है :—

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।"

ठीक है मूर्ख लोग ही भगवान् को मनुष्य शरीर धारी समझ कर तुच्छ मनुष्य समझते हैं । वास्तव में देहधारी दिखाई देने वाला राम कृष्ण आदि अवतार भी सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, अविनाशी, सच्चिदानन्द घन अव्यक्त परब्रह्म परमेश्वर ही होता है जो पुण्यात्मा, पुण्यशील और परिपक्व भक्ति वाले भक्तों के दृष्टि गोचर होकर उन को नयनानन्द देता है । शान्ति से भरपूर करता है । तथा प्रेम पूर्वक तीव्र गति से मुक्ति की ओर ले जाता है यद्यपि यह अवतार विशेष किसी विशेष काल में ही प्रकट होते हैं । परन्तु तीव्र भक्ति में लीन भक्त जब भी चाहे अपने प्रेम और अनन्य भक्ति के बल से अपने इष्ट देव परमात्म स्वरूप को प्रकट कर लेता है जिस प्रकार दियासिलाई को रगड़ने से तत्क्षण अग्नि प्रकट हो जाती है इसी प्रकार भगवान् भक्त के सम्मुख उस की इच्छा के अनुसार देह धारी दीखने लगते हैं । यदि भगवान् का मानव रूप पंचभूत जनित होता तो भक्त के प्रेमवश वे तत्क्षण प्रकट और अन्तर्धान न हो सकते । कहने का भाव यह है कि अव्यक्त और व्यक्त परमेश्वर में तनिक भी अन्तर नहीं है । व्यक्त का विग्रह या वपु केवल दृश्य मात्र होता है दोनों प्रकार की प्रकृति से उस का केवल इतना ही सम्बन्ध होता है जितना सूत्रधार और पुतली में होता है भगवान् चाहे व्यक्त है, चाहे अव्यक्त है उस की माया या प्रकृति तथा उस से निर्मित सम्पूर्ण जीव समूह उसी के इङ्गित पर प्रेरित होकर हिलता जुलता और कार्य करता है । जैसे आकाश में मेघ प्रकट हो जाते हैं । रगड़ से अग्नि प्रकट हो जाती है । जिस्त के, तेज़ाब मिले पानी में घुलने से बिजली उत्पन्न होकर तांबे की पट्टी की ओर चलने लगती है । इसी प्रकार अव्यक्त से व्यक्त प्रकट हो जाता है । परन्तु वह वास्तव में अव्यक्त ही होता है । उसे देहधारी समझना बहुत बड़ी भूल है । महान् मूर्खता है ।। २४ ।।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।। २५ ।।

न+अहम्+प्रकाशः सर्वस्य योगमाया-समावृतः । मूढः+अयम्+न+अभिजानाति लोकः+माम्+अजम्+अव्ययम् ।।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं ।

प्रकाशः=(वि०) प्र√काश्+अच्=प्रकाश+(पुं०) प्र० ए० व०=प्रकाशः=सुस्पष्ट प्रत्यक्ष । प्रकट ।

सर्वस्य=सर्व (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=सबका ।

योगमाया-समावृत:=योगो गुणानां युक्तिः घटनं, सा एव माया=योगमाया, तया। योगमायया समावृत: (सच्छन्न:) [तृती० तत्पु०] तीनों गुणों के मिश्रण का नाम योग है और वही माया है, उस योगमाया से ढका हुआ। [समावृत:=(वि०) सम—आ√वृ+क्त=समावृत+(पुं०) प्र० ए० व० =छिपा हुआ। ढका हुआ।]

मूढ:=(वि०)√मुह्+क्त=मूढ+(पुं०) प्र० ए० व०=मूढ:=मूर्ख बना हुआ। भटका हुआ।

अयम्=इदम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=यह।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अभिजानाति=अभि√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=जानता है।

लोक:=(पुं०)√लोक् (भ्वा=आत्म० सक०=देखना)+घञ्=लोक+प्र० ए० व०=लोक:=जगत् (प्राणि समुदाय)। जन समुदाय।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

अजम्=(वि०) न जायते य: (नञ् बहुव्री०)√जन्+उ=अज+(पुं०) द्विती० ए० व०=अजम्=जन्म रहित को। न उत्पन्न होने वाले को।

अव्ययम्=यस्य व्यय: नास्ति। (नञ् बहुव्री०) अव्यय+द्विती० ए० व०= अव्यय को। अविनाशी को।

अर्थ—(अपनी योगमाया से ढका या छिपा हुआ मैं सब के लिए प्रत्यक्ष नहीं हूँ। (इसलिए) यह मूढ़ लोक=(जन समुदाय) मुझ अजन्मा और अविनाशी को नहीं जानता है॥ २५॥

व्याख्या—तीनों गुणों के मिश्रण को योग कहते हैं और वही माया है अर्थात् उन से न होने वाली घटना का घटित होना माया है। उस योग माया द्वारा अपने को छिपाने वाला मैं जगत के जीवों को दिखाई नहीं देता हूँ। यह योग माया मेरी ही होने के कारण मुझ मायापति के ज्ञान का प्रतिबन्ध नहीं कर सकती। जैसे कि अन्य मायाबी (मदारी या बाज़ीगर) की माया उस बाज़ीगर के ज्ञान को नष्ट नहीं कर सकती। क्योंकि कोई भी मायाबी स्वयं अपनी माया के वश में नहीं होता। माया उसके इंगित के अनुसार ही उसको ढकती या उद्‌घाटित करती है तथा उसकी इच्छा के अनुसार स्वयं नृत्य करती है; तथा अन्य जीवों को नचाती है। इसलिए हे अर्जुन! किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध से रहित सर्वविषयक ज्ञान रखने वाला मैं परमेश्वर अपनी योग माया से सम्पूर्ण संसार को मोहित कर रहा हूँ। और स्वयं सब की दृष्टि से ओझल रहता हूँ। मैं एक महान् मायाबी या ऐन्द्रजालिक हूँ। साधारण जन समुदाय तो लौकिक ऐन्द्रजालिक को समझने के लिए असमर्थ होता है मुझ अज

और अव्यय को समझना तो अत्यन्त दूर की बात है। भक्ति रहित पुरुष मेरे वास्तविक स्वरूप को कदापि नहीं जान सकते। चौथे अध्याय के छठे श्लोक में भी भगवान् ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्यात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भावाम्यात्म मायया ॥

अर्थात् "मैं अजन्मा और अविनाशी स्वरूप होता हुआ भी, तथा सम्पूर्ण प्राणियों का ईश्वर होता हुआ भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी आत्म-माया से (राम कृष्ण आदि) रूपों में प्रकट होता हूँ।" इस श्लोक में भगवान् ने अपनी आत्म माया द्वारा व्यक्त रूप में अपना प्रकट होना कहा था और वर्तमान् श्लोक में योगमाया द्वारा अपने व्यक्त रूप का ढकना या छिपाना वर्णित किया है वास्तव में भगवान् की जो आत्म माया है। उसी का नाम योगमाया है। यद्यपि समूचे विश्व में तनिक सा स्थान भी कोई ऐसा नहीं है जिस में अव्यक्त परमात्मा का निवास नहीं है। परन्तु वह साधारण मनुष्यों को दृष्टिगोचर अनुभव नहीं होता है इस का कारण यह है कि इन जीवों की आंखों में भगवान् की योगमाया का जाला और धुंध छाया रहता है जिस से यह जन समुदाय उस ज्योति स्वरूप परमेश्वर को देख नहीं सकता है जैसे अन्धा पुरुष प्रकाशमय सूर्य को नहीं देख सकता है। इसी तथ्य का नाम परमात्मा का योगमाया से ढका हुआ होना है। परन्तु योगी लोग जब ध्यान में मग्न या लीन होते हैं। तो उस अव्यक्त परमात्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं। क्योंकि उस समय माया का पर्दा बीच से हट जाता है। जैसा कि श्वेताश्वत-रोपनिषद् में लिखा है :—

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्म शक्ति स्वगुणैर्निगूढाम् ॥
अध्याय १। मन्त्र ३॥"

[अर्थ—(परस्पर विचार करने पर जब युक्तियों और अनुमानों द्वारा वे ऋषि लोग किसी निर्णय पर न पहुँच सके, तब) उन्होंने ध्यानयोग में स्थित होकर अपनी (माया के तीन) गुणों से ढकी हुई (अर्थात् अपने नेत्रों पर से त्रिगुणात्मक माया का पर्दा उतार कर) उस परमात्म देव की स्वरूप भूत अचिन्त्य शक्ति को देखा।] यह शक्ति यद्यपि योगमाया से ढकी हुई कही जाती है परन्तु वास्तव में यह योगमाया से बहुत परे है और इस आत्म माया का पर्दा केवल देखने वालों के नेत्रों पर ही पड़ा हुआ होता है। यह माया सत्य नहीं। सत्य तो केवल परमात्मा है। असत्य होने पर भी यह माया जीव को जन्म मरण के फँदे में फँसाए रखती है। जैसे सूर्य तो पृथ्वी से नौ करोड़ तीस लाख मील दूर है परन्तु एक मील से भी कम ऊँचाई पर आकाश में छाए हुए बादल उस को ढक लेते हैं। अथवा पूर्ण सूर्य ग्रहण के समय सूर्य, चन्द्रमा

की ओट में छिप जाता है। तथा जैसे अंगुली की ओट में पर्वत दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार तुच्छ माया की ओट में परब्रह्म परमेश्वर ओझल हो जाता है। इसी प्रकार मायावश हुए जीव लोक को परमात्मा के दर्शन नहीं होते क्योंकि वे मूढ लोग अजन्मा और अविनाशी परब्रह्म को जानते नहीं हैं ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन् ॥ २६ ॥

वेद+अहम्+समतीतानि वर्तमानानि च+अर्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि माम्+तु वेद न कश्चन् ॥

वेद=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० उ० पु०, एक वचन=वेद =मैं जानता हूँ।

[साधारणतया √विद् के लट् में रूप "वेत्ति, वित्तः विदन्ति। वेत्सि वित्थः वित्थ। वेद्मि विद्वः। विद्मः ॥" होते हैं। परन्तु √ विद् के लट् लकार में विकल्प से लिट् लकार के समान भी प्रत्यय हो जाते हैं। वे रूप नीचे दिये जाते हैं :—

वेद विदतुः विदुः। वेत्थ विदथु विद। वेद विद्वः विद्मः ॥]

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

समतीतानि=(वि०) सम—अति√इ+क्त=समतीत+(नपुं०) द्विती० ब० व०=समतीतानि=बीते हुओं को। पहले हो चुकों को। पूर्व में गुज़रे हुओं को।

च=(अव्यय) और।

वर्तमानानि=√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=विद्यमान होना)+शानच्, मुक्=वर्तमान+(नपुं०) द्विती० ब० व०=वर्तमानानि=बर्तमानों को। हाज़रों को।

अर्जुन !=हे अर्जुन !

भविष्याणि=(वि०)√भू+लृट् (स्य, पृषो०, त लोप)+शतृ=भविष्य+(नपुं०) द्विती० ब० व०=भविष्याणि=आगे होने वालों को।

च=(अव्यय) और।

भूतानि=(वि०)√भू+क्त=भूत+(नपुं०) द्विती० ब० व०=भूतानि= भूतों को। जीवों को।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

तु=(अव्यय) परन्तु। तो।

वेद=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु० ए० व० (विकल्प से रूप)=वेद (वेत्ति)=जानता है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

कश्चन=कम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=कः+चन=कश्चन=कोई ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं पहले हो चुके, इस समय विद्यमान और आगे होने वाले सब भूतों को जानता हूँ। और मुझ को (पूरी तरह से) कोई (भी) नहीं जानता है ॥ २६ ॥

व्याख्या—श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन ! केवल मैं ही अनादि और सदा रहने वाला हूँ जब मैं आनन्दमग्न हो जाता हूँ। तो सारी सृष्टि मुझ में समा जाती है। तब मेरे बिना कोई भी द्रष्टा और द्रष्टव्य भूत शेष नहीं रहता। फिर जब मैं इस आनन्दमग्न अवस्था से रहित होता हूँ। तो मेरे स्फुरण मात्र से त्रिगुणात्मिक अपरा और परा रूप प्रकृति की रचना होती है। जिसके द्वारा मेरे इंगित पर सभी प्रकार के भूत प्रादुर्भूत होते हैं। और सम्पूर्ण विश्व में ये सब प्राणी पूर्व कल्प के बचे हुए कर्मों के फल के अनुसार स्वरूप धारण करके माया के वशवर्ती हुए स्व स्व जीवन व्यतीत करते हैं। और फिर अपने शुभा-शुभ कर्मों के अनुसार मर कर अनेक प्रकार की योनियों में भ्रमण करते और दु:ख सुख का अनुभव करते रहते हैं। इसमें से कतिपय ज्ञानी और तत्त्वद्रष्टा होकर मेरे स्वरूप में भी मिलते रहते हैं ये सब भूत प्राणी मेरी अपेक्षा अत्यन्त अल्पज्ञ होते हैं। इन भूतों में देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि सभी प्रकार के चराचर प्राणियों का समावेश हो जाता है। केवल एक मैं ही सर्वज्ञ हूँ। जो इन कल्प-कल्पान्तर में जन्म लेकर मर चुके सब भूतों के सम्बन्ध में सब कुछ जानता हूँ। और जो इस तेरे समय में वर्तमान भूत हैं उन सब को भी मैं भली भान्ति जानता हूँ क्योंकि मैं सर्वव्यापक और सर्वज्ञाता हूँ और जो आगे भी जन्म धारण करेंगे। उन के सम्बन्ध में भी मुझे सब कुछ ज्ञात है। ये भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल-विभाजन केवल आप जैसे प्राणियों के लिये ही है मेरा तो न कोई भूत है न वर्तमान है और न ही भविष्यत् है। क्योंकि मेरे अखण्ड ज्ञान स्वरूप में सब कुछ सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष है। मेरे लिये सभी कुछ सदा वर्तमान है। वस्तुतः समस्त कालों का महाकाल मैं ही हूँ। परन्तु मुझे पूरी तरह से कोई भी नहीं जानना है। किन्तु जिन पर मेरी दया-दृष्टि और अनुग्रह होता है वे मेरी भक्ति में सदा तत्पर और लीन रहते हैं जिस से ज्ञानी और तत्ववेत्ता हो जाते हैं। जैसे लोक प्रसिद्ध "गोगा पाशा" सरीखे ऐन्द्रजालिक मायावी पुरुष की माया से मोहित हुए लोग उस मायावी पुरुष के रहस्य को जानते नहीं हैं किन्तु उस मायावी पुरुष के अनुग्रह के पात्र भूत उसके शिष्य, पुत्र कलत्रादि तो उस के रहस्य को जान लेते हैं। ऐसे ही भक्त लोग मुझ को जान लेते हैं। इसी अध्याय के तीसरे श्लोक में लिखा है—

"यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः"।

अर्थात् उन यत्न करने वाले योगियों में भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझ को तत्त्व से अर्थात् यथार्थ रूप से जानता है। ये सब जानने वाले तो मेरा ही रूप होते हैं। इसलिये इन का जानना तो मेरा ही अपने आप को जानना है। शेष सब प्राणी जो मेरे अनन्य भक्त नहीं हैं उनमें से कोई भी मुझे नहीं जानता है॥ रामायण में भी लिखा है—

'जो जाने जिहि देहि जनाई' अर्थात् उस परमात्मा को वही जानता है जिसे वह परमात्मा स्वयं अपना आप जना देता है॥ नहीं तो उसकी कृपा के बिना उसको कोई नहीं जान सकता है। इस श्रुति में कहा है—

"स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता" [वह सब जानने योग्य वस्तुओं को जानता है परन्तु उसको (अच्छी तरह) जानने वाला कोई नहीं है।]॥ २६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ २७॥

इच्छा-द्वेष-समुत्थेन द्वन्द्व-मोहेन भारत! । सर्व-भूतानि सम्मोहम् +सर्गे यान्ति परम्+तप !॥

इच्छा-द्वेष-समुत्थेन=इच्छा च द्वेषः च (इच्छद्वेषौ) द्वन्द्व समास) ताभ्या समुत्तिष्ठति इति इच्छाद्वेषसमुत्थः, तेन=इच्छाद्वेषसमुत्थेन (बहुव्री०) =इच्छा और द्वेष, इन दोनों से जो उत्पन्न होता है उस का नाम —इच्छा द्वेष समुत्थ है। उस से। राग द्वेष से उत्पन्न हुए से।

द्वन्द्व-मोहेन=द्वन्द्वानां मोहेन (षष्ठी तत्पु०) द्वन्द्वों के मोह से। द्वन्द्व निमित्तो मोहः=द्वन्द्वमोहः तेन। द्वन्द्व निमित्त अज्ञानता से।

[द्वन्द्व=(नपु०) द्वौ द्वौ सहाभिव्यक्तौ, द्वि—शब्दस्य द्वित्वं, पूर्व पदस्य अम्भावः उत्तर पदस्य नपुंसकत्वं निपातनात्। शीत और उष्ण की भान्ति परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले और सुख दुःख तथा उन के कारणों में रहने वाले वे इच्छा और द्वेष ही यथा समय सब भूत-प्राणियों से सम्बन्ध युक्त होकर द्वन्द्व नाम से कहे जाते हैं॥ दो परस्पर विरुद्ध वस्तुओं या भावों का जोड़ा।

मोह=(पुं०)√मुह्+घञ्=मोह+तृती० ए० व०=मोहेन=अज्ञान से]

भारत !=(पुं०) भरतस्य गोत्रापत्यम्, भरत+अण्=भारत+सम्बो० ए० व०=हे उत्तम भरत वंश में उत्पन्न अर्जुन!

सर्व-भूतानि=सर्वाणि भूतानि (नपुं०) प्र० ब० व०=सारे प्राणी।

संमोहम्=(पुं०) सम्√मुह्+घञ्=संमोह+द्विती० ए० व०=अत्यन्त अज्ञानता को।

सर्गे=(पुं०)√सृज (दिवा० आत्म० सक०=उत्पत्ति करना)+घञ्=सर्ग +सप्त० ए० व०=उत्पत्ति काल में। जन्म काल में। उत्पन्न होते ही। स्थूल शरीर की उत्पत्ति के अनन्तर। संसार में।

यान्ति=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना)+लट्० प्र० पु० ब० व० प्राप्त होते हैं।

परन्तप!=परान् शत्रून् तापयति [पर√तप्+णिच्+खच्, ह्रस्व, मुम् +सम्बो० ए० व०]=हे शत्रुओं को ताप देने वाले अर्जुन! हे जितेन्द्रिय अर्जुन!

अर्थ—हे उत्तम भरत वंश में उत्पन्न होने वाले, तथा शत्रुओं को ताप देने वाले (जितेन्द्रिय) अर्जुन! स्थूल शरीर की उत्पत्ति के अनन्तर संसार में सारे प्राणी इच्छा (राग) और द्वेष से उत्पन्न (इन्द्रियों के) सुख दु:खादि द्वन्द्वों के मोह से सम्मोह (अज्ञान) को प्राप्त होते हैं॥ २७॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तुम तो उत्तम वंश भरत के वंश में उत्पन्न हुए हो, तथा परंतप अर्थात् जितेन्द्रिय या शत्रुओं को तपाने वाले भी हो, इस लिए तुम जन्म से ही शुद्ध बुद्ध हो और मुझ भगवान् के कथनानुसार राग-द्वेष, हर्ष-शोक तथा सुख दु:खादि जो द्वन्द्व रूप शत्रु हैं वे मनुष्य के कल्याण मार्ग में विघ्न डालने वाले परिपन्थी या डाकू हैं। जितेन्द्रिय और परंतप होने के कारण से तुम को तो उन से कोई भय नहीं है तथा तुम तो मेरे मित्र होने से मेरा ही स्वरूप हो चुके हो। इस लिए मैं यह बात तुम्हें और अपने अनन्य भक्तों को छोड़ कर अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में कहता हूँ।

हे अर्जुन! पहली बात तो यह है कि प्राणी मात्र की आँखों पर मेरी माया का पर्दा पड़ा होने से वे मेरे यथार्थ रूप को देख नहीं सकते। दूसरे संसार में उन प्राणियों की उत्पत्ति होते ही उन की अनुकूल पदार्थों में इच्छा और प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष होने लगता है। बच्चा दूध मिलने पर आनन्द का अनुभव करता है और क्षुधा से पीड़ित होकर रोने लगता है, ज्यों ज्यों वह बड़ा होता जाता है त्यों त्यों वह इन इच्छा-द्वेषों से उत्पन्न होने वाले द्वन्द्वों के जाल में अधिक उलझता जाता है। और इन द्वन्द्वों से मोहित होकर प्राणि-समुदाय भ्रम, अविवेक, अज्ञान या मोह को प्राप्त हो जाता है। जिस से वह अपने आत्म स्वरूप को सर्वथा भूल जाता है। अभिप्राय यह है कि उत्पत्तिशील समस्त प्राणी मोह के वशीभूत हुए ही उत्पन्न होते हैं। ऐसा होने के कारण द्वन्द्व मोह से जिन का ज्ञान नष्ट हो गया है वे मोहित हुए समस्त प्राणी अपने आत्म-रूप मुझ परमात्मा को नहीं जानते हैं॥ २७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

येषाम् + तु + अन्त-गतम् + पापम् + जनानाम् + पुण्य—कर्मणाम् । ते द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ताः + भजन्ते माम् + दृढ-व्रताः ॥

येषाम् = यद् (सर्व०) + (पुं०) षष्ठी० ब० व० = जिन के ।

तु = (अव्यय) तो । परन्तु ।

अन्त-गतम् = (वि०) अन्तं गतम् (द्विती० तत्पु०) अन्त को गया हुआ । [गतम् = √गम + क्त + (नपुं०) प्र० ए० व० = गया हुआ । पहुँचा हुआ ।] समाप्तप्रायं । क्षीणं । अन्त को प्राप्त हुआ है । समाप्त हो चुका है ।

पापम् = (नपुं०) पाति रक्षति अस्मात् आत्मानम्, (√पा + प) बुरे कामों से उत्पन्न होने वाला अदृष्ट जिस से मनुष्य बुरी गति को प्राप्त होता है । पाप + प्र० ए० व० = पापम् = पाप ।

जनानाम् = (पुं०) √जन् (दिवा० आत्म० अक० = उत्पन्न होना) + अच् = जन + षष्ठी० ब० व० = जनानाम् = जनों का । मनुष्यों का । लोगों का ।

पुण्य-कर्मणाम् = (वि०) पुण्यं कर्म येषां (बहुव्री०) । सत्त्वशुद्धिकारणं विद्यते कर्म येषां ते पुण्यकर्माणः तेषां पुण्यकर्मणाम् = जिन के कर्म पवित्र अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि के कारण होते हैं । वे पुण्य कर्म होते हैं, उनके । पुण्यकर्मन् + (पुं०) षष्ठी० ब० व० = पुण्य कर्म वालों का ॥

ते = तद् (सर्व०) + प्र० ब० व० = वे ।

द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ताः = द्वन्द्वानां मोहेन निर्मुक्ताः (बहुव्री० षष्ठी० तत्पु०) = द्वन्द्वों के मोह से छूटे हुए । [√मुच् + क्त = मुक्त + (पुं०) प्र० ब० व० = छूटे हुए । निमुक्ताः = अच्छी तरह से रहित हुए ।

भजन्ते = √भज् (भ्वा० उभ० सक०) + लट्० प्र० पु०, ए० व० = भजते हैं ।

माम् = अस्मद् (सर्व०) + द्विती० ए० व० = मुझ को ।

दृढ-व्रताः = (वि०) दृढाः व्रताः येषां ते दृढव्रताः मजबूत व्रत वाले । दृढ़ व्रत वाले । एवम् एव परमार्थतत्त्वं न अन्यथा इति एवं निश्चितविज्ञाना दृढ़व्रता उच्यन्ते । परमार्थतत्त्व ठीक इसी प्रकार है, दूसरी प्रकार नहीं ऐसे निश्चित विज्ञान वाले दृढ़व्रती कहे जाते हैं [श्री शंकराचार्य]

अर्थ—परन्तु जिन पुण्य करने वाले पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे (इच्छा-द्वेष से उत्पन्न हुए) द्वन्द्वों के मोह से निर्मुक्त हुए (भली भान्ति) छूटे हुए, दृढ़ निश्चयी भक्त मुझ को भजते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या—जिन पुरुषों का पाप समूह जन्म जन्मान्तर के पुण्य कर्मों के प्रभाव से अच्छी तरह से दूर हो जाता है । अर्थात् जो लोग बहुत से पूर्व के जन्मों से हवन-यज्ञ, सन्ध्या-वन्दन, दान-पुण्य और परोपकारादि के कर्म करते

चले आ रहे हैं। उन के उन पुण्यों कर्मों के प्रभाव से सम्पूर्ण पाप निःशेष हो जाते हैं। जिस से वे मेरी ओर आकर्षित हो जाते हैं। जिस के कारण से इच्छा (राग) द्वेष से उत्पन्न होने वाले, मोह-शोक सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से छूट कर परमात्मा के वास्तविक स्वरूप में दृढ़ निश्चय वाले हो जाते हैं। उस समय उन का ईश्वर सम्बन्धी संकल्प अचल और अटल हो जाता है। जिस से वे दिन रात निरन्तर मेरे भजन में निमग्न रहते हैं जिस के फल स्वरूप मैं उनका साक्षात्कार विषय बन जाता हूँ। तथा वे मेरे अत्युत्तम अविनाशी परम भाव को जान लेते हैं। और मेरी माया फिर उनको विमोहित नहीं करती है॥ २८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

जरा-मरण-मोक्षाय माम्+आश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तत्+विदुः कृत्स्नम् +अध्यात्मम्+कर्म च+अखिलम्॥

जरा-मरण-मोक्षाय=[जरा=(स्त्री०)√जृ (दिवा० क्रया० पर० अक० =पुराना पड़ जाना, बूढ़ा होना)+अङ्—टाप्=बुढ़ापा।

मरण=(नपुं०)√मृ (तुदा० आत्म० अक०=मरना)+ल्युट्=मौत। मृत्यु] जरायाः च मरणात् च मोक्षाय (इतरेतर द्वन्द्व)=बुढ़ापे और मृत्यु से छूटने के लिये।

[मोक्षाय=(पुं०)√मोक्ष् (चुरा० पर० सक०=छोड़ना, छूटना)+घञ् =मोक्ष+चतु० ए० व०=छूटने के लिये]।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० एव व=मुझ को।

आश्रित्य=आ√श्रि (भ्वा० उभ० सक०=प्राप्त होना। आश्रय लेना)+ ल्यप्=आश्रय करके।

[उपसर्गादि धातु से "क्त्वा" के स्थान पर "ल्यप्" प्रत्यय होता है]

यतन्ति=√यत् (भ्वा० आत्म० अक०=यत्न करना+लट्० प्र० पु०, ब० व०=यत्न करते हैं।

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=जो। जो भक्त। जो लोग।

ते=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे। वे भक्त। वे लोग।

ब्रह्म=ब्रह्मन् (नपुं०)+द्विती० ए० व०=ब्रह्म को।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उस को।

विदुः=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०= विदुः=जानते हैं॥

[वेत्ति वित्तः विदन्ति। वेत्सि वित्थः वित्थ। वेद्मि विद्वः विद्मः।
लट् लकार में √विद के ये साधारण रूप हैं]

विकल्प से इस धातु के रूप लट् लकार में लिट् लकार के समान ही प्रत्यय लगा कर अग्रलिखित भी होते हैं:—

वेद, विदतुः, विदुः । वेत्थ, विदथुः विद । वेद, विद्वः, विद्मः ।]

कृत्स्नम्=(वि०)√कृत्+क्स्न=कृत्स्न+(नपुं०) द्विती० ए० व०=कृत्स्नम्=सम्पूर्ण को ।

अध्यात्मम्=(वि०) अधि+आत्म+द्विती० ए० व०=अध्यात्म को । आत्मा को ।

कर्म=कर्मन् (नपुं०)=√कृ+मनिन्+द्विती० ए० व०=कर्म । कर्म को ।

च=(अव्यय) और ।

अखिलम्=(वि०)√खिल्+क (नञ् तत्पु०)=अखिल+(नपुं०) द्विती० ए० व०=अखिलम्=सारे को । समूचे को । सम्पूर्ण को ।

अर्थ=जरा-मरण (आदि आवागमन के दुःखों से) छूटने के लिए जो (भक्तजन) मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं । वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जान लेते हैं ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! संसार में जन्म, मरण, जरा और व्याधि ये चार बड़े दुःख हैं जिनमें से जरा और मरण अन्तिम दो बड़े दुःख तो पूर्ण नरक रूप ही हैं । इसलिये इन दोनों में चारों का समावेश समझना चाहिए क्योंकि हाथी के पाँव में सब का पाँव होता है । इन चारों कष्टों तथा अन्य विविध प्रकार की चिन्ताओं, बन्धनों और क्लेशों से छूटने के लिए योगीजन और भक्त लोग सब प्रकार से मेरा आश्रय ग्रहण करके यत्न करते हैं । मुझ को सर्वव्यापी, सर्वाधिकार और सर्वशक्तिमान् समझते हैं । और अपना सब कुछ मुझ पुरुषोत्तम को जान कर तथा बुद्धि से मेरे तत्त्व का निश्चय करके मन से मेरे प्रभाव, गुण, स्वरूप और लीलाओं का चिन्तन करते हैं । मेरे यश और नाम का कीर्तन करते हैं । सदा सब जगह सब को मेरा स्वरूप समझ कर नमस्कार करते हैं । दीन दुःखियों के रूप में मुझे देख कर मेरी सेवा करते हैं । धरती आकाश में सब ओर मेरे स्वरूप को ही अपने चरमचक्षुओं से भी देखते हैं । सब को मेरा स्वरूप समझ कर किसी से द्वेषभाव नहीं करते । अपनी सब वस्तुओं को मेरी मान कर मेरे ही अर्पण करते हैं । मुझे अंग संग समझ कर किसी से भय नहीं करते । मेरा आश्रय लेकर कोई चिन्ता नहीं करते । मेरी कृपा, अनुकम्पा और दया देख कर सदा प्रसन्नवदन और स्वस्थ रहते हैं । और नित्य निरन्तर फल की इच्छा से रहित हुए, शास्त्र विहित शुभ कर्म ही करते हैं । जिससे वे भक्तजन शुद्धान्तः-करण हुए सब जगत् के कारण रूप मायापति मायातीत सब उपाधियों से पर, उस निर्गुण शुद्ध ब्रह्म को जान लेते हैं । जिस के बिना शेष सब कुछ मिथ्या है । अपने भीतर रहने वाले अपने आतमा के यथार्थ स्वरूप को समझ लेते हैं । अज्ञान जनित कर्मों को त्याग कर श्रवण मनन आदि सम्पूर्ण कर्मों के वास्तविक स्वरूप को जान जाते हैं । इस प्रकार वे भक्त लोग निर्गुण, निराकार सच्चिदा-नन्दघन परब्रह्म परमात्मा को भली भान्ति तत्त्व से जानकर जरा मरणादि

दु:खों से छूट कर परमात्मा को पा जाते हैं क्योंकि कर्म-फलासफ़ी को समझ लेने से और अध्यात्म ज्ञान को जान लेने से शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ।। २६ ।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।। ३० ।।

स+अधिभूत—अधिदैवम्+माम् स+अधियज्ञम्+च ये विदु: । प्रयाण-काले+अपि च माम्+ते विदु:+युक्त-चेतस: ।।

स+अधिभूत-अधिदैवम्=अधिभूतं च अधिदैवं च=अधिभूताधिदैवम् (द्वन्द्व०) सह=अधिभूत और अधिदैव के सहित ।

[अधिभूत=(नपुं०) भूतं=प्राणिमात्रं अधिकृत्य (आदि) वर्तमानम्=सब प्राणियों में रहने वाला । क्षर पुरुष ।

"अधिभूतं=क्षरो भाव:" गी० ८ । ४ ।।" क्षर भाव का नाम अधिभूत है ।। पदार्थ मात्र के नाम रूपात्मक नाशवान् स्वरूप को क्षर कहते हैं । इस प्रकार यह उत्पन्न हुए सब पदार्थों की नाम रूपात्मक नष्ट होने वाली स्थिति अधिभूत हैं ।। विनाशशील समस्त जड़ वर्ग उत्पत्ति विनाश धर्म वाले सब प्राणी ।।]

[अधिदैवम्=(नपुं०) अधिष्ठाता देवता ।

"पुरुषश्चाधि दैवतम्" गी० ८ । ४ ।।"

हिरण्य गर्भ पुरुष (ब्रह्मा) अधिदैवत (या अधिदैव) है ।। जो परमात्मा सूर्य की ऊर्जा के रूप में प्राणियों में प्रविष्ट होकर शरीर की रचना करता है । वही ब्रह्मा या अधिदैव कहलाता है ।।]

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्वितीo एo वo=मुझ को ।

स+अधियज्ञम्=(नपुं०) सह अधियज्ञेन (प्रा० स०) अधियज्ञ के सहित ।

[अधियज्ञ=(नपुं०) अधिकृत: स्वामितया यज्ञो यस्य (बहु० स०) ।

"अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे । गीता ८ । ४ ।।"

सब यज्ञों का अधिपति । विष्णु भगवान् ।। सब प्राणियों के अन्त:करण में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त रहने वाले भगवान् का अव्यक्त स्वरूप । वास्तव में सब पदार्थों का भोक्ता ।

च=(अव्यय) और ।

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=जो ।

विदु:=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०= जानते हैं ।।

प्रयाण-काले=प्रयाणस्य काले (षष्ठी तत्पु०) । मरणकाले=मरणस्य काले= मरण काल में । मरने के समय पर ।

[प्रयाण=(नपुं०) प्र√या+ल्युट्=प्रस्थान। चले जाना। काल+सप्त० ए० व०=काले]

अपि=(अव्यय) भी।

च=(अव्यय) और।

माम्=मुझ को।

ते=तद्=(सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे।

विदु:=जानते हैं।

युक्त-चेतस:=(वि०) समाहितचित्ता:=(मुझ से) जुड़े हुए चित्त वाले पुरुष।
मयि युक्ता: चेतांसि येषां ते (बहुव्री०)।
[युक्त=√युज्+क्त=जुड़ा हुआ। लीन।

चेतस:=चेतस् (नपुं०)=√चित्त+असुन्।=चेतस्=(समास होने पर) (पुं०) प्र०, ब० व०=चेतस:=चित्त वाले॥

अर्थ—जो (पुरुष) मुझ को अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित जानते हैं। वे (मुझ में) युक्तचित्त हुए (जुड़े हुए चित्त वाले) मरणकाल में भी मुझ को जानते हैं॥ ३०॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जो कुछ भी जहाँ कहीं विद्यमान है। वह मेरे बिना और कुछ भी नहीं है। मैं ही अधिभूत हूँ। अर्थात् मैं वह मसाला, मैटीरियल या निर्माण-सामग्री हूँ। जिस से देहधारियों के शरीर निर्मित हुए या होते हैं। अर्थात् अपरा प्रकृति के रूप में मैं ही संसार की रचना करता हूँ। इस से यह क्षर पुरुष भी मैं ही हूँ। अधिदैव भी मैं ही हूँ। जिस को सब लोग ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ कहते हैं। सूर्य अधिभूत है। परन्तु उस में जो देदीप्यमान् तेज रूप भगवान् है। वह सूर्य से अलग है वही अधिदैव है जो ऊर्जा बन कर संसार में विकिरण होता है तथा वनस्पतियों में प्रविष्ट होकर फल, फूल, रस, निशास्ते, चीनी, तेल और विटामिन (जीवन तत्त्व) आदि बन कर प्रकट होता है। फिर यही ब्रह्मा या अधिदैव भोजन द्वारा प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करता है जो शरीर पहले केवल बहुत सूक्ष्म एक ही कोशिका (CELL) के रूप में होता है वह इसी अधिदैव या ब्रह्मा की रचनात्मक क्रिया अर्थात् कोशिका विभाजन द्वारा एक बहुत बड़ी देह का रूप धारण कर लेता है।

इस देह में व्याप्त जो परमेश्वर है। वह वास्तव में चतुर्विध-भोजनों को भक्षण करता तथा खाए हुए को पचाता है। और शरीर का भरण पोषण करता है तथा शरीर को चुस्त और क्रिया-शील बनाता है वह अधियज्ञ है वह ही सब यज्ञों या पुण्यकर्मों का अधिष्ठाता भगवान् विष्णु है। जो हृद्देश में विशेष रूप से स्थित भासमान होता है और शरीर रूप मोटर को इंजन में बैठे हुए ड्राईवर की तरह चलाता है। उस की शरण गए बिना इस जीव का कल्याण

कदापि नहीं होता। इसलिए जो मनुष्य मुझ पर ब्रह्म को अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ सहित जान पहिचान कर सर्वभावों से मेरी शरण को प्राप्त हो जाते हैं वे सदा मुझ में जुड़े हुए चित्त वाले होकर मरण काल में भी मुझ को भूलते नहीं हैं। मरण काल में प्राणी की समस्त इन्द्रियाँ शिथिल और क्रिया विहीन हो जाती हैं। मन क्षीण और व्याकुल बन जाता है बुद्धि भ्रमित हो जाती है मस्तिष्क स्थिर नहीं रहता। इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा तीनों का अधिकार अंगों पर से उठ जाता है प्राण वायु रुकने लगता है। पाँचों प्राण प्रयाण करने को तत्पर हो जाते हैं और हृदय-गति रुकने लगती है। उस समय अपने पराये की कुछ भी परख नहीं रहती। तब अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ रूप परमात्मा से परिचित पुरुष मुझ परमेश्वर में समाहित चित्त वाला पूर्व अभ्यासजन्य संस्कारों की दृढ़ता से उस प्राणों के उत्क्रमण काल में भी मुझ परमात्मा को जानता और प्रत्यक्ष रूप में देखता है। जिस से उसे परमगति प्राप्त हो जाती है। क्योंकि यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है—"जो अन्त मता, तहाँ गता" अर्थात् मरण काल में प्राणी का ध्यान जिस ओर या जिस वस्तु तथा प्राणी में होता है। अगला जन्म उस को उसी के अनुसार मिलता है। क्योंकि मरणोन्मुख मनुष्य के मन की प्रबल वासना ही उसके भले बुरे भावी जन्म का कारण होती है तथापि यह वासना उसके जन्म भर किए हुए कर्मों के अनुसार ही हो सकती है। इस श्लोक में भी भगवान् ने इसी ओर इंगित किया है ॥ ३० ॥

ॐ तत्सत्। इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे ज्ञानविज्ञान योगो नाम सप्तमोऽध्याय: ॥

[इस प्रकार श्री भगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषदों में ब्रह्म-विद्यान्तर्गत, योगशास्त्र विषयक श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद में "ज्ञान विज्ञान योग नामक सातवाँ अध्याय है ॥]

॥ शुभम् ॥

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

किम्+तत्+ब्रह्म किम्+अध्यात्मम्+किम्+कर्म पुरुष+उत्तम! अधिभूतम्+च किम्+प्रोक्तम्+अधिदैवम्+किम्+उच्यते ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथम्+कः+अत्र देहे+अस्मिन्+मधु-सूदन! प्रयाण-काले च कथम्+ज्ञेयः+असि नियत-आत्मभिः ॥ २ ॥

किम्=किम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=किम्=क्या (है)?

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=तत्=वह।

ब्रह्म=(नपुं०) ब्रह्मन्+प्र० ए० व०=ब्रह्म।

किम्=(सर्व०) नपुं० प्र० ए० व०=क्या (है)?

(नोट)—'अधि' उपसर्ग लगा कर शब्द का अर्थ—'तमधिकृत्य' 'तद्विषयक' (उस में रहने वाला या उस सम्बन्ध का) हो जाता है।

अध्यात्मम्=अधि+आत्मन् (=आत्मनि देहे मनसि वा इति विभक्त्यर्थे अव्ययी भाव समास)+(नपुं०) प्र० ए० व०=अध्यात्म।

आत्म=देह, उस देह रूप [आत्मा को आश्रय बना करके जो स्थित है। उस (आत्मा) का नाम अध्यात्म है।]

किम्=(सर्व० नपुं०) प्र० ए० व०=क्या (है)?

कर्म=(नपुं०) कर्मन्+प्र० ए० व०=कर्म।

पुरुष+उत्तम!=पुरुषेषु उत्तमः। सम्बोधन ए० व० (कर्म० बहुव्री०)=हे सब पुरुषों में उत्तम (कृष्ण)!

अधिभूतम्=भूतों को आश्रय करके जो स्थित होता है उस शरीरादि नाम रूप धारी का नाम अधिभूत है। (नपुं०) भूतम्=प्राणिमात्रम् अधिकृत्य वर्तमानः (प्रादि समास)। अधिभूत।

च=(अव्यय) और।

किम्=(सर्व०) नपुं० प्र०, ए० व०=क्या?

प्रोक्तम्=प्र√वच्+क्त+(नपुं०) प्र०, ए० व०=कहा गया है।
अधिदैवम्=१—देव को आश्रय करके जो स्थित है उस का नाम अधिदैव है। २—देवता विषयक ध्यान भी अधिदैव होता है। ३—देवताओं के आदित्य मंण्डलादि में अनुस्यूत चैतन्य अधिदैव होता है। ४—हिरण्यगर्भ। इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं का स्वामी। (नपुं०) अधि+देव+स्वार्थे अण्। =अधिदैव+प्र० ए० व०=अधिदैवम्। अधिदैव।
किम्=(सर्व०) नपुं० प्र०, ए० व०=क्या ?।
उच्यते=√वच्+कर्मवाच्य, लट्०, प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है ?
अधियज्ञ:=यज्ञ को आश्रय करके जो स्थित होता है उसका नाम अधियज्ञ है। परब्रह्म। (पुं०) अधिकृत: स्वामितया यज्ञो यस्य (बहुव्री०) अधि+यज्ञ+प्र० ए० व०=अधियज्ञ:।
कथम्=(अव्यय) कैसे ?। किस प्रकार ?। किस तरह ?
क:=किम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=कौन।
अत्र=(अव्यय) इदम् या एतद्+त्रल्=यहाँ (है) ?
देहे=(नपुं० पुं०) देग्धि प्रतिदिनं√दिह (अदा० उभ० सक०=लेप करना, फैलाना)+घञ्=देह+सप्त० ए० व०=देहे=देह में। शरीर में। [ये देह या शरीर तीन प्रकार के होते हैं—१. स्थूल २. सूक्ष्म ३. कारणरूप।]
अस्मिन्=इदम् (सर्व०)+(पुं०) सप्त० ए० व०=इस में।
मधु-सूदन !=(पुं०) १. मधु (तन्नामासुरं) सूदयति। २. मधु (=जीवानां शुभाशुभकर्म ज्ञानदानेन) सूदयति नाशयति। =मधु दैत्य को नाश करने वाला। अथवा जीवों के भले और बुरे कर्म को ज्ञान देकर नष्ट करने वाला। मधु+√सूद+णिच्+ल्युट्=मधुसूदन+सम्बोधन प्र० ए० व० =हे मधुसूदन !
प्रयाण-काले=मरण काले। प्र√या+ल्युट्=प्रयाण=प्रस्थान। प्रयाणस्य काले (षष्ठी तत्पु०) काल=कलयति आयु:, कलयति सर्वाणि भूतानि वा। √कल्+णिच्+अच्+अण्=काल+(पुं०) सप्त० ए० व०=काल।
प्रयाणस्य काले=संसार से प्रस्थान के समय। मरने के समय में। मृत्यु काल में।
च=(अव्यय) और।
कथम्=(अव्यय) कैसे ?।
ज्ञेय:=√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+यत्=ज्ञेय+(पुं०) प्र० ए० व० =ज्ञेय:=जानने योग्य।
असि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० म० पु०, ए० व०=तू है ?।
नियत-आत्मभि:=नियता: आत्मन: येषां, तै: (बहुव्री०)=अपने आप को वश में किए हुओं द्वारा। नियत किए हुए आत्मा (अपना आप) वालों द्वारा संयमी पुरुषों द्वारा।

अर्थ—अर्जुन बोला—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? कर्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत क्या कहा गया है ? और अधिदैव क्या कहा जाता है ? ॥१॥

हे मधुसूदन ! यहाँ इस देह में अधियज्ञ कौन कैसे है ? और संयत चित्त वाले अर्थात् अपने मन को वश में किए हुओं (योगियों या भक्त जनों) द्वारा तू कैसे जानने योग्य है ? ॥२॥

व्याख्या—सातवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने अधिभूत आदि जिन शब्दों का उच्चारण किया है, उनका अर्थ भली भान्ति समझने के लिए इन दो श्लोकों में अर्जुन ने सात प्रश्न किए हैं। तथा भगवान् को पुरुषोत्तम और मधुसूदन दो नामों से सम्बोधित किया है। जिन से अर्जुन के मन का भाव यह है कि हे भगवन् ! आप सब पुरुषों में उत्तम या श्रेष्ठ हैं। सर्वज्ञ हैं। सर्वशक्तिमान् हैं। सब के अधिष्ठाता और सर्वाधार हैं। आप मधु आदि महान् शक्तिशाली दैत्यों और दुष्टों के नाश करने वाले हैं। मेरे संशयों को नाश करना तो आप के लिए कोई बड़ी बात ही नहीं है। 'मधु' जीवों के शुभाशुभ कर्मों का भी नाम है। जिन कर्मों को आप ज्ञान देकर नाश करने वाले हैं। मेरे इन प्रश्नों का उत्तर देकर आप मेरे और अन्य भक्तजनों के शुभाशुभ अर्थात् भले बुरे कर्मों का नाश करके मोक्ष प्रदान कीजिए। मेरे वे प्रश्न ये हैं—

१—हे पुरुषोत्तम ! ब्रह्म क्या है ? वह सोपाधिक है ? अथवा निरुपाधिक है ? निराकार है ? या साकार है ? वह केवल पांच महाभूतों का ही रूप है ? या कोई यज्ञनारायण रूप है ? अथवा पाँच-भौतिक सूर्य के गोले में जो सूर्य नाम का प्रकाश, तेज और ऊर्जा देने वाला आराध्य महा तेज है वही ब्रह्म है ? किंवा प्रत्येक प्राणी में जो आत्मा है वही ब्रह्म है ? या ब्रह्मा, वेद, और ओङ्कार भी ब्रह्म कहे जाते हैं इन सब में से आप का अभिप्रेत ब्रह्म क्या है ?

२—अध्यात्म क्या है ? आत्म शब्द करके प्रतिपादित जो यह देह है। इस देह रूप आत्मा को आश्रय करके जो स्थित है क्या उसी का नाम अध्यात्म है ? अर्थात् मनुष्य की देह में रहने वाला चैतन्य अध्यात्मक है ? शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, जीव और परमात्मा अनेक तत्त्वों का नाम भी अध्यात्म है। आप किस को अध्यात्म कहते हैं ?

३—कर्म क्या है ? यह कर्म यज्ञ रूप है अथवा उस से भिन्न है ? श्रुति में कहा है—"विज्ञान यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च" इस श्रुति में तो यज्ञ और कर्म दोनों भिन्न-भिन्न ही कथन किये गए हैं। इसलिये यज्ञ दानादि तथा शास्त्र विहित और परोपकारार्थ सब प्रकार के शुभ कर्म ही कर्म संज्ञक हैं ? किंवा क्रिया मात्र का नाम ही कर्म है ?

४—अधिभूत क्या कहा गया है ? क्या भूतों को आश्रय करके जो स्थित है उसी का नाम अधिभूत है ? या पंचमहाभूत ही अधिभूत कहलाते हैं ? अथवा

इन पांचमहाभूतों से बना हुआ प्राणी का पार्थिव शरीर ही 'अधिभूत' कहलाता है ?

५—यहां इस देह में अधिदैव क्या कहा जाता है ? क्या ये शब्द किसी अधिष्ठातृ-देवता विशेष को लक्ष्य करके कहा गया है ? जो अधिष्ठातृ देवता इस प्रकार कहे गये हैं—

हाथों के देवता इन्द्र, पैरों के विष्णु, गुद के मित्र, उपस्थ के प्रजापति, वाणी के अग्नि, नेत्रों के सूर्य, श्रोत्रों के आकाश अथवा दिशा, जिह्वा के जल, नासिका के पृथिवी, त्वचा के वायु, मन के चन्द्रमा, अहंकार के बुद्धि और बुद्धि के देवता पुरुष हैं। अथवा देवता विषयक ध्यान ही अधिदैव है। किंवा अदृष्ट, हिरण्यगर्भ, जीव या किसी अन्य का नाम अधिदैव है ? अथवा देवताओं के आदित्य मण्डलादि में अनुस्यूत चैतन्य ही अधिदैव है ? ॥१॥

६—हे मधुसूदन ! यहाँ इस देह में अधियज्ञ कौन है ? कैसा है ? और कैसे स्थित है ? यह यज्ञ के किसी अधिष्ठातृ-देवता का नाम है ? या अन्तर्यामी परमात्मा का ही वाचक हैं ? वह अधियज्ञ इस देह के भीतर रहता है ? अथवा इस देह से बाहर रहता है ? यदि इस देह के भीतर ही रहता है तो वह अधियज्ञ कौन है ? जिसके सहित, युक्तचित्त हुए भक्त लोग मरण-काल में भी परमात्मा को जानते हैं।

७—हे भगवन् ! मृत्यु समय में तो सम्पूर्ण इन्द्रियां शिथिल और ज्ञान शून्य हो जाती हैं, और उस समय चित्त की सावधानता की स्थिरता भी सम्भव नहीं होती। बुद्धि भी विचलित और भ्रमित हो जाती है। तो फिर उस मरण काल में युक्तचित्त या नियतात्मा अथवा समाहित चित्त वाले पुरुषों द्वारा तू कैसे जानने योग्य होता है ? हे भगवन् ! मेरे ये सात प्रश्न हैं। इन का उत्तर दे कर कृतार्थ कीजिए जिस से मरण काल में मैं आप को इसी प्रकार जानूँ। जिस प्रकार इस जीवनकाल में जानता हूँ ॥ २ ॥

श्री भगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अक्षरम्+ब्रह्म परमम्+स्वभावः+अध्यात्मम्+उच्यते। भूत-भाव+उद्भवकरः+विसर्गः कर्म-संज्ञितः ॥

अक्षरम्=(नपुं०) न क्षरति इति अक्षरम् (न० तत्पु०) [√क्षर् (भ्वा० पर० अक०=बहना। खर जाना। थोड़ा थोड़ा टूट कर नाश हो जाना)+अच्=क्षर=खरने वाला। तरल बन बन कर नष्ट होने वाला।] अक्षर+प्र० ए० व०=अक्षरम्=सदा एक रस रहने वाला। सदैव पूर्ण बना रहने वाला।

ब्रह्म=(नपुं०) ब्रह्मन्+प्र० ए० व०=ब्रह्म।

परमम्=(वि) परम् उत्कृष्टं भाति, √मा+क=जो सब से उच्च या उत्कृष्ट है। सर्वोच्च सर्वोत्कृष्ट। परम+(नपुं०) प्र० ए० व०=परमम्।

स्वभाव:=(पुं०) स्वस्य भाव: (षष्ठी० तत्पु०)। परस्य ब्रह्मण: प्रतिदेहं प्रत्यगात्म-भाव:=स्वभाव:। परब्रह्म परमात्मा का प्रत्येक शरीर में अन्तरात्म-भाव है। उस का नाम स्वभाव है [यह स्वभाव ही अध्यात्म कहलाता है।]

अध्यात्मम्=अधि+आत्मन् (आत्मनि देहे मनसि वा इति विभक्त्यर्थे अव्ययी भाव समास:)। अध्यात्म+(नपुं०) प्र०, ए० व०=अध्यात्मम्।

उच्यते=√वच् (अदा० आत्म० सक०=कहना)+(कर्मवाच्य) लट्० प्र० पु०, ए० व०=कहा जाता है। कहलाता है।

भूत-भाव+उद्भवकर:=भूतानां भावो=भूत-भाव: तस्य उद्भवो=भूत-भावोद्भव:, तं करोति इति भूतभावोद्भवकर: (षष्टी तत्पुरुष, बहुव्री० स०)=भूतवस्तूत्पत्तिकर:। भूतभाव-उद्भव-कर। भूतों की सत्ता=भूतभाव। उस का उद्भव (उत्पत्ति)=भूतभाव-उद्भव। उसको करने वाला=भूतभाव-उद्भव-कर=भूत वस्तु को उत्पन्न करने वाला। भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला।

विसर्ग:=(पुं०) वि√सृज् (दिवा० आत्म० सक०। तुदा० पर० सक०। बनाना, त्यागना, सृष्टि की रचना करना)+घञ्=विसर्ग+प्र०, ए० व०=विसर्ग: =दान। भेंट। त्याग। [देवताओं के उद्देश्य से चरु, पुरोडाश और घृत आदि—हवन करने योग्य द्रव्यों) का त्याग करना।] सृष्टि—व्यापार।

कर्म=कर्मन् (नपुं०)+प्र०, ए० व०=कर्म।

संज्ञित:=सम्√ज्ञ:+क=संज्ञ+तस्=नाम से। संज्ञा से। नाम वाला (है)।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

परम अक्षर ब्रह्म है। स्वभाव (जीवात्मा या आत्म-स्वरूप) अध्यात्म कहा जाता है और भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला विसर्ग (सृष्टि करना अथवा दान, हवन, यज्ञ तथा परोपकारार्थ धन खर्च करना आदि) कर्म नाम से कहा गया है॥ ३॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जो सर्वोत्तम अविनाशी, निराकार, निर्विकार परमात्मा है वही ब्रह्म है। क्योंकि " न क्षरति, न नश्यति इति अक्षरम्।" अथवा "अश्नुते सर्वमिति अक्षरम्।" के अनुसार ब्रह्म सदा एक रस और पूर्ण है। जो ज्ञान, अज्ञान, देश काल और दूसरे किसी कारण से क्षय तथा नाश नहीं होता है। सर्वत्र व्यापक और स्थित है। उत्पत्ति और विनाश दोनों से रहित है यहाँ 'अक्षर' का 'परम' शब्द विशेषण होने से 'ब्रह्म' शब्द निर्गुण,

निराकार, सच्चिदानन्द घन परमात्मा का ही वाचक है। ॐकार, वेद, ब्रह्मा, प्रकृति आदि किसी अन्य का वाचक नहीं है। जिस प्रकार अग्नि में लाल किए हुए लोहे के भीतर बाहर सर्वत्र अग्नि व्यापक होती है इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व में ब्रह्म व्यापक और स्थित है। इस अक्षर का वर्णन वृहदारण्यक उपनिषद् के अध्याय ३। ब्राह्मण ८। मन्त्र ८ से ११ तक में इस प्रकार किया गया है :—

तब उस याज्ञवल्क्य ने कहा—

"हे गार्गि ! उस तत्त्व को तो ब्रह्मवेत्ता (ज्ञानी लोग) "अक्षर" कहते हैं। वह न मोटा है। न पतला है। न छोटा है। न बड़ा है। न लाल है। [न पीला, नीला आदि किसी अन्य वर्ण का है]। न द्रव है। [न ठोस है, न गैस है]। न छाया है। (न धूप है)। न तम है। (न प्रकाश है)। न वायु है। न आकाश है। न संग है। न असंग है। न रस है। न गन्ध है। (न लेप है)। न आँख है। न कान है। न वाणी है। न मन है। न तेज है। न प्राण है। न मुख है। न माप है। उस में न अन्तर है। न बाहर है। वह कुछ भी नहीं खाता। उसे भी कोई नहीं खाता। ॥ ८ ॥

हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा, विशेष रूप से धारण किए हुए स्थित रहते हैं। इस अक्षर के ही प्रशासन में द्यौ-लोक (समूह) और पृथिवी लोक विशेष रूप से धारण किए हुए स्थित रहते हैं। इस अक्षर के ही प्रशासन में निमेष, महूर्त, दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतु और वर्ष विशेष रूप से धारण किए हुए रहते हैं।

इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्व-वाहिनी एवं अन्य नदियाँ श्वेत (बर्फीले) पर्वतों से बहती हैं। तथा अन्य पश्चिम-वाहिनी नदियाँ अपनी अपनी दिशा का अनुसरण करती हुई बहती हैं। हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में लोग दाता की प्रशंसा करते हैं। देवगण यजमान का और पितृगण दर्वी होम का अनुवर्तन करते हैं ॥ ९ ॥

हे गार्गि ! जो कोई इस लोक में इस अक्षर को न जान कर हवन करता, यज्ञ करता और अनेकों सहस्र वर्षों तक तप करता है, उस का वह हवन यज्ञ आदि कर्म अन्तवान् होता है। जो कोई भी इस अक्षर को बिना जाने मर कर जाता है। वह कृपण (दीन-बेचारा) है और जो इस अक्षर को जान कर इस लोक से मर कर जाता है। वह ब्रह्म स्वरूप होता है ॥ १० ॥

हे गार्गि ! यह अक्षर स्वयं दृष्टि का विषय नहीं, किन्तु द्रष्टा है। श्रवण का विषय नहीं, किन्तु श्रोता है। मन का विषय नहीं, किन्तु मन्ता है। स्वयं अविज्ञात रह कर दूसरों का विज्ञाता है। इस से भिन्न दूसरा कोई द्रष्टा नहीं। इस से भिन्न कोई श्रोता नहीं। इस से भिन्न कोई मन्ता नहीं। इस से भिन्न

कोई विज्ञाता नहीं। निश्चय ही इस अक्षर से सारा आकाश ओत प्रोत है ।। ११ ।।"

उसी ब्रह्म का जो प्रत्येक शरीर में अन्तरात्म भाव है। उसका नाम स्वभाव है। स्व=अपना, भाव=वास्तविक स्वरूप। अर्थात् प्राणी मात्र में अपनी सत्ता से जो रहता है, वह अध्यात्म है। परा प्रकृति ही भगवान् का अपना भाव है जिसे जीवात्मा भी कहते हैं। यह ही सब शरीरों में व्याप्त होकर उन्हें क्रियाशील बनाता है। इन्द्रिय, शरीर, मन और बुद्धि का अधिष्ठाता होकर जीव को जीवित रखता है और देह रूप आत्मा को आश्रय बनाकर जो अन्तरात्मा भाव से उसमें स्थित रहता है तथा परिणाम में जो परमार्थ ब्रह्म ही है उसी तत्त्व का नाम स्वभाव है और वही अध्यात्म कहलाता है। यह चेतन्य जीवात्मा शरीर की प्रत्येक कोशिका (Cell) में व्यापक रहता है। यह जब अपने स्वरूप को पहचान लेता है, तो अपने मूल रूप ब्रह्म में मिल कर तद्रूप हो जाता है। यह अध्यात्म अक्षर ब्रह्म का अपना ही स्वरूप है जो प्रत्येक प्राणी में चैतन्य रूप से स्थित है। भाव यह कि एक ही ब्रह्म स्वरूप परमतत्त्व समष्टि रूप से सब का आधार होने से परम अक्षर या ब्रह्म कहलाता है और वही व्यष्टि रूप से प्रत्येक जीव में व्यापक होने से स्वभाव, जीवात्मा या अध्यात्म कहा जाता है।

भूतों के भाव (अस्तित्व, विद्यमानता) को उत्पन्न करने वाला विसर्ग (दान, त्याग, प्रेरणा, जननसाधन, जननेंद्रिय, लिंग) 'कर्म' कहलाता है। यहाँ भूत शब्द चराचर प्राणियों का वाचक है। इन प्राणियों के अस्तित्व, विद्य-मानता, उत्पत्ति और वृद्धि का नाम भाव है। इस भाव का उत्पत्ति-कर "विसर्ग" होता है। जब महाप्रलय का समय होता है तब अपरा और परा दोनों प्रकार की प्रकृति अपने तीनों गुणों और सृष्टिरचना कार्य सहित ब्रह्म में समा जाती है और विश्व के समस्त प्राणी अपने अपने कर्म-संस्कारों समेत परमात्मा में विलीन हो जाते हैं। जब पुनः ब्रह्म की रात्रि का अवसान होता है तो नींद से जागे हुए जीव की भान्ति वह प्रभु अपने बिना और कुछ नहीं देखता है, उसी काल स्फुरण होता है "एकोऽहं बहुस्याम्" अर्थात् "मैं एक से अनेक हो जाऊँ।" तब पूर्व कल्प के अवसान में अपने अपने कर्म संस्कारों सहित ब्रह्म में लीन हुए प्राणी दोनों प्रकार की प्रकृति और उस के तीनों गुणों समेत विश्व में उत्पन्न हो जाते हैं ये सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और ब्रह्माण्ड के अन्य समस्त पिण्ड भी मूर्त्तिमान होकर चमकने लगते हैं। इन सब जीवों की उत्पत्ति भगवान् की माया रूपी महत्-ब्रह्म योनि में परमात्मा द्वारा बीज डालने से होती है। गी० १४। ३। ४।। और अविनाशी जीवात्मा को प्रकृति के तीनों गुण शरीर में बाँध देते हैं।। गीता १४। ५।। यही जड़ चेतन संयोग है। भगवान् का प्रकृति रूपी योनि में बीज डालना ही विसर्ग अर्थात् सृष्टि का सृजन करना या रचना

है। विसर्ग शब्द "√सृज" से बना है जिसका अर्थ 'सृष्टि करना" या "रचना करना" भी होता है। इसलिये भगवान् के जिस आदि संकल्प से सारे जीवों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। उसी का नाम विसर्ग है तथा उसी विसर्ग का नाम कर्म है।

विसर्ग का अर्थ दान या त्याग भी होता है। इसलिए हे अर्जुन ! इन्द्र आदि देवताओं को उद्देश्य करके जो घी-यव, मिष्टान्न आदि पदार्थों से हवन और ब्राह्मण भोज्यादि, नारायण-निमित यज्ञ-दान किया जाता है। उस हवि-प्रक्षेपण और शास्त्र विहित दानादि का नाम विसर्ग है। इसलिये इन शुभ कर्मों का नाम भी कर्म है। इस कर्म से यज्ञ उत्पन्न होता है। यज्ञ से मेघों की उत्पत्ति होती है। मेघों से अन्न उपजता है और अन्न से जीवों की उत्पत्ति होती है ।। गी० ३ । १४ ।।" इस प्रकार कर्म से सृष्टि का सृजन होता है कर्म ही विसर्ग या सृष्टि रचना है।

त्याग का नाम भी विसर्ग है। अतः स्कूल, हस्पताल, सरायें, जल पिलाने के साधन आदि परोपकार के कार्य भी श्रम और वित्त त्याग से ही संपन्न होते हैं इसलिए ये सब विसर्ग भी यज्ञ और कर्म संज्ञक होते हैं और कर्म की विविधता स्वयं भगवान् ने ।। गी० ७ । २९ ।।" में "कर्म चाखलम्" कह कर र्बणित कर दी है ।। इसलिए कर्म में वे सब कर्म भी सम्मिलित हैं। जिन में जीवों के भरण पोषण दुःख दरिद्र दूर करने, क्लेश हटाने और सुख साधन जुटाने के लिए धन, धान्य और सेवा अर्पण किये जाते हैं ।। ३ ।।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।। ४ ।।

अधिभूतम्+क्षरः+भावः पुरुषः+च+अधिदैवतम् । अधियज्ञः+अहम्+एव+अत्र देहे देह-भृताम्-वर ।।

अधिभूतम्=(नपुं०) भूतम्=प्राणिमात्रम्, अधिकृत्य वर्तमानम् (प्रादि० स०)। भूतों अर्थात् प्राणिमात्र को आश्रय करके जो स्थित होता है। उस शरीरादि (नाम रूप धारी) वस्तु का नाम अधिभूत है। क्षेत्र या शरीर का नाम अधिभूत है ।।

क्षरः=(वि०) क्षरति इति क्षरः (बहुव्रीहि०)। √क्षर् (भ्वा० पर० अक०) अच्=क्षर+(पुं०) प्र० ए० व०=क्षरः=प्रतिक्षण क्षय होने वाला। जन्म लेकर मरने वाला। नाशवान्। मरने वाला।

भावः=(पुं०)√भू+णिच्+अच्=भाव+प्र०, ए० व०=भावः=स्थिति। अस्तित्व। दशा। उत्पति वाला।

पुरुषः=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति. √पुर+कुषण्=पुरुष+प्र० ए० व०=पुरुषः=प्रथम पुरुष=पहले पहल उत्पन्न होने वाला पुरुष। सूत्रात्मा

हिरण्य गर्भ । सुनहला पुरुष । प्रजापति ब्रह्मा । शरीर के भीतर नई-नई कोशिकाओं की उत्पत्ति करके शरीर को मोटा और ऊँचा करने वाली शक्ति । एक कोशिका बना कर सम्पूर्ण शरीर की रचना करने वाला ।

च=(अव्यय) और ।

अधिदैवतम्=(नपुं०) देवतैव स्वार्थे अण् । देवता को आश्रय करके जो स्थित है । अधिदैव । अन्तर्यामी पुरुष । इन्द्रियों में स्थित देवताओं का स्वामी । या ईश्वर ।। यह सूर्य लोक में रहता है ।।

अधियज्ञः=(पुं०) यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुति । इस श्रुति के अनुसार— यज्ञ ही बिष्णु है । सब प्रकार के यज्ञों का अधिष्ठाता विष्णु । यज्ञ को आश्रय करके जो स्थित है ।

अहम्=अस्मद् (सर्व)+प्र० ए० व०=मैं ।

एव=(अव्यय) ही । भी ।

अत्र=(अव्यय) इदम् या एतद्+त्रल्=यहाँ । इस में ।

देहे=(नपुं० पुं०) देग्धि प्रतिदिनं,√दिह्+घञ्=देह+सप्त० ए० व०=देहे=देह में । शरीर में ।

देह-भृताम्+वर=(पुं०) देह-भृत=देहं विभर्ति यः (बहुव्री०)=शरीर को धारण करने वाला कोई भी प्राणी । तेषु वरः श्रेष्ठः=उन में श्रेष्ठ । अर्थात् हे शरीर धारियों में श्रेष्ठ (अर्जुन) ।

अर्थ—हे शरीर धारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्पत्ति और विनाश वाले सब पदार्थ अधिभूत हैं । और सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ पुरुष अधिदैवत (तेरे द्वारा पूछे गए प्रश्न का अधिदैव) है । और इस देह में मैं ही अधियज्ञ भी हूँ ।। ४ ।।

व्याख्या -भगवान् बोले—हे अर्जुन ! तू सम्पूर्ण देह धारियों में श्रेष्ठ है । कारण यह कि तू मुझ परमेश्वर वासुदेव का मित्र है । शुद्ध वंशोद्भव कुन्ती माता से देवराज इन्द्र द्वारा उत्पन्न हुआ है । मुझ साक्षात् परमात्मा के मुखारविन्द से गीता-ज्ञान श्रवण कर रहा है । मुझ परमेश्वर-उपदेश-दाता के वक्त्र, नेत्र, कण्ठध्वनि, भ्रू-नर्तन और भाव भंगी से प्रभावित हुआ मेरे आशय को समझने में समर्थ है । इस से तेरा मेरे स्वरूप में मिल जाना निःसन्देह शीघ्र ही संभावित और निश्चित है । अधिभूत, अधिदैव (अधिदैवत) और अधियज्ञ के सम्बन्ध में आप ने जो प्रश्न किए हैं । उन के उत्तर तू ध्यान पूर्वक क्रमशः सुन । वह जो अपरा प्रकृति द्वारा पाँच भूतों या तत्त्वों से रचा हुआ शरीर है जिस में दशों इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि का भी समावेश है यह अधिभूत कहलाता है क्योंकि यह पृथिवी, जल, वायु तेज और आकाश पाँच भूतों के मिलने से निर्मित हुआ है और सब भूतों अर्थात् प्राणी मात्र को आश्रय करके स्थित होता है । और जब जीवात्मा इस को अपने रहने के अयोग्य समझ कर इस को त्याग

देता है। तब इस में मिले हुए सब तत्त्व अपने अपने मूल स्वरूपों में मिल जाते हैं। जिस से दृश्यमान शरीर का क्षर या नाश हो जाता है। जैसे बादल आकाश में उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में विलीन हो जाते हैं। यही वृत्तान्त सम्पूर्ण प्राणी मात्र का होता है। जो पदार्थ नाश को प्राप्त होता है उस का नाम क्षर है और जो उत्पत्ति को प्राप्त होता है उस का नाम भाव है। इस प्रकार नाश और उत्पत्ति को प्राप्त होने वाले पदार्थ "अधिभूत कहलाते हैं। इन क्षर-भाव शरीरों का नाम क्षेत्र है। इन्हीं को क्षर पुरुष कहते हैं वास्तव में यह अधिभूत शरीर या पदार्थ भी परमात्मा का ही रूप हैं क्योंकि उस से उत्पन्न हुई अपरा प्रकृति से ही निर्मित किए गए हैं और महा प्रलय काल में उस ब्रह्म में मिलकर एक रूप हो जाएँगे। यदि यह बात भली भान्ति समझ में आ जाए तो फिर किसी से न द्वैत बुद्धि होती है न घृणा ही शेष रहती है तथा ऊँच नीच का सब भेद भाव मिट जाता है और मनुष्य ब्रह्मवेत्ता समदर्शी और ज्ञानी बन जाता है। ईर्ष्या द्वेष दूर होकर प्रेम का साम्राज्य हो जाता है।

अब पाँचवें प्रश्न का उत्तर यह है कि इस शरीर में पुरुष अधिदैव (या अधिदैवत) है। अर्थात् इस शरीर का कण्ट्रोलर (जीवात्मा) अधिदैव या अधिदैवत है। जिस प्रकार किसी बहुत बड़े देश में बहुत से ग्राम और नगर होते होते हैं उसी प्रकार यह शरीर भी असंख्य जीवित कोशिकाओं का समूह है। वे कोशिकाएँ भी 'पुर' अर्थात् नगरों के समान हैं। जिन को उस पुरुष या हिरण्य गर्भ ने अपने अस्तित्व से पूर्ण किया हुआ है। इस लिए वह पुरुष कहलाता है। अथवा शरीर रूपी पुर में जो निवास करता है उस का नाम पुरुष है। क्योंकि √पुर धातु को कुषण् प्रत्यय लगने से पुरुष शब्द बनता है। यहाँ पुरुष शब्द आदि या प्रथम पुरुष का वाचक है। इस का नाम सूत्रात्मा या हिरण्य गर्भ भी है। इस को प्रजापति या ब्रह्मा भी कहते हैं। यही अधिदैव है। "यही, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशाओं, चन्द्रमा, तारागण, आकाश, अन्धकार, तेज, समस्त भूतों, प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान, वीर्य आदि इन सब में रहने वाला और इन सब के भीतर है। जिसे ये सब नहीं जानते। और ये सब जिस के शरीर हैं और यह इन सब के भीतर रह कर इन सब का नियमन करता है। और यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यही अधिदैवत है। यह दिखाई न देने वाला है। किन्तु देखने वाला है। सुनाई न देने वाला है, किन्तु सुनने वाला है मनन का विषय न होने वाला है किन्तु मनन करने वाला है। और विशेषतया ज्ञात न होने वाला है, किन्तु विशेष रूप से जानने वाला है। यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इस से भिन्न सब कुछ नाशवान् है। यह सुन कर इसके पश्चात् अरुण का पुत्र उद्दालक प्रश्न करने से निवृत हो गया॥ (बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ३। ब्रा० ७। मन्त्र ४ से २३ तक का सार)॥"

यह आत्मा ही हिरण्य गर्भ या ब्रह्मा है जो शरीरों की रचना करता है। सब से पहले जो उपर्युक्त श्रुति में कहे हुए किसी एक निवास स्थान से अपना सूक्ष्म अंश पिता के वीर्य में अवतरित करता है फिर वहाँ वह शुक्राणु का रूप धारण कर लेता है जो माता के गर्भ में जाकर बीजाण्ड में प्रवेश करके एक कोशिका का रूप धारण कर लेता है फिर कोशिका विभाजन नियम का प्रयोग करके धीरे धीरे अपने सारे अंगों की रचना कर लेता है जिन का सूक्ष्म तत्त्व रूप में मन और बुद्धि सहित पूर्व जन्म के शरीर से साथ लाया था यह शरीर, वह ब्रह्मा पूर्व जन्मों में किए हुए शुभाशुभ कर्मों और संस्कारों के अनुकूल ही रचता है और फिर जन्म धारण करके विविध भोजनों द्वारा अपने शरीर की वृद्धि और पुष्टि करता है। तथा नवीन सन्तानों की उत्पति करता है। यह आत्मा या हिरण्यगर्भ ब्रह्मा सब देवताओं का अधिपति या स्वामी भी है इसी से अधिदैव या अधिदैवत कहलाता है। ये देवता लोग विषयों का भोग भोगने के लिए। आँख, नाक, कान, जीभ त्वक् आदि शरीर के सब स्थानों में डेरे डाले स्थित हैं। जिन का विस्तार पूर्वक वर्णन इसी अध्याय के दूसरे श्लोक की व्याख्या में किया गया है। यह आत्मा या ब्रह्मा उन सब का स्वामी है। यह अधिदैवत भी स्वयं परमात्मा ही है क्योंकि जब वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है तो परब्रह्म में मिलकर परब्रह्म रूप हो जाता है।

छठा प्रश्न यह कि अधियज्ञ कौन? और कैसे है? इस प्रश्न के दो भागों का उत्तर इस प्रकार है।

मैं स्वयं अधियज्ञ भी हूँ और इस शरीर में भी हूँ॥ क्योंकि "भोक्तारं यज्ञ-तपसां" अर्थात् सब यज्ञों और तपों का भोगने वाला मैं ही हूँ। गी० ॥५।२९॥ अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता ॥९।२४॥ मैं ही यज्ञों को आश्रय करके स्थित हूँ। इस लिए मैं ही यज्ञ को आश्रय करके इस देह में स्थित हूँ। "यज्ञो वै विष्णु" इस श्रुति के अनुसार यज्ञ ही विष्णु है इस लिए मैं ही बिष्णु हूँ। जो अन्तर्यामी और सर्व व्यापक है और अव्यक्त है। जो सब यज्ञों का अधिपति है अर्थात् जिस की सब यज्ञों पर प्रधानता है। सब प्रकार की वेदोक्त आहुतियां मेरे निमित्त ही दी जाती हैं। और सब प्रकार के शुभ और परोपकार के कार्य मेरे निमित्त ही किए जाते हैं। मैं ही उन का भोक्ता और फल दाता हूँ।

इस श्लोक का सारांश यह है कि जन्मने और मरने वाले सब शरीर और पदार्थ अधिभूत कहलाते हैं। रोम रोम अर्थात् प्रत्येक कोशिका में स्थित और स्वयं उसकी रचना करने वाला पुरुष—जीवात्मा, आत्मा, हिरण्य गर्भ, सूत्रात्मा प्रथम पुरुष या अधिदैव कहा जाता है। और सब यज्ञों का अधिपति भोक्ता

तथा फल दाता, सर्वान्तर्यामी, विष्णु अव्यक्त या अधियज्ञ नाम से पुकारा जाता है और सर्वत्र व्यापक है । हे अर्जुन ! तीसरे और चौथे श्लोक में कहे हुए, १—परम अक्षर ब्रह्म 2—स्वभाव या अध्यात्म 3—भूत भाव को उत्पन्न करने वाला विसर्ग या कर्म 4—क्षर-भाव अधिभूत 5—पुरुष या अधिदैवत और ६—देह में अधियज्ञ यह सब कुछ वास्तव में मैं ही हूँ । क्योंकि महाप्रलयकाल में यह सब कुछ मुझ में लय होकर मेरा ही रूप हो जाता है और सृष्टि-सृजन काल में मुझ से प्रकट होकर सर्वत्र विस्तृत हो जाता है ।। ४ ।।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।। ५ ।।

अन्त-काले च माम्+एव स्मरन्+मुक्त्वा कलेवरम् ।
य: प्रयाति स:+मद्-भावम्+याति न+अस्ति+अत्र संशय: ।।

अन्त-काले=अन्ते काले (सप्त० तत्पु०) (वि०)=मरण-काले=अन्तकाल+सप्त० ए० व०=अन्तकाले=मरण काल में ।

च=(अव्यय) और । भी ।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को । मुझ परमेश्वर को ।

एव=(अव्यय) ही ।

स्मरन्=√स्मृ (भ्वा० पर० सक०=स्मरण करना)+शतृ=स्मरत्+(पुं०) प्र०, ए० व०=स्मरण करता हुआ ।

मुक्त्वा=√मुच् (तुदा० उभ० सक० । चुरा० पर० सक०=छोड़ना)+क्त्वा =छोड़ कर । परित्यज्य=त्याग कर ।

कलेवरम्=(पुं० नपुं०) कले=शुक्रे, वरं श्रेष्ठम्, अलुक समास । कलेवर +(पुं०) द्विती० ए० व०=शरीर को । देह को ।

य:=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो ।

प्रयाति=प्र√या (अदा० पर० सक० अक०+जाना) +लट्० प्र० पु०, ए० व०=जाता है । मरता है ।

स:=तद् (सर्व०)+(पुं०) ए० व०=वह ।

मद्-भावम्=वैष्णवं तत्वम् । (द्विती० ए० व०) मेरे भाव को । मेरे स्वरूप को । विष्णु के परम तत्त्व को ।

याति=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना)=जाता है । प्राप्त होता है ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

अस्ति=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=है ।

अत्र=(अव्यय) यहाँ । इसमें । इस बारे में ।

संशय:=(पुं०) सम्√शी+अच् । संशय+प्र० ए० व०=संशय=शक । संदेह । दुविधा । संशय ।

अर्थ—और जो (प्राणी) अन्त काल में भी मुझ को ही स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग कर जाता है (अर्थात् मरता है)। वह मेरे भाव (स्वरूप) को अर्थात् विष्णु नारायण के परम तत्त्व को प्राप्त होता है । इस में (तनिक भी) संशय नहीं है ॥ ५ ॥

व्याख्या हे अर्जुन ! जिस प्रकार पानी में डूबा हुआ घड़ा भीतर बाहर से जल से पूर्ण रहता है इसी प्रकार ब्रह्म लीन ज्ञानी और योगी पुरुष सदा अपने शरीर के भीतर बाहर रम रहे परब्रह्म या अधियज्ञ का अनुभव करता है जब उस का देहावसान होता है तो वह अपने भीतर बाहर रम रहे उस परब्रह्म परमात्मा में मिल कर एक रूप हो जाता है । जिस पुरुष का चिन्तन आयु भर ईश्वरी-स्वरूप का होता है। वह पुरुष अन्त काल में भी मुझ को स्मरण करता हुआ स्व शरीर का त्याग करता है। जिस से निःसन्देह मेरे स्वरूप में मिल जाता है क्योंकि देह, गेह, पुत्र, कलत्र, धन-धान्य आदि संसार की सब वस्तुओं से उसका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है केवल एक मुझ परमात्मा से स्नेह, प्रेम या नाता जुड़ जाता है। जैसे हाथी के गले से फूलों की माला टूट कर गिर जाती है और हाथी को उसका कुछ पता भी नहीं चलता इसी प्रकार ब्रह्मलीन ज्ञानी पुरुष को अपने शरीर के नष्ट होने का कुछ भी पता नहीं चलता क्योंकि वह तो देह के साथ रहते हुए ही परमात्मा के स्वरूप में मिला रहता है और सांप के कैंचली छोड़ने की भान्ति सुख-पूर्वक शरीर सदा के लिए उससे अलग हो जाता है। साधारण लोग उसे महात्मा के रूप में देखते हैं। रही बात बाकी भक्त जनों की जो संसार में रह कर अन्य अज्ञानी और अभक्त पुरुषों की भान्ति संसार के सारे कर्म करते रहते हैं। इस श्लोक में उन के ही सम्बन्ध में बतलाया गया है कि जो कच्चे पक्के लोग अन्त काल में भी मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर को त्यागते हैं वे अपनी इच्छा के अनुसार मेरे भाव (स्वरूप) में मिल जाते हैं। यह बात निश्चित है सोलह आने सत्य है। इस में तनिक भी संशय नहीं है। कई बार ऐसा भी होता है कि आयु भर मनुष्य पाप-लीन रहता है। परन्तु किसी कारण विशेष से अथवा किसी पूर्व-पुण्य के उदय से, प्रभु-कृपा से अन्त काल में उस का ध्यान प्रभु चरणों में लग जाता है। जिस से उसका बेड़ा भी पार हो जाता है और वह मद्-भाव को प्राप्त हो जाता है परन्तु ऐसी विकल्पिक घटना लाखों करोड़ों में से किसी एक के सम्बन्ध में ही घटित होती है। अर्थात् किसी एक की ही सूखी लाठी हरी भरी कौंपल या पत्ती से युक्त होती है। इस सम्बन्ध में एक कथा इस प्रकार प्रचलित है। कहते हैं कि एक पापी पुरुष किसी महापुरुष को देख कर इतना प्रभावित हुआ, कि उस ने उस का शिष्य बन जाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। जिससे उस ने उस महापुरुष के चरणों पर गिर कर उस से अपने को शिष्य स्वीकार करने की प्रार्थना की। महापुरुष उसके किए हुए पूर्व दुष्कृतों

से अवगत थे। इसलिये उस को टालने के लिए काष्ठ की एक सूखी छड़ी देकर बोले कि हे भक्त ! इस छड़ी को ले कर सब तीर्थों पर जाकर स्नान करो जिस समय इस छड़ी को कौंपल फूट पड़े उस समय अपने को धुले हुए पापों वाला समझ कर मेरे पास आकर शिष्य भाव को प्राप्त हो जाना।

गुरु का यह आदेश सुन कर वह पुरुष छड़ी लेकर तीर्थ-स्थान के लिये चल पड़ा। और दिन रात बिना विलम्ब और विना विश्राम किए चलता रहा। एक बार रात्रि काल में वह मार्ग में ही झाड़ियों की ओट में छिप कर सो गया जब किसी आहट से उसकी निद्रा भंग हुई तो उसने समीप ही बैठे हुए दो मनुष्यों की गुप्त मन्त्रणा और योजना को सुना जो समीप के किसी शत्रुग्राम को अग्नि से भस्मसात् करने जा रहे थे। उसके सामने उस ग्राम के जलने का चित्र खिंच गया। जलते हुए बच्चों बूढ़ों और अबलाओं का क्रन्दन तथा चीखना चिल्लाना उसे सुनाई देने लगा। जलते हुए पशु पक्षी उसे दीखने लगे बिना कारण जलते हुए घर और खेत उसके दृष्टि गोचर होने लगे वह इस भयानक और करुणा पूर्ण संभावित दृश्य को देख कर विह्वल और व्याकुल हो उठा उसका हृदय उस संभावित महापाप को सहार न सका। जिस से इसी तन्मयता में उठ कर उसने उन दोनों पापियों का वध कर दिया और वहाँ से चल पड़ा। मार्ग में चलते चलते प्रातःकाल हुआ सूर्य उदय हुआ तो उसने देखा कि उस की सूखी छड़ी को हरी कौंपल फूट पड़ी है। वह प्रसन्न हो गया और सहर्ष गुरु के पास लौट आया और बीता हुआ सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सो ऐसा तो घुनाक्षर न्याय से कभी ही सम्भव होता है। इसलिये पुरुष को आयु भर ही इस बात का प्रयत्न करते रहना चाहिए जिससे मरण-काल में मेरा स्मरण करते हुए कलेवर को त्याग किया जा सके और जिसके फलस्वरूप प्राणी मेरे भाव को ही प्राप्त हो सके ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरणन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

यम्+यम्+वा+अपि स्मरण्+भावम्+त्यजति+अन्ते कलेवरम्।
तम्+तम्+एव+एति कौन्तेय ! सदा तद्+भाव—भावति : ॥

यम्=यद् (सर्वनाम्)+(पुं०) द्वितीय० ए० व०=जिसको।

यम्=जिसको।

वा=(अव्यय)=वा। या। अथवा।

अपि=(अव्यय)=भी।

स्मरन्=√स्मृ (भ्वा० पर० सक०=स्मरण करना)+शतृ=स्मरत्+(पुं०) प्र० ए० व०=स्मरन्=स्मरण करता हुआ। चिन्तयन्।

भावम्=(पुं०)√भू+घञ्। √भू+णिच्+अच्=भाव+द्विती० ए० व०=भावम् भाव को। पदार्थ को। वस्तु को। व्यक्ति को।

देवता को। ["देवताविशेषम्" श्री शंकराचार्य] [ईश्वर, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, लता, वृक्ष, धरती, आदि सब का नाम भाव है।]

त्यजति=√त्यज् (भ्वा० पर० सक० अक०=त्यागना। छोड़ना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=त्यागता है। छोड़ता है।

अन्ते=(पुं० नपुं०)=अन्त+सप्त० ए० व०=अन्त में। प्राण वियोग काल में।

कलेवरम्=(पुं०) द्विती० ए० व०=शरीर को। देह को।

तम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको।

तम्=उसको।

एव=(अव्यय) ही।

एति=√इ (भ्वा० पर० सक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=जाता है। प्राप्त होता है।

कौन्तेय!=(पु०) कुन्तया अपत्यम्। कुन्ती+ढक्—एय+सम्बोधन ए० व० =हे कुन्ती के पुत्र (अर्जुन)!

सदा=(अव्यय) सर्वस्मिन् काले। सर्व+दाच्, सादेशः। नित्य। हमेशा। सदैव।

तद्=भाव—भावितः=तस्मिन् भाव:=तद्-भावः। स भावितः; स्मर्यमाण-तया अभ्यस्तो येन स तद्भावतः सन् (श्री शंकराचार्यः)=उपास्य देव-विषयक भावना का नाम "तद्भाव" है, वह जिसने भावित अर्थात् बार बार चिन्तन करने के द्वारा अभ्यस्त किया हो उसका नाम तद्भाव-भावित है। ऐसा होता हुआ। उस (प्रभु स्वरूप या देवता) के प्रेम भाव से प्रभावित हुआ।

उस ही भाव को चिन्तन करता हुआ। उसी के ध्यान में रंगे रहने से।

तस्मिन् भावे भावितः=उस भाव (इष्टदेव) में भावित (√भू+णिच्+क्त+प्र० ए० व०)=परिपूर्ण हुआ। रंगा हुआ।

अर्थ हे कुन्ती पुत्र (अर्जुन)! अथवा जिस, जिस भी भाव को (अर्थात् ईश्वर, देवता, स्त्री, पुरुष, बालक, पशु, पक्षी, वृक्ष, पृथिवी, धन, धान्य आदि चराचर को) अन्त काल में (यह प्राणी) स्मरण करता हुआ (अपने) शरीर को त्यागता है। [आयु भर उस को स्मरण करने के संस्कार से) सदा उस के प्रेम-भाव से प्रभावित (या रंगा) हुआ वह उस ही भाव को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तुम उस माता के पुत्र हो जिस ने मन्त्र बल से सूर्य, धर्मराज पवन, इन्द्र और अश्विनी कुमार आदि देवताओं से भी मनवांछित फल पाया था। और तू स्वयं इन्द्र देवता का पुत्र है। इसलिये तुम्हारी लगन साक्षात् मुझ परमेश्वर से है। और तुम सदा मेरा स्मरण करते हो इसलिये अन्त-काल में मद्भाव को प्राप्त हो जाओगे। परन्तु संसार में सब लोग मरकर मेरे भाव को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि मेरे स्वरूप को केवल वही लोग प्राप्त होते

हैं। जो निरन्तर चिरकाल तक मेरे राम, कृष्ण, विष्णु आदि सगुण अथवा सच्चिदानन्दघन, परमात्मा पर ब्रह्म निर्गुण रूप से प्यार करते हैं। मुझे भजते हैं। मेरे ध्यान में लीन रहते हैं। मुझे सदा अपने अंग संग समझते हैं और निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं। इसी प्रकार जो पुरुष आयु भर गणेश, सरस्वती, सूर्य आदि किसी देवता विशेष में दत्त-चित्त रह कर अपने उन्हीं संस्कारों से प्रभावित हुए अन्तकाल में अपने आराध्य देवता का चिन्तन करते हैं वे मर कर उसी देवता के स्वरूप में लय हो जाते हैं जो पुरुष मरण काल में पुत्र कलत्र, बहन, भाई आदि किसी अन्य सम्बन्धी का स्मरण करता है। उसको उसी स्मरण और चिन्तन के अनुसार स्त्री या पुरुष का जन्म प्राप्त होता है। भूत, प्रेत, पिशाच आदि का स्मरण करने वाला इन ही अधम योनियों को प्राप्त होता है। पशु, पक्षी, लता, वृक्ष आदि में ध्यान करके मरने वाला पशु, पक्षी, लता वृक्ष आदि का स्वरूप धारण कर लेता है। भूमि, धन-धान्य आदि में ध्यान लगा कर मरने वाला सर्प तथा कीट पतंग की योनि को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! वही भावनायें या वासनायें अन्तकाल में सामने आती हैं, जो निरन्तर अभ्यास या स्मरण के कारण चित्त पर पहले ही जमी रहती हैं। जो पुरुष जीवन भर जिस कार्य में खचित रहता है। अन्तकाल में उस का विचार वैसा ही होता है। प्रायः स्वप्न में हम उन्हीं वस्तुओं, जीवों और दृश्यों को देखते हैं जिन की कल्पनायें जागते समय करते हैं। हम भीतर में उसी भाव की भावनाओं में रंग जाते हैं जिस से सदा प्यार करते रहते हैं।" जा की रही भावना जैसी। प्रभु मूर्त्ति तिन देखी तैसी।" अर्थात् जिस की जैसी भावना होती है उसकी वैसी गति होती है। इसलिये जन्म भर परमेश्वर का निरन्तर स्मरण और उपासना करनी चाहिए जिस से अन्तकाल में परमेश्वर का स्मरण रह कर मोक्ष की प्राप्ति हो सके। "छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ३ चतुर्दश खण्ड मन्त्र १।" में लिखा है:—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति, स क्रतुं कुर्वीत ॥१॥

अर्थ—यह सारा संसार निश्चयपूर्वक 'ब्रह्म' ही है। यह उसी (ब्रह्म) से उत्पन्न होने वाला है। उसी में लीन होने वाला है और उसी में चेष्टा करने वाला है इस प्रकार शान्त-भाव होकर अर्थात् राग-द्वेष से रहित होकर सदा उपासना करनी चाहिए क्योंकि निश्चय ही क्रतु (संकल्प या अविचल प्रतीति) मय होता है। और इस लोक में पुरुष जैसा क्रतु (संकल्प, भावना या इच्छा) वाला होता है। उसे वैसी गति प्राप्त होती है, जब वह मर कर इस संसार से चला जाता है। अतः पुरुष को परमात्मा में निरन्तर निश्चय करना चाहिए।]'

गीता के इसी अध्याय के १४ श्लोक में कहा है "जो पुरुष मुझ में अनन्य चित्त हो कर नित्य ही निरन्तर मुझ को स्मरण करता है मैं उसको सुलभ हूँ॥'

जैसे कोई इंजनीयर किसी भवन के निर्माण से पूर्व उस का रेखाचित्र बनाता है। इसी प्रकार 'मरण काल का चिन्तन' आगामी शरीर का रेखा चित्र होता है। अन्तः करण कैमरे की प्लेट के समान होता है। और मरण काल में उसमें होने वाला स्मरण ही आगामी जन्म का चित्र बनता है। इसलिये भावी जन्म मनुष्य के मरण-काल के विचार के अनुसार ही होता है। इस श्लोक में भगवान् प्राणियों को अपने उपदेश द्वारा सावधान करते हैं कि यदि मोक्ष-प्राप्ति या उत्तम जन्म चाहते हो तो जीवन भर इस के लिये अभ्यास और प्रयत्न करो ताकि अन्तकाल में ईश्वर-स्मरण द्वारा शुभ गति प्राप्त कर सको ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

तस्मात्+सर्वेषु कालेषु माम्+अनुस्मर युध्य च। मयि+अर्पित-मनः+बुद्धिः+माम्+एव+एष्यसि+असंशयः॥

तस्मात्=तद् (सर्व०)+(पुं० नपुं०) पंच० ए० व०=इस लिये।

सर्वेषु=सर्व (सर्व०)+(पुं०) सप्त० ब० व०=सब में।

कालेषु=(पुं०) कलयति आयुः√कल्+णिच्+अच्+अणु वा, कलयति सर्वाणि भूतानि=काल=सप्त० ब० व०=कालों में। समयों में।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

अनुस्मर=अनु√स्मृ+लोट्० म० पु० ए० व०=स्मरण कर।

युध्य=√युध्+लोट्० म० पु० ए० व०=युद्ध कर। स्वधर्म का आचरण कर।

च=(अव्यय) और।

मयि=अस्मद् (सर्व०)+सप्त० ए० व०=मुझ में। मुझ वासुदेव में।

अर्पित-मनः+बुद्धिः=वि०√ऋ+णिच्+क्त, पुक् च=भेंट किए हुए। अर्पण किए हुए। दिये हुए। मन और बुद्धि वाला हुआ (अर्पिते मनोबुद्धि यस्य—बहुव्रीहि समास)=अर्पण कर दिए हैं मन और बुद्धि जिसने, ऐसा हुआ।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

एव=(अव्यय) ही।

एष्यसि=√ई (अदा० पर० सक०=जाना, प्राप्त होना)+लृट्० म० पु० ए० व०=(तू) पायेगा।

असंशयम्=(नञ् बहुव्रीहि समास)=सन्देह रहित हुआ।

अर्थ—इस लिये सब समयों में (तू) मुझ को स्मरण कर और युद्ध कर [अर्थात् स्वधर्मानुसार जीवन-संग्राम में या उपस्थित युद्ध में जुट जा)। (इस प्रकार तू) मुझ में अर्पण किए हुए मन और बुद्धि वाला हुआ निःसन्देह मुझ को ही प्राप्त होगा ॥७॥

व्याख्या—भगवान् कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति तो केवल ज्ञान भक्ति से ही होती है । और यह निर्विवाद सत्य है कि मरण समय में भी उसी भक्ति के स्थिर रहने के लिये जन्म भर उसी का अभ्यास करना चाहिए और स्वधर्म का पालन करते हुए कर्म करना चाहिए इसी का नाम जीवन संग्राम है जिससे कर्म से लड़ते लड़ते ही जीवन व्यतीत करना चाहिए । इस सिद्धान्त को इन शब्दों से व्यक्त किया है —"मेरा सदैव चिन्तन कर और युद्ध कर ।" । "अन्त मति सो ही गति" के निश्चित सिद्धान्त को अच्छी तरह समझ ले । आयु भर निरन्तर किए हुए विचार, वासनाएँ, भावनायें और संकल्प मनुष्य के मन पर जम जाते हैं । जिस से अन्त काल में उन्हीं का स्मरण और चिन्तन स्वतः होता है । इस लिये सोते जागते, चलते, फिरते, खाते पीते और प्रत्येक कार्य करते हुए सदैव मुझ पर ब्रह्म परमेश्वर का ही चिन्तन करना चाहिये । जैसे मोटर ड्राइवर हैंडल पर हाथ रखे हुए दूसरों से बातें भी करता रहता है और सामने के मार्ग पर दृष्टि रख कर मोटर भी चलाता रहता है । इसी प्रकार गोपियाँ प्रत्येक परमाणु में भगवान् के स्वरूप को देखती हुई भी संसार के काम काज भी करती थीं और भगवान् के संग रास भी रचाती थीं । नटी रस्सी पर चलते समय अपने पैरों का ध्यान रखती हुई सिर पर रक्खे हुए घड़ों को भी संभाले रखती है । साईकल सवार हैंडल को आवश्यकतानुसार इधर उधर करता हुआ मार्ग पर भी दृष्टि रखता है । हे अर्जुन । इसी प्रकार तुम भी निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए स्व-वर्णाश्रम के सब कर्म करते रहो । और इस समय यह युद्ध जो तेरा निज कर्त्तव्य तेरे सम्मुख आ उपस्थित हुआ है । इसे भी लड़ो । मुझ में अपना मन और बुद्धि सदा अर्पण किए रहो । अर्थात् मेरे गुण, प्रभाव और तत्त्व को समझ कर मन को अनन्य श्रद्धापूर्वक मुझ में लगाए रखो । जो कुछ करो, मेरा ही किया हुआ समझो । जो कुछ देखो उस में मेरे ही स्वरूप को देखने का प्रयत्न करो । विषय वासनाओं के तत्त्व को बुद्धि द्वारा समझकर उन को मन से दूर कर दो जिस से तुम्हारा मन और बुद्धि मेरे अर्पण हो जायेंगे । और फिर तुम देह त्याग कर मेरे ही स्वरूप में मिल जाओगे । इस में तनिक भी सन्देह नहीं है ॥७॥

अभ्यासयोगयुक्तेतन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

अभ्यास-योग-युक्तेन चेतसा न+अन्य-गामिना । परमम्+पुरुषम्+दिव्यम्+याति पार्थ !+अनुचिन्तयन् ॥

अभ्यास-योग-युक्तेन=अभ्यासः योगः तेन युक्तम्=अभ्यास रूप योग से युक्त ।

[अभ्यास=(पुं०) अभि√अस् (क्षेपे)+घञ्=बार बार किसी काम को करने की क्रिया । बार बार परमात्मा का ध्यान, स्मरण या चिन्तन करना । और उस ध्यान, स्मरण या चिन्तन में लगातार युक्त रने कहा

नाम योग है। इस प्रकार सदैव प्रभु का ध्यान, स्मरण या चिन्तन करने का काम "अभ्यास-योग" है।] इस अभ्यास-योग से जुड़े हुए (चित्त) द्वारा।

चेतसा=(नपुं०)√चित्+असुन्=चेतस्+तृती० ए० व०=चित्त से।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अन्य-गामिना=अन्यस्मिन् गामिन् (वि०)+(पुं०) तृती० ए० व०=दूसरे में जाने वाले द्वारा (बहुव्री०) अन्यत्र गामिना=दूसरी ओर जाने वाले से। अन्यत्र विषयान्तरे गन्तुं शीलम् अस्य इति अन्यगामि तेन=अन्य गामिना दूसरे विषयों में जाने-भटकने वाले द्वारा। [न अन्य गामिना=दूसरी ओर न जाने वाले द्वारा]

परमम्=(वि०)√पृ+अम्=परम्, उत्कृष्टं माति, √मा+क्त निरतिशयं को। परम् को। सर्वोत्कृष्ट को। परब्रह्म को।

पुरुषम्=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति, √पुर्+कुषण्=पुरुष+द्विती० ए० व० =पुरुष को। अनादि पुरुष को।

दिव्यम्=(वि०)√दिव्+यत्=दिव्य+द्विती० ए० व०=दिव्य को। प्रकाश स्वरूप को। चमकीले मनोहर को। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में स्थित प्रकाश स्वरूप को।

याति=√या (अदा० पर० सक० अक०=प्राप्त होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त होता है।

पार्थ !=हे पृथा (=कुन्ती) पुत्र (अर्जुन) !

अनुचिन्तयन्=अनु√चिन्त् (चुरा० पर० सक०=चिन्तन करना)+शतृ= अनुचिन्तयत्+(पुं०) प्र० ए० व०=अनुचिन्तयन्=चिन्तन करता हुआ।

अर्थ—हे पृथा पुत्र अर्जुन ! [परमात्मा के स्वरूप के ध्यान के] अभ्यास रूप योग से जुड़े हुए और अन्य ओर न जाने वाले चित्त से चिन्तन करता हुआ पुरुष, परम (प्रकाशमय) दिव्य पुरुष (परब्रह्म-परमेश्वर) को प्राप्त होता है ॥८॥

व्याख्या—इस श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को पृथा पुत्र कह कर यह जतलाया है कि जिस अभ्यास योग का मैं वर्णन कर रहा हूँ। उसी के बल से तुम्हारी माता पृथा कुन्ती ने तुम लोगों को पाया था और उसी अभ्यास योग के द्वारा तू ने मुझे प्राप्त किया है। तू इसी के बल से देह त्याग कर परम प्रकाश स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर में मिल कर एक रूप हो जायेगा।

यहाँ चित्त के दो विशेषण कहे गये हैं :—

१—अभ्यास-योग-युक्त। निरन्तर परमात्मा के ध्यान में लगा हुआ।

२—न-अन्य-गामी। किसी अन्य विषय या वस्तु आदि के लिये न भटकने वाला तथा किसी अन्य देवी देवता, भूत, प्रेत आदि से उन को मेरा स्वरूप समझे बिना प्रेम न करने वाला।

इस श्लोक में अभ्यास-योग से तात्पर्य छठे-अध्याय में कहा हुआ समाधि-योग ही है। जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के द्वारा बार बार प्रभु के रूप के चिन्तन का अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार के अभ्यास रूप योग से युक्त जो चित्त है और जो चित्त बिना भगवान्-चिन्तन अन्य किसी ओर जाने वाला नहीं है अर्थात् निरोध-प्रयत्न से बिना भी जो चित्त अनात्म-पदार्थों का चिन्तन नहीं करता है। ऐसे समाहित चित्त द्वारा ही यह अधिकारी पुरुष उस परमात्मा को प्राप्त होता है जिस के इस श्लोक में दो विशेषण 'परमम्' और 'दिव्यम्' वर्णन किये गए हैं। पहले तो जिस के तुल्य दूसरा कोई नहीं है। जो निरतिशय है। सर्वोत्कृष्ट है। परब्रह्म है। दिव्य है। अत्यन्त प्रकाश स्वरूप है। "यश्चासावादित्ये" श्रुति के अनुसार वह आदित्यों में अन्तर्यामी स्वरूप होकर स्थित है। इसलिये भगवान् ने कहा है कि अभ्यास योग से जुड़े हुए और अन्य किसी ओर न जाने वाले चित्त से चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाश रूप दिव्य पुरुष परब्रह्म परमेश्वर में इसी प्रकार घुल मिल जाता है। जिस प्रकार, विद्युत प्रकाश, और दीपक प्रकाश आदि सब प्रकार के प्रकाश सूर्य की तेज धूप के प्रकाश में घुल मिल कर एक रूप हो जाते हैं। अथवा जिस प्रकार गंगा, सिन्धु आदि नदियाँ समुद्र से मिल कर एक रूप हो जाती हैं श्रुति में कहा है—

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय।
तथा विद्वान् नाम रूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥"

(मुण्डकोपनिषद् ३।२।८॥)

[**अर्थ**—जिस प्रकार बहती हुई नदियां अपना अपना नाम-रूप छोड़ कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं वैसे ही (अभ्यास योग युक्त, अनन्य गामी चित्त वाला) ज्ञानी पुरुष नाम-रूप से रहित होकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है अर्थात् सर्वतोभाव से उसमें विलीन हो जाता है॥] ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

कविम्+पुराणम्+अनुशासितारम्+अणोः+अणीयांसम्+अनुस्मरेत्+यः। सर्वस्य धातारम्+अचिन्त्य-रूपम्+आदित्य-वर्णम्+तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

प्रयाण-काले मनसा+अचलेन भक्त्या युक्तः+योग-बलेन च+एव। भ्रुवोः+मध्ये प्राणम्+आवेश्य सम्यक् सः+तम्+परम्+पुरुषम्+उपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

कविम्=(वि०)√कव् (भ्वा० आत्म० सक०)+इन्=कवि+(पुं०) द्विती० ए० व०=कविम्=कान्तदर्शिनम्। सर्वज्ञम् । भूत भविष्यत् और वर्तमान सब कुछ जानने वाले को।

पुराणम्=(वि०) पुरा भवः, पुरा+ट्यु, नि०। या पुरा नीयते, पुरा+नी+ड=पुराण+द्विती० ए० व०=पुराणम्=चिरंतनम्। पुरातन को। अनादि को।

अनुशासितारम्=(वि०) अनु√शास् (अदा० पर० सक०=शिक्षा देना)+तृच्=अनुशास्तृ+द्विती० ए० व०=अनुशासितारम्=सर्वस्य जगतः प्रशासितारम्=सारे जगत् के शास्ता या प्रशासक को। अनुशासन करने वाले को। सब के नियन्ता को।

अणोः=(पुं०)√अण् (भ्वा० पर० अक०=शब्द करना दिवा० आत्म० अक०=जीना)+उन्=अणु+पंच० ए० व०=अणोः=सूक्ष्म से (भी)

अणीयांसम्=(वि०) अणु+ईयस्=अणीयस्+द्विती० ए० व०=अणीयांसम्=सूक्ष्मतर को।

अनुस्मरेत्=अनु√स्मृ (भ्वा० पर० सक०=स्मरण करना)+विधि० प्र० पु०, ए० व०=स्मरण करे। स्मरण करता है।

यः=यद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=जो कोई।

सर्वस्य=सर्व (पुं०)+षष्ठी० ए० व०=सब के।

धातारम्=(पुं०)√धा+तृच्=धातृ+द्विती० ए० व० धारण करने वाले को। धाता को। सम्पूर्ण कर्म-फल के विधायक अर्थात् विचित्र रूप से विभाग करके सब प्राणियों को उनके कर्मों का फल देने वाले को। धारण पोषण करने वाले को। आधार को।

अचिन्त्य-रूपम्=(पुं०) न +√चिन्त्+यत् (नञ् तत्०)=सोचा न जाने वाले को। विचार किए जाने अयोग्य रूप को (द्विती० ए० व०)

आदित्य-वर्णम्=आदित्यस्य इव नित्यचैतन्य-प्रकाशो वर्णो यस्य तम् (बहुव्री०)=सूर्य के समान वर्ण वाले को। सूर्य के समान नित्य चैतन्य प्रकाशमय वर्ण वाले को।

[आदित्य=(पुं०) अदिति+ण्य=अदिति (देवताओं की माता) के पुत्र। आदित्य ब्रह्माण्ड में बारह प्रकार के माने जाते हैं। १. धाता २. मित्र ३. अर्यमा ४. रुद्र ५. वरुण ६. सूर्य ७. भग ८. विवस्वान् ९. पूषा १०. सविता ११. त्वष्टा और १२. विष्णु।]

बारह प्रकार के आदित्यों के वर्ण या स्वरूप वाले को।

तमसः=(नपुं०)√तम्+असच्=तमस्+पंच० ए० व०। तम से। अन्धकार से। अज्ञान-लक्षणाद् मोहान्धकारात्=अज्ञान रूप मोहमय अन्धकार से।

परस्तात्=(अव्यय) पर+अस्तात्ि (पंचम्याद्यर्थे)=परे ॥ ९ ॥

प्रयाण-काले=प्रयाणस्य काले (षष्ठी तत्पु०) प्रयाणकाल+सप्त० ए० व० मरण काल में। मृत्यु काल में।
[प्रयाण=नपुं०) प्र√या+ल्युट्=प्रस्थान। यात्रा। अन्तिम यात्रा। मृत्यु के। काले=समय में।]

मनसा=मनस् (नपुं०)+तृती० ए० व०=मन से।

अचलेन=(वि०)√चल्+अच् (नञ् तत्पु०) अचल+तृतीया ए० व०=अचल से। निश्चल से। चंचलता रहित से।

भक्त्या=(स्त्री०)√भज् क्तिन्=भक्ति+तृती० ए० व०=भक्ति से।

युक्तः=(वि०)√युज्+क्त=युक्त (पुं०)=प्र० ए० व०=युक्तः=जुड़ा हुआ। युक्त।

योग-बलेन=योगस्य बलेन (षष्ठी० तत्पु०) योगबल+तृती० ए० व०=योग के बल से। [समाधि जनित संस्कार के संग्रह से उत्पन्न हुई चित्त वृत्ति का नाम योगबल है। (शंकर)]

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) ऐसे ही।

भ्रुवोः=भ्रू (स्त्री०), भ्राम्यति नेत्रोपरि,√भ्रम्+ऊ=भ्रू+षष्ठी० द्वि० व० =दोनों भ्रुवों के। भ्रुकुटि के।

मध्ये=(वि०)√मन्+यक्, निपा० नत्व धः=मध्ये+सप्त० ए० व० =मध्ये=बीच में। मध्य में।

प्राणम्=(पुं०) प्राणिति जीवति बहुकालम्। प्र√अन्+अच्। या प्राणिति अनेन, प्र√अन्+घञ्=प्राण+द्विती० ए० व०=प्राण का। प्राणों को। [प्राण=श्वास। शरीर की वह वायु जिस से वह जीवित कहलाता है। शरीर स्थित पञ्च प्राण वायु हैं।]

आवेश्य=आ√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना। बैठना। बसना) +ल्यप्=स्थापित करके।

सम्यक्=सम्यच्, सम्यञ्च् (वि०) सम्√अञ्च्+क्विन्, समि आदेश, पक्षे न लोपः=सम्यच्+प्र० ए० व०=सम्यक्=भली प्रकार। अच्छी तरह।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह (ऐसा बुद्धिमान् योगी)।

तम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उस (कवि पुराण इत्यादि लक्षणों वाले) को।

परम्=(वि०)√पृ+अम्=परम् (द्विती० ए० व०) परम को।

पुरुषम्=(पुं०) पुरुष+द्विती० ए० व०=पुरुष को।

उपैति=उप√ई (अदा० पर० सक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =प्राप्त होता है।

दिव्यम्=(वि०)√दिव् (दिवा० पर० अक० सक०=चमकना)+यत्=दिव्य +(पुं०) द्वितीय० ए० व०=दिव्यम्=दिव्य को। चमकदार को। अलौकिक को। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक को। (१०)

अर्थ—जो (पुरुष) कवि (=सर्वज्ञ), पुराण (=चिरंतन, अनादि) अनुशासक, (=अनुशासन करने वाले—सम्पूर्ण संसार के नियन्ता) सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर सब के धाता, अचिन्त्य स्वरूप (जिस का स्वरूप नियत और विद्यमान होते हुए भी किसी के द्वारा चिन्तन नहीं किया जा सकता है), सूर्यवर्ण (अर्थात् सूर्य के समान नित्य चेतन प्रकाशमय वर्ण वाले) और अन्धकार से परे (अर्थात् अज्ञान रूप मोहमय अन्धकार से सर्वथा अतीत)—शुद्ध परब्रह्म परमात्मा—को स्मरण करता है ॥ ९ ॥

वह भक्ति युक्त और वैसे ही योगबल से युक्त पुरुष मरण काल में अचल मन से दोनों भ्रुवों के मध्य में भली भान्ति प्राणों को स्थित करके उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

व्याख्या—भगवान्, परब्रह्म परमेश्वर दिव्य परम पुरुष का स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! सब प्राणीवर्ग में पुरुष श्रेष्ठ होता है, क्योंकि मनुष्य-योनि ही ईश्वर प्राप्ति के लिए साधन बनती है दूसरी योनियां नहीं। पुरुष से ऊपर केवल दिव्य या अलौकिक परम पुरुष ही है। जिस में सब विश्व की समाप्ति हो जाती है वह दिव्य परम पुरुष कवि है अर्थात् त्रिकाल दर्शी या सर्वज्ञ है सदा सब कुछ जानता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जानने वाला है। उस का आदि अन्त कोई नहीं है। वह पुराना है। अर्थात् सनातन और सब का कारण रूप है। उस से पहले और कोई दूसरा नहीं था। उस का कभी जन्म मरण नहीं होता। इस लिए पुराण या पुरातन है। वह सब का अनुशासिता है अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापित और भ्रमण शील अकाश-गंगाओं, उन में स्थित सूर्यों, ग्रहों, उप ग्रहों, क्षुद्र ग्रहों, उल्काओं और धूम्रकेतुओं तथा उन सब में विद्यमान देवता मनुष्यादि सब जड़, चेतनों और प्रकृति का अनुशासिक है। उन सब का नियन्ता है। नियामक है और प्रेरक है। सब को नियम पूर्वक चलाने वाला है। सब प्राणियों के हृदयों में स्थित हुआ उनके पूर्व कर्मानुसार शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त करने वाला है तथा सम्पूर्ण कर्मफल का विधायक अर्थात् विचित्र रूप से विभाग करके सब प्राणियों को उनके कर्मों का फल देने वाला है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है। यह सृष्टि अनेक तत्त्वों से मिल कर बनी हुई है। प्रत्येक तत्त्व का सब से सूक्ष्म और अन्तिम अंश परमाणु कहलाता है। सब से सूक्ष्म परमाणु हाईड्रोजन गैस का होता है कोई परमाणु सृष्टि में अकेला नहीं पाया जाता। अपितु सारी सृष्टि में एक दो तत्त्वों के परमाणु मिले हुए रूपों में ही स्थित रहते हैं। इन को ही अणु कहा जाता है इस प्रकार एक अणु सृष्टि का सूक्ष्मतम अंश होता

है। परन्तु परमाणु तो इन अणुओं से भी अत्यन्त सूक्ष्मतर है अर्थात् उसे न किसी प्रकार इन चरम चक्षुओं से देख सकते हैं न ही किसी प्रकार की ऐनक, दूरदर्शी यन्त्र, सूक्ष्म दर्शी यन्त्र अथवा ऐटमी दूरबीन या अन्य खुर्दबीन से ही देखा जा सकता है। न किसी अन्य यन्त्र की सहाहता द्वारा भी, कान, जिह्वा नासिका या त्वचा द्वारा ही उसका अनुभव किया जा सकता है। इसी प्रकार वह ब्रह्म भी इतना सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है कि जिस तक मन और बुद्धि की पहुँच भी नहीं हो सकती। अर्थात् वह दुर्विज्ञेय है। और "महतो महीयान्" श्रुति के अनुसार महान् से महान् सूक्ष्म तत्त्व है और सर्व शक्तिमान् होने पर भी अत्यन्त ही सूक्ष्म है। इस कारण से सदा सर्वत्र व्यापक है। क्योंकि 'अणोरणीयांस' होने से ब्रह्माण्ड में कभी कोई पदार्थ उसका निरोधक नहीं हो सकता।

वह सब का धाता है अर्थात् धारण, पालन और पोषण करने वाला है। सब का आधार आश्रय और कर्ता है परन्तु अतीन्द्रिय होने से मन बुद्धि द्वारा अचिन्त्य रूप है। कोई भी उसके यथार्थ स्वरूप का चिन्तन नहीं कर सकता। निराकार और अमूर्त होने से उस का चिन्तन वास्तव में किसी प्रकार से भी नहीं हो सकता। वह तो सब को देखता है और सब में शक्ति का संचार करता है सर्वत्र विद्यमान है। परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप न किसी के द्वारा देखा जा सकता है। और न ही किसी के द्वारा सोचा जा सकता है। वह आदित्य-वर्ण है अर्थात् दृश्यमान सूर्य की भान्ति प्रकाश स्वरूप और दीप्तिमान है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रकाश प्रसारित किए हुए हैं। यद्यपि उस प्रकाश को हमारे नेत्र X Rase (कल्पित किरणों) की भान्ति देखने में असमर्थ हैं। यह दिव्य परम पुरुष अपनी अखण्ड ज्ञान मयी दिव्य ज्योति से सदा सर्वत्र सब को स्व-प्रकाश से प्रकाशित करता है जिस से सब शरीरों में जीवन-संचार होता है। और वैश्वानर रूप में चतुर्विध अन्नों को उदरों में पचाता है। तेज, उर्जा स्फूर्ति शक्ति तथा बुद्धि की प्रगलभता के रूप में प्रकट होता है। इस आदित्य वर्ण प्रभु के प्रकाश से शरीर के भीतर श्वेत कोशिकाओं की उत्पत्ति होती है जिन से बल वीर्य की पुष्टि होती है और उन से नूतन सन्तानों की उत्पत्ति होती है। तथा इस उक्त प्रकाश से अविद्या और अज्ञान का नाश होता है।

प्रकाश स्वरूप होने से वह दिव्य परम पुरुष अन्धकार से परे है। अज्ञान रूप मोह भी अंधकार कहलाता है। वह परमात्मा उस से भी परे है। क्योंकि वह ज्ञान स्वरूप है। तात्पर्य यह कि कवि, पुराण, अनुशासिता, अणुरणीयांस सब के धाता, अचिन्त्य रूप, अदित्यवर्ण और अंधकार से परे दिव्य परम पुरुष परमात्मा का जो स्मरण करता है॥

श्रुति में कहा है :—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात् ।
"तमेव विदित्वा ऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽनाय ॥
(श्वेता० उ० ३।८।। यजु० अ० ३१। मं० १८)"

अर्थ—मैं उस तम से परे (अज्ञानातीत) दिव्य आदित्यवर्ण महान् परम पुरुष परमात्मा को जानता हूँ। उस को जानकर ही पुरुष मृत्यु को पार करता है। इस के बिना परमपद प्राप्ति के लिए और कोई मार्ग नहीं है।]

"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। (श्वे० उ० ३।९ पूवार्ध)"

[**अर्थ**—जिस से उत्कृष्ट और कोई नहीं। जिससे सूक्ष्मतर और बड़ा भी कोई नहीं है] ॥९॥

९वें श्लोक का सम्बन्ध दसवें श्लोक से है—

इस प्रकार जो पुरुष उस दिव्य परम पुरुष को स्मरण करता है वह मृत्यु काल में परमात्मा की अनन्य भक्ति से युक्त हुआ अर्थात् परमात्मा से दृढ़ अनुराग करता हुआ योग-बल से दोनों भ्रुवों के मध्य स्थान स्थित द्वि-दल आज्ञा चक्र में भली भान्ति प्राणों को संस्थित करके प्रभु के ध्यान में मन से निमग्न हुआ उस दिव्य स्वरूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है ॥

परमात्मा के भजन का नाम भक्ति है। सामाधि जनित संस्कारों के संग्रह से उत्पन्न हुई चित्तस्थिरता का नाम योग है। अभ्यास योग या अष्टांग योग समाधि लगाने का नाम है। उसे योगाभ्यास भी कहते हैं। जिस से उत्पन्न हुए संस्कार समूह को योगबल कहा गया है। पहले हृदयकमल में चित्त को स्थिर करके फिर वहाँ से ऊपर की ओर जाने वाली ओरटा (ORTA) नाड़ी द्वारा अथवा रीढ से ऊपर मस्तिष्क की ओर जाती लेई सुषुम्णा नाड़ी द्वारा चित्त की प्रत्येक भूमिका को जय करता हुआ प्राणों को आज्ञा चक्र में भली प्रकार स्थित करता है। अन्त में दशम द्वार रूप ब्रह्मरंध्र से उत्क्रमण करके उस शुद्ध सच्चिदानन्दघन परब्रह्म से मिलकर एक रूप हो जाता है। जिस को परम दिव्य पुरुष भी कहते हैं और जो ९वें श्लोक में कहे हुए विशेषणों वाला है। तथा क्रम से १—आधार चक्र २—स्वाधिष्ठान चक्र ३—मणिपूरक चक्र ४—अनाहत चक्र ५—विशुद्ध चक्र और ६—आज्ञा चक्र ये षट चक्र हैं। इन षट चक्रों से प्राणों को योगी लो। क्रम से ऊपर चढ़ाते हुए स्थापित करते जाते हैं। इन चक्रों के स्थान और देवता भी निर्धारित हैं। अन्तिम चक्र अर्थात् आज्ञा चक्र का स्थान भ्रुकुटी के मध्य में है। यह द्विदल चक्र है इस में त्रिकोण योनि है। इसमें अग्नि सूर्य और सोम तीनों एकत्रित होते हैं। योगी मरण काल में योग बल से अपने प्राणों को इस स्थान पर अच्छी तरह से स्थापित करता है। इस आज्ञा चक्र के समीप सप्त कोष हैं जिन के नाम इन्दु बोधिनी, नाद, अर्धचन्द्रिका, महानाद,

सूर्यसोमाग्नि रूपिणी कला, और उन्मनी हैं। प्राणों के द्वारा जीव उन्मनी कोश में पहुँच जाने पर ही परम पुरुष को प्राप्त होता है। जिस से वह जन्म मरण से रहित हो जाता है ॥१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रेहण प्रवक्ष्ये ॥११॥

यत् + अक्षरम् + वेद-विदः + वदन्ति वशन्ति यत् + यतयः + वीत-रागाः।
यत् + इच्छन्तः + ब्रह्मचर्यम् + चरन्ति तत् + ते पदम् + संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

यत् = यद् (सर्व०) + (नपुं) द्विती० ए० व० = यम् = जिस को।

अक्षरम् = (वि०) √क्षर् + अच् न क्षरति इति अक्षरम्, (नञ् तत्पु०) = अविनाशी। सदा बना रहने वाला। (अक्षर (नपुं०) + द्विती० ए० व०)।

वेद-विदः = (पुं०) वेदं वेत्ति (बहुव्री०) । = वेदार्थज्ञाः। वेद के परम अर्थ को जानने वाले विद्वान्।

वेद = (पुं०) √विद् + घञ् या अच्। (सच्चा और वास्तविक ज्ञान। ऋक्, यजु, साम, अथर्ववेद।)
√विद् + क्विप् = विद्।
वेद-विद् + (पुं०) प्र० ब० व० = वेदविदः = वेदवेत्ता विद्वान् लोग।

वदन्ति = √वद् (भ्वा० पर० सक० = बोलना, कहना) + लट्० प्र० पु०, ब० व० = कहते हैं।

विशन्ति = √विश् (तुदा० पर० सक० = प्रवेश करना) + लट्० प्र० पु०, ब० व० = प्रवेश करते हैं।

यत् = यद् (सर्व०) + (पुं०) सप्त० ए० व० = यस्मिन् = जिस में।

यतयः = (पुं०) यतते चेष्टते मोक्षार्थं, √यत् + इन् = यति + प्र०, ब० व० = यतयः = संन्यासी लोग। इन्द्रियों को वश में करके सांसारिक जंजाल से विरक्त हुए यत्नशील लोग। यथार्थ ज्ञानी लोग।

वीत-रागः = (वि०) विगतो रागो येभ्यः ते वीत रागाः (बहुव्री०) = आसक्ति नष्ट हुए लोग। कामना शून्य लोग।
[वीत = (वि०) √वी + क्त वा वि √इ + क्त = अन्तर्धान हुआ। गया हुआ। नष्ट हुआ।

राग = (पुं०) √रञ्ज् + घञ् = आसक्ति। प्रगाढ़ भावना। प्रीति। अनुराग।

यत् = यद् (सर्व०) + (पुं०) द्विती० ए० व० = यम् = जिस को।

इच्छन्तः = √इष् (तुदा० पर० सक० = चाहना) + शतृ = इच्छत् + प्र० ब० व० = (जानना) चाहते हुए। अथवा पाना (प्राप्त करना) चाहते हुए (साधक)। पाने की इच्छा करते हुए साधक लोग।

ब्रह्मचर्यम् = (नपुं०) ब्रह्मणे चर्यते, √चर् + यत् + प्र० ए० व० = ब्रह्म में अथवा ब्रह्म के मार्ग में संचरण करना।

"कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुन-त्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ।।" (गरुड़ पुराण)

[अर्थ—कर्म, मन और वचन से सर्वदा सब अवस्थाओं में, सब स्थानों में मैथुन (स्त्री के संग रतिक्रीड़ा) का त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है ।]

ब्रह्मचर्य व्रत में विचरने के प्रधान नियम :—

नित्य स्नान करना । बटना, साबुन और सुगन्धित तेल न लगाना । केश-शृंगार न करना । सुरमा न लगाना । कामोद्दीपक पुस्तकों को न पढ़ना । सिनेमा न देखना । स्त्रियों का सहवास न करना । स्त्रियों सम्बन्धी बातें न सुनना । नाचने, गाने, बजाने में अरुचि करना । मदिरा, मांस, तम्बाकू, चरस, अफीम, भांग, हतीश आदि मादक वस्तुओं का सेवन न करना । किसी से विवाद और झगड़ा न करना । किसी की निन्दा न करना । काम, क्रोध, मोह, लोभ का परित्याग करना । सत्य बोलना । सदा वेद शास्त्रों के पढ़ने और ईश्वर के ध्यान में रत रहना ।।

चरन्ति=√चर् (भ्वा० पर० सक०)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=आचरण करते हैं । पालन करते हैं । करते हैं । चलते हैं ।

तत्=तद् (सर्व०)+नपुं०) द्वितीо ए० व०=उस को ।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिये ।

पदम्=(नपुं०)√पद्+अच्=पद+द्विती० ए० व०=(प्राप्त करने योग्य) स्थान को ।

संग्रहेण=(पुं०) सम्√ग्रह्+अप्=संग्रह=तृती० ए० व०=संक्षेप से । ख़ुलासा करके । संकलन करके । छांट कर ।

प्रवक्ष्ये=प्र√ब्र, √बच् वा (अदा० उभ० सक०=कहना)+लृट्० (आत्म०) उ० पु०, ए० व०=कहूँगा ।। मैं कहूंगा ।

अर्थ—वेद के परम अर्थ को जानने वाले विद्वान् लोग जिस को अक्षर या अविनाशी कहते हैं । वीतराग (आसक्ति और कामना से रहित हुए) यति (इन्द्रियों को वश में करके सांसारिक जंजाल से विरक्त हुए यत्नशील यथार्थ ज्ञानी) लोग जिस में प्रवेश करते हैं । जिस को जानना या पाना चाहते हुए ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करते हैं । उस पद (स्थान) को मैं संक्षेप से तेरे लिए कहूँगा ।। ११ ।।

व्याख्या—वेद शब्द "√विद्" धातु से बना है जिस का अर्थ 'जानना' है इसलिये वेद का अर्थ वह 'ज्ञान' होता है जो परब्रह्म परमात्मा के सम्बन्ध में हो । इस ज्ञान को बताने वाली चार पुस्तकें ऋक्, युजुः, साम और अथर्व, चार वेद कहलाती हैं । उपनिषद् और षट् शास्त्रादि भी उसी सच्चिदानन्द घन

परब्रह्म परमेश्वर का वास्तविक और यथार्थ ज्ञान कराने वाले ग्रन्थ हैं इसलिए इन चारों वेदों सब उपनिषदों छः शास्त्रों तथा गुरु वचनों ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले ज्ञानी लोग 'वेदविद्' या 'ब्रह्मवेत्ता' कहलाते हैं ये वेदवेत्ता लोग जिस परब्रह्म स्वरूप परमपद को अक्षर अविनाशी कहते हैं। इस 'अक्षर' ब्रह्म का स्वरूप बृहदारण्यकोपनिषद ३।७।८।। से ३।७।११।। तक वर्णन किया गया है जिस का सार हम ने इसी अध्याय के तीसरे श्लोक में दे दिया है। जिन लोगों की आसक्ति नष्ट हो चुकी है तथा सब प्रकार की कामनाएँ निःशेष हो चुकी हैं। ऐसे वीतराग, यत्नशील, इन्द्रियों को वश में करके सांसारिक जाल से विरक्त हुए यति या संन्यासी लोग यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर जिस अविनाशी ब्रह्म में प्रवेश करते हैं। अर्थात् जन्म मरण से मोक्ष प्राप्त करके जिस परब्रह्म में मिल कर एक रूप हो जाते हैं। और जिस परब्रह्म अक्षर परमात्मा का स्वरूप जान कर उस से प्यार करने के लिए ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करते हैं। मन, वचन और शरीर से मैथुन का सर्वथा त्याग किए रहते हैं। उस परमपद अर्थात् प्राप्त करने योग्य परब्रह्म परमात्मा को पाने की विधि, मैं संक्षेप से तेरे लिए वर्णन करता हूँ। कठोपनिषद् १।२।१५।। में लिखा है :—

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।"

[**अर्थ**—सब वेद जिस पद का वर्णन करते हैं। सारे तपों को जिस की प्राप्ति के साधन कहते हैं तथा जिस को जानने और पाने की इच्छा करते हुए ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। उस पद को मैं तेरे लिए संक्षेप से कहता हूँ। ॐ यही यह पद है ।।]

इस श्रुति में उस पद का नाम ॐ बतलाया गया है। परन्तु भगवान् ने उक्त श्लोक में ऐसी कोई बात नहीं कही। परन्तु कठोपनिषद् १।२।१६ में फिर कहा गया है कि—

"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।।"

[**अर्थ**—यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है, इस अक्षर को ही जान कर जो जिस की इच्छा करता है वही उसका हो जाता है।]

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए श्री स्वामी शंकराचार्य जी ने जो लिखा है उस का हिन्दी में अनुवाद इस प्रकार है :—

"यह (ॐ) अक्षर ही अपरब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है। यह अक्षर उन दोनों का ही प्रतीक है। इस अक्षर को ही "यही उपास्य ब्रह्म है" ऐसा जान कर जो पर अथवा अपर जिस ब्रह्म की इच्छा करता है। उसे वही

(ब्रह्म) प्राप्त हो जाता है यदि उसका उपास्य पर ब्रह्म हो तो वह केवल जाना जा सकता है और यदि अपर ब्रह्म हो तो प्राप्त किया जा सकता है।

प्रश्नोपनिषद् में लिखा है :—

अथ हैनं शैव्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद् भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥५।१॥"

[अर्थ—तब उस पिप्पलाद मुनि से शिवि के पुत्र सत्यकाम ने पूछा—हे भगवन् मनुष्यों में जो पुरुष प्राण-प्रयाण (मृत्यु)-पर्यन्त इस ओङ्कार का चिन्तन करे, वह उस ओङ्कारोपासना से वाव (निःसन्देह) किस लोक (पद) को जीतता या प्राप्त होता है।]

इस के उत्तर में उस पिप्पलाद ऋषि ने कहा—तस्मै स होवाच एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। तस्माद् विद्वानेतेनैवा यतनेनैकतरमन्वेति ॥५।२॥"

[अर्थ—उस से उस ने कहा—हे सत्यकाम! यह जो ओङ्कार है, वही निश्चय पर और अपर ब्रह्म है। इसलिए विद्वान् मनुष्य इसी के आश्रय से उन में से किसी एक ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है॥]

परमात्मा के अनेक नाम लिए जाते हैं उन में से अ, उ, म् तीन अक्षरों के मेल से बना हुआ "ओम्" भी उसका एक छोटा सा नाम है जिस से निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के ब्रह्म का बोध होता है और इस को पूर्व कह कर वेद का प्रत्येक मन्त्र पढ़ा जाता है। इस ग्यारहवें श्लोक में भगवान् ने अक्षर शब्द कह कर जिस पद को कहा है उस से तात्पर्य परब्रह्म से ही है चाहे उसे अविनाशी या अक्षर कहा जाए। चाहे ॐ अक्षर कहा जाए॥ ११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

सर्व-द्वाराणि संयम्य मनः+हृदि निरुध्य च। मूर्ध्नि+आधाय+आत्मनः प्राणम्+आस्थितः+योग-धारणाम्॥ १२॥

ॐ+इति+एक+अक्षरम्+ब्रह्म व्याहरन्+माम्+अनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्+देहम्+सः+याति परमाम्+गतिम्॥ १३॥

सर्व-द्वाराणि=सर्वाणि द्वाराणि (द्विती० तत्पु०)। [द्वार+द्विती० ब० व० (नपुं०) =द्वाराणि] सर्वाणि च तानि द्वाराणि च=सारे द्वारों को।

संयम्य=सम्√यम् (भ्वा० चुरा० पर० सक०=रोकना)+ल्यप्=रोक कर। संयमनं कृत्वा।

मन:=(नपुं०) मनस्+द्विती० ए० व०=मन को।

हृदि=√हृ (भ्वा० उभ० सक०=हर ले जाना)+क्विप्, तुक्=हृत् (हरण करने वाला), पृषो० तस्य द:, वा हृदयस्य हृदादेश:=हृद्+सप्त० ए० व०=(नपुं०) हृदि=हृदय में। हृदय कमल में (दशों दिशाओं में उड़ने वाले भ्रमर की भान्ति)।

निरुध्य=नि√रुध् (रुधा० उभ० सक०=रोकना)+ल्यप्=निरोधं कृत्वा= रोक कर। निरुद्ध करके। संकल्प विकल्प से रहित करके।

च=(अव्यय) और।

मूर्ध्नि=(पुं०) मूर्धन् [√मुर्व् (भ्वा० पर० सक०=बाँधना)+कनिन्, दीर्घ, धकारादेश]+सप्त० ए० व०=मस्तक में। माथे में।

आधाय=आ√धा (जुहो० उभ० सक०=रखना। स्थापित करना)+ल्यप्= स्थापित करके।

आत्मन:=(वि० सर्व०) आत्मन्+षष्ठी० ए० व०=अपने।

प्राणम्=(पुं०) प्र√अण्+अच् वा घञ्=प्राण+द्विती० ए० व०=प्राण को। श्वास को।

आस्थित:=आ√स्था (भ्वा० पर० सक०=रोकना, बन्द करना)+क्त= आस्थित+(पुं०) प्र० ए० व०=आस्थित:=अच्छी तरह स्थित हुआ।

योग-धारणाम्=√योगस्य धारणाम् (षष्ठी० तत्पु०) (स्त्री०)=परब्रह्म में मिलने के लिये ध्यान की एकाग्र स्थिति में। योग की धारणा में। [धारणाम्=(स्त्री०)√धृ+णिच्+युच्-टाप्=धारणा+द्विती० ए० व०=धारणा को। धारणा में] (१२)

ॐ=(पुं०) एक पवित्र पद, जो वेदाध्ययन के पूर्व और अन्त में कहा जाता है। ब्रह्म। प्रणव।

इति=(अव्यय)√इ+क्तिन्=इस।

एक-अक्षरम्=(नपुं०) एकम् अक्षरम् (द्विती० तत्पु०)। एक अक्षर+द्विती० ए० व०=एक अक्षर को।

ब्रह्म=(नपुं०) ब्रह्मन्+द्विती० ए० व०=ब्रह्म को।

व्याहरन्=वि आ√ हृ (भ्वा० उभ० सक०=ले जाना)+शतृ=व्याहरत्+ (पुं०) प्र० ए० व०=व्याहरन्=उच्चारण करता हुआ।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ (परमेश्वर) को।

अनुस्मरन्=अनु√स्मृ+शतृ=अनुस्मरत्+(पुं०) प्र० ए० व०=अनुस्मरन्= स्मरण करता हुआ। चिन्तन करता हुआ।

य:=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

प्रयाति=प्र√या+लट्० प्र० पु०, ए० व०=जाता है।

त्यजन्=√ त्यज्+शतृ=त्यजत्+(पुं०) प्र० ए० व०=त्यागता हुआ। त्याग कर।

देहम्=(नपुं० पुं०) देग्धि प्रतिदिनं√दिह्+घञ्=देह+द्वितो० ए० व०= देह को। शरीर को।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

याति=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= जाता है। पाता है। प्राप्त होता है।

परमाम्=(वि० स्त्री०) परम+आ=परमा+द्वितो० ए० व०=परमाम्= प्रकृष्टाम्। उत्कृष्टाम् सर्वोच्च को। सब से उत्तम को।

गतिम्=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+द्वितो० ए० व०=गति को। शरण स्थान को। पद को। (१३)

अर्थ—सम्पूर्ण द्वारों को रोक कर, मन को हृदय (कमल) में (भ्रमण या उड़न शील भ्रमर की भान्ति) निरुद्ध करके (अर्थात् संकल्प विकल्प से रहित करके) और (फिर ऊपर जाने वाली सुषुम्णा नाड़ी द्वारा ऊपर चढ़ाये हुए) अपने प्राण को मस्तक में स्थापित करके (परब्रह्म में मिलने के लिये) योग की धारणा (अर्थात् ध्यान की एकाग्र स्थिति) में अच्छी तरह से स्थित हुआ—॥ (१२)

ॐ इस एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ (अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप का लक्ष्य कराने वाले ओङ्कार को बोलता हुआ) तथा मुझ (सच्चिदानन्द घन परमात्मा) को स्मरण या चिन्तन करता हुआ जो (साधक) शरीर को त्याग कर जाता है (अर्थात् मरता है) वह परम-गति को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—देह में अनेक छिद्र हैं। जिन के द्वारा मल, मूत्र, वीर्य-बलगम (श्लेष्मा), पसीना और कई प्रकार के मल बाहर निकलते रहते हैं जिस से शरीर चैतन्य और स्वस्थ रहता है। इन को बाहर आने से रोकना तो मृत्यु को न्योता देना होता है। परन्तु शरीर में नव द्वार—दो नेत्र, दो कान, दो नासिका-छिद्र और एक मुख ये जो ऊपर के सात द्वार हैं। गुह्य और उपस्थ ये दो नीचे के द्वार हैं। इस प्रकार इन नव अर्थात् सारे द्वारों को जो विषयों की उपलब्धि कराने वाले द्वार भी हैं। और जिन में स्थित श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियां और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करके इस जीव को जन्म मरण के चक्र में डालने वाली और कष्टों क्लेशों तथा दुःखों के द्वार खोलने वाली हैं। जो साधक इन इन्द्रियों को वाह्य विषयों और मन में उत्पन्न होने वाले विषयों से हटा कर इन सब उक्त द्वारों का संयमन करके और विषयों में बार बार के दोष-दर्शन के अभ्यास से इन विषयों को कभी भोगता नहीं है और न ही कभी मन से उनका

चिन्तन करता है जिस प्रकार गन्ध-स्पर्श, रंग, रूप, रस आदि का लोभी भ्रमर नाना प्रकार के पुष्पों पर मंडराता रहता है और कभी किसी समय कमल कोश में बन्द होकर निश्चेष्ट और प्राण-रहित हो जाता है। इसी प्रकार साधक पुरुष भी इस चंचल मन को हृदय-कमल में निरुद्ध करके संकल्प विकल्प से रहित निश्चेष्ट तथा प्रभु ध्यान में निमग्न और स्थिर कर देता है। फिर ऊपर कपाल की ओर जा रही सुषुम्णा नाड़ी द्वारा प्राणों को मस्तक में ले जाकर स्थित कर देता है। जिस क्रिया को योगशास्त्र में धारणा कहा गया है। उस योग-धारणा द्वारा अर्थात् जन्म भर अभ्यास की हुई ध्यान की एकाग्र स्थिति में अच्छी तरह स्थित होकर ॐ इस एकाक्षरी ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ तथा मेरा चिन्तन करता हुआ जो साधक शरीर को छोड़ता है वह परम गति या मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस श्लोक में ॐ को ब्रह्म कहा गया है जिस का आशय केवल इतना ही है कि यह तीन मात्राओं वाला एक अक्षर ब्रह्म का एक छोटा सा परम श्रेष्ठ नाम है। इस का उच्चारण करते हुए चिन्तन तो ब्रह्म का ही किया जाता है जैसे राम राम कहने से आशय केवल तोते की तरह रट लगाना ही नहीं होता बल्कि सर्वव्यापक राम का ध्यान करना भी होता है। नाम तो केवल नामी की पहिचान के लिए होता है। यदि यह नाम ब्रह्म के स्वरूप का लक्ष्य कराने वाला न बन सके तो कौवे की भान्ति काँव काँव करना निरर्थक, निष्फल और केवल प्रयास मात्र ही होता है। जैसे कुछ लोग बिना सोचे समझे आचार विचारहीन हुए केवल दूसरों में बड़ाई प्रदर्शित करने के लिए कई प्रकार के पाठ करते और कराते हैं। कई कई दिन लाऊड स्पीकरों द्वारा दूसरों की नींद भी हराम करते हैं और स्वयं भी उस से अपने आचरण में कोई प्रभाव ग्रहण नहीं करते।

गोस्वामी श्री तुलसी दास जी ने लिखा है—

देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना।
रूप विसेष नाम विनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने।
सुमिरिअ नाम रूप विन देखे। आवत हृदय सनेह विसेखे।
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति वखानी।
अगुन सगुन विच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।
नाम जीह जपि जागहि जोगी। विरति विरंत प्रपंच वियोगी।
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।

[**अर्थ**—देखो सब रूप नाम के आधीन होते हैं। और रूप का ज्ञान बिना नाम के नहीं होता। बिना नाम ज्ञात हुए जैसे हाथ की हथेली पर पड़ी हुई वस्तु भी पहिचानी नहीं जाती इसी प्रकार किसी विशेष रूप का ज्ञान भी बिना नाम जाने नहीं होता। जब किसी के रूप को देखे बिना भी उसके नाम का

स्मरण किया जाता है। तब हृदय में उसका विशेष प्रेम उत्पन्न हो जाता है। नाम और रूप की अवस्था की कथा कही नहीं जा सकती। उसका समझना तो सहज है परन्तु उसका वर्णन करना कठिन है। निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के ब्रह्म का प्रबोधक चतुर द्विभाषी पुरुष की भान्ति नाम ही अच्छा साक्षी होता है। ॐकार रूपी नाम का जप करते हुए वैरागी और योगी पुरुष ब्रह्मा की रचना संसार से विरक्त हुए सदा जागते हैं अर्थात् समाधि द्वारा परब्रह्म के ध्यान में सदैव लीन रहते हैं। और वे लोग अलौकिक ब्रह्म-सुख का अनुभव करते हैं। जो ब्रह्म अकथ और अनामय है। तथा उसका न कोई नाम है और न ही रूप है।]

इसलिए ॐ का जप और ब्रह्म का चिन्तन करना मरण काल में परमावश्यक है। महर्षि पंतजलि ने भी यही बात कही है:—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ (योग० १।१७, १८)

[**अर्थ**—उसका नाम प्रणव (ॐ) है। ॐ का जप करते हुए उसका अर्थ परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए।]

हाँ यहाँ एक शंका उत्पन्न हो सकती है वह यह कि यह कैसे समझा जाए कि अंतिम काल में इन दो श्लोकों के कथनानुसार अवश्य ही सम्पूर्ण द्वारों को रोककर मन को हृदय में निरुद्ध करके, अपने प्राणों को मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र) में स्थापित कर ॐ का उच्चारण करता हुआ पुरुष ब्रह्म का चिन्तन करेगा जब सब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं मन कुछ भी चिन्तन करने में असमर्थ हो जाता है और बुद्धि भ्रमित होने लगती है व्याधि और मृत्यु की पीड़ा से अपने पराए का कोई विशेष अन्तर भासमान नहीं होता। उस समय आसन पर समाधि लगाकर कौन बैठेगा? और इन्द्रियों का निरोध कौन कर सकता है? और उपर्युक्त अन्य बातें भी कैसे सम्भव हो सकती हैं?

परन्तु इस स्थान पर ऐसी शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ पर किसी साधारण व्यक्ति का वर्णन नहीं है। इस स्थान पर तो उस योगी का वर्णन किया गया है जिसने इस प्रकार की समाधि का आजीवन अभ्यास किया है तथा उसके अन्तिम समय में भगवान् स्वयं इस कार्य में उसकी सहायता करते हैं॥ १२, १३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥

अन्+अन्य-चेताः सततम्+यः+माम्+स्मरति नित्यशः।
तस्य+अहम्+सुलभः पार्थ! नित्य-युक्तस्य योगिनः॥

अन्+अन्य—चेताः=न अन्यविषये चेतो यस्य सः (नञ्, बहुव्री०) जिसका चित्त

(परमात्मा के बिना) अन्य किसी विषय का चिन्तन नहीं करता। अनन्य चित्त वाला।

[चेतस्=(नपुं०)√चित्+असुन्=चेतस् (समास में यह शब्द पुं० होकर प्र० ए० व० "चेता:" बना है जिसका अर्थ चित्त वाला होता है।)]

सततम्=(अव्यय, वि०) [सम्√तन्+क्त, समः अन्त्य लोपः] निरन्तर। सदैव। सर्वदा। लगातार।

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

स्मरति=√स्मृ (भ्वा० पर० सक०=स्मरण करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=स्मरण करता है।

नित्यशः=नित्यशस् (अव्यय)। नित्य+शस्=नित्य। हमेशा। हर रोज।

तस्य=तद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=उस के (लिये)।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

सुलभः=सुखेन लभ्यः। सुखेन लभते। सु√लभ्+खल्=सुलभ=प्र० ए० व० =सुलभः=सुलभ। आसानी से मिलने वाला।

पार्थ !=हे पृथा पुत्र अर्जुन !

नित्य-युक्तस्य=(पुं०) नित्यं यक्तः तस्य। नित्ययुक्त+षष्ठी० ए० व० =नित्य-समाधिस्थ। सदा परमात्मा के ध्यान में लीन।

[नित्य=नियमेन भवः, नि+त्यप्=जो सब दिन रहे]

योगिनः=योग (पुं०)=√युज्+घञ्। योगिन्=योग+इनि वा√युज् +घिनन्=योगिन्+षष्ठी० ए० व०=योगिनः=योगी के (लिये)॥

अर्थ—हे पृथा पुत्र (अर्जुन) ! जो (योगी पुरुष मुझ में) अनन्यचित्त वाला (होकर) नित्य निरन्तर मेरा स्मरण करता है। उस (समाधिस्थ) नित्य-युक्त योगी के लिए मैं सुलभ हूँ॥ १४॥

व्याख्या—जिस पुरुष को संसार में मेरे बिना अन्य कोई जीव या पदार्थ प्रिय नहीं है। जब वह सब ओर से नित्य निरन्तर ध्यान हटा कर लगातार मेरा ही ध्यान करता है और मेरा ही स्मरण करता है। तथा मेरा ही नाम जपता है तो वेदान्त की भाषा में उस को नित्य-युक्त योगी कहा जाता है। तथा उसे अनन्य चित्त पुरुष भी कहते हैं। ऐसे पुरुष को मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ। क्योंकि वह पुरुष मुझ में अनन्य प्रेम और एक-भक्ति होने से मेरा ही रूप हो जाता है। लोगों को तो उस का पार्थिव शरीर दृष्टिगोचर होता है परन्तु उसका उस शरीर से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि उस के उस शरीर के भीतर बाहर तो केवल उसका एक प्रियतम ही रम रहा भासमान होता

है। जिस से मिल कर उस का आत्मा एक रूप हो जाता है जिस के कारण से मरणकाल में उस का शरीर सहज ही उस से अलग होकर अपने मूल पाँच तत्त्वों में मिल कर विलीन हो जाता है। उसके साथ ही मन, बुद्धि, सूक्ष्म इन्द्रियों और लिंग शरीर का भी फात्हा पढ़ा जाता है अर्थात् इन सब का सम्बन्ध भी आत्मा से टूट जाता है और आत्मा परमात्मा में समा जाता है। "जिमि जल में जल आई खटाना। तिमि ज्योति संग ज्योति समाना॥" वाली बात हो जाती है और जन्म मरण का झन्झट सदा के लिए समाप्त हो जाता है॥ भक्तवश भगवान् होते हैं जैसा कि भागवत में लिखा है—

मयि निर्वद्ध-हृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्यः सत्पति यथा॥

[**अर्थ**—जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपनी भक्ति और प्रेम से श्रेष्ठ पति को अपने वश में कर लेती है। उसी प्रकार मुझ में निर्वद्ध (लीन) हृदय साधु लोग भक्ति से मुझे वश में कर लेते हैं॥ १४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

माम्+उपेत्य पुनर्+जन्म दुःख+आलयम्+अशाश्वतम्। न+आप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिम्+परमाम्+गताः॥

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

उपेत्य=उप√इ+ल्यप्=प्राप्त हो कर।

पुनर्+जन्म=पुनर्=(अव्यय)√पन्+अर्, उत्व=दूसरी बार होने वाले। (मरने के बाद) फिर होने वाले। जन्म=जन्मन्+(नपुं०)√जन्+मनिन्=जन्मन्+द्विती० ए० व०=जन्म=जन्म को।

दुःख+आलयम्=दुःखानाम् आलयम् (षष्ठी० तत्पु० स०)=दुःखों के घर को। आलीयन्ते यस्मिन् दुःखानि इति दुःखालयम्। जिस में सारे दुःख रहते हैं वह (बहुव्री०)।
[आलयम्=(पुं० नपुं०) आ√ली+अच्=आलय+द्विती० ए० व०=आलयम्। आलय को। घर को। आश्रय को।]

अशाश्वतम्=√शश्+वत्=शश्वत् (अव्यय)+अण्=शाश्वत+द्विती० ए० व०। न शाश्वतम् (नञ् तत्पु०)=अशाश्वत को। सदा स्थिर न रहने वाले को।

न=(अव्यय) न। नहीं।

आप्नुवन्ति=√आप् (स्वा० पर० सक०=प्राप्त होना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=प्राप्त होते हैं।

महा+आत्मानः=महान् आत्मा यस्य सः=महात्मन् (बहुव्री०)+(पुं०) प्र०, ब० व०=महात्मानः=महात्मा लोग। महापुरुष।

संसिद्धिम्=सम्√सिध्+क्तिन्=संसिद्धि+द्विती० ए० व०=संसिद्धि को। सिद्धि को।

परमाम्=(स्त्री०) परम्+टाप्=परमा+द्विती० ए० व०=परम को। उत्तम को। उत्कृष्ट को।

गताः=√गम्+क्त=गत+(पुं०) प्र० ब० व०=गए हुए। प्राप्त हुए॥

अर्थ—परम सिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा लोग मुझ को प्राप्त होकर दुःखों के घर और अशाश्वत पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते॥ १५॥

व्याख्या—वैसे तो संसार में मनुष्य अनेक सिद्धियाँ (सफलताएँ) प्राप्त करता है जब स्कूल या कालेज में पढ़ता है तो अच्छे अंक प्राप्त करके परीक्षाएँ पास करता है अनेक प्रकार की मशीनों का आविष्कार करता है। रेल, तार, टैलीफोन, बिजली, सिनेमा, रेडियो, टैलीविजन आदि सम्पूर्ण आविष्कार लौकिक-महान् सिद्धियाँ हैं। आकाश में उड़ना, चन्द्र-तल पर जाना, ऐटमी शक्ति का प्रयोग, समुद्र तल की खोज आदि बहुत बड़ी सिद्धियाँ हैं। योगी जन योगबल से अष्ट-सिद्धि नव-निद्धि प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु इन उपरोक्त सिद्धियों में से परम सिद्धि कोई भी नहीं है क्योंकि ये सब संसार के लाभ और हित के लिये तो अवश्य हैं साधक को अपना सन्तोष करने वाली भी हैं परन्तु जन्म मरण के चक्र से छुड़ाने वाली नहीं है परम सिद्धि तो केवल वही सिद्धि कहला सकती है जिस के परिणामस्वरूप यह जीव पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त होकर शुद्ध परब्रह्म सच्चिदानन्द घन परमात्मा में मिल कर एक रूप हो जाता है। और उस के लिए इन्द्रियों को विषयों से रोककर, मन को वश में करके बुद्धि से काम लेते हुए निरन्तर परमात्मा के ध्यान में लीन रहना पड़ता है। अपने भीतर बाहर सदा सब जगह उस को देखने और अनुभव करने का प्रयत्न करना होता है सदा सर्वत्र उसी के नाम और यश का कीर्तन और श्रवण किया जाता है जब साधक का प्रेम, धारणा और निश्चय प्रभु में प्रगाढ़, प्रौढ़ और परिपक्व हो जाता है तो उस को भगवान् का निरन्तर साक्षात्कार होने लगता है तथा उससे अपनी अभिन्नता प्रतीत होने लगती है।

जब इसी मस्ती और पूर्ण आनन्द की अवस्था में उस के शरीर का त्याग हो जाता है तो साधक को इस स्वदेह त्याग का कुछ भी भान या प्रतीति नहीं होती और वह अपने ध्यानस्थ परब्रह्म में मिलकर एकरूपता को प्राप्त कर लेता है। फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता। अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि जन्म धारण करके मनुष्य अनेक विषयों और सुखों को भोगता है व्याह की खुशी देखता है। सुखमय सर्वसुख सम्पन्न सामग्री युक्त श्वेत भवनों में निवास करता है।

मोटरों, कारों और आकाशयानों पर चढ़कर आनन्द लूटता है दूसरों पर प्रभुत्व जमाता है, शासन करता है, यदि देवता-देह प्राप्त हो जाये तो स्वर्ग सुखों को भोगता है इस प्रकार बार बार जन्म लेकर तमाशे देखता है। इस से पुनर्जन्म होने में हानि ही क्या है ? जिस से बचने के लिए कहा जाता है ?

हाँ यह सब कुछ ठीक है परन्तु ये सब सुख साधन सब को तो प्राप्त नहीं होते हैं । ऐसा तो महान् यज्ञों और पुण्यों के प्रभाव से ही उपलब्ध होता है। उन पुण्यों के समाप्त हो जाने पर नरक द्वार भी देखना पड़ता है यह ठीक ही तो कहा है तप से राज्य और राज्य से नरक की प्राप्ति होती है। और फिर ये सब सुख साधन क्षण-भंगुर हैं और अल्पकालिक ही होते हैं। जो जीव उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु अवश्यमेव होती है। इसलिये इसे अशाश्वत कहा गया है क्योंकि कोई जीव भी सदा स्थायी रहने वाला नहीं है। सब शरीर क्षण भंगुर और अनित्य हैं। और पुनर्जन्म महान् दु:खों का घर है। पहले यही पता नहीं चलता कि पुनर्जन्म किस योनि में होगा। देवता योनि मिलेगी ? अथवा किसी उत्तम-कुल वाले मनुष्य कुल में जन्म होगा किंवा अधम से अधम कीट पतंगादि योनि प्राप्त होगी क्योंकि पुनर्जन्म का अच्छा होना शुभाशुभ कर्मों पर निर्भर होता है। कहा भी है—

विश्व विधान कर्म फल राखा। जो जस करे सो तस फल चाखा ।।

कुछ समय के लिये मान लो कि पुनर्जन्म में उत्तम कुल में नर योनि ही प्राप्त होगी। तब भी प्रथम तो नवमास मातृ-गर्भ में जीव को शरीर का ताना वाना ही बुनना होता है और हाड़, चर्म, लहू, मज्जा से निर्मित मल-मूत्र और श्लेष्मा से परिपूर्ण मातृ-देह में निवास करना पड़ता है। माता द्वारा खाए गये रूक्ष शुष्क कटु और तीक्ष्ण भोजनों की वेदना को सहना पड़ता है तथा भुजाओं, टाँगों, हाथों और सिर को सिकोड़े हुए एक दो दिन नहीं पूरे नौ महीने जेर में लिपटे हुए रहना पड़ता है। इस प्रकार इस गर्भवास का दु:ख भोगने के बाद जब योनि द्वार से बाहर निर्गमन होता है तो गर्मी, सर्दी और नाल-छेदन की पीड़ा से रोता और बिलबलाता है। और शिशुपन में विवश हुआ मक्खी, मच्छर आदि के काटने तथा चेचकादि के टीकों के कष्टों को भोगता है। बालपन में माता-पिता की डाँट डपट, साथियों की मार पीट और अध्यापक वर्ग की घुड़कियों का आंतक लहू-शोषण करता रहता है। परीक्षाओं की चिन्ता कभी सुख का एक साँस नहीं लेने देती। कभी कभी तो किसी किसी को हताश होकर बीच में छोड़ देना पड़ता है। यदि भाग्य वश परिश्रम से अच्छी विद्या प्राप्त भी हो गई तो आजीविका के लिए किसी धंधे या नौकरी का अनुसंधान भी पर्वत की चोटी पर चढ़ने के समान अति कष्टकर होता है। चालीस वर्ष की आयु तक पुत्र पुत्रियों का भार पीड़ा-कारक बन जाता है कभी स्वयं बीमार है, कभी कोई सम्बन्धि बीमार है, कभी

किसी अभियोग की चिन्ता है, कभी किसी कारोबार की चिन्ता शरीर को घुन की तरह खाए जा रही है। किसी से झगड़ा है, किसी से लड़ाई है जीवन के इस ताने वाने में बुढ़ापा आ जाता है जो निरा नरक तथा रोगों का घर है। नेत्र ज्योति रहित हो जाते हैं। कर्ण सुनना छोड़ देते हैं। खाल झुर्री युक्त होकर लटक जाती है। दान्त रूपी मोती मरने से पूर्व ही लुट जाते हैं। चेहरे की आकृति विकृत और विकराल हो जाती है कमर झुक कर कमान का रूप धारण कर लेती है। माँस, मज्जा और लहू निःशेष हो कर केवल हड्डियों का ढाँचा मात्र रह जाता है, अपने पराये सब इस भूत प्रेत चुड़ैल रूप को देख कर डरने और घृणा करने लगते हैं । और दयार्द्रित होकर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवान् ! इस बूढ़े पर दया करो और इसे अपने चरणों में बुला लो जिस से इस का पुनर्जन्म हो जाए।

तब फिर इसी दुःख और निराशा में बूढ़े की मृत्यु हो जाती है। और सैंकड़ों बिच्छुओं के उसने तुल्य मृत्यु की वेदना को सहता हुआ वह इस संसार असार से विदा हो जाता है। तथा यम किंकरों के डण्डों की मार को सहता हुआ भूखा, प्यासा और मार्ग के श्रम से श्रमित तथा भयभीत हुआ यमराज के सम्मुख उपस्थित किया जाता है जिस के द्वारा निर्णय किया हुआ कर्मानुसार नाना प्रकार की अधमाधम योनियों में दुःख भोगने के लिए बार बार जन्म लेता और मरता है। इसी कारण से भगवान् ने इस श्लोक में पुनर्जन्म को दुःखालय कहा है और उस से बचने के लिए अपने को प्राप्त होने का मार्ग दर्शाया है ।। गरुड़ पुराण में कहा है—

> मोक्षं गच्छन्ति तत्वज्ञा, धार्मिकाः स्वर्गतिं नराः ।
> पापिनो दुर्गतिं यान्ति संचरन्ति खगादयः ॥

गरुड़० अ० १६ । श्लो० १६॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

आ-ब्रह्म-भुवनात्+लोकाः पुनर्+आवर्तिनः+अर्जुन ! । माम्+उपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्+जन्म न विद्यते ॥

आ-ब्रह्म-भुवनात्=आ-ब्रह्मणः भुवनात् (षष्ठी० तत्पु०)।

[आ=(अव्यय) तक। पर्यन्त।

ब्रह्मणः=ब्रह्मा के।

भुवनात्=भवन्ति यस्मिन् भूतानि=भुवन (नपुं०,√भू+क्युन्)+पं० ए० व०=भुवनात्=(जिस में प्राणी उत्पन्न होते और निवास करते हैं उस को भुवन कहते हैं। भुवन से।] ब्रह्म-लोक-पर्यन्त।

लोका:=(पुं०)√लोक् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+घञ्=लोक+प्र० ब० व०=लोका:=सम्पूर्ण लोक। सारे भुवन।

[पुनर्=(अव्यय)√पन्+अर्, उत्व=पुन:। फिर। दूसरी बार।

आवर्तिन:=आ√वृत्+इन्=आवर्तिन्+(पुं०) प्र० ब० व०=अवर्तन शील]

पुनरावर्तिन:=बार बार उत्पन्न होने और बार बार नष्ट होने के स्वभाव वाले। जिन में जाकर पुण्य क्षीण हो जाने पर पुन: लौट कर संसार में जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

अर्जुन !=हे अर्जुन ! [शुक्लान्तरात्म स्वभाव:=शुद्धान्त: करण:=शुक्ल=स्वच्छ-शुद्ध अन्तरात्मा-स्वभाव वाला हो अर्थात् पवित्र अन्त:करण युक्त हो उस का नाम अर्जुन है।] इस सम्बोधन से भगवान् ने उस में स्वभाव सिद्ध महानुभावपन कथन किया है जिससे उसमें स्वरूप से शुद्धि सूचित की गई है। जो आत्म ज्ञान की सिद्धि के लिये परम उपयोगी है।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

उपेत्य=उप√इ+ल्यप्=समीप जाकर। प्राप्त होकर।

तु=(अव्यय) तो। परन्तु।

कौन्तेय !=(पुं०) कुन्ती+ढक्-एय=कौन्तेय+सम्बोधन ए० व०=हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! [इस सम्बोधन के द्वारा भगवान् ने माता कुन्ती के सम्बन्ध से अर्जुन में महानुभावपन का संकेत किया है। जिस से आत्म ज्ञान की सिद्धि के लिए उस अर्जुन में इस कारण से शुद्धि सूचित की गई है।

पुनर्जन्म=(नपुं०) मरने के बाद फिर होने वाला जन्म। पुनरुत्पत्ति।

न=(अव्यय) न। नहीं।

विद्यते=√विद् (दिवा० आत्म० अक०=होना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=होता है॥

अर्थ—हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त (ब्रह्माण्ड में विद्यमान) सम्पूर्ण लोक पुनरावर्ती हैं। (अर्थात् कालान्तर में स्वयं नाशवान् हैं और वहाँ पुण्यों के प्रभाव से गए हुए लोग पुण्यों के फल को भोग चुकने के बाद वापस लौट कर कर्म भूमि (पृथिवी) पर जन्म ग्रहण करते हैं।) परन्तु हे कुन्ती पुत्र अर्जुन। मुझ को प्राप्त हो कर पुनर्जन्म नहीं होता। (क्योंकि यह सारा संसार अर्थात् ब्रह्माण्ड और उस में रची हुई सम्पूर्ण रचना मुझ अनादि परब्रह्म अव्यक्त का ही खेल और स्फुरण मात्र है) ॥१६॥

व्याख्या—इस श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को "अर्जुन" और "कौन्तय" ये दो नाम कह कर सम्बोधित किया है। 'अर्जुन' का अर्थ पवित्र अन्त:करण वाला होता है। जिससे उसका स्वभाव-सिद्ध महानुभाव-पन कथित किया गया है। जिससे उसमें स्वरूप से शुद्धि सूचित होती है। और कौन्तेय कहने से, कुन्ती

के सम्बन्ध से अर्जुन में महानुभावपन का संकेत मिलता है। इस प्रकार स्वभाव-सिद्ध और श्रेष्ठ सम्बन्ध से अर्जुन में आत्मज्ञान की सिद्धि अर्थात् उस की परमात्मा को प्राप्त होने की योग्यता की सूचना मिलती है।

महाप्रलय-काल के अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि चर अचर तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसमें विचर रहे पिण्ड और ब्रह्मा आदि सब देवी देवता परब्रह्म परमेश्वर के स्वरूप में लय हो जाते हैं एक अव्यक्त प्रभु के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं रहता। उस समय वह अव्यक्त, आनन्द मग्न हो जाता है। इस अवस्था को मानव-भाषा में ब्रह्म की रात्रि कहा जाता है। जब इस रात्रि का अवसान होने लगता है तो अव्यक्त प्रभु पुरुषोत्तम नारायण विष्णु के रूप में प्रकट होते हैं जिन की नाभि से एक कमल निकलता है जिससे भगवान् कमलनाभ कहलाते हैं। उस कमलासन पर आसीन चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। जिन को हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, प्रजापति और अब्जयोनि आदि अनेक नामों से स्मरण किया जाता है यही ब्रह्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना करता है जिसमें सहस्त्रों आकाश गंगाएँ रचता है प्रत्येक आकाश गंगा में अर्बों सूर्य होते हैं और प्रत्येक सूर्य के परिवार में ग्रह, उपग्रह, क्षुद्रग्रह, उल्काएँ और धूमकेतु आदि अनेकों पिण्ड और सृष्टियां होती हैं जिनमें से कितनी ही जीवशून्य होती हैं और कितनी ही जीवपूर्ण होती हैं। तथा इन सब की रचना भिन्न भिन्न तत्त्वों द्वारा रचित होती हैं। सबसे उत्तम लोक ब्रह्मलोक होता है जिस में ब्रह्मा निवास करता है। इस लोक की अवधि चतुर्युग या कल्प पर्यन्त होती है। उस लोक में गए हुए पुण्यात्मा लोग कल्प पर्यन्त उसमें निवास करते हैं। ब्रह्मा के परब्रह्म में लीन होने पर वे भी उसमें लीन हो जाते हैं। और फिर जब अगले कल्प का आरम्भ होता है, तो ये लोग ब्रह्म से निकल कर पुनः जन्म धारण करते हैं। इसलिये भगवान् ने ब्रह्मलोक को भी पुनरावर्ती कहा है यद्यपि उपनिषदों और ब्रह्म सूत्र आदि ग्रन्थों में ब्रह्मलोक को अपुनरावर्ती कहा है। यथा "ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते" (छांदो० ८।१५।१ का अन्तिम भाग)

[**अर्थ**—(अन्त में वह) ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, और फिर (जन्म लेने के लिये) वापस नहीं लौटता। और फिर वापस नहीं आता।]

"ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषा न पुनरावृतिः॥"

छां० ।६।२।१५ का अन्तिम भाग)

[**अर्थ**—वे उन ब्रह्मलोकों में अनन्त वर्षों तक रहते हैं। उन की पुनरावृत्ति नहीं होती।]

इन श्रुतियों में कही हुई अनावृति केवल कल्प पर्यन्त ही रहती है। यह हम पहले बतला चुके हैं कि लोक अनेक हैं जिन में से विष्णु लोक, रुद्रलोक इन्द्रलोक, वरुण लोक, सूर्य लोक आदि अत्यन्त श्रेष्ठ लोक हैं और ब्रह्मलोक

सर्वश्रेष्ठ लोक है। क्योंकि उसमें से होकर भी परब्रह्म के स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। सगुण ब्रह्म के उपासक अपनी उपासना के बल से ब्रह्मलोक में जाते हैं। और वहाँ पर ब्रह्मा के उपदेश द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार होने पर कैवल्य मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं। इसकी प्राप्ति के लिये उन साधकों को सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य इन चार अवस्थाओं में से गुज़रना होता है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति सगुण ब्रह्म की उपासना से भी होती है और वेदोक्त पंचाग्नि विद्या द्वारा भी। अर्थात् वेदविहित यज्ञों के अनुष्ठान करने से भी। अन्य लोकों की अपेक्षा ब्रह्मलोक में एक विशेषता यह भी है कि शेष लोकों की भान्ति ब्रह्मलोक केवल कर्म-फल भोगने के लिये ही नहीं है अपितु किसी किसी के लिये परब्रह्म में लीन होने का द्वार भी बन जाता है और ब्रह्मलोक में गये हुए पुण्यात्मा कल्प पर्यन्त पुनरावृत्ति को प्राप्त नहीं होते जबकि शेष स्वर्गादि लोकों में गये हुए कल्प के बीच में ही शुभ कर्मों का फल भोग कर पुनरावृत्ति को प्राप्त हो जाते हैं। और कई बार एक ही कल्प में वे ऐसा करते रहते हैं। परन्तु परब्रह्म को प्राप्त होने पर जीव का पुनर्जन्म नहीं होता। कुछ लोग तो ब्रह्मलोक में से होकर परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त हो जाते हैं और कुछ लोग शरीर नष्ट होने से पूर्व ही अथवा शरीर का त्याग होते ही सर्वव्यापक परमात्मा में मिल जाते हैं उनका शरीर से निकल कर किसी भी लोक में गमन नहीं होता जैसाकि श्रुति में कहा है:—

"योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्म-कामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥" छां० (४।४।६ का अन्तिम भाग)

[**अर्थ**—जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्म काम होता है। उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता ; वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।] इस प्रकार जब मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। तो उस के प्राण देह से बाहर निकल कर दूसरी देह को धारण नहीं करते। बल्कि देह के भीतर ही परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। और फिर कभी उससे अलग नहीं होते ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

सहस्र-युग-पर्यन्तम्-अहः+यद्+ब्रह्मणः+विदुः । रात्रिम्+युग-सहस्र+अन्ताम्+ते+अहः+रात्र-विदः+जना ॥

सहस्र-युग-पर्यन्तम्+सहस्रं युगानि पर्यन्तः पर्यवसानं यस्य (बहुव्री०)=एक हजार युग की अवधि वाला। एक सहस्र युग में समाप्त होने वाला।

[सहस्र=(नपुं०) समानं हसति, √हस्+र, समानस्य सादेशः। दस सौ। एक हजार।

युग=(नपुं०)√युज्+घञ्, कुत्वं न गुणः। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग के एक महायुग पर्यन्तम्=पर्यन्त (अव्यय) परिगतः अन्तं (सीमां) परि +अन्तम्=हद्द तक। तक]

अहः=अहन् (नपुं०) न जहाति (त्यजति) सर्वथा परिवर्तमानत्वात् इति, न √हा+कनिन् (नञ् तत्पु०)। सदा घूमता रहता है। दिन। अहन् +प्र० ए० व०=अहः=दिन को॥

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्वितो० ए० व० (दिन का विशेषण)=जिसको।

ब्राह्मणः=(नपुं०) ब्रह्मन्+षष्ठी० ए० व०=ब्रह्म के। प्रजापति के। विराट् के।

विदुः=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु० ब० व० =विदन्ति। परन्तु√विद् धातु से लट् लकार में विकल्प से लिट् लकार के समान प्रत्यय हो जाते हैं। उन के रूप नीचे दिए जाते हैं।

प्र०	वेद	विदतुः	विदुः (जो जानते हैं)
म०	वेत्थ	विदथुः	विद
उ०	वेद	विद्व:	विद्म:

रात्रिम्=रात्रि (=रात्री भी) [(स्त्री०) राति ददाति कर्मभ्योऽवसरं निद्रासुखं वा,√रा+त्रिप् पक्षे ङीष्]+द्वितो० ए० व०=रात्रि को। रात को।

युग-सहस्र+अन्ताम्=युगानि सहस्रम् अन्ताम्=युग सहस्र अन्त वाली को। [बहुव्री०=द्विती० ए० व०]

ते=तद् (सर्व०) प्र० ब० व०=वे।

अहः+रात्र-विदः=अहश्च रात्रञ्च (इतरेतर द्वन्द्व) विदः=ब्रह्मा के) दिन और रात के जानने वाले हैं। काल के तत्त्व को जानने वाले हैं।

[विदः=(पुं०) विद् (√विद्+क्विप्)+प्र० ब० व०=वदः =जानने वाले। पण्डित।

जनाः=(पुः०) जन (√जन्+अच्)+प्र० ब० व०=लोग।

अर्थ—ब्रह्मा के सहस्र (महा) युग पर्यन्त रहने वाले जिस दिन को तथा (ब्रह्मा की) युग सहस्र अन्त वाली रात को जो लोग जानते हैं, वे दिन रात (अर्थात् काल के तत्त्व) को जानने वाले हैं॥ १७॥

[चार युगों की हज़ार चौकड़ियाँ बीतने पर ब्रह्मा का दिन और इतनी ही रात होती है]

व्याख्या—यह बात पहले बताई जा चुकी है। कि ब्रह्माण्ड में अनेक आकाश गंगाये हैं जिन में अनेक सूर्य और उन के परिवार रूप पिण्ड अपने अक्षों के चारों ओर भ्रमण करते हुए अपने अपने सूर्यों के चारों ओर नियमित रूप

से निरन्तर चक्र लगा रहे हैं जिन से उन में दिन रात, मौसम और वर्ष प्रकट होते रहते हैं। सब पृथिवियों और लोकों में इन दिन-रातों, मौसमों और वर्षों का मान पृथक्-पृथक् होता है जैसे हमारी पृथिवी सूर्य के सामने अपने अक्ष के चारों ओर पश्चिम से पूर्व की तरफ घूम कर चौबीस घण्टों में एक चक्र पूरा करती है इस लिए इस पृथिवी के दिन और रात का मान २४ घण्टे या साठ घड़ी होता है और हमारे चन्द्रमा में दिन रात का आन २९½ हमारे दिन रातों के बराबर होता है। इसी प्रकार बुध, शुक्र, मंगल, गुरु और शनि आदियों में दिनमान हमारे दिन-मान से अति न्यूनाधिक होता है। हमारी पृथिवी अपने सूर्य के चारों ओर ३६५ दिन ५ घण्टे ४८.८ मिन्ट में एक चक्र लगाती है। यही सायन-सौर-वर्ष होता है। और निरयण-सौर-वर्ष ३६५ दिन ६ घण्टे ९.२ मि० का होता है। दोनों में २०.४ मि० का अन्तर होता है। इसलिए अंग्रेज़ी कैलेंडर में हमारी वैशाखी ७१ वर्ष के बाद एक दिन आगे होती जा रही है। सायन का अर्थ है जिस में अयनांश मिले हुए हैं। निरयण का अर्थ है जिस में अयनांश मिले हुए नहीं हैं। भारत के लगभग सभी पंचाँगों में निरयण राशियों का ही प्रयोग होता है। लगभग पांचवीं शताब्दी में अर्थात् "सूर्य सिद्धान्त" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के निर्माण काल में वैशाखी २२ मार्च को थी। जो संवत् २०३२ को १४ अप्रैल को हुई है। उपरोक्त वर्णन केवल हमारी पृथिवी के दिनरात और वर्ष सम्बन्धि है। दूसरे ग्रहों, उपग्रहों और तारों के दिन रात और वर्षों का मान हमारी इस पृथिवी से सर्वथा पृथक या भिन्न होता है। हमारा एक वर्ष देवताओं के लोक के एक दिन रात के बराबर होता है। उत्तरायण के छः मास दिन और दक्षिणायन के छः मास रात होती है। हमारे ३० वर्ष देवताओं के एक मास के बराबर होते हैं। इसी प्रकार हमारे ३६० वर्षों का देवताओं का एक वर्ष होता है। ऐसे देवताओं के बारह हज़ार वर्षों का एक दिव्य युग होता है जिस में हमारे चारों युग आ जाते हैं जिन का मान ४३२०००० मनुष्य वर्षों के बराबर होता है। जिसे विस्तार पूर्वक इस प्रकार कहा जा सकता है :—

कलियुग =४३२००० वर्ष

द्वापर=४३२०००×२=८६४००० वर्ष

त्रेता=४३२०००×३=१२९६००० वर्ष

सत्ययुग=४३२०००×४=१७२८००० वर्ष

जोड़=४३२०००० वर्ष

ऐसे हज़ार दिव्य युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है और ऐसे हज़ार युगों की ही ब्रह्मा की रात होती है अर्थात् ब्रह्मा का दिन=४३२००००×१००० =४३२०००००००० हमारे वर्षों के बराबर और ब्रह्मा की रात भी हमारे इतने ही वर्षों की होती है।

अर्थात् ब्रह्मा का एक दिन रात हमारे आठ अरब चौसठ करोड़ वर्ष का होता है। ब्रह्मा के दिन को कल्प और रात्रि को प्रलय कहते हैं। ऐसे तीस दिन रातों का ब्रह्मा का एक मास होता है और उन बारह महीनों का एक वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षों की ब्रह्मा की पूर्णायु होती है ब्रह्मा के लय होते ही ब्रह्म लोक का भी लय हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मा के साथ ही ब्रह्मा लोक भी काल की अवधि वाला होता है। ब्रह्मा की पूर्णायु हमारे ३१ नील १० खरब और ४० अरब वर्ष की होती है। ब्रह्मा के प्रयाण के साथ ही महा प्रलय हो जाता है और कहीं भी कुछ शेष नहीं रहता सब कुछ परब्रह्म अव्यक्त परमेश्वर में लीन हो जाता है। इस प्रकार ब्रअलोक पर्यन्त सम्पूर्ण लोक पुनरावर्ती होते हैं। जो पुरुष युग (चतुर्युग) सहस्र पर्यन्त ब्रह्मा के दिन और इतनी ही लम्बी ब्रह्मा की रात को जानते हैं वे लोग वास्तव में दिन रात के मान और भेद को जानने वाले हैं॥ इस रहस्य को समझ कर जो लोग केवल मुझ को ही प्राप्त होते हैं। उन का फिर जन्म नहीं होता है॥ १७॥

टिप्पणी—ब्रह्मदेव की पूर्णायु सौ वर्ष की है। इस समय उसमें से आधी बीत चुकी है। ५१वें वर्ष के पहले दिन का समय बीत रहा है। अर्थात् श्वेत-वाराह नामक कल्प का आरम्भ हुआ है। इस कल्प के चौदह मन्वन्तरों में से छः मन्तन्तर बीत चुके हैं। सातवें मन्वन्तर वैवस्वत् के ७१ महायुगों (=युग चौकड़ियों) में से २७ महायुग पूरे हो चुके हैं। अब २८वीं युग-चौकड़ी का कलियुग बीत रहा है। इस समय संवत् २०३१ (शक १८९६) में इस कलियुग के ५०७५ वर्ष बीत चुके हैं इस कलियुग का यह पहला ही चरण है। इस प्रकार अभी तक ब्रह्म देव के ५१वें वर्ष से पहले दिन का मध्याह्न भी नहीं हुआ है।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

अव्यक्तात्+व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति+अहः+आगमे। रात्रि+आगमे प्रलीयन्ते+तत्र+एव+अव्यक्त-संज्ञके॥

अव्यक्तात्=(वि०) वि√अञ्ज् (रुधा० पर० सक०=प्रकाशित या प्रकट होना) क्त=व्यक्त, न व्यक्त=अव्यक्त (नञ् तत्पु०)+(पुं०) पंच० ए० व०= अव्यक्त से। अज्ञेय से। अगोचर से। अप्रत्यक्ष से ब्रह्मा जी की निद्रावस्था से। अवान्तर प्रलय के बाद। ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से।

व्यक्तयः=जो वस्तु मन और इन्द्रियों के द्वारा जानी जा सके उसका नाम है— व्यक्ति (=(स्त्री) वि√अञ्ज्+क्तिच्)+प्र० ब० व०=व्यक्तयः= व्यक्तियां (स्थावर जंगम रूप समस्त प्रजाएँ)। सम्पूर्ण चराचर भूतगण।

सर्वाः=सर्व=(सर्वनाम, वि०)+(स्त्री०) प्र० ब० व०=सम्पूर्ण। समस्त।

प्रभवन्ति=प्र√भू+लट्० प्र० पु०, ब० व०=उत्पन्न होती हैं। प्रकट होती हैं।

अहः=(नपुं०) अहन्=न जहाति (न त्यजति) सर्वथा परिवर्तमानत्वात् इति। न√हा+कनिन्=अहन्+प्र० ए० व०=दिन।

आगमे=(पुं०) आ√गम्+घञ्=आगम+सप्त० ए० व०=आगमे=आगमन होने पर। आने पर। (ब्रह्मणः) प्रबोधन काले। (ब्रह्मा के) प्रबोधन काल में।

[अहरागमे में षष्ठी० तत्पु०=दिन के होने पर]

रात्रि+आगमे=[रात्रि (स्त्री०)=राति ददाति कर्मभ्यऽवसरं निद्रादि सुखं वा। √रा+त्रिप्=रात्रि]। रात्र्या आगमे (षष्ठी० तत्पु०) रात्रि के आने पर। ब्रह्मा के प्रयाण काल में। ब्रह्मा के शयन करने के समय पर।

प्रलीयन्ते=प्र√ली (दिवा० आत्म० अक०=मिलना)+लट्० प्र० ब० व०= मिल जाती हैं। लीन हो जाती हैं।

तत्र=(अव्यय) तत्+त्रल्=उसी में।

एव=(अव्यय)=ही।

अव्यक्त=अ+वि√अञ्ज्+क्त=अव्यक्त।

संज्ञके=(वि० पुं०) सम्√ज्ञा+कन् या क्वप्=संज्ञक+सप्त० ए० व०= संज्ञके=नाम वाले में॥

अर्थ—(ब्रह्म देव के) दिन के आने पर सारी व्यक्तियाँ (स्थावर जंगम रूप प्रजाएँ) अव्यक्त (ब्रह्म देव के सूक्ष्म शरीर) से उत्पन्न होती हैं और (ब्रह्म देव की) रात्रि के आने पर उसी अव्यक्त नाम वाले में लीन हो जाती हैं॥ १८॥

व्याख्या—जब ब्रह्म देव का दिन होता है तो ब्रह्म लोक में ब्रह्मा मूर्तिमान् होकर स्थित रहता है परन्तु जब ब्रह्मदेव की रात्रि हो जाती है तो सब कुछ ब्रह्मदेव में लीन हो जाता है उस समय ब्रह्मा का कहीं भी कोई स्वरूप विद्यमान नहीं रहता तब उस समय उसकी अव्यक्त संज्ञा होती है इस अमूर्त ब्रह्मदेव की यह अव्यस्था सुषुप्ति अवस्था कहलाती है। ब्रह्मदेव के जागने अर्थात् मूर्तिमान् हो जाने पर परा और अपरा दोनों प्रकार की प्रकृति प्रकट होती है और पूर्वले बचे कर्मों के अनुसार देव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग और वृक्षादि सब प्रकार की स्थावर जंगम या चरा-चर प्रजाएँ जन्म लेती हैं और सारे संसार की रचना और शोभा बढ़ाने लगती हैं। परन्तु ब्रह्म के रात्रि-काल में ये सब उसके अव्यक्त स्वरूप में विलीन हो जाते हैं। श्री ज्ञानेश्वर जी के शब्दों में—

"सच तो यह है कि ब्रह्मा के नगर का यह विश्वरूपी बाजार दिन निकलते ही लग जाता है और जब रात्रिकाल आता है तब वह बाजार अपने आप उठ जाता है। तात्पर्य यह कि यह अपने मूल बीज में ही समा जाता है और उस के साथ मिल कर तद्रूप हो जाता है ॥" १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

भूत-ग्रामः सः+एव+अयम्+भूत्वा भूत्वा प्रलीयते । रात्रि+आगमे +अवशः पार्थ ! प्रभवति+अहः+आगमे ॥

भूत-ग्रामः=भूतानां ग्रामः [षष्ठी तत्पु०] [भूतानां समुदायः—स्थावरजंगम-लक्षणो यः पूर्वस्मिन् कल्पे आसीत् स एव अयं न अन्यः]

स्थावर-जंगम रूप भूतों का समुदाय। [(पुं०) प्र० ए० व०]

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

एव=(अव्यय) ही।

अयम्=इदम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=यह।

भूत्वा=√भू+क्त्वा=(उत्पन्न) हो कर।

भूत्वा=√भू+क्त्वा=होकर।

प्रलीयते=प्र√ली (दिवा० आत्म० अक०=मिलना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =लय हो जाता है। लीन हो जाता है।

रात्रि+आगमे=रात्र्याः आगमे (षष्ठी तत्पु०) (ब्रह्म देव की) रात्रि के आने पर [(पुं०) सप्त० ए० व०]

अवशः=पर वशः यः सः (नञ् बहुव्रीहि०)=परतन्त्र। बेबस। लाचार। मजबूर हुआ। विवश हुआ। [(पुं०) प्र० ए० व०]

पार्थ !=(पुं) पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण् (सम्बोधन ए० व०)=हे कुन्ती के पुत्र (अर्जुन) !।

प्रभवति=प्र√भू+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्रकट होता है। उत्पन्न हो जाता है।

अहः+आगमे=अह्नः आगमे (षष्ठी० तत्पु०) [(पुं०) सप्त० ए० व०]। (ब्रह्म देव के) दिन के आने पर ॥

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन) ! वह ही यह (स्थावर जंगम) भूतों का समूह (उत्पन्न) हो-होकर (प्रकृति के) वश में हुआ (ब्रह्मदेव की) रात्रि के आने पर (अव्यक्त में) लय हो जाता है। और (ब्रह्मदेव) के दिन के आने पर प्रकट या उत्पन्न हो जाता है ॥१९॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू उस पृथा का पुत्र है जिस का दूसरा नाम कुन्ती है जिसने अपनी भक्ति की शक्ति के बल से देव-लोक को भी अपने वशीभूत किया हुआ है फिर वह तेरी माता कुन्ती, नाते में मेरी भूआ है और इस प्रकार तू मेरा सखा होने से भी मेरा अति प्रिय है। इस लिये इस श्लोक में वर्णित गति तेरी कदापि न होगी।

जिस प्रकार रात होने पर संसार के सब प्राणी सो जाते हैं और घने अन्धकार में निश्चेष्ट हो जाते हैं तथा दिन पर अविद्या और काम (=इच्छा वा संकल्प) के अनुसार प्रकृति वश हुए अपने अपने काम-धन्धों में लग जाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मदेव के जाग उठने पर उस अव्यक्त का दिन हो जाता है और वह ब्रह्मदेव व्यक्त रूप में प्रकट हो जाता है। फिर उस से स्थावर जङ्गम भूतों का समूह जो पूर्व कल्प में स्थित था और ब्रह्मदेव के शयन काल में उसमें लीन हो गया था। वह पुनः अपने गुण और कर्मों के अनुसार प्रकृति के विवश हुआ यथायोग्य शरीरों को प्राप्त होकर प्रकट हो जाता है। और फिर ब्रह्मदेव की रात्रि के आने पर पुनः उस अव्यक्त नाम वाले ब्रह्म देव में लीन हो जाता है। ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु के सब दिनों में सदैव ऐसा ही होता रहता है। ब्रह्मा की आयु के समाप्त होने पर महाप्रलय होता है। उस समय फिर सब कुछ परमब्रह्म में ही लीन हो जाता है। परन्तु जो लोग प्रकृति से परे चले जाते हैं वे परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं फिर उनका जन्म कभी नहीं होता। शेष सब प्राणी ब्रह्मा जी की इच्छा से अपने गुण, कर्म और प्रकृति के वश हुए शरीरधारी होकर उत्पन्न होते रहते हैं। महाप्रलय के अनन्तर जिस समय ब्रह्मा की उत्पत्ति नहीं होती, उस समय सृष्टि की रचना स्वयं भगवान् करते हैं। जैसा कि भगवान् ने ९वें अध्याय में स्वयं कहा है :—

सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अर्थ—हे अर्जुन कल्प के अन्त में समस्त भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, और कल्प के आदि में मैं फिर उन को उत्पन्न करता हूँ ॥७॥

अपनी प्रकृति को आश्रय करके प्रकृति या स्वभाव के वश से विवश हुए इस सम्पूर्ण भूतों के समूह को मैं पुनः पुनः उत्पन्न करता हूँ ॥८॥

हे अर्जुन ! मुझ अध्यक्ष से (प्रेरित हुई) प्रकृति सब चराचर रूप जगत् को रचती है। इस हेतु से ही यह जगत् परिवर्तित होता रहता है।]

ऋग्वेद में इस विषय पर तीन मन्त्र इस प्रकार हैं :—

ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

अर्थ—[ऋग्वेद मण्डल १० । सूक्त १९० । मन्त्र १, २, ३,]

[परमात्मा ऋत (सृष्टि का आदि और धारक) तथा सदा सत्य स्वरूप है। और सब को वश में करने वाला है। पहले उस से रात्रि (अर्थात् महान् अंधकार) उत्पन्न हुआ। फिर अत्यन्त प्रकाशमान तप से फेन से युक्त (आकारूप) समुद्र की रचना हुई इस आकाश रूपी फेनल समुद्र के बाद संवत्सर अर्थात् काल (समय) और दिशा आदि रचे गये । फिर रात और दिन रचे गये, तदनन्तर विश्व की आँख खोलने वाले अर्थात् विश्व की रचना करने वाले धाता (ब्रह्मा) ने सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, अन्तरिक्ष (स्वर्गादि सम्पूर्ण लोक) रचे। यह सब कुछ जिस प्रकार पूर्व के कल्पों में था इसी प्रकार अब रचा गया, वैसे ही आगे भी उत्तरोत्तर कल्पों में रचा जाएगा ॥]

इस सब कहने का अभिप्राय यह है कि यदि पुण्य कर्मों के प्रभाव से नित्य ब्रह्मलोक का वास भी प्राप्त हो जाए तो भी प्रलय काल में ब्रह्म लोक का ही नाश हो जाने से फिर भी नवीन कल्प के आरम्भ में प्राणियों का जन्म अवश्य होता है। इस से बचने के लिए केवल एक मात्र यही मार्ग है कि परब्रह्म परमात्मा में ही मिलने का प्रयत्न किया जाए ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

परः+तस्मात्+तु भावः+अन्यः+अव्यक्तः+अव्यक्तात्+सनातनः ।
यः सः+सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

परः=(वि०)√पॄ+अप् (कर्तरि भावे वा)=पर+(पुं०) प्र० ए० व०
=(बहुत ही) परे वाला ।

अथवा

[परः=परस् (अव्यय)। परस्मात्, परस्मिन् परो वा पंचम्याद्यर्थे
=अति परे]

तस्मात्=तद् (सर्वं०)+(पुं०, नपुं०)+पंच० एक व०=उस से ।
तु=(अव्यय) परन्तु । भी ।

भावः=(पुं०)√भू+घञ् ; भावयति चिन्तयति वा ज्ञापयति पदार्थान्,√भू +णिच्+अच्=भाव+प्र० ए० व०=भावः। अलौकिक शक्ति (है)।

अन्यः=√अन्+य=अन्य+(पुं०) प्र० ए० व०=अन्य=दूसरा।

अव्यक्तः=न (नञ् बहुव्री० तत्पु०)+वि√अञ्ज्+क्त=अव्यक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=अव्यक्तः=अव्यक्त। अप्रत्यक्ष। अज्ञेय। अस्पष्ट। अचिन्त्य।

अव्यक्तात्=अव्यक्त+(पुं०) पंच० ए० व०=अव्यक्त से। ब्रह्मा जी के निद्रावस्था वाले अव्यक्त स्वरूप से।

सनातनः=(वि०) सदा+ट्युल्, तुट् नि० दस्य यः=सनातन+(पुं०) प्र० ए० व०=सनातनः=अनादि। सदा रहने वाला।

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

सर्वेषु=सर्व (सर्व०)+(नपुं०) सप्त० ब० व०=सब (के होने पर)।

भूतेषु=(नपुं०)√भू+क्त=भूत+सप्त० ब० व०=भूतेषु=भूतों के (होने पर)।

नश्यत्सु=√नश् (दिवा० पर० अक०=(नष्ट होना)+शतृ=नश्यत्+(पुं०) सप्त० ब० व०=नष्ट होने पर। नाश होने पर।

न=(अव्यय) नहीं। न।

विनश्यति=वि√नश् (दिवा० पर० अ०=नाश होना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=नाश होता है॥

अर्थ—परन्तु उस अव्यक्त (=ब्रह्मदेव के निद्रावस्था वाले अव्यक्त स्वरूप) से भी अति परे (एक) अन्य सनातन अव्यक्त-भाव अर्थात् एक अप्रत्यक्ष अलौकिक शक्ति है। जो वह समस्त भूतों के नष्ट होने पर भी (किसी काल में) नष्ट नहीं होती॥ २०॥

व्याख्या—यद्यपि निद्रित अवस्था को प्राप्त हुए उस ब्रह्म-देव को भी अव्यक्त-संज्ञक कहा गया है जिसमें सब भूत अपने अस्तित्व को खोकर लय हो जाते हैं परन्तु उस ब्रह्मा नाम वाले अव्यक्त से अत्यन्त परे एक और अव्यक्त भाव भी है जो सनातन है, अनादि है। अलौकिक है। कभी किसी के दृष्टिगोचर नहीं होता है। अमूर्त है। जन्म-मरण से रहित है। सदा एक रस है। जिसे पर-ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर, अनादि, अनेक नामों से पुकारा जाता है। वह परम दिव्य पुरुष है। ब्रह्मा नाम वाला अव्यक्त तो कभी व्यक्त होता है और कभी अव्यक्त होता है तथा अपनी सौ साल की पूर्णायु भोग कर नष्ट हो जाता है परन्तु उस से अत्यन्त परे का दूसरा अलौकिक महान्तम अव्यक्त चेतन

अविनाशी सर्वान्तर्यामी, द्रष्टा और ज्ञाता है। सब का स्वामी संचालक और अधिष्ठाता है। इस सनातन पर-ब्रह्म अव्यक्त का नाश किसी काल में और किसी भी कारण से नहीं होता है। जब-ब्रह्मा और उस के द्वारा उत्पन्न किया गया सारा प्रपंच काल पाकर नाश को प्राप्त हो जाता है। तब भी यह परब्रह्म अव्यक्त परमेश्वर सदा स्थिर और स्थित रहता है। इस लिये अन्य सब वासनाओं को अच्छी तरह से त्याग कर इसी अव्यक्त पर-ब्रह्म परमेश्वर से मिलने का प्रयत्न करना चाहिए। ताकि यह जीव का जन्ममरण का झगड़ा सदा के लिए मिट जाए ॥ क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है कि "मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते।" नहीं तो कर्मों के बन्धन में पड़ा हुआ पुरुष बिना भोगे कर्मों के कभी जन्म मरण से मुक्त ही नहीं होता। कहा भी है :—

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प-कोटि शतैरपि॥"

[**अर्थ**—अच्छे बुरे कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। अभुक्त कर्म सैंकड़ों कल्पों (के बीतने) द्वारा भी नष्ट नहीं होते] ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥

अव्यक्तः+अक्षरः+इति+उक्तः+तम्+आहुः परमाम्+गतिम्। यम्+प्राप्य न निवर्त्तन्ते तत्+धाम परमम्+मम॥

अव्यक्तः=(वि० पुं०) (नञ्-तत्पु, बहुव्री०) वि√अञ्ज्+क्त=अव्यक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=अव्यक्तः। अव्यक्त।

अक्षरः=(वि० पुं०)√क्षर+अच् (नञ् तत्पु०)=अक्षर+प्र० ए० व०=अक्षरः। अच्युत, स्थिर, नित्य, अविनाशी।

इति=(अव्यय) ऐसा।

उक्तः=√वच्=क्त=उक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=उक्तः=कहा गया है।

तम्=तद् (सर्वनाम)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उस को।

आहुः=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लट् प्र० पु०, ब० व०=ब्रुवन्ति। पक्ष में-आहुः=कहते हैं।

परमाम्=(वि०, स्त्री०) परमा+द्विती० ए० व०=सब से उच्च को। सर्वोत्कृष्टा को।

गतिन्=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+द्विती० ए० व०=गति को। स्थान को। पद को।

यम्=यद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=जिसको।

प्राप्य=प्र√आप्+ल्यप्+प्राप्त हो कर।
न=(अव्यय) न। नहीं।
निवर्त्तन्ते=नि√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=वरतना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०+वापस लौटते हैं।
तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह।
धाम=(नपुं०) धामन् (√धा+मनिन्)+प्र० ए० व०=धाम। स्थान।
परमम्=(वि० पुं०) परम+प्र० ए० व०=परमम्=सर्वोत्कृष्ट। परम।
मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम (मे)=मेरा।

अर्थ—अव्यक्त (परब्रह्म परमात्मा) अक्षर (अविनाशी) है। ऐसा कहा गया है। उस को (ही) परम-गति कहते हैं। और जिस को प्राप्त हो कर फिर वापस नहीं लौटते हैं, वह मेरा परम-धाम है॥ २१॥

व्याख्या—संसार की सर्वोच्च शक्ति का नाम अव्यक्त परब्रह्म परमेश्वर है जो इन्द्रियों का अविषय है। क्योंकि समस्त इन्द्रियाँ मन बुद्धि सहित उस को समझने में असमर्थ हैं। कई ऐसे प्रश्न उस महा सत्ता के सम्बन्ध में किए जाते हैं जिनका उत्तर आज तक कोई भी नहीं दे सका है जैसे प्रश्न किया जाता है कि इस ब्रह्माण्ड की सीमा कहाँ तक है? फिर उस से परे और क्या है? ये आकाश गंगाएं कहाँ तक फैली हुई हैं। उन में कुल कितने सूर्य हैं? जब उस की रचना का ही पूरा रहस्य प्राप्त नहीं हो सकता है तो उस रचना के रचयिता का भेद भी भला कौन जान सकता है? श्रुतियों में उस अव्यक्त को अक्षर या अविनाशी कहा गया है जैसे—

"येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्" [मुण्ड० १।२।१३ का एक खण्ड]

अर्थ—जिससे (वह शिष्य) नित्य अक्षर (अविनाशी) परम पुरुष (अव्यक्त परब्रह्म) को जान ले।]

फिर गीता और श्रुतियों में उस परम दिव्य अव्यक्त पुरुष को सब से परे कहा गया है। यथा—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ (गीत ३।४२)

[**अर्थ**—इन्द्रियों को स्थूल शरीर से पर (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) कहते हैं। इन इन्द्रियों से पर (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) मन है। मन से पर बुद्धि है और बुद्धि से भी अत्यन्त पर परमात्मा है।]

और भी—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ १०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।। ११ ।।

(कठोपनिषद १।३।१०,११)

[**अर्थ**—क्योंकि इन्द्रियों से पर (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) अर्थ (शब्दादि विषय) हैं । इन अर्थों से पर मन है । मन से पर बुद्धि है और बुद्धि से पर महान् आत्मा है ।।१०।। उस महान् जीवात्मा से पर अव्यक्त (रात्रिकाल में सोया हुआ ब्रह्मा अर्थात् भगवान् की अव्यक्त माया शक्ति) है और उस अव्यक्त से भी पर परमपुरुष (स्वयं परमेश्वर) है और परम पुरुष परमेश्वर से पर और कोई भी नहीं है । वही (परम पुरुष परमेश्वर) सब की परम सीमा है और वह ही परम गति है ।।११।।

इस प्रकार के परमगति रूप अक्षर अव्यक्त परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त होकर मनुष्य संसार में फिर कभी वापस नहीं लौटता है और यही अव्यक्त अक्षर मेरा परम धाम है अर्थात् मेरा वास्तविक स्वरूप है ।

लोकमान्य तिलक लिखते हैं :—

"बीसवां और इक्कीसवां श्लोक मिल कर एक वाक्य बना है । २०वें श्लोक का 'अव्यक्त' शब्द पहले सांख्यों की प्रकृति को, अर्थात् १८वें श्लोक के अव्यक्त द्रव्य को लक्ष्य करके प्रयुक्त है और आगे वही शब्द सांख्यों की प्रकृति से परे, परब्रह्म के लिए भी उपयुक्त हुआ है तथा २१वें श्लोक में कहा गया है कि इसी दूसरे अव्यक्त को "अक्षर' भी कहते हैं । अध्याय के आरम्भ में भी "अक्षरं ब्रह्म परमं" यह वर्णन है । सारांश अव्यक्त शब्द के समान ही गीता में "अक्षर" शब्द का भी दो प्रकार से उपयोग किया गया है । कुछ यह नहीं, कि सांख्यों की प्रकृति ही, कि जो "सब भूतों का नाश हो जाने पर भी नष्ट नहीं होती ।"

१५वें अध्याय में पुरुषोत्तम के लक्षण बतलाते हुए जो यह वर्णन है कि वह क्षर और अक्षर (दोनों) से परे का है, उस से प्रकट है कि वहाँ का 'अक्षर' सांख्यों की प्रकृति के लिए उद्दिष्ट है (देखो गी० १५।१६-१८)

ध्यान रहे, कि 'अव्यक्त' और 'अक्षर' दोनों विशेषणों का प्रयोग गीता में कभी सांख्यों की प्रकृति के लिए और कभी प्रकृति से परे 'परब्रह्म' के लिए किया गया है ।।२१।।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।। २२ ।।

पुरुषः सः+परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यः+तु+अनन्यया । यस्य+अन्तः स्थानि भूतानि येन सर्वम्+इदम्+ततम् ।।

पुरुषः=(पुं०) पुरि शयनात् पूर्णत्वाद् वा=शरीर रूप पुर में शयन करने से या सर्वत्र परिपूर्ण होने से परमात्मा का नाम पुरुष है। पुरति=अग्रे गच्छति, √पुर्+कुषण=पुरुष+प्र० ए० व०=पुरुषः। अधियज्ञ। अव्यक्त परब्रह्म। सगुण-निराकार परमेश्वर।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

परः=(वि०)√पृ+अप्=पर+(पुं०) प्र०, ए० व०=परः=सब से बड़ा। परम। [परः=निरतिशयः, यस्मान् न परं किंचित्।]

पार्थ!=(पुं०) पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण् (सम्बोधन ए० व०)=हे कुन्ती के पुत्र (अर्जुन)!

भक्त्या=(स्त्री०) भक्ति (√भज्+क्तिन्)+तृती० ए० व०=भक्त्या =भक्ति से।

लभ्यः=√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना)+(कर्मणि) यत् =लभ्य+प्र० ए० व०=लभ्यः=पाने योग्य है। प्राप्त करने योग्य है॥

तु=(अव्यय) तो। और।

अनन्यया=(वि०) अनन्या (स्त्री०)+तृती० ए० व०=अन्य से सम्बन्ध न रखने वाली। एक निष्ठ [नञ् बहुव्री०, नञ् तत्पु०]

यस्य=यद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=जिस के।

अन्तःस्थानि=[अन्तर्=(अव्यय)√अन्+अरन्, तुडागम=अन्तर्=अन्दर। स्थानि=(नपुं०)√स्था+क=स्थ+प्र० ब० व०=स्थानि=टिके हुए हैं। स्थित हैं।

भूतानि=√भू+क्त=भूत+(नपुं०) प्र०, ब० व०=सब भूत। ब्रह्माण्ड में विद्यमान सब कुछ।

येन=यद् (सर्व०)+(पुं०) तृती० ए० व०=जिस से। जिस के द्वारा।

सर्वम्=सर्व (सर्व०)+(नपुं०) प्र०, ए० व०=सर्वम्=सम्पूर्ण (जगत्)।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=इदम्=यह।

ततम्=√तन् (तना० उभ० सक०=फैलना)+क्त=तत+(नपुं०) प्र० ए० व०=व्याप्तम्। परिपूर्ण है। फैला हुआ है। व्याप्त है॥

अर्थ—परन्तु हे पार्थ (कुन्ती-पुत्र अर्जुन)! वह परम पुरुष (सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मा) तो अनन्य (एकनिष्ठ) भक्ति से प्राप्त होने योग्य है, कि जिस के भीतर सम्पूर्ण (चराचर) भूत स्थित हैं और जिस से यह सारा संसार परिपूर्ण है॥ २२॥

व्याख्या—भगवान् द्वारा बार बार अर्जुन को पार्थ नाम से सम्बोधित करने का आशय यह है कि अर्जुन तू उस पृथा का पुत्र है जो हमारी भूआ है जिस से रिश्ते में तू हमारा भाई होने से हमें अत्यन्त प्रिय है और जिस कुन्ती ने अपनी भक्ति से महर्षि को प्रसन्न करके मन चाहा वरदान पा लिया था तू भी उस का पुत्र होने से सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमात्मा को अपनी अनन्य भक्ति द्वारा पा लेगा ऐसा दृढ़ निश्चय कर ले।

जिस प्रकार इस सूक्ष्म असीम व्यापक ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण आकाश गंगाएँ और उन में भरे हुए सम्पूर्ण पिण्ड स्थित हैं इसी प्रकार यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपने सारे साज़ सामान सहित उस महा असीम अज्ञेय सच्चिदानन्द घन पर ब्रह्म परमात्मा में स्थित है। क्योंकि वह परमात्मा सब से पर है सब का आधार है। आधार आधेय से सदा महान् होता है। उस परब्रह्म परमात्मा की सीमा को तो बिना स्वयं उस के अन्य कोई जान ही नहीं सकता। जिस प्रकार आकाश सब भूतों में व्यापक है। इसी प्रकार आकाश से भी महान् पर अर्थात् जिस से परे और कुछ भी नहीं है वह प्रभु सम्पूर्ण ब्राह्मण्ड में एक रस होकर रम रहा है। यद्यपि वह परमात्मा किसी प्रकार भी जानने योग्य नहीं है। तो भी अनन्य भक्ति से उस में उसी प्रकार मिल जाना सम्भव है जिस प्रकार योगी पुरुष ध्यान योग द्वारा उस में समा कर एक रूप हो जाते हैं। वही परमेश्वर सब का कारण है वही सब में ओत प्रोत है। यदि उस में अनन्य भक्ति द्वारा अथवा योग-युक्ति द्वारा मिलने का प्रयास न किया जाय। तो नाना प्रकार की योनियों में भटकना और दुःख भोगना पड़ता है॥

श्रुति में भी कहा है :—

"यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद्।
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक—
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ९ ॥"
[श्वेता० ३।९]

[**अर्थ**—जिस परमात्मा से पर दूसरा कुछ भी नहीं है, अर्थात् वह ही सर्वश्रेष्ठ है। जिस से अधिक सूक्षतम दूसरा और कुछ नहीं है और जिस से महान्तम दूसरा और कोई नहीं है। जो अकेला ही महान्तम वृक्ष की भान्ति निश्चल भाव से (प्रकाशमय) ब्राह्मण्ड में स्थित है। उस परम पुरुष पुरुषोत्तम से यह सारा (ब्रह्माण्ड में स्थित सब कुछ) परिपूर्ण है।]

परमात्मा प्रत्येक भूत में रम रहा है। इस लिए प्रत्येक भूत उसी का स्वरूप है। यथा श्रुति—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥"

[श्वेता० ३।१४॥ यजु० ३१।१॥,]
[ऋग्वेद १०।९०।१॥ अथर्व० १६।६।१॥]

अर्थ—वह परमपुरुष हज़ारों (अगणित) शिरों वाला, हज़ारों (अगणित) आंखों वाला, हज़ारों (अगणित) पैरों वाला है और वह समस्त विश्व को विश्वतः (सब ओर से) घेर कर नाभि से दश अंगुल ऊपर (हृदय) में स्थित है ।]

इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि ब्रह्माण्ड में स्थित सम्पूर्ण प्राणियों के शिर मिल कर उसी परम पुरुष का एक शिर बनता है । सब की आँखें मिल कर उसी एक की दो आँखें बनती हैं । सब के पैर उसी प्रभु के दो पैरों में सम्मिलित हैं । और समस्त विश्व को घेर कर वह प्रभु अपने उदर में स्थित किए हुए है इतना बड़ा होने पर भी वह सब के हृदय में स्थित है अहो ! यह कितने आश्चर्य की बात है कि सीपी में समुद्र समाया हुआ है ॥

"पुरुष एवेद ँ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥"

[श्वेता ३।१५ यजु० ३१।२॥ ऋग्वेद,]
[१०।९०।२॥ अथर्ववेद १६।६।४॥]

[**अर्थ**—(इदं सर्वम्) यह सारा जगत् (यत् भूतम्) जो अब से पहले हो चुका है । (यत् भव्यम्) जो भविष्य में होने वाला है, (यत् च) और जो (अन्नेन अतिरोहति) खाद्य पदार्थों के खाने से इस समय बढ़ रहा है, (पुरुषः (एव) परम पुरुष परमातमा ही है । (उत्) और वह ही (अमृतत्वस्य) अमृतरूप मोक्ष का (ईशानः) स्वामी है ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं प्रवक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

यत्र काले तु+अनावृत्तिम्+आवृत्तिम्+च+एव योगिनः । प्रयाताः +यान्ति तम्+कालम्+प्रवक्ष्यामि भरत+ऋषभ ! ॥

यत्र=(अव्यय) यद्+त्रल् । यस्मिन् । जिसमें ।

काले=(पुं०) कलयति आयुः, कल+णिच्+अच्+अण् । अथवा कलयति सर्वाणि भूतानि । समय । (सप्त० ए० व०)

[यहाँ काल शब्द मार्ग का वाचक है । क्योंकि श्लोक २६ में इस को शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार की गति के नाम से कहा गया है और श्लोक २७ में सृति के नाम से कहा गया है । गति और सृति दोनों

शब्द मार्ग के पर्यायवाचक हैं। तथा अग्निः, ज्योतिः और धूमः ये दो पद भी काल या समय वाचक नहीं हैं।]

तु=(अव्यय) अब।

अनावृत्तिम्=(स्त्री०) नञ् तत्पुरुष०। फिर जन्म न होना। अपुनर्जन्म को। [अन्+आ√वृत्+भावे क्तिन्] द्विती० ए० व०।

आवृत्तिम्=(स्त्री०) आ√वृत्+क्तिन्+द्विती० ए० व०=पुनर्जन्म को। (जन्म लेने के लिए संसार में) वापस लौटने को।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) (ऐसे) ही।

योगिनः=(पुं०) योगिन्+प्र० ब० व०=योगी लोग।

प्रयाताः=(पुं०) प्र√या+कर्तरि क्त+प्र० ब० व०=(मर कर) गये हुए।

यान्ति=√या (अदा० पर० सक० अ०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=जाते हैं। प्राप्त होते हैं।

तम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उस को।

कालम्=(पुं०) काल+द्विती० ए० व०=काल को। मार्ग को।

प्रवक्ष्यामि=प्र√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) कहूँगा। मैं कहता हूँ।

भरत+ऋषभ !=(पुं०) भरतेषु ऋषभः यः सः (बहुव्री०) सम्बोधन ए० व० =हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन)!

अर्थ—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ (अर्जुन)! जिस काल में (मर कर) गये हुए योगी लोग अनावृत्ति (अपुनर्जन्म=मोक्ष) को (अर्थात् वापस न लौटने वाली गति को) और ऐसे ही (जिस काल में) पुनरावृत्ति (वापस लौटने की गति अर्थात् पुनर्जन्म) को प्राप्त होते हैं। उस काल के मार्ग (युगल) को तुझ से कहूँगा॥ २३॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! तू भरत वंश में बहुत श्रेष्ठ पुरुष है जिसने मुझ भगवान् से गीता-ज्ञान प्राप्त किया है जिस से संसार का कल्याण और उद्धार हुआ है। अब मैं तेरे प्रति उन दो मार्गों का वर्णन करूँगा जिन के नाम 'देवयान' और 'पितृयाण' मार्ग हैं। देवयानमार्ग दिन के समय शुक्ल पक्ष में उत्तरायण सूर्य होने पर खुलता है यह सारा मार्ग पृथिवी से ब्रह्म लोक तक प्रकाश से परिपूर्ण या आलोकित है। अर्थात् यह मार्ग आरम्भ से अन्त तक प्रकाशमय है। ज्ञान भी प्रकाशमय है और ब्रह्म भी "ज्योतिषां

ज्योतिः" (यजु० ३४।१) तेजों का तेज है ।। इस कारण से ज्ञानी लोग तथा मृत्युकाल में ज्ञान को प्राप्त हुए लोग इसी मार्ग द्वारा देह-त्याग कर प्रयाण करते हैं उपनिषदों में इस मार्ग को अर्चिरादि मार्ग कहा गया है। अर्चि नाम ज्वाला का है जिस से इस मार्ग का प्रारम्भ होता है। इस देवयान मार्ग पर क्रमशः अग्नि, दिन शुक्ल पक्ष, और उत्तरायण, इन चार के अभिमानी देवताओं का अधिकार है और दूसरे मार्ग पितृयाण को धूम्रादि मार्ग भी कहते हैं क्योंकि उस मार्ग पर क्रमशः धूम्र, रात्रि, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन, इन चार के अभिमानी देवताओं का कण्ट्रोल है। अग्नि का देवता अग्नि में निवास करता है। दिन का देवता दिन में रहता है। शुक्ल पक्ष का देवता शुक्ल पक्ष में बसता है और उत्तरायण के देवता उत्तरी ध्रुव में निवास करते हैं जहाँ कि २१ मार्च से २२ सितम्बर तक छः मास का एक दिन होता है और २३ सितम्बर से २० मार्च तक छः मास की रात्रि होती है। इस संसार में चार प्रकार के लोग रहते हैं। १—मायाग्रस्त धर्मकर्म हीन पाप रत लोग, २—ज्ञान विहीन कर्म काण्डी पुरुष, ३—योगारूढ़ ज्ञानी लोग, ४—जीवन्मुक्त अर्थात् जिसके मन में ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का पूर्ण साक्षात्कार नित्य जागृत है। उन्हें ब्रह्म-लीन होने के लिए मर कर कहीं भी किसी मार्ग में जाना नहीं पड़ता। उन का जीवात्मा तो शरीर से बाहर नहीं निकलता, केवल प्राण ही बाहर निकलते हैं। साथ ही सूक्ष्म इन्द्रियों, मन और बुद्धि का भी निष्क्रमण हो जाता है। और उनका जीवात्मा तो तत्काल शरीर में स्थित परब्रह्म से मिल जाता है क्योंकि जीवन काल में ही उनका सम्बन्ध देह गेह आदि संसार स्थित सम्पूर्ण वस्तुओं से विच्छिन हुआ होता है उनका आत्मा जीवन भर परब्रह्म में लीन रहता है। देखने वालों को उनके शरीर से होती हुई जो क्रियाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वास्तव में उनके अन्तरात्मा से उन का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। वे तो स्वतः ही सम्पन्न होती रहती हैं। केवल इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के विषयों में वर्तती रहती हैं ।।

अगले तीनों श्लोकों में जिन योगियों का वर्णन किया गया है उन में कर्मकाण्डी और ब्रह्म-ज्ञानी (योगारूढ) दोनों प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित हैं। कर्मकाण्डी लोग जो ज्ञान विहीन हैं वे शरीर त्याग कर पितृयाण मार्ग पर प्रस्थान करके ब्रह्म लोक से नीचे के स्वर्गादि लोकों में प्रविष्ट होते हैं और वहाँ पर अपने पुण्यों का फल भोग कर पुनः जन्म लेने के लिए संसार में लौट आते हैं और अच्छे कुलों में जन्म धारण करते हैं परन्तु ज्ञानी लोग तो देवयान मार्ग पर चलते हैं।

जब मरने के बाद शरीर का दाह संसार होता है तो शरीर से अग्नि की ज्वालायें निकलती हैं। ज्ञानी का जीवात्मा उन में प्रविष्ट हो जाता है। अग्निदेवता उसे दिन के देवता को दे देता है । दिन के देवता द्वारा वह शुक्ल

पक्ष के देवता को दे दिया जाता है वहाँ से चलकर वह ज्ञानी उत्तरायण के देवताओं के पास चला जाता है या सपुर्द किया जाता है। जिस के बाद क्रमशः संवत्सर, वायुलोक, सूर्य, चन्द्रादि, स्वर्ग लोक, विद्युत, वरुणलोक इन्द्रलोक तथा प्रजापति आदि अनेक लोकों में से होता हुआ अन्त में ब्रह्म लोक में चला जाता है वहाँ से ब्रह्मा का उपदेश प्राप्त करके फिर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह देवयान मार्ग मोक्षदायक मार्ग है। परन्तु यह मोक्ष एक के बाद एक ऐसे कई सोपानों से चलते चलते अन्त में प्राप्त होता है। इस लिये इस देवयान मार्ग को 'क्रमक मुक्ति' मार्ग कहा जाता है।

इस देवयान मार्ग के सम्बन्ध में "छां० उप० ५।१०।१,२॥ में इस प्रकार लिखा है :—

"तद् य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुङ्ङेति मासा ँ स्तान् ॥ १ ॥

मासेभ्यः संवत्सर ँ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येषु देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

[**अर्थ**—वे जो इस प्रकार जानते हैं। और वे जो वन में तप और श्रद्धा से उस परब्रह्म की उपासना करते हैं। वे प्राण-प्रयाण काल के अनन्तर अर्चि मार्ग के अधिकारी देवताओं को प्राप्त होते हैं। अर्चि (ज्वाला) मार्ग के अधिकारी देवताओं से दिन मार्ग के अधिकारी देवताओं को। दिन मार्ग के अधिकारी देवताओं से शुक्ल पक्ष मार्ग के अधिकारी देवताओं को। शुक्ल पक्ष मार्ग अधिकारी देवताओं से जिन छः मासों में सूर्य उत्तर की ओर जाता है। उन उत्तरायण के छः मासों के अधिकारी देवताओं को ॥ १ ॥

उन छः मासों के अधिकारी देवताओं से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से (प्रकाश के द्वारा) चन्द्रादि स्वर्गों को, चन्द्रादि स्वर्गों से विद्युत को प्राप्त होते हैं। वहाँ एक अमानव पुरुष है, वह उन्हें ब्रह्मा (कार्य ब्रह्म, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा) तक पहुँचा देता है ॥ २ ॥]

इसी मन्त्र से मिलता जुलता एक मन्त्र "वृहद० ।६।२।१५" में इस प्रकार है।

"ते य एवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धा ँ सत्यमुपासते, तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलाकं देवलोकादादित्यमादित्याद् वैद्युतं तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परापरावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥१५॥

[अर्थ—वे जो इस प्रकार इस (पंचाग्नि विद्या) को जानते हैं। ["एवम्" शब्द से अग्नि, समिध्, धूम, ज्वाला, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग और श्रद्धादि विशिष्ट पांचों अग्नियों का निर्देश किया गया है।] तथा जो (संन्यासी या वानप्रस्थ) वन में श्रद्धा युक्त होकर सत्य (ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ) की उपासना करते हैं, वे ज्योति के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। ज्योति के अभिमानी देवताओं से दिन के अभिमानी देवता को, दिन के अभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को, और शुक्ल पक्षाभिमानी देवता से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर (गोलार्द्ध) की ओर रहकर चलता है उन छः उत्तरायण के महीनों के अभिमानी देवताओं को (प्राप्त होते हैं)। षण्मासाभिमानी देवताओं से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, और आदित्य से विद्युत सम्बन्धी देवताओं को प्राप्त होते हैं। उन वैद्युत देवताओं के पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है, वे उस ब्रह्मलोक में अनन्त संवत्सर पर्यन्त रहते हैं। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।]

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है कि ज्ञान प्रकाशमय है और परब्रह्म भी ज्योतिषां ज्योतिः है। इसलिए दाह समय ज्ञानियों के जीवात्मा का ज्योतिमय ज्वाला में मिल जाना स्वाभाविक ही है। जिस ज्योतिर्मय ज्वाला को देवयान मार्ग का प्रथम सोपान कहा जाता है। परन्तु जो ज्ञान विहीन कर्मकांडी लोग हैं। उनके जीवात्मा चिता से उठ रहे धूम्र में प्रवेश करके पितृयाण मार्ग पर चलते हैं और स्वर्गादि लोकों में पहुँचकर अपने पुण्यों के फल को भोगते हैं। उन पुण्यों के क्षीण होने पर फिर जन्म लेने के लिये धरती पर लौट आते हैं। पितृयाण मार्ग आरम्भ से लेकर अन्त पर्यन्त अन्धकार मय है कर्मकाँडी योगी देह दाह के समय पहले धूएं में प्रवेश करते हैं, फिर रात्रि के देवता को सौंपे जाते हैं रात्रि का देवता उन्हें कृष्णपक्ष के देवता को दे देता है और वहाँ से दक्षिणायण के अन्धकारमय मार्ग पर चलकर कर्मानुसार भिन्न-भिन्न स्वर्गों में चले जाते हैं जहाँ उनकी पुनरावृत्ति होती है। जैसा कि वृहदा० ६।२।१६।। में लिखा हैं :—

"अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति, ते धूममभिसंभवन्ति, धूमद्रात्रि ꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद् यान् षण्मासान् दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति, ता ꣳ स्तत्र देवा यथा सोम ꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेना ꣳ स्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत् पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद् वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति, ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते, ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान् प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्ते अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥१६॥"

[**अर्थ**—और जो यज्ञ, दान तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं, वे धूम (अभिमानी देवता) को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि (देवता) को, रात्रि से अपक्षीमाण पक्ष (कृष्णपक्षाभिमानी देवता) को, अपक्षीमाण पक्ष से जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिण (गोलार्ध) की ओर होकर जाता है, उन छः महीनों के देवताओं को, छः मास के देवताओं से पितृलोक को, और पितृलोक से चन्द्रादि स्वर्ग लोकों को प्राप्त होते हैं चन्द्रादि स्वर्ग में पहुँचकर वे (स्वर्गीय) अन्न हो जाते हैं। वहाँ जैसे ऋत्विग्गण सोम राजा को "आप्यायस्व", "अपक्षीयस्व" ऐसा कहकर (चमच में भर कर) पी या खा जाते हैं। उसी प्रफार उन्हें देवता लोग खा जाते हैं। जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं तब वे लौटकर फिर इस आकाश को ही प्राप्त हो जाते हैं। आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को, वृष्टि से पृथिवी को, पृथिवी को प्राप्त होकर वे अन्न होकर उत्पन्न होते हैं। फिर वे (अन्न) पुरुष रूपी अग्नि में हवन किए जाते हैं। उससे वे फिर लोक के प्रति उत्थान करने वाले (अर्थात् शुक्राण) होकर स्त्री रूप अग्नि में (आहुति दिए हुए) उत्पन्न होते हैं। वे इसी प्रकार पुनः पुनः परिवर्तित होते रहते हैं। और जो लोग इन दोनों (देवयान और पितृयाण) मार्गों को नहीं जानते हैं अर्थान् उन पर चलने का ढंग नहीं जानते। वे कीट पतंग और डांस-मच्छर आदि योनियों में जन्म लेते।]

इस प्रकार जीवन्मुक्त पूर्ण ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मलीन विदेह पुरुष तो मरण काल में देह के भीतर ही तत्काल परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं।

और ज्ञानी लोग ज्वाला में मिलकर देवयान मार्ग पर चल पड़ते हैं और सब प्रकाशमय सोपानों को लाँघते हुए ब्रह्मलोक में पहुँचने के बाद ब्रह्मलीन हो जाते हैं। तीसरी श्रेणी में गिने जाने वाले कर्मकांडी योगी प्राण त्यागने के बाद धूम में प्रवेश करके पितृयाण रूप अन्धकार पूर्ण मार्ग में चलकर स्वर्ग लोकों में पहुँच जाते हैं। जो लोग कुछ भी पुण्यकर्म न करके संसार में अपना समस्त जीवन पापाचरण में बिता देते हैं। वे इन दोनों में से किसी भी मार्ग से नहीं जा सकते क्योंकि उनके जीवात्मा न तो चिता की ज्वाला में प्रविष्ट होते हैं और न ही धूम में प्रवेश करते हैं। जिससे उनकी उर्ध्वगति नहीं होती वे तो श्मशान की भस्म के साथ मिलकर घास फूस के रूप में उगते हैं जिसे उनके बुरे कर्मों के अनुसार गधे, घोड़े आदि पशु, गीध, चीलादि पक्षी अथवा कीट, पतंगादि तुच्छ प्राणी भक्षण कर लेते हैं जिससे वे उनके शरीरों में शुक्राणु बनकर फिर उनके बच्चों के रूप में अधम योनियों में जन्म लेते हैं और इस पृथिवी पर नाना प्रकार के कष्ट और दुःख भोगते हैं।

यद्यपि मनुष्य को अपने कर्मानुसार शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है परन्तु यह भी एक अटल नियम है कि मरण काल में जैसे विचार होते हैं मनुष्य को वैसी ही गति प्राप्त होती है और मरण काल के विचार बहुलता से जीवन भर किए हुए कर्मों के अभ्यास पर निर्भर होते हैं। परन्तु देश, काल, परिस्थिति और मरण समय का वातावरण इन जन्म भर के विचारों को बदल भी सकता है जैसे एक पापी पुरुष मरण काल में परमपावनी श्री गंगा जी के तट पर पड़ा हो, उसके पास ही ब्रह्मज्ञानी महात्मा लोग बैठे ब्रह्मज्ञान की चर्चा कर रहे हों, प्रातःकाल का सुहावना समय हो जलवायु समशीतोष्ण हो, सूर्य निकल रहा हो तो उस पापी पुरुष को भी अवश्यमेव शुभगति प्राप्त हो सकती है। इसके विपरीत परिस्थिति में धर्मात्मा पुरुष भी अधोगति को प्राप्त हो सकता है। रात्रि के अन्धकार में मनुष्य का ज्ञान कुछ न कुछ अवश्य नष्ट हो जाता है। रस्सी भी सर्प बनकर दिखाई देने लगती है। झांड़ झंकाड़ भी चोर चकार और भूत प्रेत बनकर दृष्टि गोचर होने लगते हैं। परन्तु सूर्य की चमकती हुई धूप में ऐसी भ्रान्ति की कोई सम्भावना नहीं होती। इसलिए दिन में मरना, चाँदनी में मरना, उतरायण के सूर्य के लम्बे दिनों में मृत्यु पाना इसी कारण से श्रेष्ठ और देवयान मार्ग पर चलने वाला होता है तथा अधिक प्रकाश, ज्ञान की वृद्धि करने वाला होता है जिसकी मरण काल में अत्यन्त आवश्यकता होती है और इसके विपरीत धूएं रात, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन के अन्धकार ज्ञान के नाशक होते हैं। जिससे योगियों को पितृयाण के अन्धकारमय मार्ग में चलना पड़ता है। इसलिए योगी जनों को भगवान् के इतना समीप हो जाना चाहिए जिससे उनकी मृत्यु उनकी इच्छा के अनुसार हो सके। जैसा कि भीष्मपितामह ने अपने योग बल से अपनी इच्छा के अनुसार अपने प्राण उत्तरायण के दिनों में त्याग किए थे ॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अग्निः+ज्योतिः+अहः शुक्लः षट्+मासाः+उत्तरायणम। तत्र प्रयाताः+गच्छन्ति ब्रह्म, ब्रह्म-विदः+जनाः ॥

अग्निः=(पुं०)√अङ्ग (भ्वा० पर० सक० अक० दागना)+नि, न लोप= आग। तेज। ज्वाला। शोला। लाट ॥

ज्योतिः=ज्योतिस् (नपुं०) द्योतते द्युत्यते वा,√द्युत् (भ्वा० अ० सक० सेट०= चमकना)+इसुन्, दस्य जादेशः=ज्योति+प्र० ए० व०=ज्योतिः= प्रकाश, रौशनी।

अहः=अहन् (नपुं०) न जहाति सर्वथा परिवर्तमानत्वात् इति√हा+कनिन् (नञ् तत्पु०) ॥ अहन्+प्र० ए० व०=अहः=दिन।

शुक्लः=(वि०)√शुच् (भ्वा० पर० अक०=स्वच्छ होना। सफ़ैद होना। चमकना)+रन्, रस्य लः=शुक्ल+(पुं०) प्र० ए०+व०=शुक्लः= शुक्ल पक्ष।

षट्=(वि०) षष् (√सो+क्विप्, पृषो० साधुः)+प्र० ब० व०=षट्=छः।

मासाः=(पुं०, नपुं०)√मस् [दिवा० पर० सक०=(रूप) बदलना।]+घञ्= मास+(पुं०) प्र० ब० व०=महीने।

उत्तरायणम्=(नपुं०) उत्तर+अयन। [उत्तर=पुं० वि०) उत्तीर्यते प्रकृताभियोगोऽनेन इति, उद्√तृ+अप्।

अयन=(नपुं०)√अय् (भ्वा० आत्म० सक०=जाना)+ल्युट्=अयन+द्विती० ए० व०=मार्ग के।]

सूर्य के उत्तर के मार्ग पर चलने के।

तत्र=(अव्यय) तत्+त्रल्। तस्मिन् काले। तस्मिन् स्थाने। वहाँ। उसमें।

प्रयातः=(पुं०) प्र√या+कर्तरि क्त+प्र० ब० व०=(शरीर त्याग कर) गए हुए।

गच्छन्ति=√ गम् (भ्वा० पर० सक० जाना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०= जाते हैं। प्राप्त होते हैं।

ब्रह्म=ब्रह्मन् (नपुं०)+द्विती० ए० व०=ब्रह्म को।

ब्रह्म-विदः=ब्रह्म-विद् (बहुव्री०)+(पुं०) प्र० ब० व०=ब्रह्म को जानने वाले। ब्रह्मवेत्ता।

जनाः=(पुं०) जन्+अच्=जन+प्र० ब० व०=लोग।

अर्थ—अग्नि, प्रकाशमान्-ज्वाला, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छः मास [अर्थात् सूर्य के मार्ग के उत्तरी गोलार्द्ध के छः मास—जबकि उत्तरी ध्रुव पर छः मास का दिन होता है] (ये देवयान मार्ग के क्रमशः सोपान हैं) उस (मार्ग) में गये हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म को प्राप्त होते हैं॥ २४॥

व्याख्या—जो पुरुष दिन रात अपने शरीर को मध्य से हटा कर निरन्तर सर्वव्यापक और सर्वत्र व्यापक परब्रह्म परमेश्वर में लीन रहते हैं, वे तत्त्ववेत्ता सम्यक्दर्शी और जीवन मुक्त होते हैं वे देवयान मार्ग पर चलकर परब्रह्म तक नहीं पहुँचते, वे तो शरीर के नष्ट होने के पूर्व ही ब्रह्म से मिले हुए होते हैं। उनके सम्बन्ध में श्रुति में कहा है—"न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति" (वृह० उ० ४।४।६) "अत्रैव समवलीयन्ते" (वृह० उ० ३।२।११) "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (वृह० उ० ४।४।६)

[**अर्थ**—उस (जीवन मुक्त पुरुष) के प्राण (मरण काल में) शरीर से बाहर निकलते ही नहीं, यहाँ (शरीर के भीतर स्थित) ही (ब्रह्म में) लीन हो जाते हैं। यह (जीवनमुक्त) स्वयं ब्रह्म हुआ ही परब्रह्म की भी प्राप्ति कर लेता है।] परन्तु जो पुरुष कर्म काण्डी हैं साथ ही ब्रह्म ज्ञानी भी हैं वे उस मार्ग पर चल कर ही परब्रह्म परमात्मा तक पहुँचते हैं। जिस का नाम देवयान मार्ग है। इसी को देवमार्ग भी कहते हैं। इसी को ब्रह्म मार्ग कहते हैं। इस मार्ग का मुख्य द्वार अग्नि है। जिस प्रकार पतंगकीट स्वभाव से ही अग्नि में प्रवेश करने की रुचि रखता है। इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता पुरुष भी परमात्मा को ज्योतिस्वरूप जान कर अग्नि की ज्योति में प्रवेश करने का इच्छुक होता है। इसलिए जब उस का शरीर अग्नि में जलाया जाता है तो वह तत्काल अग्नि से निकल कर उसकी प्रकाशमयी ज्वाला में प्रवेश कर जाता है। जब यह ज्वाला बुझ जाती है तो वह ब्रह्मवेत्ता के आत्मा को लेकर दिन के प्रकाश में लीन हो जाती है दिन के अभिमानी देवता का स्वरूप, अग्नि अभिमानी देवता की अपेक्षा बहुत अधिक दिव्य प्रकाश मय है। इसी कारण से मृतक शरीर का दाह संस्कार दिन को ही किया जाता है यदि दाह-संस्कार रात्रि के घने अन्धकार में भी किया जाये। तो भी उस चिता की ज्वाला बुझ कर ब्रह्मवेत्ता के आत्मा को लेकर धरती के दिन वाले भू-भाग पर तीव्रतम गति से पहुँच जाती है धरती का कुल घेरा भूमध्य रेखा पर पच्चीस हज़ार मील है। ज्वाला या प्रकाश की गति प्रति सैकिंड एक लाख छयासी हज़ार मील है और इस ज्वाला को अधिक से अधिक यात्रा केवल २५०००/४=६२५० मील ही करनी पड़ती है। जो १/३० सैकिण्ड में ही पूरी हो जाती है। दिन का अधिकार पृथिवी पर ग़लाफ की भान्ति चढ़े हुए वायुमण्डल की ऊँचाई तक ही सीमित है। वैज्ञानिकों ने वायुमण्डल की ऊँचाई अधिक से अधिक एक हज़ार मील तक ही मानी है। यद्यपि सूर्य सदैव आकाश में देदीप्यमान रहता है परन्तु कोई वस्तु उस की किरणों को रोकने वाली न होने से वायु मण्डल के ऊपर अन्तरिक्ष में सदा घना अन्धकार छाया रहता है जो हमें नीले आस्मान के रूप में दिखाई देता है। इस हमारे वायुमण्डल के तीन खण्ड हैं १—धरती से १० मील की ऊँचाई तक परिवर्त-मण्डल। जिस में आँधियाँ चलती हैं, वर्षा बरसती है। ग्रीष्म वर्षादि षट-ऋतु परिवर्तन होता है। दिन का अधिकतम प्रकाश भी वायु के इस परिवर्त मण्डल तक ही सीमित होता है। २—प्रशान्त मण्डल। जिसकी सीमा पृथिवी से पच्चास मील तक है उस में वायु इतनी सूक्ष्म है कि उस में साँस लेना भी असम्भव है। ३—प्रशान्त मण्डल से ऊपर हवा का अयन मण्डल है। जिस में वायु अत्यन्त सूक्ष्मतम है और यह मण्डल बाहर के अन्तरिक्ष से मिला हुआ है॥

दिन का देवता ब्रह्मवेत्ता के आत्मा को ले जाकर शुक्ल पक्ष के अभिमानी देवता को सम्भाल देता है। शुक्ल पक्ष का देवता उत्तरायण के देवों को सौंप देता है उत्तरायण के देवता लोग उत्तरी ध्रुव में निवास करते हैं जहाँ कि छः मास का दिन होता है। उत्तरी ध्रुव से ध्रुव तारा चार सौ **प्रकाश-मील** ऊँचा है अर्थात् (४०० × ३६५ × २४ × ६० × ६०) × १८६०० = २,३४,६२,६७,८४,००,०००,००० मील ऊँचा है। जिस से ब्रह्मलोक का द्वार प्रारम्भ होता है ब्रह्मवेत्ता का जीवात्मा मार्ग के कई लोकों में से होता हुआ ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है फिर आगे चल कर परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है जहाँ से उस का पुनरावर्तन नहीं होता है।

अब यह प्रश्न होता है कि जब प्राण शरीर से बाहर हो गए तो फिर वे दाह संकार के समय चिता की अग्नि में कैसे पहुँच जाते हैं ?

इस प्रश्न को समझने के लिए इस दृष्टान्त पर ध्यान दीजिए—

तीन मनुष्य एक स्थान पर बड़े प्रेम से परस्पर मिल जुल कर रहते थे। उन्होंने एक कुत्ता भी पाल रक्खा था। एक बार उनको किसी कारण विशेष से वह स्थान छोड़कर सदा के लिए निष्कासित होना पड़ा, जब वे एक त्रिपथ पर पहुँचे तो वहाँ तक उनका कुत्ता भी उनके साथ ही रहा। जब वे तीनों अलग-अलग मार्ग पर चल पड़े तब कुत्ता भी अपने एक अधिक प्रिय पुरुष के पीछे चल पड़ा। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा आयु भर शरीर में निवास करता है। वह चिता तक पुष्प पर मंडराते हुए भ्रमर की भान्ति मृतक शरीर पर भ्रमण करता हुआ जाता है। और अपने सम्बन्धियों द्वारा की गई चेष्टाओं को अनुभव करता है जब शरीर को जलाया जाता है तो उसका अत्यन्त सूक्ष्म भाग ज्वाला के रूप में परिवर्तित हो जाता है जिस में ब्रह्मवेत्ता का आत्मा प्रवेश करके देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक की ओर चला जाता है। शरीर का कुछ भाग जलकर धूम में बदल जाता है ज्ञान विहीन कर्मकाण्डी पुरुष का जीवात्मा इस धूम में प्रविष्ट हो जाता है और फिर उसको पितृयाण मार्ग द्वारा अपने कर्मानुसार किसी न किसी स्वर्गलोक में जाकर जन्म धारण करना पड़ता है। और पुण्यों के क्षीण हो जाने पर पुनः संसार में लौट कर जन्म धारण करता है।

शरीर के भस्म होने के अनन्तर ज्वाला और धूम तो अन्तर्धान होकर अपने मूल स्वरूपों को प्राप्त हो जाते हैं। पीछे केवल भस्म और हड्डियाँ रह जाती हैं। भाग्य अच्छे हुए तो जीवात्मा उन हड्डियों के साथ मिलकर परम पावनी श्री गंगा जी के पवित्र नीर में प्रवेश करके शुभगति को प्राप्त हो जाता है। परन्तु अभागे पापियों के जीवात्मा तो भस्म के साथ मिलकर श्मशान

भूमि में ही रह जाते हैं और वहां से ही यम लोक में ले जाए जाते हैं। वहाँ पर कठोर और असह्य यम-यातनाओं का दण्ड पा चुकने के बाद पृथ्वी में घास और निकृष्ट प्रकार की बनस्पतियों पर लाकर फैंक दिए जाते हैं जो इन वनस्पतियों में प्रविष्ट हो जाते हैं। इन वनस्पतियों को जो पशु पक्षी या कीट पतंग खा जाते हैं। वे जीवात्मा उनके शुक्राणु बन कर उनकी अधम योनियों में जन्म लेते हैं।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिन ज्ञानियों और कर्म काण्डियों के मृतक शरीर को यद्ध-क्षेत्र में मरने अथवा किसी अन्य कारण विशेष से अग्नि में जलाया नहीं जाता उनकी गति क्या होती है ?

इसका उत्तर यह है कि उनकी गति भी उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही होती है। ज्ञानी पुरुषों के मृत्यु-काल में उनके सामने अथवा कहीं दूर समीप जहाँ भी जलती हुई अग्नि होती है उनके जीवात्मा देवयान मार्ग पर चलने के लिए उस अग्नि की ज्वाला में प्रवेश करते हैं और कर्म काण्डियों का जीवात्मा जहाँ कहीं धूआँ देखता है। उसमें दाखिल हो जाता है। तथा पापियों के जीवात्मा धरती पर जन्म धारण करने के लिए मिट्टी में मिल जाते हैं भले ही वे चिरकाल तक अपने मृतक शरीरों के इर्द-गिर्द घूमते रहें और शरीरों के खाए जाने पर माँस के साथ मिलकर चीलों, गिद्धों, जम्बुकों, कुत्तों और कौओं के उदरों में जाकर उनके शुक्राणु बन जाएं और फिर उनके बच्चे बनकर जन्म धारण कर लें। अथवा भूत प्रेत बनकर धरती पर ही रहने लगें ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥ २५ ॥

धूमः+रात्रिः+तथा कृष्णः षट्+मासाः+दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसम्+ज्योतिः+योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥

धूमः=(पुं०)√धू (भ्वा० उभ० सक०=काँपना)+मक्=धूम+प्र० ए० व०=धूमः=धूआं।

रात्रिः=(स्त्री०) राति ददाति कर्मभ्योऽवसंर निद्रादि सुखं वा,√रा+त्रिप्=रात्रि+प्र० ए० व०=रात्रिः=रात।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल्। वैसे ही। और।

कृष्णः=(पुं०)√कृष्+नक्=कृष्ण+प्र० ए० व०=कृष्णः=कृष्ण पक्ष।

षट्=(वि०) षष् (√सो+क्विप्, पृषो० साधुः)+प्र० ब० व०—षट्=छः।

मासाः=(पुं०, नपुं०)√मस् [दिवा० पर० सक०=(रूप) बदलना]

+घञ्=मास+(पुं०) प्र० ब० व०=महीने । मास ।

दक्षिणायनम्=(नपुं०) दक्षिण+अयन् ।

[दक्षिण=(पुं० वि०)√दक्ष्+इनन्=दक्षिण की दिशा ।]

सूर्य के दक्षिण गोलार्ध के चलने के ।

तत्र=(अव्यय) तत्+त्रल्=वहाँ । उस में ।

चान्द्रमसम्=चन्द्रमसि भवं=चान्द्रमसम् । चन्द्रमस्+तस्येदम् अण्=चान्द्रमस्+द्विती० ए० व०=चन्द्रमा सम्बन्धी को ।

ज्योतिः=ज्योतिस् (नपुं०)+द्विती० ए० व०=ज्योति को ।

योगी=(पुं०)=योगिन्+प्र० ए० व०=योगी ।

प्राप्य=प्र√आप्+ल्यप्=प्राप्त होकर ।

निवर्तते=नि√वृत् (भ्वा० आत्मा० अक०)+लट्० प्र० पु० ए० व०=वापस लौट आता है ॥

अर्थ—धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष, तथा दक्षिणायन के छः मास, उन में (गया हुआ कर्मकाण्डी सकाम) योगी चन्द्र-ज्योति को प्राप्त होकर (स्वर्ग में अपने कर्मों का भोग-भोग कर) फिर (पृथिवी पर जन्म धारण करने के लिए) वापस लौट आता है ॥ २५ ॥

व्याख्या—कर्मी पुरुषों के सकाम कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) अग्नि होत्रादिक कर्मों का नाम इष्ट-कर्म है । (२) वापी, कूप, तालाब, धर्मशाला निर्माण इत्यादि कर्मों का नाम पूर्त्त-कर्म है । और (३) सुपात्र को गौ, सुवर्ण, वस्त्र, अन्न और भूमि आदि देने का नाम दत्त-कर्म है ॥

जब ये सब प्रकार के कर्म स्वर्ग, धन या अपनी स्तुति या प्रसिद्धि की प्राप्ति को मुख्य रख कर किए जाते हैं तो मरने के बाद पितृयान मार्ग पर ले जाने का कारण बन जाते हैं जिस मार्ग का मुख्य-द्वार धूम है । इस मार्ग पर चलने के लिए सब से पहले जीवात्मा धूम में प्रवेश करता है । धूम का अभिमानी देवता उसे रात्रि के देवता को सौंप देता है, रात्रि का देवता कृष्ण पक्ष के देवता को और कृष्ण पक्ष का देवता दक्षिणायण के देवताओं को सम्भाल देता है । दक्षिण ध्रुप पर पहुँच जाने पर फिर उत्तरी ध्रुव से विपरीत दिशा में चलता हुआ यह जीवात्मा बहुत दूर के आकाशों में चला जाता है और कर्मानुसार किसी न किसी स्वर्ग लोक में पहुँच कर देवताओं द्वारा अमृत रूप हुआ भक्षण किया जाता है । तथा उन देवताओं की सन्तान बन कर जन्म लेता है । यह सारा पितृयाण मार्ग अन्धकार मय है इस लिये ये सकाम कर्मकाण्डी पुरुष यहाँ से स्वर्ग तक अन्धकार में से होकर ही ले जाए जाते हैं । इन स्वर्ग लोकों में प्रकाश प्राय: चन्द्रमाओं द्वारा ही होता है । जैसे हमारी पृथिवी का एक

चन्द्रमा है जो यहाँ से लग भग दो लाख चालीस हज़ार मील दूर है। इसी प्रकार वृहस्पति के बारह चन्द्रमा हैं जो उस के चारों ओर सदा घूमते रहते हैं और सदा वृहस्पति लोक को प्रकाशित रखते हैं। इसी प्रकार शनि के चारों ओर सात चन्द्रमा घूम रहे हैं। हमारे इस सूर्य के परिवार में कुल इकतीस चन्द्रमा हैं। इस हमारे सूर्य के अधिकार वाले अन्तरिक्ष से परे भी इस असीम अनन्त अन्तरिक्ष के अनेक भाग हैं जिन पर अन्य अनेक सूर्यों के अधिकार हैं। इसी प्रकार उन सूर्यों के परिवारों में भी अनेक चन्द्रमा हैं जो अपने समीपवर्ती लोकों को अपनी ज्योत्स्ना से आलोकित और अनुरंजित करते हैं। भिन्न-भिन्न स्वर्ग लोकों में जाकर जन्म प्राप्त किए हुए ये लोग स्वर्ग सुख भोगते हैं और वहाँ के चन्द्रमा की सुखमय ज्योति को पाकर आनन्दित और सुखी होते हैं। परन्तु यह स्वर्ग-सुख उनके लिए शाश्वत और स्थायी नहीं रहता क्योंकि उन के पुण्यों के क्षीण हो जाने पर उन को फिर उसी पितृयाण मार्ग द्वारा वापस लौट कर पृथ्वी रूप कर्म भूमि में जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

कर्मकाण्डी योगी दो प्रकार के होते हैं। १—अज्ञानी कर्मकाण्ड २—ज्ञानी कर्मकाण्डी। अज्ञानी कर्म काण्डी देवताओं के स्थूल स्वरूप की उपासना करते हैं जिस से वे अपने आराध्य देवता के स्वरूप को प्राप्त होने के लिए उसी देवता के लोक को जाते हैं। यह सब देवताओं के लोक स्वर्ग कहलाते हैं। इन देव लोकों में गए हुए योगी को किसी प्रकार का कर्म नहीं करना पड़ता। सारा जीवन भोगों को भोगने और सुखों को अनुभव करने में ही व्यतीत हो जाता है। और पुण्यों के क्षीण या समाप्त हो जाने पर पुनः वापस लौट कर कर्म-प्रधान लोकों में जन्म ग्रहण करते हैं और ये सब लोग पितृयाण के अन्धकार मय मार्ग से जाते और आते हैं परन्तु ज्ञानी कर्म काण्डी इन से विपरीत प्रत्येक कर्म में केवल एक परब्रह्म को ही देखते हैं वे ज्ञानी कर्मकाण्डी लोग ही हवन यज्ञादि सारे वेदोक्त कर्म करते हैं परन्तु उन की दृष्टि में तो—

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥"

(गीता ४।२४)

अर्थात् "(यज्ञ में) अर्पण (हवन करने की क्रिया) ब्रह्म है, (हवन की वस्तु) हवि ब्रह्म है। ब्रह्म (रूपी) अग्नि) में हवन करने वाला भी ब्रह्म है। (इस प्रकार) जिस की बुद्धि में (सभी) कर्म ब्रह्म मय हैं। उस को ब्रह्म ही मिलता है ॥" और ज्ञानी कर्मकाण्डी योगी को ब्रह्म की प्राप्ति केवल देवयान मार्ग पर चल कर ही होती है जो मार्ग उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशमय और देदीप्यमान होता चला गया है।

(१) रूढ़ी, (२) योगरूढ़ी और (३) यौगिक ये तीन प्रकार के शब्द

होते हैं और उनके अर्थ करने की भी ये तीन शक्तियाँ होती हैं १—अभिधा, २—लक्षणा और व्यञ्जना। उत्तम काव्य का अर्थ प्रायः व्यञ्जना शब्द शक्ति द्वारा अभिव्यञ्जित किया जाता है। इसलिए ज्ञानी कर्मकाण्डी सम्पूर्ण सन्ध्या वन्दन, हवन, यज्ञादि वेद विहित कर्मों को करते हुए शब्दों के रूढ़ी रूप को छोड़कर यौगिक रूपों को ही ग्रहण करते हैं और व्यञ्जना अर्थ शक्ति द्वारा सब स्थानों पर केवल एक परब्रह्म अर्थ ही ग्रहण करते हैं। अब कुछ उदाहरणों से इस आशय को अधिक स्पष्ट किया जाता है :—

१—"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः" इति अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।

ज्ञानी कर्मकाण्डी इसका अर्थ इस प्रकार करता है—

जिस परब्रह्म परमात्मा को न शस्त्र काट सकते हैं और न अग्नि जला सकती है। मेरे इन दोनों अंगूठों में स्थित उस परमात्मा को मेरा नमस्कार हो ॥

इसी प्रकार शेष कर न्यास और हृदयादि न्यास में भी केवल वहाँ स्थित परमात्मा को ही नमस्कार किया जाता है।

२—ॐ वाक् वाक्। ॐ प्राणः प्राणः। ॐ चक्षुः चक्षु। ॐ श्रोत्रं श्रोत्रम्। ॐ नाभिः। ॐ हृदयम्। ॐ कण्ठः। ॐ शिरः। ॐ बाहुभ्याँ यशोबलम्। ॐ करतल कर पृष्ठे।

यह इन्द्रिय स्पर्श मन्त्र है। जिस को पढ़ कर ज्ञानी कर्म काण्डी मन्त्रोक्त अपनी इन्द्रियों का स्पर्श करता है और अपने अन्तःकरण में यह दृढ़ निश्चय करता है कि (मेरा यह "बोलने की शक्ति ॐ अर्थात् परब्रह्म है। भक्षण करने की शक्ति परब्रह्म है। नासिका के दोनों रन्ध्रों में स्थित सूघने और श्वास लेने की शक्तियाँ परब्रह्म हैं। दायीं वायीं आँखों में देखने की शक्ति ॐ (परब्रह्म) है। नाभि परब्रह्म की स्थिति का स्थान है। कण्ठ परब्रह्म है। शिर परब्रह्म है। दोनों भुजाओं के लिए प्राप्त यश और बल परब्रह्म है। दोनों हाथों की हथेलियों और उनके पृष्ठ भागों में परब्रह्म परमेश्वर स्थित है। इस प्रकार मेरा सारा शरीर ब्रह्ममय है ॥"

३—ॐ भूः। ॐ भवः। ॐ स्वः। ॐ महः। ॐ जनः। ॐ तपः। ॐ सत्यम्।

अर्थ—"यह पृथिवी परब्रह्ममय है। इसके नीचे का आन्तरिक्ष में फैला हुआ लोक समूह ब्रह्ममय है। इसके ऊपर का आन्तरिक्ष में फैला हुआ लोक समूह ब्रह्ममय है। महान् प्राणी वर्ग ब्रह्ममय है। तुच्छ प्राणिवर्ग ब्रह्ममय है। तप ब्रह्म है। और सत्य ब्रह्म है। अर्थात् सब कुछ ब्रह्म रूप है ॥"

४—ॐ भू भुंवः स्व । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो योनः प्रचोदयात् ।

अर्थ—पृथिवी और उसके ऊपर नीचे चारों ओर फैले हुए सब लोक ब्रह्ममय हैं। उस सविता (प्रकाशमान) वरेण्य (ग्रहण करने योग्य) भर्ग (शुद्ध स्वरूप) देव का हम ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धियों को अपने स्वरूप में मिलने के लिए प्रेरित करे ।।

दसवें अध्याय के २२वें श्लोक में भगवान् ने कहा है कि "इन्द्रियाणाँ मनश्चास्मि" अर्थात् "मैं इन्द्रियों में मन हूँ"

भगवान् के इस वचन पर विश्वास करके यजुर्वेद अध्याय ३४ के पहले शिव संकल्प नामक छः मन्त्रों में मन का अर्थ "परब्रह्म परमात्मा" ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार सदा सर्वत्र ब्रह्म के लिए कर्म करने वाला कर्मकाण्डी योगी परब्रह्म को प्राप्त होता है जबकि अज्ञानी कर्मकाण्डी स्वर्गों में जाता है ।। २५ ।।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ।।२६।।

शुक्ल – कृष्णे गती हि+एते जगतः शाश्वते मते । एकया याति+अन्+आवृत्तिम्+अन्यया+आवर्त्तते पुनः ।।

शुक्ल – कृष्णे=शुक्ला च कृष्णा च (इतरेतर द्वन्द्व समास) प्र० द्वि० व० ।
शुक्ला=(स्त्री०, वि०) [√शुच्+रन्, रस्या लः)=शुक्ल+आ=शुक्ला] चमकीली । प्रकाश वाली । श्वेत । ज्ञान के प्रकाश वाली ।
कृष्णा=(स्त्री० वि०) [√कृष्+नक्+अच्+टाप=कृष्णा] काली । अन्धेरे से भरी हुई । ज्ञान के प्रकाश से रहित ।

गती=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+प्र० द्वि० व०=गती=दो राहें । मरणोपरान्त योगियों के जाने के दो मार्ग ।

हि=(अव्यय) निस्सन्देह । क्योंकि । ही ।

एते=एतद् (सर्वनाम +स्त्री०) प्र० द्वि० व०=एते=ये दो ।

जगतः=(नपुं०)√गम्+क्विप्, नि० द्वित्व, तुगागम=जगत्+षष्ठी० ए० व०=जगतः=जगत् की ।

शाश्वते=(स्त्री०, वि०) √शश् (भ्वा० पर० सक०)+वत् (वा) शश्वत्+अन्=शाश्वत्+टाप्=शाश्वता+प्र० द्वि० व०=शाश्वते=(दोनों सदा से चली आ रहीं । सनातन ।

मते=√मन्+क्त=मत+टाप=मता (स्त्री०)+प्र०, द्वि० व०=मानी हुई हैं ।।

एकया=एक (सर्व० वि०)=√इ+कन्=एक+टाप्=(स्त्री०) एक+तृती० ए० व०=एकया=एक के द्वारा। एक से।

याति=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= याति=जाता है। प्राप्त होता है।

अन्+आवृत्तिम्=(स्त्री०) न आवृत्तिम् (नञ् तत्पु०)=न वापस लौटने को। (द्विती० ए० व०) पुनः जन्म न होने को। अपरावर्तन को। पीछे न आने वाली परम गति को। अनावृत्ति को।

अन्यया=(स्त्री० वि०) अन्य+टाप्=अन्या=तृती० ए० व०=अन्यया= दूसरी द्वारा। दूसरी से।

आवर्तते=आ√वृत् (भ्वा० दिवा० आत्म० अक० सक०)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=वापस लौटता है। (अर्थात् जन्म मृत्यु के चक्र को प्राप्त होता है।)॥

पुनः=पुनर् (अव्यय)=फिर।

अर्थ—शुक्ला और कृष्णा (नाम और गुण वाली) ये दो राहें (गलियाँ, वीथियाँ) ही (कर्मकाण्डियों के मर कर जाने के लिए) जगत् की अनादि काल से मानी हुई हैं। एक (शुक्ला गति) के द्वारा (गया हुआ मनुष्य) अनावृत्ति को प्राप्त होता है (अर्थात् जाकर फिर जन्म लेने के लिए वापस लौट कर नहीं आता है), और दूसरी (कृष्णा गति द्वारा गया हुआ मनुष्य जन्म लेने के लिए संसार में पुनः लौट आता है ॥२६॥

व्याख्या—इस प्रकार शुक्ल और कृष्ण अर्थात् अर्चिरादि और धूम्र नामक, योगियों के शरीर त्यागने के बाद जाने के दो मार्ग अनादि काल से चले रहे माने हुए हैं। इनमें से पहला मार्ग उत्तरोत्तर अधिक प्रकाश वाला होता गया है और दूसरा मार्ग अन्धकारमय है। पहले मार्ग पर ज्ञानी, कर्मकाण्डी और सगुण ब्रह्म उपासक निष्काम भक्तों का गमन होता है। जो क्रमशः देव लोकों के पास से चलते हुए ब्रह्मलोक में पहुंचते हैं। जो अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष इत्यादि के अभिमानी देवताओं की सहायता प्राप्त करते हैं। ये लोग ब्रह्म लोक में पहुंच कर साक्षात् ब्रह्मा से ही उपदेश लेते हैं और फिर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं जो ब्रह्म में लीन नहीं होते वे कल्प पर्यन्त तो वहाँ अवश्य ही निवास करते हैं। और जो लोग कैवल्य-मुक्ति पा जाते हैं वे फिर कभी ब्रह्म से अलग नहीं होते। जैसे एक चुल्लू भर निर्मल जल जब किसी महान् निर्मल जल के सरोवर में गिर कर मिल जाती है तो वह चुल्लू भर जल किसी भी उपाय या रसायनिक क्रिया से सरोवर के जल से अलग नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह जल सरोवर के जल से मिलकर एक रूपता को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म में लीन हुआ जीवात्मा

किसी प्रकार पुनः ब्रह्म से अलग नहीं हो सकता है जो लोग ब्रह्मा में लीन न होकर केवल ब्रह्म लोक में निवास करते हैं। वे लोग नवीन कल्प के प्रारम्भ होने पर फिर ब्रह्मा से अलग होकर जन्म लेने के लिए कर्म-भूमि में वापस लौट आते हैं ये लोग दूध में मिले हुए जल के समान होते हैं जो कल्प पर्यन्त तो ब्रह्म रूपी दूध में मिलकर एक रूपता को प्राप्त हुए रहते हैं। परन्तु जैसे खटास मिलने से दूध से पानी अलग हो जाता जैसे ही ये लोग नवीन कल्प के प्रारम्भ होने पर ब्रह्म से अलग होकर जगत् में जन्म धारण करते हैं। परन्तु जो लोग ज्ञान हीन होकर मूढ़भाव से वेदोक्त कर्मकाण्ड करते हैं, सकाम भाव से यज्ञ हवनादि करते हैं। अपनी प्रसिद्धि और ख्याति के लिए दान पुण्य करते हैं तथा किसी विशेष साँसारिक लक्ष्य को दृष्टिगोचर रखकर परोपकार के लिए या लोक हितार्थ कार्य करते हैं। वे लोग मर कर दक्षिणायन मार्ग पर चलाए जाते हैं जिस मार्ग में क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायण के अभिमानी देवताओं का अधिकार है। यह सारा मार्ग आदि से अन्त पर्यन्त घने अन्धकार से ढका हुआ या परिपूर्ण है इस मार्ग पर गए हुए लोग अपने-अपने कर्मानुसार स्वर्गों में ले जाए जाते हैं। जहाँ पर वे देवताओं के भोजन के रूप में स्वर्ग भूमि में उत्पन्न होते हैं और वे अन्न देवताओं से खाए जाने पर अन्त में देव-सन्तानों के रूप में उत्पन्न होते हैं। अपने पुण्य के अनुसार भोगों को भोगते रहते हैं जब उनके पुण्य समाप्त हो जाते हैं तो वे लोग जन्म लेने के लिए पुनः कर्मभूमि पृथिवी पर वापस लौट आते हैं और पृथिवी में अन्नों के रूप में उत्पन्न होते हैं और वे अन्न जब भाग्यवान् धर्मात्मा पुरुषों द्वारा खाए जाते हैं तो उनके शरीरों में शुक्र का रूप धारण कर लेते हैं और फिर शुक्राणु के रूप में माता के उदर में प्रविष्ट होकर किसी स्त्री-अण्डे से मेल पाकर भ्रूण बन जाते हैं। जो फिर शिशु के रूप में जन्म लेते हैं ॥

पापी पुरुष तो न शुक्ल मार्ग द्वारा ब्रह्म लोक को जाते हैं न कृष्ण मार्ग द्वारा स्वर्गों में जा सकते हैं ॥ वे तो अपने पापों का फल भोगने के लिए पहले तो यमदूतों के डण्डे और जूते खाते हैं फिर घोर कुम्भी, रौरव आदि नरक यातनाओं को सहते हैं और अनुभव करते हैं अन्त में पशु पक्षी कीट पतङ्गादि तुच्छ और निकृष्ट योनियों में जन्म लेते हैं और सदा जन्म मरण के चक्र में फंसे रहते हैं ॥

शुक्ल-कृष्ण नाम के दोनों मार्ग अनादि माने जाते हैं इससे यह अभिप्राय कदापि नहीं है। कि वे नित्य रहने वाले या अविनाशी भी हैं। वे दोनों भी इस जगत् की भान्ति अनादि काल से तो चले आ रहे हैं। परन्तु जैसे यह जगत् नाशवान् है वैसे ही ये दोनों मार्ग भी नाशवान हैं। इनमें से शुक्ल पक्ष

तो ज्ञान का प्रकाशक है परन्तु कृष्ण पक्ष तो ज्ञान का प्रकाशक नहीं है। पिछले श्लोक की व्याख्या में यह बात पहले कही जा चुकी है कि सगुण ब्रह्म के ज्ञानी उपासकों का अन्त्येष्टि संस्कार अर्थात् दाह कर्म चाहे किया जाए चाहे न भी किया जाए। चाहे उन्हें नमक डालकर मिट्टी में दबा दिया जाए चाहे उनकी देह को दूध दही चीनी लगाकर किसी ऊँचे स्थान पर रखकर चील कौओं या गिद्धों का भोजन बना दिया जाये चाहे खाने के लिए कुत्तों के आगे डाल दिया जाए चाहे पानी में बहा दिया जाए। चाहे उस शव की किसी और भान्ति दुर्दशा की जाए, परन्तु उस में से निकला हुआ जीवात्मा संसार में किसी जगह जलती हुई अग्नि में शीघ्रातिशीघ्र अवश्य ही प्रविष्ट होकर देवयान मार्ग पर चलने लगता है और अन्त में ब्रह्म लोक में पहुँच जाता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष का दिन या रात में मरना, शुक्लपक्ष या कृष्ण पक्ष में मृत्यु ग्रस्त होना, उत्तरायण या दक्षिणायण में शरीर त्याग करना उसके शुक्ल मार्ग पर चलने के लिए कोई सहायक या बाधक नहीं बनता है। वह तो अपने शुभ कर्मों और ज्ञान के बल से ही देवयान मार्ग का अधिकारी बन जाता है। और ब्रह्म लोक को प्राप्त होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है ॥२६॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

न+एते सृती पार्थ ! जानन्+योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात्+सर्वेषु कालेषु योग-युक्तः+भव+अर्जुन ! ॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

एते=एतद् (सर्वनाम)+(स्त्री०) द्विती० द्वि० व०=इन दोनों को।

सृती=(स्त्री०)√सृ+क्तिन्=सृति+द्विती० द्वि० व०=दोनों राहों को। दोनों गतियों को। दोनों वीथियों को। (शुक्ल कृष्ण दोनों) मार्गों को।

पार्थ !=(पुं०) पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण्+सम्बोधन ए० व०=हे पृथा-पुत्र !। हे अर्जुन !।

जानन्=√ज्ञा (क्रया० पर० सक०=जानना)+शतृ=जानत्+(पुं०) प्र० ए० व०=(तत्त्व से) जानता हुआ।

योगी=(पुं०) योगिन्+प्र० ए० व०=योगी। परमात्मा की प्राप्ति के लिए चेष्टा करने वाला। योगी पुरुष—कर्मयोगी, ध्यान योगी, भक्तियोगी और ज्ञान योगी इत्यादि सब लोग "योगी" संज्ञक होते हैं।

मुह्यति=√मुह् (दिवा० पर० अक० सक०=मोहित होना। भूलना।

बेहोश होना। मूर्छित होना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=मोहित होता है। मोह को प्राप्त होता है। परमात्मा को भूलता है।

कश्चन=किम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=कः+चन=कश्चन=कोई (भी)।

तस्मात्=तद् (सर्व० अव्यय)+(पुं० नपुं०) पंच० ए० व०=(उस) (कारण) से। इसलिये।

सर्वेषु=सर्व (सर्व)+(पुं०, नपुं०) सप्त० ब० व०=सब में।

कालेषु=(पुं० नपुं०) काल+सप्त० ब० व०=कालों में। समयों में।

योग-युक्तः=योगेन युक्तः (तृती० तत्पु०)

[योग=(पुं०)√युज्+घञ्=परमात्मा के ध्यान में लीन होने की क्रिया। युक्तः=√युज्+क्त=युक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=जुड़ा हुआ।] परमात्मा के ध्यान में जुड़ा हुआ।

भव=√भू (भ्वा० पर० अक०=होना)+लोट्० म० प० ए० व०=(तू) हो।

अर्जुन!=जो शुक्ल स्वच्छ-शुद्ध अन्तरात्मा-स्वभाव वाला हो अर्थात् पवित्र अन्तःकरण वाला हो उसका नाम 'अर्जुन' है। (पुं०) सम्बो० ए० व० =हे अर्जुन!

अर्थ—हे पार्थ! इन दोनों (शुक्ला और कृष्णा सृतियों (मार्गों) को जानता हुआ कोई भी योगी (ध्यान परायण पुरुष) मोह (परमात्मा की विस्मृति) को प्राप्त नहीं होता। इसलिये हे अर्जुन! अर्थात् हे शुद्धान्तः करण वाले पुरुषः) तू सब समयों में योग से युक्त (परमात्मा के ध्यान में जुड़ा हुआ) हो॥ २७॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तू पृथा पुत्र है इसलिये मातृ-संस्कारों के कारण से ही तू उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गों के रहस्य को समझने और जानने के लिए पूरी तरह से समर्थ है। अतः मेरे द्वारा इन के तत्त्व को भली भान्ति जान ले, क्योंकि यह देवयान नामक शुक्ल मार्ग तो क्रममुक्ति को प्राप्त कराने वाला है और पितृयाण नामक कृष्ण मार्ग तो पुनः संसार की ही प्राप्ति कराने वाला है। इन मार्गों के तत्त्व को भली भान्ति समझ लेने के अनन्तर फिर कोई पुरुष जन्म-मरण के चक्र में डालने वाले भोगों में आसक्त नहीं हो सकता। वह शुभ गति प्राप्त करने के लिये सदैव प्रभु-ध्यान में ही निमग्न रहता है। क्योंकि जान बूझ कर कोई ज्ञानी पुरुष अग्नि में हाथ नहीं डाल सकता और न ही विष भक्षण कर सकता है। इन सांसारिक विषय भोगों में आसक्त और आलिप्त होना अग्नि में गिर कर दग्ध होने के तुल्य है अथवा हलाहल विष भक्षण करके सर्वनाश कर लेने के समान है। इस लिए

तेरे लिए सब से उत्तम बात तो यह है कि तू देह धारण किए रहने की अवस्था में ही ब्रह्म रूप हो जा। जिस से तू विदेह पदवी को प्राप्त हो जायेगा और तेरे लिए इस शरीर का नाम-ग्राम ही मिट जाएगा। जिस से फिर तुम्हें देवयान और पितृयाण मार्गों में से किसी पर जाने की भी आवश्यकता न रहेगी। विदेह पुरुष तो अपनी धारणा के अभ्यास रूप अनन्य भक्ति और अनन्य उपासना के बल से इसी जन्म में आत्मा के, ब्रह्म लीन होने से भी, पहले ही मुक्त हो जाता है। इस लिए मनुष्य को उन दोनों मार्गों को अच्छी तरह समझ कर सदा सर्वत्र सब समयों में योग-युक्त अर्थात् ब्रह्मानन्द समाधि में लीन रहना चाहिए परन्तु यह अवस्था अपार प्रभु कृपा से प्राप्त होती है। यदि किसी कारण विशेष-रोग, आलस्य, पूर्व कर्मों की हीनता आदि से ऐसा करना असम्भव हो तो फिर निष्काम होकर सगुण ब्रह्म की उपासना द्वारा देवयान प्रकाशमय मार्ग पर जाने के लिए अवश्य ऊद्यम करना चाहिए। क्योंकि इसी में कल्याण है और इसी से स्थायी सुख की प्राप्ति होती है तथा संसार के आवागमन से बच कर मोक्ष पद की उपलब्धि होती है ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपः सु च+एव दानेषु यत्+पुण्य-फलम्+प्रदिटिष्म्। अति+एति तत्+सर्वम्+इदम्+विदित्वा योगी परम्+स्थानम्+उप+एति च+आद्यम् ॥

वेदेषु=(पुं०)√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+घञ् वा अच्=वेद +सप्त० ब० व०=वेदेषु=चारों वेदों (के भली भान्ति पढ़ने) में।

यज्ञेषु=(पुं०) इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा,√यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना)+नङ्=यज्ञ+सप्त० ब० व०=यज्ञेषु =यज्ञों (के विधि-पूर्वक अनुष्ठान करने) में।

तपः सु=(नपुं०)√तप् (भ्वा० पर० अक०=तपना)+असुन=तपस्+सप्त० ब० व०=तपः सु=(शास्त्रोक्त) तपों (के तपने) में।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) ही। ऐसे ही।

दानेषु=(नपुं०)√दा (जुहो० उभ० सक०=देना)+ल्युट्=दान+सप्त० ब० व०=दानेषु=(दीन, दुःखियों रोगियों और सुपात्रों को) दानों (के देने) में।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

पुण्य-फलम्=पुण्यस्य फलम् (षष्ठी० तत्पु०)=पुण्य का स्वर्गादिक फल।

[पुण्य=(नपुं०) पूयते अनेन, √पू+यत्, णुगागम, ह्रस्व=पुण्य। फलम्=(नपुं०) फल+प्र० ए० व०=फल]

प्रदिष्टम्=प्र√दिश्+क्त=प्रदिष्ट+(नपुं०) प्र० ए० व०=बतलाया गया है।

अत्येति=अति√इ (भ्वा० पर० सक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=अत्येति=अतीत्य गच्छति=लांघ जाता है। उल्लंघन कर जाता है। अतिक्रमण कर जाता है।

तत्=तद् (सर्वनाम+(नपुं०) द्वितीo ए० व०=उस को।

सर्वम्=सर्व (सर्व०)+(नपुं०) द्वितीo ए० व०=सब प्रकार के पुण्यों के फल समूह को।

इदम्=इदम् (सर्वनाम)+(नपुं०) द्वितीo ए० व०=इस (पूर्व कहे गये ब्रह्म प्राप्ति के रहस्य) को।

विदित्वा=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+क्त्वा=जान कर।

योगी=(पुं०) योगिन्+प्र० ए० व०=निरन्तर ध्यान योग में लगा हुआ पुरुष। ध्याननिष्ठ पुरुष।

परम्=(अव्यय)। (वि०) पर+द्वितीo ए० व०=श्रेष्ठ को। अति श्रेष्ठ को। सर्व श्रेष्ठ को।

स्थानम्=(नपुं०)√स्था+ल्युट्=स्थान+द्वितीo ए० व०=स्थान को।

उपैति=उप√इ (भ्वा० पर० सक०=जाना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =प्राप्त होता है।

च=(अव्यय) और।

आद्यम्=आदि+यत्=आद्य+(नपुं०) द्वितीo ए० व०=आदि को। सनातन को। कारण रूप को॥

अर्थ—वेदों के पढ़ने में, यज्ञों के करने में, तपो के तपने में, और दान आदिकों के करने में जो पुण्य फल (शास्त्रों में) कहा गया है। इस रहस्य को (तत्त्व से) जान कर योगी पुरुष उस सब (प्रकार के फल) को ही उल्लंघन कर जाता है। और परम श्रेष्ठ सनातन स्थान को प्राप्त कर लेता है॥ २८॥

व्याख्या—नियमों का पालन करते हुए, व्याकरणादि षट् अंगों सहित वेदों के पढ़ने में, गीता, उपनिषद शास्त्रों के अध्ययन करने में, श्रद्धा पूर्वक शास्त्र की विधि अनुसार यज्ञों के अनुष्ठान करने में, शास्त्रोक्त तपों को दृढ़ता पूर्वक निरन्तर तपने से, उत्तम देश काल में सुपात्र, दीन-दुःखी, अनाथ, रुग्न और विद्यार्थी आदि ज़रूरतमन्दों को दान देने में सकाम पुरुषों के लिए शास्त्रों में जो पुण्य-फल कहे गए हैं, ब्रह्म स्वरूप में निरन्तर लीन योगी देह त्याग कर

ब्रह्म में मिलने के रहस्य को जान कर उन सब फलों को पीछे छोड़ कर ब्रह्म स्वरूप में मिलने के लिए आगे बढ़ जाता है। अर्थात् स्वर्ग-सुखों को त्याग कर ब्रह्म में लीन हो जाता है। यही आदि या सनातन स्थान है और इसी को परमपद कहते हैं। इसको प्राप्त होकर फिर और किसी को प्राप्त होने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि इस परमपद या सनातन स्थान को पाकर फिर जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। जिस से सब दु:खों की हानि हो कर परम शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ २८ ॥

ॐ तत् सत् ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे, 'अक्षर-ब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्याय: ॥

इस प्रकार भगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषदों में ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योगशास्त्र विषयक, श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'अक्षर ब्रह्मयोग' नामक आठवां अध्याय है ॥

॥ शुभम् ॥

अथ नवमो अध्याय

श्री भगवानुवाच—

श्री कृष्ण भगवान् बोले—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञान सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

इदम्+तु ते गुह्यतमम्+प्रवक्ष्यामि+अनसूयवे । ज्ञानम्+विज्ञान-सहितम्+यत्+ज्ञात्वा मोक्ष्यसे+अशुभात् ॥

इदम्=(सर्वनाम) इदम्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इस को । यह ।

तु=(अव्यय) तो । अब ।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तुभ्यम् (ते)=तेरे लिए । तुझ से । तुझे ।

गुह्यतमम्=√गुह् (भ्वा० उभ० सक०=छिपाना)+क्यप्=(वि०) गुह्य+तम=गुह्यतम+(नपुं०) द्विती० ए० व०=अत्यन्त छिपाने योग्य को । अत्यन्त गोपनीयम् । गुह्य को । बहुत ही गोपनीय को ।

प्रवक्ष्यामि=प्र√वच् (अदा० पर० सक०=कहना, बोलना)+लृट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) कहूँगा । (कथयिष्यामि) ।

अनसूयवे=असूया रहिताय । नास्ति असूया यस्य (नञ् बहुव्री०) इर्ष्या या डाह से रहित । न असूयवे=(नञ्० तत्पु० ईर्ष्या या डाह से रहित के लिए । अन्+√अस् (कण्ड्वा उभ० सक०=डाह या ईर्ष्या करना)+यक्+उ] अन् असूयु (पुं०)+चतु० ए० व०=अनसूयवे=ईर्ष्या या डाह न करने वाले के लिए । दोष दृष्टि से रहित भक्त के लिए ।

ज्ञानम्=(नपुं०)√ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान+द्विती० ए० व०=ज्ञानम्=ज्ञान को ।

विज्ञान-सहितम्=विज्ञानेन सहितम् (तृती० तत्पु०) नपुं०) दिवा० ए० व० =विज्ञान के सहित को ।

यत्=यद् (सर्व०)+द्विती० ए० व० (नपुं०)=जिस को ।

ज्ञात्वा=√ज्ञा (क्रिया० पर० सक०=जानना)+क्त्वा=जान कर ।

मोक्ष्यसे=√मुच् (तुदा० उभ० सक०=छूटना, छोड़ना)+लृट्० म० पु०, एक व०=(तू) छूट जायेगा। (तू) मुक्त हो जायेगा।

अशुभात्=(नञ् बहुव्री०) अशुभ+(पुं०) ए० व०। अशुभ से। संसार रूप बन्धन से।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—अब मैं तुझ दोष-दृष्टि से रहित (पुरुष) के लिए इस अत्यन्त गोपनीय ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा। जिस को जान कर तू अशुभ अर्थात् संसार रूप बन्धन से छूट जाएगा॥ १॥

व्याख्या—आठवें अध्याय में 'सुषुम्णा नाड़ी द्वारा योग' का अंगों सहित वर्णन किया गया है। जिस में हृदय कण्ठ और भ्रुवों के मध्य स्थानों में प्राणों को उत्तरोत्तर धारण किया जाता है और सर्व-इन्द्रिय—द्वारों का संयमन भी किया जाता है। इस योग के द्वारा अपनी इच्छानुसार अपने प्राणों का उत्क्रमण होता है। तथा अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में जाया जाता है। जहाँ पर ब्रह्मा के उपदेश द्वारा पर-ब्रह्म में लीन हो जाने से अशुभ अर्थात् संसार रूप बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। परन्तु उपरोक्त मार्ग बहुत कठिन और लम्बा है, जिस के लिए महान् परिश्रम के अनन्तर सफलता प्राप्त होती है। इस लिए इस नवें अध्याय के इस पहले श्लोक में भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन! तू दोष-दृष्टि से रहित हो चुका है। अब असूया या ईर्ष्या तुझ में तनिक मात्र भी नहीं रही है। इस से तू इस विज्ञान सहित ज्ञान को मुझ से सुनने का अधिकारी है। क्योंकि तू मुझ भगवान् के स्वरूप के रहस्य को समझ चुका है। इस से तू मेरे गुणों को देखने के योग्य हो कर दोष-दृष्टि से रहित हो गया है 'अत्रि स्मृति' में अनसूया-स्वभाव-पुरुष का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

"न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता॥"

[**अर्थ**—जो गुणियों के गुणों में कीड़े नहीं निकालता है तथा अल्प गुण वालों की भी प्रशंसा करता है और दूसरों के दोषों में रमण (प्रेम) नहीं करता है वह मनुष्य असूया रहित कहलाता है।]

भगवान् कृष्ण ने "गी० १८।६७॥" में कहा है—

"न च मां योऽभ्यसूयति ["

अर्थात् "जो पुरुष मुझ में असूया या दोषदृष्टि रखता है। उस से यह गीता ज्ञान कभी न कहना चाहिए क्योंकि वह इस ज्ञान के श्रवण करने का अधिकारी नहीं होता॥ क्योंकि यदि मन में असूया हो तो वह उपदेश कर्त्ता को ग़लत समझ लेता है जिस से लाभ के स्थान पर हानि होती है।"

निर्गुण ब्रह्म को अपने भीतर बाहर सर्वव्यापक रूप में जानने का नाम ज्ञान है और साकार रूप में इन चर्म-चक्षुओं से उस के देख लेने को विज्ञान कहते हैं। ज्ञानी सब बातों को गुरूपदेश और शास्त्रों के पढ़ने से अपने विश्वास और श्रद्धा द्वारा तत्त्व से जानता है परन्तु विज्ञानी अपने प्रयोगों द्वारा उनके सार, तत्त्व और सत्य को देख लेता है। इस लिए अब भगवान् इस अध्याय से से अपने निर्गुन रूप का वर्णन साकार स्वरूप सहित करने वाले हैं जिसका विस्तार ९, १०, ११, और १२ अध्यायों में किया गया है।

धर्म-ज्ञान गुह्य है। अपने से भिन्न अक्षर-ब्रह्म-ज्ञान और साकार ब्रह्म ज्ञान गुह्यतर है परन्तु ब्रह्म-स्वरूप में स्वयं अपने को देखने का ज्ञान गुह्यतम है। इस लिए साधक को पुरुषोत्तम के तत्त्व, प्रेम, गुण, प्रभाव विभूति और अपनी भक्ति के रहस्य को सब से छिपा कर रखना चाहिए परन्तु प्रभु-भक्तों से छिपाने की कोई बात नहीं है क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है—

"य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
॥ गी० १८।६८॥"

अर्थात् "यह परम-गुह्य-ज्ञान जो मेरे भक्तों को बतलायेगा। वह इस के फल स्वरूप मेरी परम भक्ति करके निःसन्देह मुझ को ही पाएगा।"

अब भगवान् कहते हैं हे अर्जुन! अब मैं तुम्हें उस गुह्यतम ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा। जिससे तू गूढ़ तत्त्व, अमली साधन या प्रयोग से अवगत हो जायेगा और तू भेरे उस विराट् रूप के दर्शन कर सकेगा जिस को पहले किसी ने नहीं देखा है। जब तू इस गुह्यतम ज्ञान को भली भान्ति जान लेगा तो तू बुरे कर्मों, पापों, दोषों आदि अशुभों के मूल कारण जन्म-मरण रूप संसार चक्र से सदा के लिये मुक्त हो जायेगा ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

राज-विद्या राज-गुह्यम्+पवित्रम्+इदम्+उत्तमम् । प्रत्यक्ष+अवगमम्+धर्म्यम्+सु-सुखम्+कर्त्तुम्+अव्ययम् ॥

राज-विद्या=विद्यानां राजा (षष्ठी० तत्पु०)=सब विद्याओं का राजा। राज्ञां विद्या=राजाओं की विद्या।

[अतिशय प्रकाश युक्त होने के कारण—विज्ञान सहित ज्ञान—समस्त विद्याओं का राजा है। "दीप्यते हि इयम् अतिशयेन ब्रह्मविद्या सर्वविद्यानाम्" अर्थात् "ब्रह्मविद्या सब विद्याओं में अतिशय देदीप्यमान है" यह प्रसिद्ध ही है।]

राज-गुह्यम्=गुह्यानां राजा (षष्ठी० तत्पुरुष)=सब गोपनीयों का राजा। समस्त गुप्त रखने योग्य भावों का राजा। राज्ञां गुह्यम्=राजाओं का गुह्य।

पवित्रम्=(वि०)√पू (भ्वा० आत्म०, क्रिया० उभ० सक०=पवित्र करना) +इत्र=पवित्र+(नपुं०) प्र० ए० व०=परम पवित्र।

इदम्=इदम् (सर्वनाम)+(नपुं०) प्र० ए० व०=इदम्=यह (विज्ञान सहित ज्ञान)।

उत्तमम्=(वि०) वेद्+तमप्=उत्तम+(नपुं०) प्र० ए० व०=उत्तमम् =उत्तम। सर्वोत्कृष्ट। अत्युत्तम।

प्रत्यक्ष-अवगमम्=प्रत्यक्षेण (सुखादेः इव अवगमो यस्य तत् (बहुव्री०) =(सुख आदि की भान्ति) जिस का प्रत्यक्ष अनुभव हो सके, वह (है)। प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाला। प्रत्यक्ष-फल-स्वरूप। प्रत्यक्ष जाना जाने वाला। प्रत्यक्ष बोध देने वाला।

[प्रत्यक्ष=(वि०) प्रतिगतम् अक्षि इन्द्रियं यत्र, समासे अच् वा प्रत्यक्षम् अस्ति अस्य=जो आंख के सामने हो। नयन-गोचर। इन्द्रिय-गोचर।

अवगमम्=(नपुं०) अव√गम्+घञ्=अवगम+-प्र० ए० व०= अवगमम्=समीप जाने योग्य। समझने योग्य।]

धर्म्यम्=धर्माद् अनपेतम्। धर्म (धरति लोकान्, ध्रियते पुन्यात्मभिः इति वा, √धृ+मन्)+यन्=धर्म्य+(नपुं०) प्र०, ए० व०=धर्म से युक्त।

कर्तुम्=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+तुमुन्=(साधन या अनुष्ठान) करने के लिए।

सु-सुखम्=(नपुं०) सु (उपसर्ग)+सुख+प्र० ए० व०=बहुत ही सुगम। बड़ा सहज। बहुत ही आसान।

अव्ययम्=(वि०) वि√इण्+अच् (नञ् बहुव्री०) अपरिवर्तनशील। सदा एक रस रहने वाला। अक्षय। अविनाशी।

अर्थ—यह (विज्ञान सहित ब्रह्मविद्या ज्ञान) सम्पूर्ण विद्याओं का राजा है, समस्त गुप्त रखने योग्य भावों का राजा है, अत्यन्त पवित्र है, अत्युत्तम है; प्रत्यक्ष जाना, जाने वाला है; धर्म से युक्त है; साधन या अनुष्ठान करने के लिए ही सुगम है। और अविनाशी है॥ २॥

व्याख्या—विदन्ति (=इस के द्वारा जानते हैं) अनया इति विद्या, √विद्+क्यप्+टाप्=विद्या। ज्ञान। विज्ञान। विद्या दो प्रकार की है।

पहली विद्या का नाम 'परा' हैं। दूसरी का नाम 'अपरा' है। किसी-किसी शास्त्रकार के मतानुसार विद्या के चार प्रकार है। यथा--

"आन्वीक्षिकी (खोज करने वाली), त्रयी, (वेदों की), वार्ता (कृषि वाणिज्य शिल्पादि सम्बधिनी) दण्डनीतिश्च शाश्वती।" मनु के मत में इन से अतिरिक्त एक और पाँचवीं विद्या "आत्म-विद्या भी है। किसी के मत में इस संसार में १८ विद्याएँ हैं और किसी-किसी के मत में ६४ विद्याएँ हैं। परन्तु भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! इन सब विद्याओं में आत्म-विद्या ही सब की राजा है सब की शिरोमणि है। प्रकाशयुक्त है। अतिशय देदीप्यमान है। समस्त विद्याओं में महाश्रेष्ठ है। यह महा पुरुषों की विद्या है जनकादि राजाओं की विद्या है। याज्ञवल्क्य आदि परमज्ञानी महर्षियों की विद्या है। ईश्वर-प्राप्ति के साधनों को उपनिषदों में ब्रह्म-विद्या कहा है। इस विद्या की परम्परा आदि काल में स्वयं भगवान् से प्रारम्भ हुई थी। यह ज्ञान भगवान् ने विवस्वान् से कहा था। उन्हों ने मनु से, और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त राजर्षियों का जाना हुआ है। (गी० ४।१,२) इस प्रकार यह ब्रह्मज्ञान, राज-विद्या अर्थात् राजाओं की विद्या है अर्थात् जो लोग मन के शाहनशाह या महानुभाव हैं। यह उन की विद्या है और साधक का मिलाप ब्रह्म से कराने वाली है। तथा यह ब्रह्मज्ञान समस्त गुप्त रखने योग्य भावों का राजा है। यह विद्या गुप्त रखी जाती है। कहा है कि भक्ति-मार्ग अर्थात् व्यक्त की उपासना अत्यन्त श्रेष्ठ विद्या है। यह ज्ञान सम्पूर्ण अविद्या का नाश करने वाला है। इस से भिन्न शेष कोई विद्या ऐसा करने में समर्थ नहीं है। लोक शास्त्र में जितने भी गुह्य पदार्थ हैं। यह ब्रह्म-विद्या' उन सब गुह्य पदार्थों की राणी ही नहीं है अपितु साक्षात् राजा है इन्द्रा नहीं, इन्दिरा है। क्योंकि यह आत्मज्ञान अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान अनेक जन्मों में किए हुए निष्काम पुण्य कर्मों के फल स्वरूप ही प्राप्त होता है। जो पुरुष इन पूर्व जन्मों के पुण्य कर्मों से रहित हैं वे स्वबुद्धि के बल से अनेक गुह्य पदार्थों को जानते हुए भी इस परम गुह्य भावों के राजा ब्रह्म ज्ञान से अवगत नहीं होते हैं। फिर इस आत्म ज्ञान को न जानने से सदा भव सागर में ही गोते खाते रहते हैं। वे जान भी कैसे सकते हैं? क्योंकि यह ब्रह्म ज्ञान या आत्म ज्ञान शेष सब गुह्य पदार्थों से अत्यन्त गुह्यतम है। बाज़ार में बिकता नहीं है। लाखों में कोई एक ही इसे जानता है। और यह बहुत पवित्र और महा उत्तम भी है अर्थात् सम्पूर्ण पवित्र करने वालों को पवित्र करने वाला यह ब्रह्म ज्ञान सब से श्रेष्ठ है। यह ज्ञान अनेक जन्मों में एकत्रित हुए पुण्य-पापादि कर्मों को क्षणमात्र में समूल भस्म कर देता है। जो उस की पवित्रता का एक बड़ा प्रमाण है। धर्म शास्त्र में वर्णित सब प्रायश्चित केवल एक-एक पाप की ही निवृति कर सकते हैं। परन्तु यह ब्रह्म ज्ञान रूपी गंगाजल सम्पूर्ण पाप पुण्य रूपी काले गोरे रंगों को धो डालता है।

जिस से इस की पपित्रता की कोई सीमा ही नहीं है। यह ब्रह्म ज्ञान मन की सब अच्छी बुरी वासनाओं को सदा के लिए शान्त कर देता है। जिस से पुनर्जन्म की सदा के लिए निवृत्ति हो जाती है। इस कारण से यह ब्रह्म ज्ञान सर्वोत्कृष्ट विद्या है। और सब से उत्तम और पवित्र है। और यह आत्मज्ञान अपने स्वरूप और फल से प्रत्यक्ष है। अर्थात् प्रकट हो जाना जाने वाला है तथा प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाला है। सुख आदि की भान्ति इस का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। जिस के द्वारा कोई वस्तु जानी जाए उस का नाम 'अवगम' होता है। तथा अधिकारी पुरुष को जो प्राप्त होता है उस का नाम अवगम है इस प्रकार अवगम शब्द यहाँ फल का वाचक है। साधक पुरुष ज्यों ज्यों इस ब्रह्म ज्ञान में परिपक्व और परिपूर्ण होता जाता है। त्यों-त्यो ही उसके दुर्गुणों, दुराचारों और दु:खों का शाश होता जाता है और उसे परम शान्ति और परम सुख का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। और कुछ काल के अनन्तर ही परमातमा की प्राप्त हो जाती है। इसलिये इस ज्ञान को "प्रत्यक्षावगमम्" कहा गया है।

यह ब्रह्म ज्ञान धर्म से भी युक्त है। कई बार ऐसा होता है कि कोई विद्या आजीविका और मान प्रतिष्ठा के लिए तो परम लाभकारी होती है परन्तु वह धर्मानुकूल नहीं होती और वह निज कर्त्तव्य के भी विरुद्ध होती है। वैसे यह ज्ञान स्वधर्म और निजकर्त्तव्य के विरुद्ध नहीं है। बल्कि यह तो धर्मयुक्त है तथा स्वधर्मानुकूल हैं। क्योंकि परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला है और इस के पाने के लिए हिंसा आदि किसी प्रकार का अधर्म भी नहीं करना पड़ता।

यह ब्रह्म ज्ञान साधन या अनुष्ठान करने के लिए भी कठिन नहीं है। क्योंकि इस के प्राप्त हो जाने पर पूर्ण शान्ति का साम्राज्य हो जाता है और फिर कुछ भी करना कराना शेष नहीं रहता। और न ही किसी प्रकार का प्रयास या परिश्रम ही करना पड़ता है। सब कुछ अपने आप ही होने लगता हे, और उल्लास प्रसन्नता का हाथ पकड़ कर रास रचाने और नाचने गाने लगता है। सब प्रकार की वासनाएँ काफूर की तरह दिगन्त में विलीन हो जाती है सदा नीले पुलाट में प्रभु ही सूर्य बनकर देदीप्यमान दिखाई देने लगते हैं। और सदा प्रात: काल ही बना रहता है। तथा इस अवस्था में कोई परिवर्तन फिर कभी नहीं होता। इस आत्मज्ञान के मोक्षरूप फल का कभी नाश नहीं होता। इसलिए यह आत्म ज्ञान अव्यय है। अर्थात् मोक्ष रूप अक्षय फल वाला है। और फल प्राप्ति के बाद भी यह ज्ञान तनिक घटता बढ़ता नहीं है। शेष अग्नि होत्रादिक समस्त कर्म महान् आयास करके साध्य होते हैं। ऐसा होने पर भी उन का फल स्वर्ग प्राप्ति रूप नाशवान् होता है। ज्ञान के फल मोक्ष

की भान्ति अटल और अव्यय नहीं होता। जैसा कि श्रुति में कहा है—

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा ऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ यएतदक्षरं गार्गि ! विदित्वा ऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः॥"

[बृहदा० अ० ३। ब्रा० ९। मं० १०]

[**अर्थ**—हे गार्गि ! जो कोई इस लोक में अक्षर पर ब्रह्म (निराकार वा साकार परमेश्वर) को न जान कर हवन करता, यज्ञ करता और अनेकों सहस्र वर्षों तक तप करता है उस का वह सब कर्म अन्तवत् ही होता है।

हे गार्गी ! कोई भी इस अक्षर (सम्बन्धि ब्रह्म ज्ञान) को बिना जाने इस लोक से मर कर जाता है। वह कृपण (बेचारा तरस करने योग्य) है।

और हे गार्गि ! जो इस अक्षर को जान कर इस लोक से मर कर जाता है वह ब्राह्मण अर्थात् परब्रह्म को प्राप्त होकर उस में मिल कर एक रूप होने वाला है ।]

इसलिए यह वक्ष्यमाण विज्ञान सर्व श्रेष्ठ और अनुपम है ॥

इस ब्रह्म-ज्ञान को जो पुरुष प्राप्त कर लेता है वह ब्रह्म-ज्ञानी कहलाता है। उस के सम्बन्ध में श्री गुरु अर्जुन देव जी सुखमणि साहिब की आठवीं अष्टपदी में कहते हैं—

ब्रह्मज्ञानी सदा निर्लेप। जैसे जल महँ कमल अलेप ॥
ब्रह्मज्ञानी सदा निर्दोष। जैसे सूर सर्व को सोष ॥
ब्रह्मज्ञानी कै दृष्टि समान। जैसे राज-रंक को लागे तुल्य पवान ॥
ब्रह्मज्ञानी के धीर्य एक। जिमि वसुधा कोउ खोदे, कोउ चन्दनलेप ॥
ब्रह्मज्ञानी का इहै गुणाउ। नानक जिमि पावक का सहज सभाउ॥ १ ॥
ब्रह्मज्ञानी निर्मल ते निर्मला। जैसे मैल न लागे जला ॥
ब्रह्मज्ञानी कै मनि होइ प्रगासु। जैसे धर ऊपरि आकासु ॥
ब्रह्मज्ञानी कै मित्र शत्रु समान। ब्रह्मज्ञानी के नाही अभिमान ॥
ब्रह्मज्ञानी ऊच से ऊचा। मनि अपने है सभ ते नीचा ॥
ब्रह्मज्ञानी से जन भए। नानक जिन प्रभु आपि करेई ॥ २ ॥
ब्रह्मज्ञानी सगल की रीना। आत्म रस ब्रह्मज्ञानी चीना ॥
ब्रह्मज्ञानी की सभ ऊपरि मइआ। ब्रह्मज्ञानी ते कुछ बुरा न भइआ ॥
ब्रह्मज्ञानी सदा समदरसी। ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि अमृत वरसी ॥
ब्रह्मज्ञानी बन्धन ते मुकता। ब्रह्मज्ञानी की निर्मल जुगता ॥
ब्रह्मज्ञानी का भोजन ज्ञान। नानक ब्रह्मज्ञानी का ब्रह्म ध्यान ॥ ३ ॥

ब्रह्मज्ञानी एक ऊपरि आस । ब्रह्मज्ञानी का नहीं विनास ॥
ब्रह्मज्ञानी के गरीबी समाहा । ब्रह्मज्ञानी पर उपकार उमाहा ॥
ब्रह्मज्ञानी कै नाही धंधा । ब्रह्मज्ञानी ले धावत बंधा ॥
ब्रह्मज्ञानी कै होइ सुभला । ब्रह्मज्ञानी सु-फल फला ॥
ब्रह्मज्ञानी संगि सगल उधार । नान ब्रह्मज्ञानी जपै सगल संसार ॥ ४ ॥
ब्रह्मज्ञानी कै एकै रंग । ब्रह्मज्ञानी कै बसे प्रभु संग ॥
ब्रह्मज्ञानी के नामु आधार । ब्रह्मज्ञानी कैं नामु परिवार ॥
ब्रह्मज्ञानी सदा सद जागत । ब्रह्मज्ञानी अहं बुद्धि त्यागत ॥
ब्रह्मज्ञानी के मनि परमानन्द । ब्रह्मज्ञानी कै घरि सदा आनन्द ॥
ब्रह्मज्ञानी सुख सहज निवास । नानक ब्रह्मज्ञानी का नहीं विनास ॥ ५ ॥
ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म का वेत्ता । ब्रह्मज्ञानी एक संगि हेता ॥
ब्रह्मज्ञानी कै होइ अचिंत । ब्रह्मज्ञानी का निर्मल मंत ॥
ब्रह्मज्ञानी जिसु करै, प्रभु आपि । ब्रह्मज्ञानी का बड प्रताप ॥
ब्रह्मज्ञानी का दरसु बडभागी पाइऐ । ब्रह्मज्ञानी कउ बलि बलि जाइऐ ॥
ब्रह्मज्ञानी कउ खोजहि महेसुर । नानक ब्रह्मज्ञानी आपि परमेसुर ॥ ६ ॥
ब्रह्मज्ञानी की कीमति नाहि । ब्रह्मज्ञानी कै सगल मन माहि ॥
ब्रह्मज्ञानी का कउ न जानै भेद । ब्रह्मज्ञानी को सदा अदेस ॥
ब्रह्मज्ञानी का कथिया न जाइ अधाख्यर । ब्रह्मज्ञानी सर्व का ठाकुर ॥
ब्रह्मज्ञानी की मिति कौन वखानै । ब्रह्मज्ञानी की गति ब्रह्मज्ञानी जानै ॥
ब्रह्मज्ञानी का अन्त न पार । नानक ब्रह्मज्ञानी को सदा नमस्कार ॥ ७ ॥
ब्रह्मज्ञानी सब सृष्टि का करता । ब्रह्मज्ञानी सद जीवै नहीं मरता ॥
ब्रह्मज्ञानी मुक्ति युक्ति जीअ का दाता । ब्रह्मज्ञानी पूर्ण पुरुष विधाता ॥
ब्रह्मज्ञानी अनाथ का नाथ । ब्रह्मज्ञानी का सभ ऊपरि हाथ ॥
ब्रह्मज्ञानी का सगल अकार । ब्रह्मज्ञानी आपि निरंकार ॥
ब्रह्मज्ञानी की सोभा ब्रह्मज्ञानी बनी । नानक ब्रह्मज्ञानी सर्व का धनी ॥ ८ ॥
॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसार वर्त्मनि ॥ ३ ॥

अ-श्रद्दधाना: पुरुषा:+धर्मस्य+अस्य परंतप ! । अ-प्राप्य माम्+निवर्त्तन्ते मृत्यु-संसार-वर्त्मनि ॥

अ-श्रद्दधाना:=(वि०, पुं०) श्रद्धा-विरहिता: (आत्म ज्ञानस्य) ये ते [नञ् बहुव्रीο]=आत्म ज्ञान (ब्रह्म ज्ञान) की श्रद्धा से रहित । अर्थात् आत्म ज्ञान के स्वरूप और फल में आस्तिक भाव से रहित—नास्तिक [देहमात्र को आत्मा समझने वाले, इन्द्रिय लोलुप] । श्रद्धा न रखने वाले ।

[अ-श्रत्+दधानः=न+श्रत् (अव्यय)=√श्री+डति=श्रत् (श्रद्धा) 'श्रत्' एक उपसर्ग है जो "धा" धातु [जुहो० उभ० सक०=रखना, धारण करना] के साथ व्यवहृत की जाती है।
√धा+शानच्=दधान+प्र० ब० व०=दधानः=धारण करने वाले। रखने वाले।]

पुरुषाः=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति, √पुर्+कुषण्=पुरुष+प्र० ब० व० =पुरुषाः=पुरुष। लोग।

धर्मस्य=(पुं०, नपुं०) धरति लोकान्, ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा√धृ+मन्=धर्म+षष्ठी० ए० व०=धर्म की।
[धर्म वह कर्म होता है जिस के करने से करने वाले का इस लोक में अभ्युदय हो, और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो।]

अस्य=इदम् (सर्व०)+(पुं०, नपुं०) षष्ठी ए० व०=अस्य=इस की।

परन्तप !=(वि० पुं०) परान्-शत्रून् तापयति, पर√तप+णिच्+खच्, ह्रस्व, मुम्। सम्बोधन!। ए० व०=हे शत्रुओं को ताप देने वाले! हे श्रेष्ठतप वाले!। हे जितेन्द्रिय! हे अर्जुन!॥ (बहुव्री० समास)

अ-प्राप्य=न आप्य (नञ् तत्पु०)= न पाकर। अ+प्र√आप् (चुरा०, स्वा० पर० सक०=जाना)+ल्यप्=अप्राप्य=न पा कर। न प्राप्त करके।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

निवर्तन्ते=निश्चयेन आवर्तन्ते। नि-√वृत् (भ्वा० आत्मा० अक०। दिवा० आत्म० सक०)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=लौटते हैं। घूमते या भ्रमण करते रहते हैं। निश्चय ही।

मृत्यु-संसार वर्त्मनि=मृत्यु-युक्तः संसारः=मृत्यु संसारः, तस्य वर्त्म (=नरक-तिर्यक्-आदि प्राप्ति-मार्गः) तस्मिन् (बहुव्री०)=मृत्यु युक्त संसार के मार्ग में। अर्थात् मृत्यु लोक के नरकों और कीट-पतंग तथा पशु पक्षी आदि अधम योनियों में।

अर्थ—हे श्रेष्ठ तप करने वाले जितेन्द्रिय अर्जुन! इस (विज्ञान सहित ज्ञान रूप) धर्म में श्रद्धा को न धारण करने वाले पुरुष मुझ को न पा कर मृत्यु रूप संसार मार्ग में वापस लौट आते हैं अर्थात् जन्म मरण के चक्र में भ्रमण करते रहते हैं॥ ३॥

व्याख्या—परन्तप शब्द में बहुव्रीहि समास है। जिस के तीन मुख्य अर्थ हो सकते हैं (१) हे परम (=अत्यन्त) तप करने वाले अर्जुन! (२) हे परं (इन्द्रियों रूपी शत्रुओं) को तपाने वाले अर्जुन! (३) हे परं (दुर्योधनादि शत्रुओं)

को तपाने वाले अर्जुन ! । इस श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को जो परन्तप कह कर सम्बोधित किया है उस से अभिप्राय मुख्यतया पहला और गौणतया दूसरा अर्थ है । कारण यह कि भगवान् अब निर्गुण और साकार ब्रह्म की भक्ति का वर्णन करने लगे हैं जिस के लिए अर्जुन को परम् तप करने वाला और जितेन्द्रिय होना परमावश्यक है । यहाँ इस शब्द का तीसरा अर्थ अभिप्रेत नहीं है । यदि परम् तप करने वाला भी भगवान् में श्रद्धा न रखता हो तो उसे भगवान् की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? यदि जितेन्द्रिय होते हुए भी पुरुष भगवान् में श्रद्धा से रहित हो तो भी उसे भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती । जब भगवान् की प्राप्ति ही न हो तो भगवान् में मिल जाना या मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है । बिना मोक्ष मिले अवश्य ही संसार मार्ग सम्बन्धी जन्म मृत्यु चक्र में भ्रमण करना पड़ता है । इस लिए भगवान् में पूर्ण श्रद्धा हुए बिना परम सिद्धि कदापि प्राप्त नहीं हो सकती । अब प्रश्न उठता है कि साकार भगवान् में ' श्रद्धा की जाए अथवा निराकार परब्रह्म में ? हमारे विचार में दोनों में श्रद्धा होने से काम चलेगा क्योंकि विज्ञान तो नेत्रों और अन्य इन्द्रियों द्वारा अनुभव करने का विषय है जिस की पूर्ति भगवान् ने अपना विराट् रूप दिखा कर की थी नहीं तो पहले अर्जुन कृष्ण को अपना सखा और देवकी-पुत्र ही समझता था और ज्ञान, अव्यय निराकार परब्रह्म परमेश्वर सम्बन्धी विषय है । इस लिए "विज्ञान सहित ज्ञान" कहने से यहाँ निराकार और साकार दोनों का ग्रहण है । केवल एक का नहीं । परमेश्वर में निरतिशय और निर्हेतुक प्रेम रख कर अपनी वृत्ति को तदाकार करने का भक्ति का सामान्य काम प्रत्येक मनुष्य को अपने मन से ही करना पड़ता है ।

बुद्धि नामक जो अन्तरिन्द्रिय है वह केवल भले-बुरे, धर्म अधर्म अथवा कार्य-अकार्य का निर्णय करने के सिवा और कुछ नहीं करती शेष सब मानसिक कर्म मन को ही करने पड़ते हैं और श्रद्धा भी मन में ही होती है ।

पर-ब्रह्म इन्द्रियातीत, अव्यक्त, अनन्त, निर्गुन और "एकमेवाद्वितीयम्" है । इस लिए उपासना का आरम्भ इस स्वरूप से नहीं हो सकता । निर्गुण ब्रह्म अन्तिम साध्य वस्तु है । इस लिए सगुण-ब्रह्म की उपासना करनी पड़ती है । जब उपास्य और उपासक दोनों की एकरूपता हो जाती है । तब पर-ब्रह्म से मेल होता है, उसी का नाम मोक्ष है । कहा भी है—

"अक्षरावगम-लब्धये यथा स्थूल-वर्तुल-दृषत्परिग्रहः ।
शुद्ध-बुद्ध-परिलब्धये तथा दारु-मृण्मय-शिलामयार्चनम् ।।"

[अर्थ—अक्षरों का परिचय कराने के लिए बच्चों के सामने जिस प्रकार छोटे-छोटे चपटे गोल पत्थर-कंकड़ रख कर अक्षरों का आकार समझाया जाता है और गिनती का ज्ञान कराया जाता है । उसी प्रकार नित्य शुद्ध-बुद्ध पर-ब्रह्म

का ज्ञान होने के लिए लकड़ी, मिट्टी और पत्थर आदि की मूर्ति का पूजन अर्चन किया जाता है।]

क्लेशोऽधिकतस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥'

(गी० १२।५।।)

[अर्थ—जिन का चित्त (पहले ही) अव्यक्त में लगा हुआ है उन्हें कष्ट अधिक है। (क्योंकि सगुण उपासना से पूर्व) देहधारियों द्वारा अव्यक्त गति कष्ट से ही प्राप्त की जाती है।] महात्मा गाँधी के कथनानुसार—

"देहधारी मनुष्य अमूर्त स्वरूप की केवल कल्पना ही कर सकता है। पर उस के पास अमूर्त स्वरूप के लिए एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है, इस लिए उसे निषेधात्मक "नेति" शब्द से सन्तोष करना ठहरा। इस दृष्टि से मूर्ति-पूजा का निषेध करने वाले भी सूक्ष्म रीति से विचार किया जाये तो मूर्ति-पूजक ही होते हैं। पुस्तक की पूजा करना, मन्दिर-मस्जिद में जा कर पूजा करना, ये सभी साकार पूजा के ही लक्षण हैं। तथापि साकार के उस पार निराकार अचिन्त्य स्वरूप है, इतना तो सब के समझ लेने में ही निस्तार है। भक्ति की पराकाष्ठा यह है, कि भक्त भगवान् में विलीन हो जाये अन्त में केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान् ही रह जाए। पर इस स्थिति को साकार द्वारा सुलभता से पहुँचा जा सकता है। इस लिए निराकार को सीधे पहुँचने का मार्ग कष्ट साध्य बतलाया है ॥" [अनासक्ति योग से]

अव्यक्त तक पहुँचने की सीढ़ी बुद्धि है, व्यक्त तक पहुँचने का जीना श्रद्धा और प्रेम है। दोनों पर चढ़ने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। और अनुभावात्मक ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

जैसा ज्ञान मार्ग श्रेष्ठ है, वैसा ही भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है, क्योंकि अन्तिम परिणाम दोनों का एक ही है। भक्ति का पर्यवसान या फल मुक्ति है। अर्थात् भक्ति तो केवल ज्ञान का साधन मात्र ही है। और ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर सब कर्मों को छोड़ कर ज्ञान में ही निमग्न रहने की स्थिति सिद्धावस्था कहलाती है। ज्ञान निष्ठा है और भक्ति उसकी प्राप्ति का साधन है। अव्यक्तोपासना का नाम ज्ञान-मार्ग है और व्यक्तोपासना का नाम भक्ति मार्ग है। ज्ञानी और भक्त के भगवान् का अन्तर सन्त तुका राम ने इस प्रकार बतलाया है—

"रहता है सर्वत्र ही "व्यापक" एक समान।
पर निज भक्तों के लिए छोटा है भगवान् ॥"

परन्तु फिर कहा है—

"छोटा बड़ा कहें जो कुछ हम ।
फबता है सब तुम्हें महत्तम ! ॥"

श्रद्धा रहित पुरुष चिच्चड़ के समान होता है जो गोस्तन में चिमटा हुआ भी मुक्ति रूप दुग्ध पान से वंचित रहता है। श्रद्धावान् भक्त रूप भ्रमर कमल रस पान करता है परन्तु श्रद्धाहीन अभागा दादुर कमल (भगवान्) के पास पड़ा हुआ भी पंक में लिथड़ा रहता है। बे समझ के घर में स्वर्ण मुद्राओं से भरे हुए घड़े होने पर भी वह भूखों मरता है। मूर्ख मृग श्रद्धा हीन हुआ अमृत का घूंट छोड़ कर विस्तृत मृग-तृष्णा जल की ओर भागता है। मूर्ख गले में पड़ी हुई अमोल मणि को फेंक कर सीपी की चमक दमक पर मरता है। इसी प्रकार भगवान् में श्रद्धा को न धारण करने वाला मूढ़ पुरुष भगवान् को न पाकर जन्म मरण के चक्र में फँसा रहता है ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मया ततम्+इदम्+सर्वम्+जगत्+अव्यक्त-मूर्तिना । मत्+स्थानि सर्व-भूतानि न च+अहम् तेषु+अवस्थितः ।

मया=अस्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा। मुझ से।

ततम्=√तन् (तना० उभ० सक०=फैलाना । व्याप्त होना)+क्त=तत +(नपुं०) प्र० ए० व०=व्याप्त है । फैलाया हुआ है । (चादर की तरह) फैलाया हुआ है।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह ।

सर्वम्=सर्व (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=सम्पूर्ण। सारा। सब।

जगत्=(नपुं०)√गम्+क्विप्, नि० द्वित्व, तुदागम्=चलने वाला। गमन या भ्रमण शील। पुलाड या ब्रह्माण्ड में फैला हुआ सब कुछ।

अव्यक्त-मूर्तिना=न व्यक्ता मूर्तिः (स्वरूपं) यस्य तेन (मया) [बहुव्री०] =जिस का रूप प्रत्यक्ष नहीं है [अर्थात् मन, बुद्धि और इन्द्रियों का जो विषय नहीं] उस के द्वारा।

मत्+स्थानि=मयि तिष्ठति,√स्था+क=मत्स्थ+(नपुं०) प्र० ब० व० =मत्स्थानि=मुझ में स्थित हैं।

सर्व-भूतानि=(नपुं०)=सर्वाणि भूतानि=सम्पूर्ण भूत। ब्रह्मादीनि स्तम्ब-पर्यन्तानि=ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सब कुछ।

न=(अव्यय) न। नहीं।

च=(अव्यय) और ।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं

तेषु=तद् (सर्व०)+(नपुं०) सप्त० ब० व०=उन में।

अवस्थितः=अव√स्था+कर्तरि क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=स्थित हुआ (हूँ)।

अर्थ—मुझ अव्यक्त (निराकार ब्रह्म की किसी को भी न दिखाई देने वाली) मूर्ति द्वारा यह सारा जगत् विस्तारित (फैलाया या व्यापक) किया हुआ है। (मैं असीम और महान् हूँ) सारे भूत (अर्थात् ब्रह्माण्ड में व्यापक जगत् का सब कुछ ब्रह्माण्ड सहित) मुझ में स्थित है (परन्तु मैं सर्व व्यापक होने पर भी) उन में किसी के भीतर (सिमिट कर) स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वास्तव में मैं अव्यक्त स्वरूप हूँ। अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियाँ मुझे देख और अनुभव नहीं कर सकती हैं। क्योंकि मैं इन का अविषय हूँ। ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी हमारी इस धरती सहित दिखाई देता है अथवा विद्यमान हुआ, नहीं भी दिखाई देता है इस सम्पूर्ण का नाम जगत् है। यह सम्पूर्ण जगत् मुझ अव्यक्त मूर्ति परन्ब्रह्म परमात्मा द्वारा ही विस्तारित किया गया है। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत्-रचना मेरे द्वारा ही रची हुई है। मेरी कोई सीमा ही नहीं है और न कोई अन्त है। परन्तु यह सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त स्वरूप के भीतर ही स्थित हैं। जिस प्रकार महार्णव जल राशी के भीतर अनेक मत्स्य आदि जीव जन्तु विचरते हुए दृष्टि गोचर होते हैं जिन के भीतर बाहर सब जगह जल व्यापक है। परन्तु सारा समुद्र जल किसी भी जीव के भीतर समाया हुआ नहीं है। इसी प्रकार मैं भी इन भूतों में सीमित होकर स्थित नहीं हूँ। भला असीम आधेय किसी तुच्छ आधार में कैसे समा सकता है ? और अथाह समुद्र एक छोटे से मिट्टी के कूजे (किसोरे) में कैसे समा सकता है ? इसी प्रकार मैं महान्तम असीम पर-ब्रह्म परमेश्वर भी इन सब भूतों में स्थित नहीं हो सकता हूँ। मैं ही सब जड़ चेतन जगत् का आश्रय हूँ। परन्तु इस जगत् का कोई पदार्थ मेरा आश्रय नहीं है। वास्तव में मैं अव्यक्त परब्रह्म परमात्मा ही सत्य हूँ यह जगत् तो मेरी सत्ता से ही सत्य भासमान होता है। यह संसार उसी प्रकार असत्य है जिस प्रकार स्वप्न में दिखाई देने वाला सब असत्य होता है परन्तु स्वप्न काल में सत्य ही भासमान होता है और वह केवल स्वप्न द्रष्टा के भीतर ही स्थित होता है। परन्तु स्वप्न-द्रष्टा न उस में स्थित होता है और न ही वह उस से कोई भिन्न संसार होता है। सिनेमा की रील का फीता जब प्रकाश के सामने से होकर गुज़रता है तो उस से खेल के पात्र निकल कर लट्ठे की चादर पर अभिनय करना प्रारम्भ कर देते हैं। इसी प्रकार जब स्वयं-प्रकाश अव्यक्त परमात्मा की किरणें अपनी प्रकृति पर पड़ती हैं तो सब प्रकार के प्राणी उस से प्रकट होकर संसार में जीवन का अभिनय करने लगते हैं। जब वह प्रकाश उस ओर पड़ना बन्द हो जाता है तब वे फिर उसी स्वयं प्रकाश में लय हो जाते हैं। इस संसार में भी कई शक्तियाँ ऐसी हैं जो स्वयं व्यक्त नहीं हैं परन्तु उन के कार्य व्यक्त होते हैं। जैसे विद्युत-शक्ति चलती हुई दिखाई नहीं देती परन्तु प्रकाश करने और चलते कारखानों आदि

के रूप में तत्काल अपनी सत्ता का प्रमाण देती है। इसी प्रकार (x) ऐक्स किरणें देखी नहीं जा सकती परन्तु अनेक वस्तुओं में से पार निकल जाती हैं। यही हाल अव्यक्त परब्रह्म परमात्मा का है। जो सम्पूर्ण जगत् को व्यक्त और विस्तारित करता है। सारे भूत उसी में स्थित होते हैं परन्तु वह जगत् में स्थित नहीं है। और न कहीं दिखाई देता है ।। ४ ।।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।। ५ ।।

न च मत्+स्थानि भूतानि पश्य मे योगम्+ऐश्वरम् । भूत-भृत्+न च भूतस्थः+मम+आत्मा भूत-भावनः ।।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

च=(अव्यय) और ।

मत्+स्थानि=मयि तिष्ठति, √स्था+क=मत्स्थ+(नपुं०) प्र० ब० व०=मत्स्थानि=मुझ में स्थित हैं ।

भूतानि=(नपुं०) भूत+प्र०, ब० व०=भूत ब्रह्मादि सब प्राणी और जगत् में स्थित सब कुछ ।

पश्य=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) देख ।

मे=अस्मद् (सर्वनाम)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरे ।

योगम्=(पुं०)√युज् (रुध० उभ० सक०=जोड़ना)+घञ्=योग+द्विती० ए० व०=योग को । युक्ति को । माया को ।

ऐश्वरम्=(वि०) ईश्वरस्य इमम् । ईश्वर+(तस्येदम्) अण्=ऐश्वर+(पुं०) द्विती० ए० व०=ऐश्वरम्=ईश्वरीय को ।

भूत-भृत्=(वि० पुं०)√भू+क्त=भूत=उत्पन्न हुआ (जगत् का सब कुछ भूतों का समूह ही है) । भूतानि बिभर्ति यः सः (बहुव्री०)=भूतों का भरण पोषण करने वाला ।

भृत्=√भ्वा० जुहो० उभ० सक०=भरण पोषण करना ।) क्विप्=भूतभृत् भूत-भृत्=(पुं०) भूतानि बिभर्ति (धारयति, पालयति वा) भूत√भृ+क्विप्=भूतभृत्+प्र० ए० व०=भूतभृत्=भूतों को धारण पालन पोषण करने वाला । (पुं०) प्र० ए० व० ।

च=(अव्यय) और ।

भूत-स्थः=भूतेषु तिष्ठति, √स्था+क्त=भूतस्थ+(पुं०) प्र०, ए० व०=भूतस्थः=भतों में स्थित ।

मम=अस्मद् (सर्वनाम)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा।

आत्मा=(पुं०)√अत्+मनिन्=आत्मन्+प्र०, ए० व०=आत्मा।

भूत-भावनः=(पुं०) भूतानि (पृथिव्यादीनि भावयति-जनयति), √भू+क्त= भूत--√भू+णिच्+ल्यु=भूतभावन+प्र० ए० व०=भूतभावनः।

[भूतानि भावयति (उत्पादयति, वर्धयति इति वा)=भूतभावनः]

जो भूतों को प्रकट करता है, उत्पन्न करता है। या बढ़ाता है। उसको भूतभावन कहते हैं। भूतों को उत्पन्न करने वाला।

अर्थ—और सब भूत मुझ में स्थित नहीं हैं। (तू) मेरे (इस) योग को देख [अर्थात् अच्छी तरह समझ ले]। मेरा आत्मा (=अव्यक्त स्वरूप) भूतों को धारण-पोषण करने वाला तथा उत्पन्न करने वाला है परन्तु भूतों में स्थित नहीं है ।। ५ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! वास्तव में ये सब भूत न मुझ में स्थित हैं और न मैं ही इन में स्थित हूँ। मैं तो महा योगेश्वर हूँ। जो अपने योग-बल से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसमें स्थित भूत समूह की रचना करता हूँ। इन सब की उत्पत्ति, स्थिति और धारण-पोषण मेरी योगमाया द्वारा होता रहता है। यद्यपि कुछ भी मेरे ज्ञान या जानकारी से अतीत नहीं है फिर भी मैं इस जगत् के भीतर स्थित नहीं हूँ और न यह जगत् ही मेरे भीतर स्थित है। परन्तु जो मुझे अपने भीतर या जगत् में अपने चारों ओर स्थित समझता है। उसको मैं वैसे ही भासमान होता हूँ। क्योंकि मैं सदा अपने भक्तों की मनोकामना पूरी करता हूँ तथा उनकी इच्छानुसार राम, कृष्णादि साकार स्वरूपों में जन्म लेता हुआ दिखाई देता हूँ और उनकी भक्ति, प्यार, विश्वास और प्रार्थना के अनुसार उनसे मिलता हूँ तथा भक्ति पूर्वक उन से अर्पित किए हुए फल-फूल तथा जल आदि उपहारों को ग्रहण करता हूँ।

इस श्लोक पर देशपिता महात्मा गाँधी जी की टिप्पणी इस प्रकार है :—

मुझ में सब जीव हैं और नहीं हैं। उनमें मैं हूँ और नहीं हूँ। यह ईश्वर का योग-बल उस की माया, उसका चमत्कार है। ईश्वर का वर्णन भगवान् को भी मनुष्य की भाषा में ही करना ठहरा, इसलिए अनेक प्रकार के भाषा-प्रयोग करके उसे सन्तोष देते हैं। ईश्वरमय सब (कुछ) है, इसलिए सब उसमें हैं। वह अलिप्त है, प्राकृत कर्ता नहीं है। इसलिए उसमें जीव नहीं हैं, यह कहा जा सकता है। परन्तु जो उसके भक्त हैं। उन में वह अवश्य है। जो नास्तिक हैं। उन में उन की दृष्टि से तो वह नहीं है और इसे उसके चमत्कार के सिवा और क्या कहा जाए ?"

सन्त-शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर जी महाराज की व्याख्या इस श्लोक के सम्बन्ध में कुछ इस प्रकार है—

"यदि कार्य और कारण वाली कल्पना को अलग छोड़ कर तुम मेरे उस स्वरूप का विचार करोगे, जो महामाया के भी उस पार और उस से परे है, तो यह सिद्धान्त मिथ्या ठहरेगा कि सब भूतों का अस्तित्व मुझ में ही है, क्योंकि सब कुछ मैं ही हूँ और मुझ से भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। परन्तु जिस समय प्रथम संकल्प के कारण परब्रह्म में ज्ञान और अज्ञान का झुटपटा सा, सन्धिकाल उत्पन्न हुआ, उस समय बुद्धि के ज्ञान-चक्षु में कुछ अन्धकार सा व्याप्त हो गया; इस कारण से जो परब्रह्म विकार-रहित आकार-रहित था, उसमें अविद्या रूपी सन्ध्या के कारण भूत-मात्र परब्रह्म से भिन्न भासित होने लगे। परन्तु जिस समय संकल्प-जन्य अविद्या का अन्त हो जाता है, उस समय जिस प्रकार शंका दूर होते ही पुष्पमाल के सम्बन्ध का वह सर्पाभास नष्ट हो जाता है जो कुछ कुछ अन्धकार और कुछ कुछ प्रकाश के होने के समय उत्पन्न होता है। उसी प्रकार ज्ञानोदय होने पर भूत-मात्र के सम्बन्ध में होने वाले भास का अन्त हो जाता है और केवल परब्रह्म ही अपने अखण्ड, अविकृत और शुद्ध स्वरूप में बाकी रह जाता है। यदि मास्तव में देखा जाए तो क्या धरती में से मिट्टी के घड़ों और मटकों आदि के कभी अंकुर फूटते हैं? वास्तव में घड़ों और मटकों आदि की सृष्टि तो कुम्भकार के कल्पना रूपी गर्भ से होती है।

अथवा समुद्र के जल में क्या लहरों की कोई अलग खानि होती है? लहरें तो वास्तव में हवा के चलने से ही उत्पन्न होती हैं।

इसी प्रकार क्या कपास के धागों के भीतर कपड़ों के सन्दूक होते हैं? परन्तु पहनने वाले की दृष्टि से तो कपड़े कपास से ही बनते हैं।

यदि सोने का अलंकार बनाया जाये, तो भी सोनापन नष्ट नहीं होता। उसमें अलंकारता केवल वाह्यतः ही होती हैं और वह भी केवल भूषणधारी की दृष्टि से ही होती है।

प्रतिध्वनि जो उल्टकर उत्तर देती है, अथवा दर्पण में जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। वह हमारी ही कही हुई बात अथवा हमारा ही रूप होता है। न कि वह स्वयं उस प्रतिध्वनि का और उस दर्पण का ही अंग होता है। इसी प्रकार जो मुझ पर-ब्रह्म के मूल वाले अविकृत तथा शुद्ध स्वरूप पर भूत-सृष्टि का आरोप करता है, स्वयं उसी के संकल्प या विचार से वह भूत-सृष्टि उसे ऐसे भासमान होती है।

परन्तु जब उस कल्पना करने वाली माया का अन्त हो जाता है तब भूताभास मूलतः मिथ्या होने के कारण मेरा केवल शुद्ध, बुद्ध और अविकृत

स्वरूप ही बाकी रह जाता है। यह पृथिवी दिन रात लट्टू की तरह घूमती हुई सूर्य के चारों ओर चक्र काट रही है परन्तु सब को सूर्य ही पृथिवी के चारों ओर घूमता हुआ दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार कल्पना के कारण ही विकार हीन परब्रह्म में भी भूत-मात्र का आभास होता है।

जिस प्रकार सूर्य की किरणों के कारण वहाँ जल न होने पर भी मृग-तृष्णा जल, जल के भण्डार के रूप में दिखाई देता है उसी प्रकार समस्त भूत-समुदाय भी मुझ में भासमान होता है और मैं उसमें भासमान होता हूँ। परन्तु ये दोनों बातें मिथ्या हैं ॥"

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

यथा+आकाश—स्थितः+नित्यम्+वायुः सर्वत्रगः+महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्+स्थानि+इति+उपधारय ॥

यथा=(अव्यय) यद्+थाल्=जिस प्रकार। जैसे।

आकाश—स्थितः=(पुं) आकाशो स्थितः (सप्त० तत्पु०)=आकाश में स्थित।

[आकाश=(पुं०, नपुं०) आकाशन्ते सूर्यादयोऽत्र इति आ √काश्+घञ्। स्थितः=√स्था+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०।]

नित्यम्=(अव्यय) प्रतिदिन। सदा। हमेशा।

वायुः=(पुं०)√वा+उण्, युक् आगम=वायु+प्र०, ए० व०+वायुः=हवा। पवन।

सर्वत्र—गः=सर्वत्र गच्छति (यः) (बहुव्री०)=सर्वत्र गमन करने वाला।

[सर्वत्र=(अव्यय) सर्व=त्रल्=सब जगह।]

महान्=(वि०) महत् (√मह्+अति)+(पुं०) ०, ए० व०=महान्।

तथा=(अव्यय) तद्+थाल्=उसी प्रकार। वैसे ही।

सर्वाणि=सर्व (सर्वनाम)+(नपुं०) प्र० ब० व०=सारे।

भूतानि=(नपुं०)√भू+क्त=भूत+प्र०, ब० व०=भूतानि=भूत समूह।

मत्+स्थानि=मयि स्थानि—मयि तिष्ठति, √स्था+क=मत्स्थ+(नपुं०) प्र० ब० व०=मुझमें स्थित हैं।

इति=(अव्यय) इस प्रकार। ऐसा।

उपधारय=उप√धृ (भ्वा० उभ० सक०=धारण करना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) निश्चय कर। (तू) जान ले।

अर्थ—जैसे सब जगह जाने वाला महान् वायु आकाश में सदा स्थित है; वैसे ही सम्पूर्ण भूत-समूह मुझ में स्थित हैं, ऐसा तू जान ले ॥ ९ ॥

व्याख्या—हमारे सिरों पर जो नीले रंग का आकाश छाया हुआ दिखाई देता है वास्तव में यह खाली स्थान है। सूर्य का प्रकाश इसे प्रकाशित करने में असमर्थ है क्योंकि प्रकाश की किरणें जब तक किसी ठोस, तरल या गैस पदार्थ से न टकराएं। तब तक ये बिना चमके ही दूर तक चली जाती हैं और यह आकाश अन्धकारमय ही रहता है यही अन्धकार हमें नीले आसमान के रूप में दिखाई देता है। यह आसमान या आकाश असीम है। जिस प्रकार परब्रह्म की महिमा और विशालता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार इस आकाश की अन्तिम सीमा नहीं जानी जा सकती क्योंकि यह प्रश्न सदा बना ही रहता है कि यदि आकाश किसी सीमा के भीतर बन्द है तो फिर उससे परे और क्या है? इसी प्रकार यह आकाश भी परमात्मा की तरह सर्वव्यापी है और सब पृथिव्याँ, सूर्य चन्द्र और तारागण आदि अपने-अपने नियत स्थानों पर इस आकाश में घूम रहे हैं परन्तु इस आकाश से लिप्त नहीं होते। इन में से हमारी पृथिवी भी एक हैं। जिस पर एक हजार मील ऊँचा वायु-मण्डल का आवरण या गिलाफ चढ़ा हुआ है। जिस के मुख्यतया तीन मण्डल हैं। पृथिवी से दस मील की ऊँचाई तक परिवर्तन-मण्डल है। उससे ऊपर पचास मील तक वायु का शान्तमण्डल है। तथा उसके ऊपर वायु का अयनमण्डल है। जिसका ऊपर का सिरा बाह्य अन्तरिक्ष से सटा हुआ है। परिवर्त-मण्डल में वायु सदैव गतिशील रहती है। जिसका कारण सूर्य की किरणों से पृथिवी तल का तप्त होना होता है। अन्य दोनों मण्डलों में वायु सदा शान्त और स्थिर रहती है। इस श्लोक में भगवान् का असल इशारा इसी परिवर्तमण्डल की वायु की ओर है। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! जिस प्रकार वायु आकाश में (कल्प पर्यन्त ही) नित्य स्थित है और सर्वव्यापक आकाश में विचरता रहता है जिस के कारण वह महान् सामर्थ्यवान् है। अथवा सब जीवों का प्राणाधर होने के कारण भी महान् कहा जा सकता है क्योंकि कोई भी जीव वायु में सांस लिए बिना जीवित नहीं रहता। इसी प्रकार यह सब भूतों के समुदाय मुझ में स्थित हैं और सर्वत्र घूमते फिरते रहते हैं। मैं सर्व व्यापक और शुद्ध बुद्ध स्वरूप हूँ। इससे इन जीवों का घटना बढ़ना, जन्मना-मरना मुझे किंचित् मात्र भी स्पर्श या लिपायमान नहीं करता है। वास्तव में मैं इन भूतों में स्थित भी हूँ और स्थित नहीं भी हूँ क्योंकि कोई भी कार्य मेरे बिना नहीं होता है तथा मैं किसी भी कार्य का फल-भोक्ता भी नहीं हूँ क्योंकि मैं अलिप्त और असंग हूँ। और मैं ही सब का अन्तरात्मा हूँ। परन्तु सबसे अलग भी हूँ। और

सब का आश्रय भी हूँ तथा सबसे अलग नहीं भी हूँ। तू अपने मन में ऐसी धारणा बना ले।

स्वामी चिद्धना नन्द गिरि जी ने लिखा है—

यहाँ "वायुः" इस शब्द से "सूत्रात्मा" को ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि "वायुर्वै गौतम सूत्रम्" इस श्रुति में उस सूत्रात्मा को वायु नाम से कहा गया है और वह सूत्रात्मा रूप वायु सर्वत्र गमन करने वाला है। अर्थात् समष्टि लिंग देह रूप होने से सर्वत्र व्यापक है। और फिर इस वाह्य वायु से विलक्षण है। और वह सूत्रात्मा वायु नित्य ही स्वीकारणी भूत अव्याकृत नामक आकाश में स्थित है॥

अन्त में यही कहा जा सकता है कि उस अनन्त भगवान् का अन्त नहीं है। उसको पूर्णतया कोई भी जान नहीं सकता है। अपने सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने कहा है वही सब कुछ ठीक है इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए॥ ६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

सर्व—भूतानि कौन्तेय। प्रकृतिम्+यान्ति मामिकाम्। कल्प—क्षये पुनः+तानि कल्प—आदौ विसृजामि+अहम्॥

सर्व—भूतानि=(नपुं०) सर्वाणि भूतानि (कर्मधारय समास प्र० ब० व०)= सारे भूत।

कौन्तेयः!=(पुं०—सम्बोधन, ए० व०)=कुन्ती+ढक्—एय। हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन)!

प्रकृतिम्=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ+क्तिन्=प्रकृति+ द्विती० ए० व०=प्रकृति को। सारे जगत् की कारण भूता जो मूल-प्रकृति, उसको। व्याकृत को। महद्ब्रह्म को। स्वभाव को।

यान्ति=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना। प्राप्त होना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=प्राप्त होते हैं।

मामिकाम्=(स्त्री०) अस्मद् (सर्वनाम)+अण्, ममकादेश। [जिन अकारान्त शब्दों के अन्त में 'अक' होता है उनका स्त्रीलिंग बनाने के लिए अन्त में "आ" प्रत्यय जोड़ा जाता है और साथ ही 'क' से पूर्व 'अ' की 'इ' हो जाता है जैसे—] मामक+आ=मामिका।
मामिका+द्विती० ए० व०=मामिकाम्=मेरी को।

कल्प—क्षये=कल्पस्य क्षये (षष्ठी० तत्पु०)=सप्त० ए० व०=कल्प के क्षय होने पर। कल्प के समाप्त होने पर। प्रलय काल में।

पुन:=(अव्यय) पुनर्=√पुन्+अर, उत्व=पुन: । फिर ।

तानि=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ब० व०=उनको ।

कल्प—आदौ=कल्पस्य आदौ (षष्ठी० तत्पु०)=सप्त० ए० व०=कल्प के आदि में । उत्पत्ति काल में । (आदि+सप्त० ए० व०=आदौ) ।

विसृजामि=वि√सृज् [दिवा० आत्म० सक० तुदा०, पर० सक०[=बनाना] सृजन करना, रचना करना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=रचता हूँ । उत्पन्न करता हूँ ।

अहम्=अस्मद् (सर्वनाम)+प्र० ए० व०=मैं ।

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन) । कल्प के अन्त में समस्त भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं [अर्थात् मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं ।] और कल्प के आदि में मैं फिर उनको रचता (या उत्पन्न करता) हूँ ।। ७ ।।

व्याख्या—ब्रह्मा का एक दिन कल्प कहलाता है । उस के बाद उतनी ही बड़ी ब्रह्मा की एक रात्रि होती है । इस दिन रात के हिसाब से ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष की होती है । ब्रह्मा की आयु समाप्त होने पर महाकल्प की समाप्ति हो जाती है । चारों युग समाप्त हो जाने पर पृथिवी आदि और सब जीव-लोकों के जीव समाप्त हो कर प्रकृति में लीन हो जाते हैं और ब्रह्मा की रात्रि की समाप्ति पर अर्थात् अगले कल्प के आदि में फिर भगवान् ब्रह्मा द्वारा जीवों की रचना कर देते हैं । परन्तु महाकल्प के अन्त में पृथिवी सूर्य, चन्द्र आदि समस्त पिण्डों का आकाश सहित पर-ब्रह्म परमात्म में विलय हो जाता है और फिर महा-कल्प के आदि में स्वयं परमात्मा, ब्रह्मा, आकाश और उस में विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थों तथा भूतों की रचना करते हैं ।

जैसे स्वप्न में जो दृश्य दिखाई देते हैं वे जागने पर उसी मन में विलीन हो जाते हैं जिस ने उन की रचना हुई थी ठीक इसी प्रकार कल्पान्त के समय प्रकृति में उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थ अर्थात् माया से भासमान होने वाले भूत मात्र प्रकृति में ही सम-रस होकर समा जाते हैं । फिर कल्प के आरम्भ में परमात्मा की प्रेरणा से ब्रह्मा द्वारा प्रकति से इन की रचना कर दी जाती है ।

अर्जुन को कौन्तेय कह कर जो यहाँ सम्बोधित किया गया है वह अपना प्रिय-भूआ-भाई जतलाने के लिये हैं । क्योंकि ऐसी ज्ञान की गुप्त बातें स्वप्रिय भाइयों और अनन्य भक्तों के बिना अन्य साधारण व्यक्तियों को नहीं बतलाई जा सकती हैं । सो भगवान् कहते हैं—हे प्रिय भ्राता अर्जुन ! कल्प के अन्त में अर्थात् चारों युगों सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की समाप्ति पर ब्रह्मा का एक दिन समाप्त हो जाता है और उतनी ही लम्बी

उसकी रात्रि प्रारम्भ होने लगती है तो सब जीव-लोक इसी प्रकार जीवों से सूने हो जाते हैं जिस प्रकार रात हो जाने पर लोगों के सो जाने पर पृथिवी पर के सब ग्राम और नगर सुनसान हो जाते हैं। वास्तव में उस समय जीव-लोकों के सब जीव प्रकृति में विलीन होकर मेरी प्रकृति—माया या महद्ब्रह्म का ही रूप धारण कर लेते हैं। पुनः जब ब्रह्मा के अगले दिन का प्रातः काल होने लगता है अर्थात् नवीन कल्प प्रारम्भ होने लगता है तो मैं पुनः पूर्ववत् उन सब जीवों को (ब्रह्मा द्वारा प्रकृति से) रचता हूँ ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

प्रकृतिम्+स्वाम्+अवष्टभ्य विसृजासि पुनः पुनः । भूत-ग्रामम्—इमम् कृत्स्नम्+अवशम्+प्रकृतेः वशात् ॥

प्रकृतिम्=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ+क्तिन्=प्रकृति+द्विती० ए० व०=प्रकृति को। सारे जगत् की कारण भूता जो प्रकृति उसको। माया को। महद्ब्रह्म को। त्रिगुणमयी माया को।

स्वाम्=(सर्व० वि०) स्वा+आ=(स्त्री०) स्वा+द्विती० ए० व०=स्वाम्=अपनी को।

अवष्टभ्य=अव√स्तम्भ् (क्र्या० पर० सक०=रोकना)+ल्यप्=आश्रय करके। अङ्गीकार करके।

विसृजामि=वि√सृज् (दिवा० आत्म० सक, तुदा० पर० सक०=सृष्टि करना, रचना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=रचता हूँ।

पुनः पुनः=(अव्यय) पुनर्, पुनर्=√पन्+अर, उत्व=बार बार।

भूत-ग्रामम्=भूतानां ग्रामम् (षष्ठी तत्पु०)=भूतानां समुदायम् [(पु०) ग्राम=√ग्रस्+मन्, आदन्तादेशः=समूह समुदाय] (ग्राम+द्विती० ए० व०=ग्रामम्)

भूतों के समुदाय को। भूतों के समूहों को।

इमम्=इदम् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=इसको।

कृत्स्नम्=(वि०) √कृत्+क्स्न=कृत्स्न+(पुं) द्विती० ए० व०=सम्पूर्ण को।

अवशम्=(पुं) न वशम् (नञ् तत्पु०)=द्विती० ए० व०=अस्वतन्त्र को। परतन्त्र को। बेबस को। मजबूर को। विवश हुए को।

प्रकृतेः=(स्त्री०) प्रकृति+षष्ठी० ए० व०=प्रकृति के। स्वभाव के।

वशात्=(पुं० न०) √वश् (अदा० पर सक०)+अप्=+पंच० ए० व०=वश से।

अर्थ—प्रकृति (मेरी माया अथवा निज स्वभाव) के वश से मजबूर या विवश हुए इस सम्पूर्ण भूतों के समूह को बार बार मैं अपनी प्रकृति को आश्रित (या अङ्गीकार) करके रचता हूँ ॥ ८ ॥

व्याख्या—संसार में यह बहुधा देखा जाता है कि जो लोग अफीम भाँग पोस्त तथा मद्यादि मादक पदार्थों को सेवन करते हैं वे जब कभी इन के सेवन से विपत्ति ग्रस्त होते हैं तो इन को छोड़ने की प्रतिज्ञाएँ करते हैं शपथें खाते हैं तथा अपने आप को कोसते हैं क्योंकि इन के सेवन से सर्वनाश उनके सामने आ उपस्थित होता है। कुछ काल तो वे इस ग्लानि के विद्यमान रहते इन को त्यागे रहते हैं परन्तु पुन: शीघ्र ही प्रकृति अर्थात् उनका स्वभाव उन्हें उसी कुकर्म को करने के लिये मजबूर कर देता है। जिस से वे लोग प्रकृति या मेरी माया के वशीभूत हुए इसी नाश करने वाली डगर या सृति पर चलते रहते हैं। ज्ञानी त्यागी मेरे भक्तों के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण चराचर भूत समुदाय सदैव प्रकृति के वशीभूत हुआ रहता है। जिस से मजबूर हुए बेसव जीव जगत् में बार बार जन्म धारण करते हैं। जिन की रचना मेरे द्वारा प्रेरित की हुई मेरी प्रकृति करती है। जिस प्रकार किसी राजा के शासन में उस की सम्पूर्ण शासक मण्डली स्वयं अपने अपने कार्य करती है परन्तु वे सब कार्य राजा के किये हुए माने जाते हैं। इसी प्रकार सब जीवों की रचना मेरी प्रकृति द्वारा होती है परन्तु प्रकृति जड़ है। जिससे वह स्वयं कुछ भी नहीं कर सकती। रेलें और मोटरें दूर देशान्तरों में लाखों करोड़ों क्विण्टल भार और यात्रियों को ले जाती हैं। परन्तु चलाने वाले ड्राइवरों के बिना यह कार्य कदापि नहीं हो सकता। कारखाने विद्युत-शक्ति द्वारा चलते हैं। परन्तु बिजली का काम करना स्विच दवाने वाले व्यक्ति पर निर्भर होता है। इसी प्रकार संसार में सपूर्ण कार्य मेरी प्रकृति या माया द्वारा होते हैं परन्तु वह प्रकृति मेरे द्वारा ही प्रवृत की हुई है। देखने वाले को सब कार्य स्वत: होते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु उनका ढो-मेल मेरी महद्ब्रह्म माया या प्रकृति ही करती है। प्रकृति मेरी योनी है अर्थात् जीवों के जन्म का स्थान है और मैं उस में बीच डालने वाला पिता हूँ जिस से सब चराचर भूतों की उत्पत्ति होती है। बीचों में सोये हुए जो भ्रूण होते हैं वे मेरे ही अंश हैं जब प्रकृति अण्ड-द्वार से उन में पानी पहुँचाती है तो उपयुक्त ताप को प्राप्त करके बीच का निशास्ता दूध के रूप में परिवर्तित होकर छिलके के पात्र में भर जाता है और उस समय सोया हुआ नन्हा शिशु जाग कर उस दुग्ध को पान करने लगता हैं जिससे उस के एक सिरे से जड़ निकल कर पृथिवी में प्रविष्ट होती है और पानी में घुला हुआ भोजन चूसने लगती है। दूसरे छोर से अंकुर निकल कर वायु मंडल की ओर बढ़ता है। जो हवा में साँस लेता है और प्रकाश संश्लेषण द्वारा सूर्य की ऊर्जा और कार्बन ग्रहण करता है। इस प्रकार

यह बीज बेल बूटे या वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। लगभग ठीक-इसी प्रकार सारी वनस्पति होती है। शेष चलने फिरने वाले जीव माता के गर्भ से उत्पन्न होते हैं चाहे वे अण्डज हों चाहे जेरज हों—

चतुर्थ प्रकार के जीव कोशिका विभाजन नियम से उत्पन्न होते हैं जो प्राय: एक कोशी होते हैं जिन में अमीवा और पैरामेशियम मुख्य हैं। वास्तव में ये सब जीव मेरे द्वारा ही रचे जाते हैं परन्तु इन भूतों की रचना करने में मुझे तनिक भी श्रम नहीं होता। जैसे स्वप्न की सृष्टि द्वारा स्वप्न आने वाले मनुष्य को कोई श्रम नहीं होता वह जागने पर भी पूर्ववत् स्वस्थ ही होता है। **मैं सब** भूतों का रचयिता होने पर भी अलिप्त हूँ और सब प्रकार के श्रम और पाप पुण्य से रहित हूँ ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

न च माम् तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय !।
उदासीनवत्+आसीनम्+असक्तम् तेषु कर्मसु ॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

च=(अव्यय) और।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०। मुझ को।

तानि=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ब० व०=वे।

कर्माणि=(नपुं०)√कृ+कनिन्=कर्मन्+प्र० ब० व०। कर्म।

निबध्नन्ति=नि√बन्ध् (क्रिया० पर० सक०=बाँधना)+लट्० प्र० पु०, ब० व० =बाँधते हैं।

धनञ्जय ! [(पुं०) सम्बोधन ए० व०]

धनं जयति सम्पादयति, धन√जि (भ्वा० पर० सक०=जीतना)+खच्, मुम्= हे धन को जीतने वाले (अर्जुन) !

उदासीन-वत्=[उद्√आस् (अदा० आत्मा० अक० सक०=बैठना, रहना) +शानच्=उदासीन।
वत्=(अव्यय)√वा+उति=सदृश ।समान।] उदासीन की तरह। तटस्थ की भान्ति। उदासीन के सदृश।

आसीनम्=√आस्+शानच्=आसीन+(पुं०) द्विती० ए० व०=स्थित हुए को।

असक्तम्=(पुं०) न सक्तम् (नञ् तत्पु०)। द्विती० ए० व० [सक्त=(पुं०) √सञ्ज+क्त=फँसा हुआ]। आसक्ति रहित को। निरासक्त को।

तेषु=तद् (सर्व०)+(नपुं०) सप्त० ब० व०=उन में।
कर्मसु=(नपुं०) कर्मन्+सप्त० ब० व०=कर्मों में।

अर्थ—हे धनञ्जय (अर्जुन)! उन कर्मों में उदासीन की भान्ति स्थित और आसक्ति रहित मुझ (पर-ब्रह्म) को वे (रचनादि) कर्म नहीं बाँधते हैं॥ ९॥

व्याख्या—हे धनंजय! तू बहुत प्रभाव शाली है जा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिये सब राजाओं को जीत कर बहुत बड़ी मात्रा में धन लाया था। इस लिए तू मेरे इस गीता उपदेश रूप धन को ग्रहण करने के लिये भी पूरी तरह समर्थ है।

जैसे कोई मदारी या मिस्मरेज़म करने वाला व्यक्ति दर्शकों के सम्मुख अनेक प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और लय करके दर्शाता है। परन्तु उन पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति और लय दर्शकों की भान्ति न उसे विस्मित ही करती है न वन्धायमान ही करती है। और जैसे स्वप्न-द्रष्टा पुरुष अपने स्वप्न में अनेक पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और लय करता है परन्तु ये सब कार्य उस स्वप्न-द्रष्टा व्यक्ति को बँधायमान नहीं करते।

इसी प्रकार मैं भी अपनी माया रूप शक्ति द्वारा इस सम्पूर्ण ब्राह्मण्ड की रचना करता हूँ। परन्तु यह सृष्टि-कार्य मुझे किसी तरह भी बँधायमान नहीं करता है। न ही मैं इस की रचना और स्थिति से किसी पुण्य का भागी होता हूँ। और न इस के क्षय या लय से पाप का भागी बनता हूँ। क्योंकि ये सब सृष्टि-कार्य स्वप्न वत् होने के कारण मिथ्या हैं। तथा मैं इस सृष्टि-कार्य को करता हुआ भी सदा अकर्ता और उदासीन की भान्ति रहता हूँ क्योंकि वास्तव में मुझ को न किसी से द्वेष है न किसी से किसी प्रकार की दिलचस्पी है और न किसी प्रकार की घृणा या ग्लानि है। न किसी का पक्षपात है। न किस से द्वेष या वैर है। मैं सदा एक रस और अलिप्त रहता हूँ। मुझ में विकृति या विकार नाम मात्र को भी नहीं होता। मैं सदा असंग और आसक्ति रहित हूँ। निर्विकार होने से मुझ में किसी प्रकार का हर्ष विषाद आदि भी नहीं है। और न ही मैं इन सृष्टि आदि कर्मों में किसी तरह से आसक्त हूँ। न विरक्त हूँ। मुझे किसी प्रकार का भी कर्तृत्व-अभिमान नहीं है। तथा फल की भी कोई अभिलाषा नहीं है। संसार में मेरी तरह जो लोग कर्तृत्व अभिमान और कर्मफल की इच्छा से रहित हो जाते हैं वे भी लौकिक तथा वैदिक आदि किसी प्रकार के कर्मों से बन्धायामान नहीं होते हैं। क्योंकि इस कर्तृत्व अभिमान और कर्म-फल की इच्छा से ही यह मूढ़ पुरुष कोषकार-जन्तु (रेशम के कीड़े) की भान्ति अपने आप ही रेशमी-कर्म-सूत्रों से बँधायमान होकर दुःख का भागी बन

जाता है। और नरक रूपी अग्नि के द्वारा सौ सेंटीग्रेड की गर्म-जल वाष्प से पीड़ित होकर स्व प्राणों से हाथ धो बैठता है। इन शुभाशुभ कर्मों से बँधायमान हुए लोग इस लोक में धनी निर्धन, सुखी दु:खी और स्वामी भृत्य आदि बनते हैं। परन्तु मैं इन के कर्मों के फल देने में निरपेक्ष रहता हूँ। मैं तो न किसी के लिये निर्दयी हूँ और न ही किसी के लिए दयालु हूँ। क्योंकि सब लोग अपने अपने किए हुए कर्मों का फल भोगते हैं। इस सम्बन्ध में मैं सदा उदासीन-वत् रहता हूँ। सूर्य का प्रकाश तो सब बीजों पर एक समान पड़ता है। परन्तु उनका उगना बढ़ना और बड़ा छोटा बनना उनके स्वभाव और वातावरण पर निर्भर है जो कर्मों के कारण बनते हैं। इस में सूर्य का तो कोई गुण-दोष या सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार परमेश्वर का प्रकाश तो सब पर एक समान ही पड़ता है। परन्तु फल कर्मों के अनुसार ही होता है। क्योंकि परमात्मा तो स्वयं उदासीनवत् और निरासक्त है। मेघ बिना राग द्वेष किए ही सब पर जल-वृष्टि करते हैं परन्तु अपने कर्मों के कारण से अर्क, ज्वांस तो पहले लगे हुए पत्तों से भी हीन हो जाते हैं और शेष वनस्पति खूब फलती और फूलती है। वास्तव में मैं कभी न कुछ करता हूँ। न किसी से कुछ करवाता हूँ। जैसे घर में रखा हुआ प्रकाशमान् दीपक न किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है न किसी को कार्य करने से रोकता है। और इस बात की भी परवाह नहीं करता कि कौन क्या करता है ? और कौन क्या नहीं करता। यही बात मुझ पर-ब्रह्म के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए। मैं तो केवल साक्षी भूत ही हूँ। मैं प्राणियों के कर्मों से उदासीन रहता हुआ सब प्राणियों में स्व-प्रकाश द्वारा व्यापक हूँ। और संसार का निमित्त कारण हूँ ॥ ९ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

मया+अध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स-चर+अचरम्। हेतुना+अनेन कौन्तेय ! जगत्+विपरिवर्तते ॥

मया=अस्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा। मुझ से।

अध्यक्षेण=(पुं०) अधिगत: अक्षम्=व्यवहारम् [अत्यादि तत्पुरुष समास (प्रादि समास के अन्तर्गत)]

अधि√अक्ष् (भ्वा० पर० अक० सक०=पहुँचना, देखना, व्याप्त होना, एकत्रित करना)+अच=अध्यक्ष+तृती० ए० व०=अध्यक्ष द्वारा। अध्यक्ष से। देख रेख करने वाले से।

प्रकृति:=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ (तना० उभ० सक०= करना)+क्तिन्=प्रकृति+प्र० ए० व०=प्रकृति। त्रिगुणात्मक प्रकृति। माया।

सूयत=√सू (अदा० आत्म० सक०—सूते दिवा० आत्म० सक० सूयते)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्रसव करती है। जन्म देती है। उत्पन्न करती है।

स—चर+अचरम्=चराभि: च अचराभि: सह=सचराचरम् (समाहार द्वन्द्व गर्भित बहुव्री०)=चर और अचर सहित (जगत्) को। (द्विती० ए० व०)।

हेतुना=(पुं०)√हि (स्वा० पर सक० अक०)+तुन्=हेतु+तृती० ए० व०= कारण से।

अनेन=इदम् (सर्व०)+(पुं०) तृती० ए० व०=इस से।

कौन्तेय!=हे कुन्ती पुत्र (अर्जुन)!

[अर्थात् हे मेरे परमप्रिय भ्राता भूआ—कुन्ती पुत्र—अर्जुन!]

जगत्=(नपुं०)√गम्+क्विप्, नि० द्वित्व, तुगागम=जगत्+प्र०, ए० व०= जगत्।

विपरिवर्त्तते=वि, परि√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०)+लट्० प्र० पु० ए० व०=परिवर्तन करता रहता है। (आवागमन रूप) चक्र में घूमता है। (संसार चक्र) घूम रहा है।

अर्थ—हे (मेरे परम प्रिय भ्राता भूआ कुन्ती पुत्र) अर्जुन! मुझ अध्यक्ष (की सत्ता) से प्रकृति, चरों और अचरों सहित सारे जगत् को जन्म देती है। इस कारण से यह जगत् परिवर्तन करता है (अर्थात् अनेक भान्ति के भेस बदलता हुआ जन्म—मरण के चक्र में भ्रमण करता है)॥ १०॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तू मेरा कुन्ती-भूआ-पुत्र प्रिय भ्राता है। इसलिए तुझ से मैं अपने गुह्य रहस्य कह रहा हूँ। मैं सबसे बड़ा हूँ। समूचे जगत् का साक्षी, नियन्ता और अध्यक्ष हूँ। अर्थात् संसार के सारे कार्य मेरी देखरेख में ही होते हैं मैं ही सब का द्रष्टा और कण्ट्रोलर हूँ। श्रुति कहती हैं:—

"महान् प्रभुर्वै पुरुष: सत्त्वस्यैष प्रवर्तक:।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्यय:॥"

(श्वेताश्वतर० ३।१२)

[**अर्थ**—यह परामात्मा महान् है। परम समर्थ है परम पुरुष है सब का अध्यक्ष है अविनाशी और प्रकाश स्वरूप है। अपने आनन्दमय विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति की ओर मनुष्यों के अन्त:करणों को प्रेरित करता है॥]

और भी—

"एको देव: सर्वभूते गूढ़: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास: साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥"

(श्वेताश्वतर० ६।१२)

[अर्थ—सारे प्राणियों में स्थित अदृश्य भाव से रहने वाला एक ही देव है, वह सर्व व्यापक, सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा, सब कर्मों का अध्यक्ष, समस्त प्राणियों में वसा हुआ, सब का साक्षी, सब को चेतनत्व प्रदान करने वाला है, शुद्ध और निर्गुण है।]

यद्यपि सब कुछ मैं ही हूँ परन्तु वास्तव में मैं कर्ता और भोक्ता नहीं हूँ। मेरी माया मेरा आश्रय या प्रकाश पाकर चर-अचर सब प्रकार के प्राणियों को जन्म देती है। ठीक इसी प्रकार जैसे सूर्य आदि के प्रकाश का सहारा पाकर सब लोग काम करते हैं परन्तु उनके कार्यो का सूर्य से सीधा कोई सम्पर्क नहीं होता। वे सब कार्य तो उन कर्म करने वाले लोगों के ही होते हैं और उनके फल के भोगने वाले भी वही लोग होते हैं। सूर्य तो न उन कर्मों के करने वाला होता है और न उनके फल को भोगने वाला बनता है परन्तु वे सब कार्य सूर्य के प्रकाश के बिना घने अन्धकार में लोगों द्वारा नहीं किए जा सकते। इसी प्रकार मुझ परमात्मा से प्रकाश या सत्ता ग्रहण करके मेरी प्रकृति या माया सब प्रकार के चर और अचर जीवों को उत्पन्न करती है। यद्यपि ये जीव मेरे द्वारा उत्पन्न किए हुए समझे जाते हैं। परन्तु वास्तव में इनकी उत्पत्ति और लय से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रुति में कहा है— "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते॥" बेशक प्रकृति जड़ है। परन्तु मेरे प्रकाश या मेरी सत्ता से उसमें जान पड़ जाती है। जिस प्रकार बीज उपयुक्त ताप नमी और वातावरण पाकर जन्म ग्रहण करता है। जिससे फिर वह जगत् की रचना कार्य करने लगता है। इस कारण से जगत् का चराचर जीव समूह बार बार जन्मता और मरता है। जड़ और चेतन के संयोग से जीव की उत्पत्ति होती है। जब इन दोनों का सम्बन्ध टूट जाता है तो प्राणी की मृत्यु हो जाती है। मरा हुआ प्राणी अव्यक्त होता है और जन्म लेकर फिर व्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार सदा जगत् का वनना बिगड़ना होता रहता है। मैं परमेश्वर तो केवल द्रष्टा मात्र स्वरूप, सब विकारों से रहित और अपनी समीपता से सब का नियंता तथा प्रकाशक हूँ। और मुझसे प्रकाशित हुई यह माया सत्व, रज, तम, इन तीन गुणों से युक्त है। वास्तव में यह जगत् मायावी पुरुष के द्वारा प्रवृत्त गज, तुरंग आदि पदार्थों की रचना की भान्ति केवल भासमान, कल्पित और मिथ्या है। जिस प्रकार चलचित्र के पर्दे पर प्रकाश द्वारा बने हुए नर नारी नाचते गाते बजाते चलते फिरते और बोलते हुए भासमान होते हैं। इसी प्रकार यह जगत् माया द्वारा रचा हुआ मेरे प्रकाश से दिखाई देता है। परन्तु प्रकाश के हट जाने पर ये सब कुछ अन्धकार में विलीन हो जाता है इसी प्रकार ब्रह्म के जागृति काल में उसका प्रकाश माया के पर्दे पर पड़ने से सम्पूर्ण संसार भासमान

होने लगता है। परन्तु ब्रह्म के शयन काल में सारा प्रकाश उस ब्रह्म में संवृत्त हो जाता है जिससे माया रूपी पर्दा विलुप्त हो जाने से उस पर भासमान होने वाला जगत् भी विलुप्त हो जाता है। जिससे परमात्मा कर्ता है और न ही अकर्ता है। चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है। परन्तु इस खींचने की क्रिया का चुम्बक पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार जगत् की रचना यद्यपि परमात्मा के प्रकाश से माया द्वारा होती है। परन्तु परमात्मा का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह जगत् सदा इसी प्रकार बनता और बिगड़ता रहता है ॥१० ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

अवजानन्ति माम्+मूढाः+मानुषीम्+तनुम्+आश्रितम् । परम्+भावम्+अजानन्तः मम भूत—महा+ईश्वरम् ॥

अवजानन्ति=√ज्ञा (क्रया० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ब० व० =अवज्ञां परिभवं कुर्वन्ति=अवज्ञा करते हैं। परिभव करते हैं। अनादर करते हैं। निरादर करते हैं। तुच्छ समझते हैं।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

मूढाः=(पुं०) (वि०) √मुह् (दिवा० पर० अक०=मूर्च्छित होना, मूर्ख होना)+क्त=मूढ+प्र० ब० व०=मूर्ख लोग। मूढ लोग। अविवेकी पुरुष।

मानुषीम्=(स्त्री०, वि०) मनुष्य-संबन्धिनीम् । मनुष्य+अण्. वृद्धि, यलोप =मानुष्य+ङीप्=मानुषी+द्विती० ए० व०+मानुषी को।

तनुम्=(स्त्री० विशेष्य)√तन्+उ=तनु+द्विती० ए० व०=देह को।

आश्रितम्=आ√श्रि (भ्वा० उभ० सक०=आश्रय लेना)+क्त=आश्रित +(पुं०) द्विती० ए० व०=आश्रित को।

परम्=(वि०)√पॄ+अप्=पर+(पुं०) द्विती० ए० व०=परम को। महान् को। सब से बड़ी को।

भावम्=(पुं०)√भू+णिच्+अच्=भाव+द्विती० ए० व०=भाव को। अलौकित शक्ति को।

अजानन्तः=न जानन्तः (नञ् तत्पु०) न+√ज्ञा+शतृ=अजानत्+प्र० ब० व०=अजानन्तः=न जानते हुए।

मम=अस्मद् (सर्व०) +षष्ठी० ए० व० मम (मे)=मेरे।

भूत-महा+ईश्वरम्—(पुं०) भूतानां महा-ईश्वरम् (षष्ठी० तत्पु०) द्विती०

ए० व०=भूतों के महान् ईश्वर को ॥

अर्थ—मेरे परम भाव (सब से बड़ी अलौकिक शक्ति) को न जानते हुए मूर्ख लोग, मुझ मानुषी देह-धारी भूतों के महान् ईश्वर को (अवज्ञा भाव से) तुच्छ समझते हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या—मैं परब्रह्म हूँ, मैं वास्तव में अव्यक्त और निरासक्त हूँ। अकर्ता और अभोक्ता हूँ। साक्षी और भूतों का महान् ईश्वर हूँ। मेरे प्रभाव को पूर्णतया जानने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है। मैं राम, कृष्ण आदि अनेक रूपों में जगत् में प्रकट होता हूँ। परन्तु मूर्ख लोग इन रूपों में मेरी अलौकिक शक्ति को न जानते हुए मुझे साधारण मनुष्य के रूप में ही देखते हैं। और मेरी अवहेलना करते हैं। इन में से बहुत से रावणादि मूढ़ लोग भूत काल में अपनी मूढ़ता के फल को प्राप्त कर चुके हैं। और कंस, जरासन्ध, शिशुपाल आदि अनेक मूढ़ लोग इस समय मेरी अवज्ञा के करने वाले अपने इस कुकृत का फल पा चुके हैं या पाने वाले हैं दुर्योधन ने भी कौरवों की भरी सभा में अहीर का पुत्र कह कर मेरी अवहेलना की थी जिसका फल तत्काल वह भी प्राप्त करने वाला है। उसका नाश भी उस के सब साथियों सहित मेरे अलौकिक प्रभाव से शीघ्र ही हो जायेगा। यद्यपि मुझे देह धारी होने की कोई आवश्यकता या आकांक्षा नहीं है। परन्तु तो भी मैं अपने भक्तों की प्रसन्नता और त्राण के लिए देह धारी होकर प्रकट होता हूँ। अपनी अलौकिक लीलाओं द्वारा अपने भक्तों को निज भक्ति में प्रेरित करके मोक्ष का भागी बनाता हूँ। लोगों को शुभ मार्ग पर चलाने के लिए मूढ़ दुष्टों का संहार करता हूँ! और वेद, शास्त्र गीतादि के उपदेशों द्वारा धर्म की स्थापना करता हूँ। मेरी मानुषी देह केवल देखने मात्र में ही है। वास्तव में मैं निराकार और नरंजन ही हूँ। जिस प्रकार दियासलाई रगड़ने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार भक्त की भक्ति से प्रसन्न होकर उसके मन चाहे स्वरूप में मैं प्रकट होता हूँ। जिस प्रकार शीशे के उन्नतोदर गोल टुकड़े (लैनज़) में सूर्य की किरणें लाँघ कर एक विशेष दूरी के बिन्दु पर एकत्रित हो जाती हैं। और जल उठती है। इसी प्रकार जब भक्त का मन सब ओर से निरुद्ध होकर केवल मुझ में ही केन्द्रित हो जाता है तो मैं पहले उस के अन्तःकरण में प्रकट होता हूँ। फिर उस के आंखें खोलने पर उस के सामने खड़ा दिखाई देता हूँ। जैसा कि रामचरित मानस से—

मुनि अगस्त्य कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीच्छन रति भगवाना ॥
मन-क्रम वचन राम-पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक ॥
प्रभु-आगवन स्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा ॥
होइहहिं सुफल आज मम लोचन। देख वदन-पंकज भव-मोचन ॥

निर्भर प्रेम-मगन मनि ज्ञानी । कहि न जाई सो दशा भवानी ॥
दिसी और विदसि पंथ नहीं सूझा । को मैं चलेऊँ कहाँ ? नहीं बूझा ॥
कबहूँक फिर पाछे पुनि जाई । कबहुँक नृत्य करइ गुण गाई ॥
अतिसय प्रीति देख रघुवीरा । प्रकटे हृदय हरन भव-भीरा ॥
मुनि मगमाँझ अचल होइ वैसा । पुलक सरीर पनस-फल-जैसा ॥
तब रघुनाथ निकट चलि आये । देख दसा निज जन मन भाये ॥
मुनिहि राम बहु भाँति जगावा । जाग न ध्यान-जनित सुख पावा ॥
भूप-रूप तब राम दुरावा । हृदय चतुर्भुज रूप देखावा ॥
मुनि अकुलाई उठा तब कैसे । विकल हीन-मनि फनिवर जैसे ॥
आगे देख राम तनु-स्यामा । सीता अनुज-सहित सुखधामा ॥
राम बदन विलोकि मुनि ठाढा । मानहु चित्र माँझ लिखि काढा ॥

भक्त अपने प्रेम से भगवान् को देहधारी रूप में प्रकट होने के लिए मजबूर या विवश कर देते हैं ।

कई लोग एक छोटी सी टीन की डिबिया में काले रंग की चमकदार लाख भर कर उस को ऊपर से समतल बना लेते हैं, फिर उस पर तेल मल कर उसे बिम्ब दर्शक बना लेते हैं । तब कोई बालक या बालिका जो बारह वर्ष से कम आयु की हो उसे सामने बिठला लेते हैं । फिर उसकी आँखों में अपनी आँखें डाल कर उसे प्रभावित किया जाता है । तब फिर उसे उस डिबिया में झाँकने के लिए कहा जाता है और पहले झाड़ू देने वाले को बुलाया जाता है उसके काम की समाप्ति पर छिड़काव करने वाला आता है । तब फिर दरियाँ बिछती हैं तथा कुर्सियाँ और राजसिंहासन आ कर स्थापित हो जाते हैं । तब सुलेमान या इन्द्र राजा अपने साथियों सहित आकर विराजमान हो जाता है तब फिर उस से, पास बैठे हुए लोगों के प्रश्न पूछे जाते हैं जिस से वह इंगतों से सब प्रश्नों के उत्तर देता हुआ सामने बैठे बच्चे को दिखाई देता है । इसी खेल को आज कल स्टोव द्वारा किया जाता है । स्टोव प्रश्न का उत्तर अपनी एक टांग की टिक टिक से देता है । बात वास्तव में यह है कि जब मन निर्मल और स्थिर हो जाता है । तो मेरी प्रकृति मेरे भक्त की इच्छानुकूल कार्य करने लगती है और मैं भी उस के प्रेम से बंधा हुआ मानुषी देह में प्रकट होता हूँ । मेरे उस स्वरूप को मूढ लोग न जानकर मेरा अपमान करते हैं । इस प्रकार जो लोग मुझ ईश्वर की सत्ता को नहीं जानते हैं, वे शरीर स्थित मुझ अन्तर्यामी को भी नहीं पहचानते हैं और मेरे अस्तित्व को न जानते हुए मूढ और जड़वादी बने रहते हैं ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

मोघ+आशाः+मोघ-कर्माणः+मोघ-ज्ञानाः+विचेतसः । राक्षसीम्+आसुरीम्+च+एव प्रकृतिम्+मोहिनीम्+श्रितः ॥

मोघ+आशाः=(वि० पुं०) मोघाः आशाः येषाम् (बहुव्री०)=व्यर्थ आशाओं वाले ।

[मोघ=(वि०)√मुह्+घ वा अच्, कुत्व=निष्फल, व्यर्थ ।

आशा=(स्त्री०) आ समन्तात् अश्नुते इति, अ√अश्+अच्, टाप् । किसी अप्राप्त वस्तु के प्राप्त करने की अभिलाषा और उस की प्राप्ति का कुछ कुछ निश्चय ।]

मोघ-कर्माणः=(वि० पुं०) मोघानि कर्माणि येषाम् (बहुव्री०)=व्यर्थ कर्मों वाले ।

मोघ-ज्ञानाः=मोघं ज्ञानम् (अपि) येषां (बहुव्री०)=व्यर्थ ज्ञान वाले ।

विचेतसः=(वि० पुं०) विगतानि विरुद्धानि वा चेतांसि येषां=अज्ञानी लोग । विचार हीन । विवेक हीन ।

राक्षसीम्=(वि० स्त्री०) राक्षस्+ङीप्=राक्षसों की को । राक्षसों जैसी को । (द्विती० ए० व०) ।

आसुरीम्=(वि० स्त्री०) आसुर+ङीप्+द्विती० ए०व०=आसुरी को । आसुरों जैसी को ।

च=(अव्यय) और ।

एव=(अव्यय) ही ।

प्रकृतिम्=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+क्तिन् प्रकृति+द्विती० ए० व०=प्रकृति को । स्वभाव को ।

मोहिनीम्=(स्त्री०)√मुह्+णिच्+णिनि-ङीप्+द्विती० ए० व०=मोहने वाली को ।

श्रिताः=√श्रि (भ्वा० उभ० सक०=आश्रय लेना)+क्त+पुं०) प्र० ब० व० =आश्रय किए हुए हैं ।

अर्थ—(वे पूर्व श्लोक में कहे हुए) व्यर्थ आशाओं वाले, व्यर्थ कर्मों को करने वाले और व्यर्थ ज्ञानों वाले, विचार हीन पुरुष, मोहने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति को आश्रय किए हुए (होते) हैं ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो लोग मुझ परब्रह्म परमेश्वर से विमुख हैं । आत्मा के ज्ञान से अनभिज्ञ हैं । केवल अपनी देह को ही अपना सब कुछ माने हुए हैं तथा इस देह के सुख साधनों में ही आठों पहर लगे हुए हैं वे पुरुष मूढ़ हैं । अविवेकी हैं । उनके मुख से सदा यही शब्द निकलते हैं । "यह जगत् मीठा । अगला

किस ने डीठा।" इसी विचार को सत्य समझ कर सदा घोर पाप कर्मों में लगे रहते हैं। उनके विचार में यहाँ पर जगत् नियन्ता परमेश्वर कोई है ही नहीं। यदि होता तो कभी न कभी अवश्य दिखाई देता। वे परमेश्वर को गाली देकर कहते हैं कि देखें हम, तुम्हारा परमेश्वर हमारा क्या बिगाड़ करेगा? वे कर्मों के फल को भी नहीं मानते हैं। स्वर्ग नरक पर भी उनका विश्वास नहीं है वे लोग बीज से स्वयं उत्पन्न होने वाला संसार को मानते हैं। उनकी परमात्मा धर्म-ग्रन्थों, पाप-पुण्य, कर्म-धर्म, नरक-स्वर्ग आदि किसी बात पर भी आस्था या श्रद्धा नहीं है। उनके सर्व कर्म व्यर्थ होते हैं। ऐसे ही एक आदमी को हम ने हवन करते हुए देखा है। उसने उपलों का एक बहुत बड़ा ढेर लगा कर उस को आग लगा दी और बहुत से फुलके (रोटियाँ) उस के चारों ओर रख लिए अपने मूढ साथी अनुयायियों से कहने लगा कि जब मैं मन्त्र पढ़ूँ तो एक एक फुल्का उठा कर अग्नि में डालते जाओ। उसके मन्त्र इस प्रकार थे—१. डाढ़ी वाले बाबे की जय। २. मूंछ वाले बाबे की जय। ३. लंगड़े परदादे की जय। ४. टीसीटप बाबे की जय। इस प्रकार जो उसके मुंह में आता था कहता जाता था। हम लोग उसकी इस हवन पद्धति और क्रिया को देख कर हैरान और विस्मित हो रहे थे। इसी प्रकार उन मूढ़ों की सब क्रियाएँ व्यर्थ और फल हीन होती हैं। वे न तो स्वर्ग दिलाने वाली होती हैं, न मोक्ष की प्राप्ति कराती हैं, न ही संसार के उपकार के लिए होती हैं और न ही उनके अपने किसी काम आने वाली होती हैं अपितु व्यर्थ के श्रम और प्रयास से पूर्ण और अधोगति में ले जाने वाली होती हैं। तैमूर, चंगेज, नादर और याहिया खाँ आदि ने लाखों करोड़ों मनुष्यों, स्त्रियों और निर्दोष बच्चों को मौत के घाट उतारा था। परन्तु आज वे लोग कहाँ हैं? उन की हड्डियाँ तक गल चुकी हैं परन्तु अपयश अब तक अवनि-तल पर विद्यमान है और सदा बना रहेगा। उन जैसे मूढ़ों के सब कर्म निष्फल और नरक-यातना प्राप्त कराने वाले होते हैं। उन लोगों की ओंधी खोपड़ी में ज्ञान भी उल्टे ही भरे हुए होते हैं वे कहते हैं कि यदि हम इन बकरे, मुर्गे, तीतर, बटेर और मछली आदि जीव जन्तुओं को न खाएँ तो ये संसार में इतने अधिक बढ़ जाएँगे कि पृथिवी पर पैर धरने को भी स्थल शेष न रहेगा। यदि हम सुरापान न करें तो सुर (देवता लोग) गुस्से हो जाएँगे। क्योंकि सुरा तो सुर की स्त्री का नाम होता है इस प्रकार का खरँड़ ज्ञान इन का सब धार्मिक विषयों के सम्बन्ध में होता है। जो मोक्ष या स्वर्ग दिलाने में तो निष्फल ही होता है परन्तु पापों को कराने वाला और जन्म-मरण के चक्र में डालने वाला भी होता है। इन लोगों के चित्त भी विक्षिप्त होते हैं। हीन और भ्रष्ट होते हैं। जिसके कारण वे लोग सदा मनमाने कार्य बिना सोचे समझे करते रहते हैं, जिससे उनकी प्रकृति राक्षसों और असुरों जैसी बन जाती है। वे अभक्ष्य पदार्थ खा कर खुश होते हैं।

हिंसा करने से उनको प्रसन्नता होती है बालक बालिकाओं पर अत्याचार करते हैं जैसे पाकिस्तान में खरकार नाम की लोगों की एक श्रेणी है जो सड़कों और पुलों को बनाने के ठेके लेते थे। उनके पास जो मज़दूर काम करते थे वे सब, लोगों के उठाए हुए बच्चे होते थे। जिनका जीवन वे पशुओं के जीवन के तुल्य कर देते थे और कुत्तों की भान्ति उन के सामने रोटी के टुकड़े डालते थे। खाने को कम देते थे। काम डण्डे के बल से लेते थे। वहाँ पर कुछ राक्षस और असुर लोग ऐसे भी थे। जो लोगों के बाल बच्चे चुरा कर अरब देशों में लेजा कर कुकर्मों के लिए बेच देते थे। जिन से वहाँ पर दास दासियों की तरह प्रत्येक अच्छा बुरा कर्म कराया जाता था।

इस प्रकार के राक्षस और असुर लोग भारत में भी पाए जाते थे जो लोगों के बाल बच्चे उठा लेते थे। उन की जीभ काट देते थे। अन्धा बना देते थे। अंगुलियाँ काट कर उन्हें सदा रिसने वाला बना देते थे। पंगु कर देते थे फिर उनके पास उर्दू हिन्दी आदि भाषाओं में छपे हुए लेख देकर उन से भीख मंगवाते थे। जिन में उन की दीन हीन कृत्रिम दशा का वर्णन लिखा हुआ होता था। उत्तर प्रदेश में इस से भी बड़े पापी पाए जाते थे जो जंगल से लाए हुए ऐसे प्राणियों का प्रदर्शन करते थे जिनके मुँह मनुष्य के लड़के लड़की के होते थे और धड़ किसी जंगली जानवर के होते थे। वास्तव में ये सब लोगों के चुराये हुए बच्चे होते थे जिन की टाँगे और बाहें निर्दयता पूर्वक सुखाकर बेजान हड्डियों के ढाँचे मात्र बना दी जाती थीं, केवल मुँह ही जीवित होते हैं लकड़ी के मेज़ के छेद में नीचे से गर्दन ऊपर निकाल कर नीचे टाँगे और बाहें रस्सियों से कस कर जकड़ दी जाती थीं। ऊपर मेज़ पर किसी वन जन्तु का धड़ कृत्रिम अथवा असली सुखा कर रखा हुआ जोड़ दिया जाता था वह बेबस बच्चे सारा दिन इसी तरह जकड़े रहते थे और ये पापी लोग दर्शक लोगों से पैसे बटोरते रहते थे। पिछले दिनों की बात है एक बकरा झटकने वाला एक ढाबे वाला एक बालिका को बोरी में बन्द करके साईकल पर लिए जाता हुआ पकड़ा गया था। पुलीस की मार खाने पर उस ने बतलाया था कि आज मुझे बकरे का मांस न प्राप्त होने पर इसी लड़की को मार कर उस का मांस लोगों को खिलाना था।

एक बार मैंने एक घृणित और निर्दयता पूर्ण दृश्य अपनी आँखों से देखा है। कुछ बच्चे दीवार पर बैठे भीतर के आंगन में कुछ देख रहे थे। मैंने जब दरवाज़े से झांक कर भीतर देखा, तो वहाँ पर बहुत से बकरों को सामने खड़े पाया। जिन की जीभें बारी बारी छुरी से काटी जा रही थीं।

मेरे पूछने पर मुझे इस का यह कारण बताया गया—कि इन बकरों को पाँच सात दिन तक धीरे धीरे मार कर इन का मांस बेचा जाएगा। इन दिनों

में न इन को चारा दिया जाएगा और न ही पानी पिलाया जाएगा। यदि इनकी जीभें न काटी जाएं। तो ये सब भूखे प्यासे होने से भैं भैं करके शोर मचाते रहेंगे। भूखे प्यासे रखने से इन की चमड़ी का पानी सूख जाएगा। जिस से वह सहज ही मांस से अलग हो सकेगी। उस समय मैं सोच रहा था कि क्या इन क्रूर कर्म करने वाले पापियों का भी कहीं ठिकाना होगा ?

ये मोहने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति को आश्रय किए हुए लोग कई स्थानों पर मूर्ख और भोली भाली लड़कियों और स्त्रियों पर मोहिनी डाल कर उनको उनके घरों से धोखा दे कर भगा ले जाते हैं। और बूढ़े ठेरों को बेच देते हैं। कहाँ तक कहा जाए। ये मोघाशा, मोघ-कर्मकर्त्ता और मोघ ज्ञान वाले भ्रष्ट चित्त हुए लोग मोहने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति के वशी-भूत हुए प्रभु को भूले रहते हैं। अन्य प्राणियों के साथ इन का जो नीचता पूर्ण व्यवहार होता है। वे वास्तव में मेरे भाव को न जानते हुए भूतों के मिस उन में मुझ वर्तमान की अवज्ञा करते हैं ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

महा+आत्मानः+तु माम्+पार्थ ! दैवीम्+प्रकृतिम्+आश्रिताः। भजन्ति+अनन्य-मनसः+ज्ञात्वा भूत+आदि+अव्ययम् ॥

महा+आत्मानः=(वि० पुं०) महान् आत्मा (स्वभावः) आशयो यस्य-महात्मन् प्र० ब० व० (कर्मधारय० बहुव्री०)=बड़े आशय वाले। उदारचित्त महात्मा भक्त जन।

तु=(अव्यय) तो। परन्तु।

माम्=अस्मद् (सर्वनाम)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

पार्थ !=हे पार्थ !। हे भूआ पृथा पुत्र प्रिय भ्राता अर्जुन !।

दैवीम्=(स्त्री०) देवस्य इयं+अण्=दैवी+द्विती० ए० व०=दैवी को। दैवताओं जैसी को। देव सम्बन्धिनी को। सत्व गुण से युक्त को।

प्रकृतिम=(स्त्री०) प्रकृति+द्विती० ए० व०=प्रकृति को। आदत को। स्वभाव को।

आश्रिताः=आ√श्रि (भ्वा उभ० सक०=आश्रय लेना)+क्त+(पुं०) प्र० ब० व०+आश्रय किये हुए।

भजन्ति=√भज् (भ्वा० उभ० सक०=भजना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० भजते हैं। उपासते हैं। पूजते हैं। स्मरण करते हैं।

अनन्य-मनसः=[(वि०) नञ् बहुव्री०, नञ्० तत्पु० अनन्य=अन्य से सम्बन्ध न रखने वाला। एकनिष्ठ। (मुझ) एक ही में लीन]। अनन्यानि मनांसि

येषां ते (बहुव्री०)=जिन के मन मुझ को छोड़ कर दूसरों में नहीं जाते। अनन्य मन वाले।

ज्ञात्वा=√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+क्त्वा=जान कर।

भूत+आदि+अव्ययम्=भूतानां (=वियदादीनां प्राणिनां च) आदि कारणम् अव्ययम्=भूतों का अर्थात् आकाशादि पांच भूतों का और सम्पूर्ण प्राणियों का भी आदि कारण और अविनाशी॥

अर्थ—परन्तु हे भूआ-पृथा-पुत्र-प्रिय-भ्राता अर्जुन! दैवी प्रकृति को आश्रय किए हुए अनन्य मन वाले महात्मा पुरुष मुझ को सारे भूतों का (अर्थात् आकाशादि पांच भूतों का और सम्पूर्ण प्राणियों का भी) आदि कारण और अविनाशी जान कर भजते हैं [पूजते हैं। उपासते हैं और स्मरण करते हैं॥ १३ ॥

व्याख्या—भगवान् ने अर्जुन को भूआ-पृथा-पुत्र कह कर उसे अपना प्रिय भाई जतलाया है। जिस से सिद्ध होता है कि भगवान् प्रेम दिलासे से अर्जुन को ब्रह्म-विद्या का उपदेश दे रहे हैं। यद्यपि इस संसार के सब रिश्ते और नाते मिथ्या और अस्थायी हैं। तो भी व्यवहारिक दृष्टि से जीवन-काल में किसी न किसी रूप में इन को मानना ही पड़ता है और मोक्ष प्राप्ति या परमात्मा से मेल पाने के लिए इन से कुछ न कुछ सहायता लेनी ही पड़ती है संसार में जिस प्रकार किसी वस्तु का दुरुपयोग भी किया जा सकता है और सदुपयोग भी। इस प्रकार इन सांसारिक रिश्ते नातों की मोह-माया नरक-गामी भी करा सकती है और शुद्ध भावना से मोक्ष का द्वार भी खुल सकता हैं। भगवान् इसी शुद्ध भावना द्वारा अर्जुन को इसी लक्ष्य को प्राप्त कराने के लिए "कौन्तेय", "पार्थ" इत्यादि सम्बन्ध-वाचक शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। कहते हैं—

हे पार्थ! शम, दम, दया, श्रद्धा आदि सद्गुण रूप देवों के स्वभाव का अवलम्बन करने वाले अनन्य मन से युक्त अर्थात् जो मन मुझे छोड़ कर अन्य किसी में भी नहीं जाता, ऐसे एक मात्र मुझ में अर्पित मन से उदारचित्त महात्मा पुरुष मुझे नित्य भजते, उपासते और स्मरण करते हैं)। तथा मुझ को सब भूतों अर्थात् आकाशादि पञ्च तत्त्वों और समस्त प्राणियों का भी आदि कारण जानते हैं तथा मुझे नाश रहित, अविनाशी और अक्षर-स्वरूप जान कर पूजते है। और सदा मेरा ही चिन्तन करते रहते हैं। परन्तु जो राक्षसी-प्रकृति लोग होते हैं, वे जंगली, हिंसक और तामस प्रकृति वाले होते हैं इसी प्रकार आसुरी प्रकृति वाले लोग देवताओं के विरोधी, दम्भी, अभिमानी और निरे स्वार्थी होते हैं। इसलिए उक्त दोनों प्रकार के लोग केवल अपनी देह को ही सब कुछ मानते हैं और केवल इसी के भरण पोषण को अपना मुख्य लक्ष्य

समझते हैं। स्वार्थ वश येन केन प्रकारेण ठगी, दम्भ, हिंसा, झूठ, फ़रेब आदि के द्वारा प्राणी मात्र का वध करते हैं। अपने वास्तविक स्वरूप अन्तर्यामी का सदा जाने अनजाने में निरादर करते हैं। वास्तव में ये लोग आत्म हत्यारे हैं। परन्तु दैवी प्रकृति से युक्त महात्मा लोग सदा दत्तचित्त रह कर मुझे सब का आदि कारण और अविनाशी समझ कर मेरा ही भजन पूजन अर्चन चिन्तन और स्मरण करते हैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्युक्ता उपासते ॥ १४ ॥

सततम्+कीर्त्तयन्तः+माम्+यतन्तः+च दृढ़-व्रताः । नमस्यन्तः+च माम्+भक्त्या नित्ययुक्ताः+उपासते ॥

सततम्=(अव्यय) (वि०) सम्√तन्+क्त, समः अन्त्य लोपः=सदैव। निरन्तर। हमेशा।

कीर्त्तयन्तः=√कृत् (चुरा० पर० सक०=प्रशंसा करना)+णिच्+शतृ =कीर्त्तयत्+(पुं०) प्र० ब० व०=(मेरे नाम और गुणों का) कीर्त्तन करते हुए।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

यतन्तः=√यत् (भ्वा० उभ० अक०=यत्न करना)+शतृ=यतत्+(पुं०) प्र० ब० व०=(मेरी प्राप्ति के लिए) यत्न करते हुए।

च=(अव्यय) और।

दृढ-व्रताः=(वि० पुं०) दृढं (स्थिरम् अचाञ्चल्यं) व्रतं तेषां ते (बहुव्री०) प्र० ब० व०=दृढ व्रतों वाले। दृढ निश्चयों वाले भक्त लोग।

नमस्यन्तः=√नमस्+क्यच्+शतृ=नमस्यत्+(पुं०) प्र० ब० व० =नमस्कार करते हुए।

च=(अव्यय) और।

माम्—अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

भक्त्या=(स्त्री०) भक्ति (√भज्+क्तिन्)+तृती० ए० व०=भक्ति द्वारा। भक्ति से। प्रेम से।

नित्य-युक्ताः=(पुं०) नित्यं युक्ताः ये ते। प्र० ब० व०=सदा मेरे ध्यान में जुड़े हुए।

उपासते=उप√आस् (अदा० आत्मा० अक० सक०=समीप होकर बैठना) +लट्० प्र० पु० ए० व०=समीप होकर बैठते हैं। प्रेम से उपासना करते हैं। सेवा करते हैं। उपासते हैं।

अर्थ—सदैव मेरे ध्यान में जुड़े हुए दृढ़ निश्चय से शम दम आदि व्रतों को धारण किए हुए भक्त जन, कीर्तन करते हुए मुझ को मिलने के लिए यत्न करते हुए और मुझ को नमस्कार करते हुए, श्रद्धा भक्ति से मुझे उपासते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! वास्तव में तो मैं निराकार अव्यक्त परब्रह्म परमेश्वर हूँ, जिससे न मेरा कोई रूप है, न रंग है, न रेख है न वेष है मैं निर्विकार हूँ। अनन्त हूँ, अनादि हूँ, अजन्मा हूँ तथा सर्वव्यापक हूँ। मेरे भक्तजन जब भक्ति के बल से मेरे ध्यान में जुड़ जाते हैं, तो वे मेरे प्रेम में मस्त होकर गाने बजाने और नाचने लगते हैं। मेरे ध्यान में मग्न हुए मेरे नाम गुण और यश का कीर्तन करते हैं। मुझ में दृढ़ निश्चय वाले होकर शम, दन आदि व्रतों को धारण करते हैं। पूर्णमा एकादशी संक्रांति आदि नाना प्रकार के व्रतों का पुरश्चरण करते हैं। दान दक्षिणा तथा पूजन-अर्चन द्वारा मुझे प्रसन्न करने और पाने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक चर और अचर भूत में साक्षात् मेरे दर्शन करते हैं और सच्चे प्रेम से सदा मुझे नमस्कार करते हैं। नीली छत्त वाला आकाश मुझ परमेश्वर का सबसे बड़ा मन्दिर है। जिसमें सूर्य और चन्द्रमा द्वारा प्रकाश किया जाता है इस मन्दिर की छत्त में तारों, ग्रहों और नक्षत्रों के रूप में अनेक हीरे, मोती, लाल, पन्ने और ज़मुर्रद जड़े हुए हैं, जो सातों रंगों के प्रकाश वाले हैं। इस बड़े मन्दिर की छत्त के नीचे विविध धर्मों और मतावलम्बियों के धार्मिक मन्दिर और तीर्थ विद्यमान हैं। ये मेरे भक्त उन सब के भीतर बाहर मेरा ही स्वरूप देखते हैं। किसी से घृणा या द्वेष नहीं करते, क्योंकि किसी में भी अपने स्वरूप से बिना अन्य किसी स्वरूप को नहीं पाते। सब को मेरा स्वरूप समझकर नमस्कार करते हैं। कभी पाषाण मिट्टी चूने आदि की प्रतिमा के आगे झुकते हैं कभी किसी चित्र को मेरा स्वरूप समझकर नमस्कार करते हैं, कभी गुरू रूप में मेरा ध्यान धरते हैं। कभी माता, पिता के रूप में मुझे देखते हैं। कभी पति भाव से मेरा स्मरण करते हैं, कभी सखा मानकर मेरी पूजा अर्चा करते हैं। कभी ब्रह्मा विष्णु महेश जानकर मुझे भजते हैं। कभी लक्ष्मी सरस्वती, हनुमान्, दुर्गा, गणेश मानकर मेरी पूजा अर्चा करते हैं। कई राम, कृष्ण आदि मानकर मुझ से प्रेम करते हैं। हे अर्जुन! मैं इन सब प्रकार के भक्तों के लिए सदा सुलभ हूँ। साकारस्वरूप के उपासक भक्तों के सामने मैं सदा तत्काल इसी प्रकार प्रकट होता हूँ जैसे दियासलाई रगड़ने पर अग्नि की ज्वाला प्रकट हो जाती है। और उन भक्तों के चर्म चक्षु अपने मनचाहे रूप में मुझे देखकर कमलवत् खिल जाते हैं तथा मन द्रवीभूत हो जाते हैं और शरीर प्रेम रस से शराबोर हो जाते हैं, उस समय शान्ति और सुख का कोई ठिकाना नहीं होता। निर्गुण ब्रह्म के उपासक सदा अपने मन के भीतर ही ब्रह्म-सुख का अनुभव करते हैं। और समाधिस्थ

होकर ब्रह्मलीन हो जाते हैं। इस प्रकार भक्त जन निरन्तर मेरे नाम रूप और यश का कीर्तन करते हुए नित्ययुक्त हुए भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं दृढ़व्रती और दृढ़ निश्चयी बन कर मुझे उपासते हैं और सब में मुझे देखकर सदा नमस्कार करते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥ १५ ॥

ज्ञान—यज्ञेन च+अपि+अन्य यजन्त:+माम्+उपासते । एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वत:+मुखम् ॥

ज्ञान-यज्ञेन=(पुं०) ज्ञानम् एव यज्ञ: तेन (ज्ञान यज्ञेन) [कर्मधारय०] तृती० ए० व०=ज्ञान रूपी यज्ञ से ।

च=(अव्यय) और ।

अपि=(अव्यय) भी ।

अन्ये=(वि० सर्व०)√अन्+य:=अन्य+प्र० ब० व०=दूसरे (ज्ञानी, योगी) ।

यजन्त:=(पु०)√यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना)+शातृ=यजत्+प्र० ब० व०=यजन करते हुए। यज्ञ करते हुए। पूजन करते हुए।

माम्=अस्मद् (सर्वनाम)+द्विती० ए० व०=मुझ को ।

उपासते=उप√आस् (अदा० आत्म० अक० सक०=समीप होकर बैठना)+लट्० प्र० पु० ब० व०=समीप होकर बैठते हैं। प्रेम से उपासना करते हैं। सेवा करते हैं। उपासना करते हैं!

एकत्वेन=एकम् एव परं ब्रह्म इति परमार्थ दर्शनेन। एक+त्व+(पुं०, नपुं०) तृती० ए० व०=अभिन्न भाव से: एकत्व रूप से। अर्थात् मुझ अकेले को ही सब कुछ समझ कर। अद्वैत रूप से। एक रूप से।

पृथक्त्वेन=पृथक+त्व+(पुं० नपुं०) तृती० ए० व०=पृथक् रूप से। भिन्न भिन्न भाव से। अर्थात् ब्रह्मा विष्णु, महेश आदि अनेक रूपों द्वारा। द्वैत रूप से। बहुरूप से।

बहुधा=(अव्यय) बहु+धाच्=अनेक ढंगों से। बहुत प्रकार से। नाना रूप से।

विश्वत:+मुखम्=विश्वतस् (अव्यय) (=विश्व+तसिल्)+मुख=विश्वतोमुख+(पुं०) द्विती० ए० व०=सब ओर मुख वाले को। विराट् रूप परमेश्वर को। सर्वतोमुख परमात्मा को।

अर्थ—दूसरे ज्ञानी लोग मुझ विराट् रूप परमेश्वर को ज्ञान-यज्ञ द्वारा भी

पूजते हुए एक रूप से, पृथक् रूप से तथा नाना भान्ति के रूपों से उपासते हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरे पर-ब्रह्म अव्यक्त रूप का चिन्तन एकत्वरूप, पृथक रूप और नाना रूपों से भी हो सकता है। जब यह केवल ज्ञान द्वारा ही किया जाता है तब उस समय मेरे उस अव्यक्त रूप के चिन्तन का नाम ज्ञान यज्ञ होता है इस ज्ञान यज्ञ के अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि उपकरण ब्रह्म ही होता है चरु रूप सामग्री भी ब्रह्म ही होती है। हवि भी स्वयं ब्रह्म ही होती है। हवन करने वाला भी ब्रह्म होता है। उस ब्रह्म कर्म में स्थित रहने वाले पुण्यात्मा पुरुष द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही हैं। जैसा कि स्वयं भगवान् ने गी० ४।२४ में कहा है—

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्वं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।"

इन ब्रह्म ज्ञानियों को सब ओर ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होता है। किसी को तो ब्रह्म के बिना और कुछ दिखाई ही नहीं देता, क्योंकि शेष सब जगत् उसके सामने लुप्त होकर ब्रह्म में लीन हुआ भासमान होने लगता है। और किसी की तो बात ही क्या ? अपना आप भी नष्ट हो जाता है—वह बोल उठता है—"ऐ खिज्र राहे दोस्त में गुम हो गया हूँ मैं। अपने को ढूंढता हूँ पता दे मेरा मुझे।" अर्थात् हे पथप्रदर्शक देव अब तेरे बिना शेष कुछ नहीं बचा है। मैं भी तुझ में घुल मिल कर तेरा ही रूप हो गया हूँ। जैसे समुद्र के जल में नदी का जल मिल कर एक रूप हो जाता है। अब मैं अपने आपको ढूंढता हूँ। परन्तु कोई पता नहीं मिलता कि मैं कहाँ हूँ। मैं तो अब पृथक रूप में कहीं भी नहीं हूँ। श्रुति में कहा है त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते ! अहं वै त्वमस्मि" [अर्थ—हे ऐश्वर्य युक्त देव ! तू मैं हैं और मैं तू हूँ।] इसी अवस्था में हो जाने का नाम ज्ञानी का विराट् रूप परमेश्वर को ज्ञान यज्ञ द्वारा एक रूप से पूजन करना है तथा इसी का नाम अद्वैतवाद है। इस ज्ञानी का नाम जीवन मुक्त होता है। यह अवस्था किसी अत्यन्त पुण्यवान् जन्म जन्मान्तर से अभ्यास करते चले आ रहे महात्मा को ही प्राप्त होती है उस पर लिपटा हुआ देह रूपी छिलका किसी समय अनायास ही उतर कर गिर पड़ता है। वह फिर किसी भी देह को धारण नहीं करता क्योंकि वह तो इस अन्तिम जन्म के जीवन काल में ही परब्रह्म परमेश्वर से मिल चुका होता है। दूसरी प्रकार के ब्रह्म ज्ञानी द्वैतवादी होते हैं ये मिलना तो ब्रह्म में ही चाहते हैं परन्तु जीवन काल में ब्रह्म से पृथक ही रहते हैं। यद्यपि इनकी दृष्टि में भी सब ओर ब्रह्म ही ब्रह्म होता है, परन्तु अपने को उससे पृथक रूप में इसी तरह अनुभव करते हैं। जिस प्रकार समुद्र में

विचरता हुआ मत्स्य आदि कोई जल-जीव पानी में ओत प्रोत होने पर भी अपने आप को जल से पृथक रूप में अनुभव करता है। इस पृथक्त्व भाव के अनुभवी ज्ञानयज्ञयी ज्ञानी महात्मा को शरीर त्यागने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञान यज्ञ द्वारा मेरी उपासना करने वाले तीसरी प्रकार के एक और ज्ञानी लोग भी होते हैं जो बहुधा रूपों में मेरे दर्शन करते हैं। यद्यपि उनके लिए भी मैं निराकार परब्रह्म ही हूँ परन्तु ये लोग मुझे शिव, विष्णु, दुर्गा आदि अनेक नामों से जानते हुए मेरी उपासना करते हैं इनको संसार का प्रत्येक प्राणी चलता फिरता और कार्य करता हुआ मैं ही दिखाई देता हूँ। अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त ८ का २७वां मन्त्र इस ज्ञानी भक्त की भावना को प्रकट करता हुआ कहता है—"त्वं स्त्री त्वं पुमानसि कुमारस्त्वं उतवा कुमारी। त्व जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः।" [अर्थ—तू स्त्री है। तू पुरुष है। तू ही कुमार या कुमारी है। तू ही वृद्ध होकर दण्ड के सहारे चलता है। तू ही विराट् रूप में प्रकट होकर सब ओर मुख वाला हो जाता है॥]

इस कारण से इन ज्ञानियों का इस से भिन्न दूसरा कोई भी नहीं होता। उनको सब भूत आत्मस्वरूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करने वाले ये ज्ञानी तीन प्रकार के होते हैं। जो ब्रह्मज्ञान यजन द्वारा विराट् रूप पर ब्रह्म परमात्मा की उपासना करते हैं—

१—एकत्व रूप से।

२—पृथकत्व रूप से।

३—बहुधा रूपों से।

इन तीनों को ब्रह्म-प्राप्ति में कोई बाधा या अड़चन नहीं होती॥ १५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

अहम्+क्रतुः+अहम्+यज्ञः स्वधा+अहम्+अहम्+औषधम्। मन्त्रः +अहम्+अहम्+एव+आज्यम्+अहम्+अग्नि+अहम्+हुतम्॥

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

क्रतुः=(पुं०)√कृ+कतु=श्रौत यज्ञ। ध्यान। (प्र० ए० व०)। श्रौत कर्म।

अहम्=मैं।

यज्ञः=(पुं०) इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा, √यज्+नङ्=यज्ञ +प्र० ए० व०=यज्ञ। स्मार्त यज्ञ। श्रौत समार्त (दोनों प्रकार का भी) यज्ञ। पंचमहा यज्ञादिक स्मार्त कर्म।

[''मूल में 'क्रतु' और 'यज्ञ' दोनों शब्द समानार्थक ही हैं। परन्तु जिस प्रकार 'यज्ञ' शब्द का अर्थ व्यापक हो गया है और देवपूजा, वैश्वदेव, अतिथि-सत्कार, प्राणायाम, एवं जप इत्यादि कर्मों को भी ''यज्ञ'' कहने लगे हैं (गी० ४।२३-३०) उस प्रकार 'क्रतु' शब्द का अर्थ बढ़ने नहीं पाया है। श्रौत धर्म में अश्वमेध आदि जिन यज्ञों के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उस का वही अर्थ आगे भी स्थिर रहा है। अतएव शंकर भाष्य में कहा है, कि इस स्थल पर ''क्रतु'' शब्द से 'श्रौत-यज्ञ' और 'यज्ञ' शब्द से 'समार्त-यज्ञ' समझना चाहिए। [श्री तिलक महाराज]

स्वधा=(स्त्री० अव्यय)√स्वद् (भ्वा० आत्म० अक०, सक०=स्वाद लगना, स्वाद लेना)+आ, पृषो० दस्य धः, वा स्व√धे+क-टाप्=स्वधा+प्र० ए० प०=पितरों को भोजनादि समर्पण करना। श्राद्ध में पितरों को अर्पण किया हुआ अन्न। (किसी काल में भी) पितरों के निमित्त दिया जाने वाला अन्न। [पितरों का सम्बोधन विशेष, जो पितरों को 'नैवेद्य' निवेदन करते समय उच्चारित किया जाता है।]

अहम्=मैं

अहम्=मैं

औषधम्=(नपुं०) ओषधि (स्त्री०) ओष (√उष्+घञ्=जलन व्याधि+धा+कि]+(स्वार्थे) अण्=औषध+प्र० ए० व०=वनस्पतियाँ, जो मनुष्यों द्वारा खाई जाती हैं अथवा हवन करने योग्य 'चरु' में डाली जाती हैं)। व्याधि का नाश करने वाली भेषज।

मन्त्रः=(पुं०)√मन्त्र् (चुरा० आत्म० सक०=सलाह देना, अभिमन्त्रित करना, बुलाना)+(कर्मणि) घञ् वा अच्=मन्त्र+प्र० ए० व०=वह शब्द या शब्द-समूह, जिस से किसी देवता का आवाहन किया जाए, उस को अभिमन्त्रित किया जाए, उसको सिद्ध किया जाए अथवा उस से अलौकिक शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की जाए तथा जिस के द्वारा देव और पितरों को हवि पहुँचाई जाती है वह शब्द-समूह।

अहम्=मैं।

अहम्=मैं।

एव=(अव्यय) ही।

आज्यम्=(नपुं०) आ√आ√अञ्ज्+क्यप्, न लोप=आज्य+प्र० ए० व०=घी [अथवा√अञ्ज्+(करणे) ण्यत्]

अहम्=मैं।

अग्निः=(पुं०)√अङ्ग+नि, न लोप=अग्नि+प्र० ए० व०=अग्नि। हवन की अग्नि।
अहम्=मैं।
हुतम्=(वि० नपुं०)√हु (हवन करना+क्त=हुत+प्र० ए० व०=हवन कर्म। हवन रूप क्रिया।

अर्थ—मैं क्रतु (श्रौत यज्ञ) हूँ। मैं यज्ञ (स्मार्त यज्ञपंचमहायज्ञादि स्मार्त कर्म) हूँ। मैं स्वधा (पितरों को दिया जाने वाला अन्न) हूँ। मैं औषध (यज्ञों में प्रयोजनीय जड़ी बूटियाँ और यवादि अन्न) हूँ। मैं (श्रौत समार्त आदि यज्ञों में पढ़े जाने वाला) मन्त्र हूँ। मैं ही (यज्ञों में हवन किया जाने वाला) घी हूँ। मैं (आहुति डालने योग्य) अग्नि हूँ। मैं हुत (हवन रूप सम्पूर्ण कर्म) हूँ॥ १६॥

व्याख्या—जो भी शुभ कर्म संसार में किया जाता है, वह सब कुछ, मैं परमेश्वर ही हूँ। इसी प्रकार श्रौत कर्म अग्निष्टोमादि जो 'क्रतु' नाम से प्रसिद्ध है वह वास्तव में मैं ही हूँ। इस कर्म में बहुत से खम्भे गाड़ कर जिस वेदी की स्थापना की जाती है वह मेरा ही स्वरूप होती है। उस वेदी की जो सजावट होती है वह भी मेरा ही रूप झलकता है। उसमें लटक रही फूलों की मालाएँ मेरे ही गले में डाली हुई होती हैं उस पर तना हुआ पीतांबर या रक्ताम्बर वास्तव में मेरे शरीर पर ओढ़ा हुआ ही रक्तांबर या पीताम्बर होता है। उस में चार प्रकार का ऋत्विज् अर्थात् होतृ, उदातृ, अध्वर्यु और ब्रह्मा भी मैं ही हूँ। बड़े यज्ञों में इनकी संख्या सोलह होती है इन सोलह रूपों में मैं ही विराजमान होता हूँ। यजमान भी मैं हूँ। पुरोहित भी मैं हूँ। उपाध्याय या हवन कराने वाला भी साक्षात् मेरा ही रूप होता है। वैश्व देवादि कर्म जो यज्ञ नाम से कहे जाते हैं वे सब मेरे ही रूप हैं। गौ, श्वान, वायस, दीन, अतिथि और ब्राह्मण को दिया हुआ भोजन मैं ही खाता हूँ इसलिए ऐसा यज्ञ मेरे ही निमित्त होता है और मेरा ही स्वरूप होता है। इसी प्रकार पितरों को दिया हुआ जो अन्न "स्वधा" नाम से कहा जाता है, वह भी मेरा ही स्वरूप होता है और उसको उपभुक्त करने वाले पितर भी मेरा ही स्वरूप हैं। इस क्रतु और यज्ञ में जिन औषधों को इस्तेमाल किया जाता है या जो जड़ी दूटियां और वनस्पतियाँ यज्ञ कर्म में बरती जाती हैं तथा उन से उत्पन्न जिन अन्नों का प्रयोग किया जाता है वे सब मेरे ही रूप हैं। वे सब औषध व्याधि को नष्ट करने वाले और स्वास्थ्य को बढ़ाने वाले होते हैं वास्तव में इन दोनों कर्मों का कारण भी मैं ही हूँ। देव-कर्म और पितृ-कर्म में उच्चारण किये जाने वाले जिन मन्त्रों के अन्त में स्वाहा था स्वधा कह कर देव-कर्म हवनादि और पियृ-कर्म तर्पण श्राद्धादि किए जाते हैं वे सब मन्त्र भी मेरा ही स्वरूप होते हैं इसलिए स्वाहा भी मैं ही हूँ और स्वधा भी मैं ही हूँ। जैसे

"ॐ प्रजापतये स्वाहा। ॐ इन्द्राय स्वाहा। ॐ अग्नये स्वाहा। ॐ सोमाय स्वाहा। ॐ पितृभ्य: स्वधा।"

इस प्रकार के सब मन्त्र मेरा ही स्वरूप हैं। और इनमें वर्णित 'प्रजापति", "इन्द्र", "अग्नि" "सोम" और "पितृ" शब्द मेरे ही नाम हैं। इन सब मन्त्रों के द्वारा दी हुई आहुतियाँ जल, तिल, यव, तण्डुल, नैवेद्य, पुष्प, गन्ध, लेप, धूप, दीप वस्त्र दक्षिणा, पूंगीपल, इला, लवंग, पान पत्र और फलादि सब वस्तुएँ मुझे ही प्राप्त होती हैं। और वास्तव में वे सब मेरा ही रूप हैं। यों तो हवन सामग्री में अनेक वस्तुएँ डाली हुई होती हैं। जैसे यव, तिल, चन्दन, लवंग इलायची, मेवा, ठूठी, द्राक्षा, छूहारे, बादाम, अग्र, तग्र, काफूर इत्यादि परन्तु यदि उस में गाय का घी न हो तो सब वस्तुएँ व्यर्थ होती हैं इसलिए हवन किया जाने वाला आज्य या घृत मैं ही हूँ जैसे शरीर प्राणों के बिना व्यर्थ है इसी प्रकार मम स्वरूप घृत बिना सब हवन सामग्री निष्फल होती है। हाथी के पांव में सब का पांव होता है इस लिए केवल घृत कहने से उस में मिली हुई अन्य सब वस्तुओं का भी समावेश होता है। इस लिए शेष सब चरु-मिश्रित वस्तुएँ भी मेरा ही स्वरूप हैं। और जिस अग्नि में हवन किया जाता है वह भी मैं ही हूँ। और हवन रूप कर्म भी मैं ही हूँ। अर्थात् हुत भी मैं ही हूँ। इस सब कुछ कहने का आशय यह है कि वेदोक्त या लौकिक जितने भी शुभ कर्म या अनुष्ठान किए जाते हैं। उन में कर्त्ता, कर्म, करण और क्रिया सब कुछ मेरा स्वरूप समझ कर ही करना चाहिए। उस में सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण भी मैं ही हूँ। कहाँ तक कहा जाए। सारे संसार का सब कुछ मैं ही हूँ। यदि इस रहस्य को भली भान्ति समझ लिया जाए तो मोक्ष प्राप्ति में कोई सन्देह बाकी नहीं रहता है॥ १६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च॥ १७॥

पिता+अहम्+अस्य जगत:+माता धाता पितामह: वेद्यम्+पवित्रम् +ओङ्कार:+ऋक्+साम यजु:+एव च॥

पिता=(पुं०) पितृ [पाति रक्षति अपत्यम्√पा+तृच्+प्र० ए० व०=संतान की उत्पत्ति का कारण। सन्तान की रक्षा करने वाला। पिता। बाप।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

अस्य=इदम् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=इसका।

जगत:=(नपुं०)√गम्+क्विप्, नि० द्वित्व, तुगागम=जगत्+षष्ठी० ए० व०=जगत् का।

माता=(स्त्री०) मान्यते पूज्यते या सा, √मान्+तृच्, नलोप नि०=मातृ+ प्र०, ए० व०=पूजने योग्य। सन्तान को जन्म देने वाली।

धाता=पुं०) धातृ [√धा (जुहो०, उभ० सक०=रखना)+तृच्]+प्र० ए० व०=धाता=विधाता। पालन पोषण करने वाला। पुण्य-पाप-रूप कर्मों का फल देने वाला। धारण करने वाला।

पितामहः=(पुं०) पितृ+डामहच्=पितामह+प्र० ए० व०=बाबा। दादा। बाप का बाप।

वेद्यम्=(वि०)√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+ण्यत्=जानने योग्य।

पवित्रम्=(वि० नपुं०)√पू (भ्वा० आत्म०, क्रया० उभ०, सक०)+इत्र=पवित्र=प्र० ए० व०=पवित्र।

ओङ्कारः=(पुं०) ओम्+कार=ओङ्कार+प्र० ए०व०=भगवान् का वह नाम जो वेद मन्त्र के पूर्व पढ़ा जाता है। ऋक्=(स्त्री०) ऋच्यते स्तूयते अनया इत्यर्थे√ऋच् (तुदा० पर० सक० अक०=प्रशंसा करना)+क्विप्=ऋच्+प्र० ए० व०=ऋक्=ऋग्वेद।

साम=(नपुं०) सामन् [√सो (दिवा० पर० सक०)+मनिन्]+प्र० ए० व०=साम=साम वेद।

यजुः=(नपुं०) इज्यतेऽनेन, √यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना)+उसि=यजुस्+प्र० ए० व०=यजुः=यजुर्वेद।

एव=(अव्यय) (ऐसे ही। ही (हूँ)।

च=(अव्यय) और।

अर्थ—मैं इस जगत् का पिता, माता, धाता तथा पितामह हूँ। जानने योग्य हूँ, पवित्र हूँ, ओङ्कार हूँ, ऋग्वेद, सामवेद यजुर्वेद और (अथर्वण वेद) हूँ॥ १७॥

व्याख्या—हे अर्जुन! पृथिवी, आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह और नक्षत्र जो कुछ भी जहाँ कहीं विद्यमान है। इस सम्पूर्ण प्रपंच का नाम जगत् है। इस जगत् का उत्पन्न करने वाला पिता मैं ही हूँ और जन्म देने वाली माता भी मैं ही हूँ। अर्थात् पुरुष और प्रकृति दोनों मेरे ही स्वरूप हैं। ईश्वर भी मैं ही हूँ। माया भी मैं ही हूँ। ब्रह्मा भी मैं ही हूँ और उसकी जगत्-रचना करने की शक्ति भी मैं ही हूँ। पालन पोषण करने वाला विष्णु भी मेरा ही नाम है। उसकी शक्ति लक्ष्मी या माया भी मैं ही हूँ तथा प्राणियों के कर्मों का निर्णय करने वाला तथा उनके पुण्य पाप का फल देने वाला धर्म राज भी मैं ही हूँ। प्राणियों को सुख और दुःख की प्राप्ति भी मुझ से ही होती है। शिव और शक्ति भी मैं ही हूँ। मैं तो इस जगत् के पिता का भी पिता हूँ। पितामह हूँ। बाबा हूँ अर्थात् सब का दादा हूँ। यद्यपि राजा के सब कर्मचारी एक तुच्छ चौकीदार से लेकर प्रधान मन्त्री और मुख्य न्यायाधीश तक जो सम्पूर्ण राष्ट्र के

राज काज को चलाते हैं। वे जुदा जुदा और पृथक् पृथक् सत्ताधारी दिखाई देते हैं परन्तु उनके द्वारा सब वही कार्य किए जाते हैं जो राजा की इच्छा के अनुकूल होते हैं इसलिए वे सब कार्य राजा के द्वारा किए हुए ही माने जाते हैं। इसी प्रकार जगत् का बनना बिगड़ना, पालित पोषित होना तथा सब जीवों के शुभाशुभ कर्मों के फल का सुख-दुःख के रूप में प्राप्त होना मुझ परमेश्वर के ही अधीन है। संसार का राजा, सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी नहीं होता तो भी राज्य भर में सारे काम उसकी इच्छानुसार करने का प्रयत्न किया जाता है, यद्यपि उन कार्यों की सम्पन्नता में कभी कभी त्रुटियाँ और उपद्रव भी उपस्थित होते हैं। परन्तु मैं तो सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी हूँ। इसलिए कोई कार्य भी मेरी इच्छा या इंगित के विरुद्ध न कभी हुआ है न होता है और न ही हो सकता है। इसी से मैं कहता हूँ कि इस संपूर्ण जगत् का पिता, माता, धाता और पितामह सब कुछ मैं ही हूँ। मेरे बिना शेष सब कुछ कल्पित और मिथ्या है। इसलिए केवल मैं ही एकमात्र जानने योग्य हूँ क्योंकि मुझे जान लेने से सब कुछ सहज ही जान लिया जाता है। मैं स्वयं पवित्र हूँ और शेष सब को पवित्र करने वाला हूँ। गंगा जल की भान्ति स्वच्छ और निर्मल हूँ। जप तप, तीर्थ, व्रत आदि सब में पवित्रता मेरे कारण से ही है और वे सब मेरी पवित्रता से ही अन्य सब को पवित्र करते हैं। मैं ही ओङ्कार हूँ अर्थात् मैं ॐ या परब्रह्म परमेश्वर हूँ इसलिए उस ॐ का लिखित या उच्चारण करने योग्य रूप ओङ्कार मैं ही हूँ। जिसे वेद के प्रत्येक मन्त्र के आदि और अन्त में पढ़ा जाता है तथा परब्रह्म की प्राप्ति के लिए जिस का योगी लोग निरन्तर ध्यान और जप करते हैं। नाम और नामी में भेद नहीं होता। दोनों एक ही होते हैं इस लिए ओङ्कार मैं ही हूँ। चारों वेद पवित्र ब्रह्म-वाक्य हैं। इस लिए ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्व वेद मेरे ही चार स्वरूप हैं। यद्यपि श्लोक में अथर्व वेद का स्पष्टतया उल्लेख नहीं है परन्तु अन्तिम 'च' शब्द द्वारा ही इस अथर्व वेद का संकेत कर दिया गया है। इन वेदों में जो ऋचाएँ, गीत, यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र तथा पद्य-गीत और गद्य रूप तीन प्रकार के मन्त्र हैं वे सब भी मेरे ही स्वरूप हैं। इस जगत् का प्रमाता मैं हूँ। प्रमाण मैं हूँ और प्रमेय भी मैं ही हूँ। वास्तव में मैं ही सब कुछ हूँ। मेरे प्रकाश से ही यह सब प्रपंच भासमान है ॥ १७ ॥

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

गतिः=भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणम्+सुहृत् । प्रभवः प्रलयः स्थानम् +निधानम्+बीजम्+अव्ययम् ॥

गतिः=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+प्र० ए० व०=प्राप्ति स्थान । अन्तिम पहुँच । पहुँचने योग्य स्थान । निष्काम कर्म का फल ।

भर्ता=(पुं०)√भृ (भ्वा० जुहो० सक०=पोषण करना)+तृच्=भर्तृ+प्र० ए० व०=भर्ता=पालन पोषण करने वाला। सहारा देने वाला।

प्रभुः=(वि० पुं०) प्र√भू+डु=प्रभु+प्र० ए० व०=स्वामी। सब को सुख देने वाला। सब से बड़ा अधिकारी। नियंता।

साक्षी=(पुं०) साक्षिन् [यह शब्द दो तरह से बनता है। (१) सह अक्षि अस्य—सह+अक्षि+इनि, सहस्य सादेशः। (२) साक्षात् (अव्यय) +द्रष्टरि अर्थ में इन् प्रत्यय (पाणिनि० ५।२।९१) Iye-witness। चश्मदीद गवाह।]+प्र० ए० व०=प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को सदा सब जगह देखने वाला।

निवासः (पुं०=) नि√वस् (भ्वा० पर० अक०=वसना। अदा० आत्म० सक०=ढकना। दिवा० पर० सक०=रोकना। चुरा० पर० सक०=स्नेह करना, अक०=निवास करना)+घञ्=निवास+प्र० ए० व०=घर। डेरा। विश्राम स्थान। सबका निवास स्थान। यस्मिन् प्राणिनो निवसन्ति।

शरणम्=(नपुं०) शृणाति दुःखम् अनेन,√शृ (क्र्या० पर० सक०)+ल्युट्=शरण+प्र० ए० व०=शरण लेने योग्य। शरणागतों के दुःखों को दूर करने वाला। आश्रय स्थल। आर्तानां प्रपन्नानाम् अर्तिहरः। पनाहगाह। बचाव की जगह। आश्रय।

सुहृत्=(पुं०) सुष्ठु हृदयं यस्य ("मित्र" के अर्थ में "हृद्" का आदेश होता है) सु+हृद्=सुहृद्+प्र० ए० व०=सुहृद् या सुहृत् (वावसाने—पाणिनि० ८।४।५६।। अवसाने झलां चरो वा स्युः)=बिना प्रत्युपकार चाहे उपकार करने वाला। बिना प्रयोजन हित करने वाला। शुद्ध पवित्र, अच्छे हृदय वाला। (बहुव्री०)

प्रभवः=(पुं०) प्रभवति अस्मात्, प्र√भू+अप्=प्रभव+प्र० ए० व०=जन्म-स्थान। उत्पत्ति। उत्पादक। रचयिता।

प्रलयः=(पुं०) प्रलीयते अस्मिन्, प्र√ली+अच्=प्रलय+प्र० ए० व०=कल्पान्त में संसार का नाश। प्रलय करने वाला।

स्थानम्=(नपुं०)√स्था+ल्युट्=स्थान+प्र० ए० व०=रहने की जगह। स्थिति का कारण। टिकाव। पड़ाव।

निधानम्=(नपुं०) नि√धा+ल्युट्=निधान+प्र० ए० व०=प्रलय काल में सारे भूत सूक्ष्मरूप से जिसमें लीन होकर स्थित होते हैं। जीवों या सम्पूर्ण भूतों का खज़ाना।

बीजम्=(नपुं०) विशेषेण कार्य रूपेण अपत्यतया च जायते, वि√जन्+ड, उपसर्गस्य दीर्घः । अथवा—विशेषेण ईजते कुक्षि शरीरं वा गच्छति, वि√ईज्+अच्=बीज+प्र० ए० व०=बीज । उपादान कारण ।

अव्ययम्=(वि० नपुं०) न व्ययः यस्य (नञ् बहुव्री०) । वि√इण्+अच्=व्यय । प्र० ए० व०=सदा रहने वाला अविनाशी ।

अर्थ—हे अर्जुन ! (मैं) गति [प्राप्त करने योग्य], भर्ता [संसार का पालन पोषण करने वाला], प्रभु [जगत् का स्वामी और नियन्ता], साक्षी [समस्त संसार के शुभाशुभ कर्मों को देखने वाला], निवास [सब का विश्राम स्थान], शरण [शरणागतों के दुःखों को दूर करने वाला], सुहृद् [बिना प्रत्युपकार चाहे, उपकार और हित करने वाला], प्रभव [उत्पत्ति करने वाला], प्रलय [कल्पान्त में संसार का नाश करने वाला], स्थान [बीच में संसार का स्थिर रखने वाला], निधान [संपूर्ण भूतों का खज़ाना या एकत्रित और सुरक्षित रहने का स्थान], बीज [सब की उत्पत्ति का कारण] और अव्यय [अविनाशी] हूँ ॥ १८ ॥

व्याख्या—जन्म मरण के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए परमा गति या अविनाशी पद केवल मैं परमात्मा ही हूँ । जिस प्रकार एक अच्छा भर्ता या पति अपनी स्त्री और बच्चों का पालन पोषण करता है इसी प्रकार मैं भी सम्पूर्ण प्राणि वर्ग की रक्षा और पालन पोषण करता हूँ । मैं ही समस्त संसार का प्रभु हूँ । मालक हूँ । स्वामी और नियन्ता हूँ । कहीं भी कोई कार्य मेरी देख रेख के बिना नहीं होता है । सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, आकाश, वायु, वरुण, यम, नक्षत्र और सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर मेरी आज्ञा का पालन करते हुए अपने नियत कार्यों के करने में सतत लगे हुए हैं । मैं सर्वत्र व्यापक और सर्व व्यापक हूँ । मेरी आँखों का अन्त नहीं । मेरे कानों को कोई गिन नहीं सकता । कोई जीव मुझ से छिपाकर कोई भी काम नहीं कर सकता है । मैं सब का साक्षी हूँ । सब के शुभाशुभ कर्मों का चश्मदीद गवाह हूँ । एक बार एक उपाध्याय ने अपने शिष्यों की परीक्षा करते हुए उन्हें आज्ञा दी कि तुम सब लोग रात्रिकाल में नगर में जाओ और किसी ऐसे धनी के घर से धन चुरा कर मेरे लिए लाओ जहाँ पर कोई देखता न हो । सब शिष्य गुरु की आज्ञा मान कर इस कुकर्म को करने के लिए तैयार हो गए परन्तु एक शिष्य मूक वत् निश्चेष्ट होकर बैठा रहा । जब गुरु ने उससे अपनी आज्ञा की अवज्ञा का कारण पूछा तो उसने कहा कि हे गुरुदेव ! सर्वत्र व्यापक प्रभु सब जगहों में सब को सदा देखता है । इसलिए आप की आज्ञा का पूरी तरह से पालन करना असंभव है । यह उत्तर सुन कर गुरु ने उस को परीक्षा में पास कर दिया और शेष सब शिष्य फ़ेल हो गए । इस कथा को सदा ध्यान में रख कर मुझे

जगत् का साक्षी समझना चाहिए। मैं सर्वदा सर्वत्र व्यापक हूँ। इसलिए सम्पूर्ण संसार मुझ में ही निवास करता है। अतः मैं ही सब का निवास स्थान हूँ। जब दीन दुःखी जन मेरी शरण में आते हैं, तो मैं उन के शरीर, की उन के कुटुम्ब की, उन की धन-सम्पत्ति की तथा उनकी मान मर्यादा की रक्षा करता हूँ। इस विषय में, ध्रुव, द्रौपदी, गजेन्द्र आदि अनेक भक्तों के उपाख्यान जगत् प्रसिद्ध हैं। इस कारण से मैं सब से बढ़ कर शरण लेने योग्य हूँ। इसी बात को समझ कर श्री वाल्मीकि जी ने मेरी प्रतिज्ञा को इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥"

[**अर्थ**—एक बार भी "मैं तेरा हूँ इस प्रकार कहकर मेरी शरण में आकर जो अभय याचना करता है मैं उस को सब भूतों के डर से निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।]

मैं किसी से कभी प्रत्युपकार की इच्छा नहीं करता हूँ, क्योंकि मेरा अपना कोई ऐसा कार्य नहीं है जो अपने आप ही नहीं हो जाता है मैं तो बिना कारण ही सब का हित करने वाला सच्चा सुहृद् हूँ। इसलिए "सुहृदं सर्वभूतां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति" (गी० ५।२९) अर्थात् "मुझ को समस्त भूत-प्राणियों का तत्त्व से सुहृद् जान कर मेरा भक्त परम शान्ति को प्राप्त होता है।" मैं सारे संसार के प्रभव या उत्पत्ति का कारण हूँ। सारी सृष्टि की रचना मेरे द्वारा ही होती है मैं ब्रह्मा का रूप धारण करके समस्त सृष्टि को रचता हूँ। रुद्र रूप में सृष्टि में प्रलय लाता हूँ और विष्णु रूप होकर सारे संसार का भरण पोषण करता हुआ उसकी स्थिति का कारण या स्थान बनता हूँ। इस प्रकार मैं सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता, संहर्ता और पालन-कर्ता हूँ। मैं ही सब वस्तुओं और सब जीवों का निधान या खजाना हूँ। महा प्रलय में सब कुछ कोष की भान्ति मुझ में ही एकत्रित हो जाता है फिर सृष्टि के उत्पत्ति काल में मुझ से धीरे-धीरे बाहर निकलने लगता है। इस प्रकार खजाने की भान्ति सदा जमा-खर्च होता रहता है और शंख पद्मादि निधि रूप भी मैं परमेश्वर ही हूँ। संसार का बीज अर्थात् उत्पत्ति का कारण भी मैं ही हूँ। उपरोक्त सब कुछ होने पर भी मैं अव्यय या अविनाशी हूँ क्योंकि मेरे बिना सब कुछ नाशवान् है और घटता बढ़ता रहता है। एक केवल मैं ही नाशरहित और एक रस रहता हूँ॥ १८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

तपामि+अहम्+अहम्+वर्षम्+निगृह्णामि+उत्सृजामि च। अमृतम्+च+एव मृत्युः+च सत्+असत्+च+अहम्+अर्जुन !

तपामि=√तप् (भ्वा० पर० अक०=तपना)+लट्० उ० पु०, ए० व०= तपामि। (मैं सूर्य रूप से) तपता हूँ। √तप् (चुरा० पर० सक०= तपाना, जलाना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=तापयामि, तपामि= (मैं) तपाता हूँ।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

अहम्=मैं।

वर्षम्=(पुं०, नपुं०) वृष् (भ्वा० पर० सक०=बरसना)+अच्=वर्ष+ द्विती० ए० व०=वर्षा को।

वा

√वृ (भ्वा० पर० सक०, स्वा० उभ० सक०, क्रया०) आत्म० सक०, चुरा०उभ० सक०)+स=वर्ष+द्विती० ए० व०=वर्षा को।

निगृह्णामि=नि√ग्रह् (क्रया० उभ० सक०=पकड़ना, रोकना, धारण करना) लट्० उ० पु० ए० व०=खींचता हूँ=थामता हूँ। धारण करता हूँ। रोकता हूँ।

उत्सृजामि=उत्√सृज् (तुदा० पर० सक०=छोड़ना, अंडेलना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) बरसाता हूँ।

च=(अव्यय) और।

अमृतम्=(नपुं०) अमृत+प्र० ए० व०=अमृतम्=सुधा। आवेहयात। अमृत। ऐसी वस्तु जिस के छिड़कने से मृतक जी उठे और जिस के पीने से जीवित प्राणी अजर-अमर हो जाए। देवताओं से भक्षण करने योग्य अन्न। अमरत्व। मोक्ष।

च=और।

एव=(अव्यय) ही=ऐसे ही।

मृत्युः=(पुं०)√मृ (तुदा० आत्म० अक०=मरना)+त्युक्=मृत्यु+प्र० ए० व०=मृत्युः=मौत। मृत्यु। शरीर से प्राणों का पृथक होना। मरना

च=और।

सत्=(वि०, पुं०, नपुं०)√अस्+शतृ, अकार लोपः=सत्+प्र० ए० व०= सत्। होता हुआ। सत्य। ब्रह्म। विद्यमान। अविनाशी।

असत्=(वि० नपुं०) न सत् (नञ् तत्पु०)=जिसका अस्तित्व न हो। मिथ्या। अविद्यमान। विनाशी।

च=और।
अहम्=मैं।
अर्जुन !=हे अर्जुन !

अर्थ हे अर्जुन ! में (अग्नि या सूर्य में छिपा हुआ सबको तपाता हूँ। मैं (बादलों में छिपा हुआ) वर्षा को (जल वाष्प रूप में) धारण करता हूँ। और (फिर) बरसाता हूँ। मैं अमृत हूँ। और ऐसे ही मृत्यु हूँ। सत् (अविनाशी पर-ब्रह्म) हूँ। और असत् (वास्तव में मिथ्या—जगत्) हूँ॥ १८॥

व्याख्या हे अर्जुन ! सूर्य और अग्नि में जो तेज और ताप है वह वास्तव में मैं ही हूँ। इस तेज और नाप से मैं सबको तपाता हूँ। जिससे संसार में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं और जगत् को जीवन मिलता है जब यह मेरा ताप समुद्रों, नदियों, सरोवरों तथा अन्य जल-स्थानों को तपाता है तो उनके जल, जल-वाष्प का रूप धारण कर लेते हैं। जो ताप से फैली हुई वायु के साथ मिले हुए मेरे द्वारा आकाश की ओर आकर्षित किए जाते हैं। और वायु के शीत-प्रधान खण्ड में पहुँच कर ठण्डे हो जाते हैं तथा सूच्याग्र भाग समाकार जलकणों का रूप धारण करके ऊपर के वायु-मण्डल में उड़ते हुए तैरने लगते हैं। इन जलकणों का संघात या समूह धूआं सा बनकर दृष्टिगोचर होने लगता है। इसी का नाम बादल या मेघ होता है। इस मेघ में मैं वर्षा को धारण करता हूँ और बरसने से रोकता हूँ। तथा मैं हवा के वेग से इन मेघों को पर्वतों के शिखरों की ओर उड़ा ले जाते हूँ। मार्ग में ऋण और धन विद्युत-शक्तियों वाले बादल जब परस्पर मिलते हैं तो उनकी टक्कर से तड़ित उत्पन्न होती है जो स्वर्ण-रेखा की भान्ति काले बादलों में चमकती है। तथा गड़गड़ाहट और गर्जन उत्पन्न करती है। यद्यपि ये दोनों कार्य एक साथ ही सम्पन्न होते हैं। परन्तु पृथिवी पर देखने वालों को बिजली की चमक, उसकी गर्जन सुनाई देने से बहुत पहले दिखाई देती है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रकाश का वेग एक सैकण्ड में एक लाख छयासी हज़ार मील होता है जबकि आवाज़ की चाल एक सैकण्ड में केवल ग्यारह सो फीट ही होती है। यह सब कार्य वास्तव में मेरे द्वारा ही किया जाता है फिर इन बादलों की टक्कर मैं ठण्डे पर्वतों से लगवाता हूँ। जिससे ये ठण्डे होकर सिकुड़ते हैं और वर्षा बरसाने लगते हैं वह वर्षा भी मैं ही बरसाता हूँ जब ये वर्षा की बूंदें अत्यन्त शीतल वायुखण्ड से गुज़र कर धरती पर गिरती हैं तो हिमोपल या ओले बनकर बरसती हैं। मैं कभी-कभी इन मेघों को अत्यन्त शीलल वायु-खण्डों में जल-बिन्दु बनने से पूर्व ही ले जाता है। जिससे जलवाष्प रूई के गालों की तरह बादलों से बर्फ बनकर गिरने लगते हैं। इस प्रकार मैं वर्षा को आकर्षण करके उसका निग्रह करता हूँ। और उसे बिन्दुओं ओलों और बर्फ के रूप में बरसाता हूँ।

मैं अमृत हूँ। जो मुर्दा प्राणियों को जीवित करता हूँ और जीवतों को अजर अमर बना देता है। जन्म-मरण चक्र से मुक्त करके मोक्ष प्रदान करता हूँ। देवताओं को भोजन बन कर प्राप्त होता हूँ। मैं ही प्राण हरण करने वाली मृत्यु हूँ। यम हूँ, यमराज हूँ काल भगवान् हूँ धर्मराज हूँ सत् या परब्रह्म-परमेश्वर हूँ। असत् या मिथ्या भासमान जगत् भी हूँ। सिनेमा में चलते फिरते, रोते, गाते, बोलते चालते तथा परस्पर प्रेम और द्वेष करते हुए जो व्यक्ति दिखाई देते हैं वे वास्तव में असत् या मिथ्या रूप है। जो मशीन में रखी हुई सलाईड या रील के फीते पर प्रकाश पड़ने से भासमान होते हैं वास्तव में तो वे कुछ भी नहीं हैं इसी प्रकार मेरा प्रकाश जब माया पट पर पड़ता है तो संसार दिखाई देने लगता है जो वास्तव में सिनेमा के चित्रों की भान्ति केवल मिथ्या या असत् है जब यह असत् मेरे कारण ही भासमान होता है तो यह असत् भी मैं ही हूँ ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक—
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देव-भोगान् ॥ २० ॥

त्रै-विद्याः+माम्+सोम-पाः पूत-पाधाः+यज्ञैः+इष्ट्वा स्वर्+गतिम्+प्रार्थयन्ते। ते पुण्यम्+आसाद्य सुरेन्द्र-लोकम्+अश्नन्ति दिव्यान+दिवि देव-भोगान ॥

त्रै-विद्याः=(पुं०) तिस्रो विद्याः समाहृताः यै ते—त्रै-विद्याः (बहुव्री०)= त्रै विद्या (त्रिविद्या+अण्)+प्र० ब० व०=ऋग्वेद, सामवेद, और यजुर्वेद जानने वाले विद्वान् लोग। ऋग्वेद की ऋचाएँ, सामवेद के गीत और यजुर्वेद के यजुसों द्वारा यज्ञ करने वाले। [यज्ञों में प्रायः इन तीनों वेदों के मन्त्र पढ़े जाते हैं। इसलिए चौथे वेद "अथर्व" का नाम यहां नहीं लिया गया है।]

तीनों वेदों में विधान किए हुए सकाम कर्मों को होता, अध्वर्यु और उद्गाता बन कर करने वाले। [त्रिविद्या, तदधीते अण्]।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

सोमपाः=(पुं०) सोमं (तद्रसं) पिवति ये ते=सोमपाः (बहुव्री०)=सोम+√पा+क=सोमपा+प्र० ब० व०=सोम रस पीने वाले। सोम—यज्ञ करने वाले।

[सोम नाम की एक बेल होती थी। जिसका रस अमृत तुल्य आयु और स्वास्थ्य को बढ़ाने वाला होता था। आजकल यह बेल संसार से लुप्तप्राय हो चुकी है। और कोई भी इसको जानने पहचानने वाला

नहीं हैं। देशपिता महात्मा गान्धी ने इस श्लोक पर निम्नलिखित टिप्पणी लिखी है—

"सभी वैदिक क्रियाएं फल-प्राप्ति के लिए की जाती थीं, और उसमें कई क्रियाओं में सोमरस पान होता था, उसका यहाँ उल्लेख है। वे क्रियाएँ क्या थीं ? सोमरस क्या था ? यह आज वास्तव में कोई नहीं कह सकता।"

पूत-पापा:=(पुं०) पूता: पापेभ्य: ये ते—पूतपापा: (बहुव्री०)=शुद्धकिल्विषा: =धुले हुए पापों वाले। पापों से रहित हुए।
[√पू (भ्वा० आत्म० सक० सेट्० दिवा० आत्म० सक० सेट्, क्र्या० सक० सेट=साफ करना, पवित्र करना)+क्त=पूत।

पाप=(नपुं०)√पा (भ्वा० पर० सक०=पीना, अदा० पर० सक०=बचाना, रक्षा करना)+प=पाप (पाति रक्षति अस्मात् आत्मा नम्। (पुं०) प्र० ब० व०॥

यज्ञै:=(पुं०) इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा, (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना, पूजन करना)√यज्+नङ्=यज्ञ+तृती० ब० व० =यज्ञों द्वारा।

इष्ट्वा=√यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना, पूजन करना)+क्त्वा= पूजन करके।

स्वर्+गतिम्=(स्त्री०) [स्वर्=(अव्यय)√स्वृ+विच्=स्वर्ग। गतिम= (स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+द्विती० ए० व०] स्वर्गे गमनं= स्वर्गति: ताम् (सप्त० तत्पु०)=स्वर्ग गति को। स्वर्ग प्राप्त करने के लिए।

प्रार्थयन्ते=प्र √अर्थ् (चुरा० आत्म० द्विकर्म=मांगना, याचना करना, प्रार्थना करना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=प्रार्थना करते हैं। मांग करते हैं। इच्छा करते हैं।

ते=तद् (सर्वनाम)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे।

पुण्यम्=(नपुं० पूयते अनेन, √पू+यत् णुगागम्, ह्रस्व=पुण्य+द्विती० ए० व०=पुण्य को। पुण्य के फल को।

आसाद्य=आ√सद् (भ्वा० तुदा० पर० अक०)+ल्यप्=पाकर। सम्प्राप्य, लब्ध्वा। प्राप्त करके।

सुर+इन्द्र-लोकम्=(पुं०) सुराणाम् इन्द्रस्य लोकम् (षष्ठी० तत्पु०) द्विती० ए० व०=देवताओं के राजा के लोक को। शतक्रतो: स्थानम् देवेन्द्र लोक को।

अश्नन्ति=√अश् (क्रया० पर० सक०=खाना; भोगना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=खाते हैं। भोगते हैं।

दिव्यान्=(वि०) दिवि भवान् तान्। √दिव्+यत्=दिव्य+(पुं०) द्वती० ब० व०=दैवी। स्वर्गीय। अलौकिक।

दिवि=(स्त्री०)√दिव् (दिवा० पर० अक०=चमकना)+डिव्=दिव्+सप्त० ए० व०=स्वर्ग में।

देव-भोगान्=(पुं०) देवानां भोगा: तान् (षष्ठी० तत्पु०) द्विती० ब० व०=देवताओं के भोगों को॥

अर्थ—(ऋक्, साम और यजुः) तीन वेदों को जानने वाले सोम रस को पीने वाले, पापों के धुल जाने पर पवित्र हुए, विद्वान् लोग, यज्ञों द्वारा मुझ को पूजकर स्वर्ग-प्राप्ति के लिए याचना या प्रार्थना करते हैं। (फिर जिस से) वे पुण्यों के फल को पाकर सुरेन्द्र लोक अर्थात् स्वर्ग को प्राप्त होकर (उस) स्वर्ग में देवताओं के (भक्ष्य) दिव्य भोगों को भोगते हैं॥ २०॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जो लोग लौकिक, वैदिक और ब्रह्मविद्या तीनों में निष्णात हैं अर्थात् जिन्हों ने विज्ञान, गणित, भूगोलादि लौकिक विद्याएँ अच्छी तरह से पढ़कर धन उपार्जन किया हुआ है और वेदों के विधान किए हुए यज्ञों को जानते हैं तथा ब्रह्मविद्या से भी परिचित हो चुके हैं। अथवा अन्य टीकाकारों के कथनानुसार ऋक्, साम और यजुः तीनों वेदों को पढ़े हुए हैं और उनके मन्त्रों द्वारा यज्ञ करने वाले लोग जो सोम रस पीकर पापों से पवित्र हो चुके हैं अर्थात् स्वर्ग-प्राप्ति के प्रतिबन्धक देव-ऋण रूप पाप से मुक्त हो चुके हैं। क्योंकि जब तक देव-ऋण न चुकाया जाए, तब तक स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती। इन्द्रादि देवताओं के निमित्त वेद-विहित यज्ञ करके ही देव-ऋण चुकाया जाता है। इस वैदिक यज्ञ में अध्वर्यु यज्ञ कराने वाला उपाध्याय या पुरोहित होता है और उद्गाता उस का साथी वेद मन्त्र पढ़ने वाला होता है तथा 'होता' स्वयं यजमान होता है। एक चौथा पुरुष जो ब्रह्मा कहलाता है यज्ञ की सम्पूर्ण क्रिया की शुद्धि की देख भाल की ओर ध्यान रखता है। इस प्रकार ये यज्ञ घृतादि सामग्री और सोमवल्ली के रस से किए जाते हैं। अन्त में सोमरस पी कर पापों से रहित हुआ जाता है। यद्यपि सब देवता मेरे ही स्वरूप हैं। परन्तु जब इन देवताओं की पूजा केवल स्वर्ग प्राप्ति के लिए की जाती है तो यज्ञ करने पाले लोग इन्द्रादिक के स्वर्ग लोकों को ही प्राप्त होते हैं और वहाँ बस कर अपने पुण्यों के फल के अनुसार दिव्य-देव-भोगों को भोगते हैं। जिनका वर्णन सन्त शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर जी ने इस प्रकार किया है—

"उस स्वर्ग में एक अमरत्व ही सिंहासन है। वहाँ बैठने के लिए ऐरावत और रहने के लिए राजधानी अमरावती है। वहाँ महा सिद्धियों के संग्रह, अमृत के भण्डार और कामधेनु के झुण्ड हैं। वहाँ सेवा के लिए सदा देवता प्रस्तुत रहते हैं वहाँ की धरती पर चिन्तामणि के फर्श बने हैं और क्रीड़ा के लिए चारों ओर कल्प तरु के उपवन हैं। वहाँ गन्धर्व गान करते हैं रम्भा सरीखी अपसराएँ नाचती हैं और उर्वशी आदि विलासिनी स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं। वहाँ शयनागार में स्वयं मदन सेवन करता है, चन्द्रमा आंगन में छड़काव करता है और वायु सरीखे नौकर चाकर बराबर इधर उधर दौड़ कर सब काम करते रहते हैं। वहाँ ऐसे स्वस्तिवाचन करने वाले ब्राह्मण होते हैं जिन में स्वयं वृहस्पति मुख्य हैं। वहाँ उच्चैः श्रवा घोड़ा है।"

जो लोग इन्द्रादिक देवताओं को मेरा स्वरूप मान कर निष्काम भाव से ही यज्ञादि कर्म करते हैं। उनको मेरी प्राप्ति ही होती है। जिस से उनका पुनः जन्म नहीं होता। परन्तु स्वर्ग-प्राप्ति होने के बाद पुण्यों के क्षीण होने पर पुनः इस लोक में वापस लौट कर जन्म धारण करना पड़ता है। जैसा कि अगले श्लोक में बताया गया है ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

ते तम्+भुक्त्वा स्वर्ग-लोकम्+विशालम्+क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोकम्+विशन्ति। एवम्+त्रयी-धर्मम्+अनुप्रपन्ना, गत+आगतम्+काम-कामाः+लभन्ते ॥

ते=तद् (सर्वनाम)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे। (श्लोक २० में कहे हुए लोग)

तम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको।

भुक्त्वा=√भुज् (रुधा० उभ० सक०=भोगना)+क्त्वा=भोग कर।

स्वर्ग-लोकम्=(पुं०) स्वर्गस्य लोकम् (षष्ठी० तत्पु०) द्विती० ए० व०=स्वर्ग के लोक को।

विशालम्=(वि० पुं०) वि०+शालच्=विशाल+द्विती० ए० व०=विशाल को। विस्तीर्ण को। विस्तृत को।

क्षीणे=(वि०)√क्षि (भ्वा० पर० अक०=क्षय होना)+क्त, दीर्घः=क्षीण+(नपुं०) सप्त० ए० व०=क्षय होने पर। समाप्त होने पर।

पुण्ये=(नपुं०) पूयते अनेन, √पू+यत्, णुगागम, ह्रस्व=पुण्य+सप्त० ए० व०=पुण्य होने पर। पुण्य के। किए हुए शुभ कर्मों के फल के।

मर्त्य-लोकम्=(वि०) मर्त (पुं०, √मृ+तन्=मनुष्य+यत्=मर्त्य (मरणशील—प्राणिमात्र) मर्त्यानाम् लोकम् (षष्ठी तत्पु०)=मरणशीलों के लोक को (द्विती० ए० व०)। मृत्यु लोक में।

विशन्ति=√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना)+लट्० प्र० पु० ब० व०=प्रवेश करते हैं।

एवम्=(अव्यय)√इ+वनु (वा०)=इस प्रकार।

त्रयी-धर्मम्=त्रि+अयच्=त्रय+ङीष (स्त्री०)=त्रयी=ऋक्, यजुः और साम, इन तीनों वेदों की गठड़ी (समूह)। त्रयीधर्म (पुं०) नपुं०)+द्विती० ए० व०=तीनों वेदों में कथित धर्म को (सकाम कर्म को)।

अनुप्रपन्नाः=अनु प्र√पद् (दिवा० आत्म० सक०, अक०=प्राप्त होना)+क्त=अनुप्रपन्न+(पुं०) प्र० ब० व०=प्राप्त हुए।

गत+आगतम्=गतं च आगतं च (द्वन्द्व स०)। √गम्+क्त+द्विती० ए० व०=जाने को। आ+√गम्+क्त+द्विती० ए० व०=आने को। जाने और आने को। मर कर जाने और जन्मने के लिए वापस लौट कर आने को। आवागमन को।

काम-कामाः=(पुं०) कामान् कामयन्ते इति कामकामाः (प्र० ब० व०)=विषय वासनाओं को चाहने वाले। विषय वासनाओं से युक्त।

लभन्ते=√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना)+लट्० प्र० पु०, ब० व० प्राप्त करते हैं।

अर्थ—वे उस विशाल स्वर्ग लोक को भोगकर (किए हुए) पुण्यों के क्षीण होने पर मर्त्यलोक में (जन्म लेने के लिए) प्रवेश करते हैं। इस प्रकार (स्वर्ग प्राप्ति के साधन रूप) त्रयी धर्म को प्राप्त हुए (अर्थात् तीनों वेदों में विधान किए हुए यज्ञादि सकाम कर्मों को करते हुए) भोगों की कामना वाले गत और आगत (अर्थात् पुण्य कर्म करके स्वर्ग-लोक को जाने और पुण्य क्षीण हो जाने पर धरती पर आकर जन्म लेने) को प्राप्त होते हैं॥ २१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस पृथिवी से स्वर्ग लोक का विस्तार अत्यन्त अधिक है। वहां की भोग्य वस्तुओं की गिनती ही नहीं हो सकती। सुन्दर श्वेत स्वर्ण-कलश-युक्त भवन देखते ही बनते हैं उनमें अपार सुख-सामग्री सर्व-काल जुटी रहती है। इच्छा होते ही सब कुछ प्राप्त होता है। दिव्य और अत्यन्त सुन्दर पुत्र-कलत्र सदा सब को प्राप्त होते हैं। कामधेनु प्रत्येक

घर में बिना बन्धन ही सदा विद्यमान रहती है। जो स्वयं सब कुछ देने वाली होती है और अत्यन्त शुद्ध और पवित्र रूप धारण किए हुए होती है। सब के चढ़ने के लिए घोड़े, हाथी और नाना प्रकार के वाहन हैं। गर्मी, सर्दी और वर्षा का कहीं भी कोई कष्ट नहीं होता। मक्खी, मच्छर, डांस, कोबे और गीध आदि देखने को भी कभी नहीं मिलते। सदा वसन्त ऋतु वर्तमान रहती है। उपवनों में सदा-बिहार कल्पतरू आदि वृक्ष सुन्दर मनोहर रूप धारी दृष्टिगोचर होते हैं। जिनसे दिव्य-सुगन्धियाँ निकल कर वातावरण को मस्त और मोहक बनाए रखती हैं। सब ओर मनमोहिनी छटा छिटकी रहती है। जगह-जगह अमृत के कुण्ड भरे रहते हैं। गन्दगी, पाप, परिताप संताप और हिंसा वहाँ कहीं भी नहीं होते। रोग और शोक का वहां लेश मात्र भी नहीं होता। क्योंकि जरा और मृत्यु से कोई ग्रस्त ही नहीं होता। ऐसे स्वर्ग लोक की प्राप्ति बड़े पुण्य कर्मों से होती है जो तीनों वेदों में विधान किए हुए यज्ञों द्वारा किए जाते हैं परन्तु स्वर्गवास केवल उनको हो प्राप्त होता है जो लोग स्वर्ग-भोगों की विषय वासनाओं को मन में धारण करके ही त्रयीधर्म कर्म करते हैं। परन्तु उन लोगों को उस समय फिर पृथिवी पर वापस लौटकर जन्म धारण करना पड़ता है जबकि उनके किए हुए यज्ञादि पुण्यों का फल स्वर्ग-भोगों के रूप में भुक्त हो चुकता है। स्वर्ग में मिले हुए शरीर तो केवल प्रकाश के ही बने हुए होते हैं। अतः वहां पर उनकी मृत्यु नहीं होती। पुण्य समाप्त होने पर प्रकाश, प्रकाश में मिल जाता है और जीवात्मा पृथिवी पर आकर अपने पूर्व जन्म के बचे खुचे पाप-पुण्यों के फलस्वरूप जन्म धारण करता है। जिस प्रकार काफूर जैसी कोई वस्तु उड़कर लुप्त हो जाती है इसी प्रकार स्वर्ग में भोगों और सुखों के रूप में पूर्व जन्म कृत पुण्यों का फल भुक्त चुकने पर प्रकाशमय दिव्य देह से निकल कर जीवात्मा को पृथिवी पर जन्म लेने के लिए लौटना पड़ता है। यद्यपि स्वर्ग लोक में जीव को मर्त्यलोक की अपेक्षा सैंकड़ों गुणा अधिक चिर तक भोग भोगने होते हैं। परन्तु वह दीर्घ सुख-समय स्वप्नवत शीघ्र ही समाप्त हुआ भासमान होता है। जैसे सुख-स्वप्न देखने के अनन्तर जागने पर पुरुष को देखा हुआ सारा स्वप्न मिथ्या जान पड़ता है। वैसे ही भुक्त स्वर्गलोक सुख भी उस नवजात-शिशु को मिथ्या जान पड़ता है जिसका स्मरण होने पर वह रोने और बिलबिलाने लगता है। सन्तशिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर जी कहते हैं :—

"जिस प्रकार कोई व्यसनी पुरुष वेश्या के फेर में अपना सारा धन गँवा देता है और तब उस दरिद्रावस्था में उस वेश्या के द्वार पर जाना भी असम्भव हो जाता है। उसी प्रकार संगृहीत पुण्य समाप्त हो जाने पर स्वर्ग में गए हुए उनस काम त्रयीधर्मियों की जो लज्जास्पद अवस्था होती है। उसको आप किसी

धन समाप्त हुए उस वेश्या प्रेमी से पूछ सकते हैं जिसे अपमान पूर्वक वेश्या के घर से गलहत्थे दे कर निकाल दिया हो । यही अवस्था स्वर्ग में क्षीण पुण्य हुए जीव की होती है । इसी प्रकार जो लोग मुझ परब्रह्म परमात्मा की शाश्वत आत्मा को न पहिचान कर अपने पुण्य कृत्यों की सहायता से स्वर्ग लोग की याचना करते हैं । उन्हें वास्तविक अमरत्व नहीं प्राप्त होता । और अन्त में उन्हें मर्त्य-लोक में ही आना पड़ता है । और वे बार-बार कई-कई मास तक माता के गर्भाशय की गन्दगी में रह कर जन्म लेते और मरते रहते हैं ।।"

यदि ये सब त्रयीधर्म अर्थात् वैदिक यज्ञादिक कर्म निष्काम भाव से केवल परब्रह्म परमात्मा के निमित्त ही किए जाते हैं । तो मोक्ष-प्रद होकर पर-ब्रह्म परमेश्वर से मेल करा देते हैं । यदि ये कर्म सकाम भाव से स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त किये जाते हैं तो उनके सम्बन्ध में श्रुति इस प्रकार कहती है :—

"प्लवा ह्येते अदृढ़ यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्यु ते पुनरेवापि यान्ति ।।

[मुण्डक० १।२।७।।]

"**अर्थ**—निश्चय ही ये यज्ञ रूप अठारह प्लव (नावें अथवा उनके चलाने वाले नावक) अर्थात् सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और यजमान-पत्नी—ये सब अस्थिर या कच्चे हैं [नाव पक्ष में टूटने वाले हैं मल्लाह पक्ष में नातजुरुबेकार हैं] अर्थात् ये पार लंघाने वाले या मोक्ष दिलाने वाले नहीं हैं । कि जिन में अवरकर्म (परमात्मा के मेल से रहित दूसरा स्वर्ग-प्राप्ति-कर्म) सकाम कर्म (प्राप्त करना) बताया गया है । मूढ "केवल यही श्रेय (कल्याण का मार्ग) है ।" ऐसा मान कर इन सकाम यज्ञ आदिकों का अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं । निःसन्देह वे फिर भी बार बार जरा-मरण को प्राप्त होते रहते हैं । अर्थात् कुछ काल स्वर्ग में रह कर धरती पर वापस लौट कर जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं ।।"

इस लिये हे अर्जुन ! त्रयीधर्म यज्ञादि कर्म अवश्य करने चाहिएँ । परन्तु सकाम हो कर स्वर्ग पाने की इच्छा से नहीं । अपितु निष्काम भाव से केवल ईश्वर की प्राप्ति या मोक्ष पाने के निमित्त ही करने चाहिए ।। २१ ।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। २२ ।।

अनन्याः+चिन्तयन्तः+माम्+ये जनाः पर्युपासते । तेषाम्+नित्य+अभियुक्तानाम्+योग-क्षेमम्+वहामि+अहम् ।।

अनन्याः=(वि०) [नञ् बहुव्री०, नञ् तत्पु०] अनन्य+(पुं०) प्र० ब० व० =अन्य या दूसरे से सम्बन्ध न रखने वाले। एक निष्ठ। अनन्य भाव से मुझ में स्थित हुए। अभेद द्रष्टा। मुझ परमात्मा के साथ अभिन्न होकर तन्मय हुए।

चिन्तयन्तः=वि०)√चिन्त् (चुरा० पर० सक०=सोचना। स्मरण करना) +णिच्+शतृ=(निरन्तर) चिन्तन करते हुए (पुं०) प्र० ब० व०।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्वितीं० ए० व०=मुझ (परमेश्वर) को।

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=जो (भक्त लोग)।

जनाः=(पुं०)√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+अच्=जन +प्र० ब० व०=लोग। भक्त जन।

पर्युपासते=परि, उप,√आस् (अदा० आत्मा० अक० सक०=बैठना) +लट्० प्र० पु०, ब० व०=अच्छी तरह उपासते हैं। निष्काम भाव से भजते हैं।

[√आस्=बैठना—(लट् में) आस्ते, आसाते, आसते। आस्से, आसाथे, आध्वे। आसे, आस्वहे, आस्महे।]

तेषाम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी ब० व०=उनके।

नित्य+अभियुक्तानाम्+[नित्य=(वि०) नियमेन भवः, नि+त्यप्]। नित्यानां अभियुक्तानाम् [अभियुक्तानाम्=अभि√युज् (रुधा० उभ० सक० =जोड़ना। दिवा० आत्म० अक०=एकाग्रचित्त होना)+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=निरन्तर मुझ में एकाग्र चित्त हुओं का।

योग-क्षेमम्]=(पुं०) योगं च क्षेमं च (समाहार द्वन्द्व०, द्वितीं० ए० व० =योग और क्षेम को।

[योग=(पुं०)√युज्+घञ्=अप्राप्त वस्तुओं के प्राप्त कराने को) क्षेमम्=(पुं०)√क्षि+मन्=प्राप्त वस्तुओं की सुरक्षा को।]

वहामि=√वह् (भ्वा० उभ० सक०=ढोना, धारण करना। ज़िम्मे लेना। उठाना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=उठाता हूँ। धारण करता हूँ। अपने ज़िम्मे लेता हूँ।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

अर्थ—जो अनन्य (भाव से मुझ में स्थित हुए भक्त) जन मुझ (पर-ब्रह्म) को (निरन्तर) चिन्तन करते हुए अच्छी तरह उपासते हैं (अर्थात् निष्काम भाव से भजते हैं।) उन नित्ययुक्त (=निरन्तर मुझ में एकाग्रचित्त) हुओं के योग-क्षेम को मैं अपने ज़िम्मे लेता हूँ ॥२२॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि सब का जन्म-दाता और भरण पोषण करने वाला मैं परमेश्वर ही हूँ। परन्तु साधारण लोगों की दृष्टि में बीज से जन्म होने के कारण जगत् के माता पिता ही शिशु या बच्चे के जन्म दाता होते हैं और फिर वे ही उसका पालन पोषण और रक्षा करते हैं। जब वह जीव स्वावलम्बी होकर अपना निर्वाह करने योग्य हो जाता है तो अपने लिए रहने का स्थान, ओढ़ने और धारण करने के लिए वस्त्र और खाने के लिए भोजन स्वयं जुटाता है। इन सब सुख सुविधाओं तथा स्वशरीर की रक्षा भी स्वयं आप ही करता है। इन सब अप्राप्त वस्तुओं के प्राप्त करने का नाम "योग" है तथा इन प्राप्त वस्तुओं की तथा स्वशरीर की रक्षा करने का नाम क्षेम है।

जो लोग अनन्य या एकनिष्ठ चित्त से निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से मेरी उपासना करते हैं। उनके सांसारिक नित्य निर्वाह और जीवन भार को मैं अपने ऊपर उठाता हूँ। उन की रक्षा और देख भाल भी मैं स्वयं करता हूँ। क्योंकि ये लोग मुझ में नित्य अभियुक्त हुए अपने देह गेह धन धान्य परिवार और संसार से वियुक्त हो चुके होते हैं। माता पिता की तरह उनके खाने पीने और रक्षा की चिन्ता केवल मुझे ही करनी पड़ती है। मैं किसी न किसी रूप में इनके भोजन का प्रबन्ध करता हूँ। तन ढाँकने के लिए वसन देता हूँ। रहने के लिए निवास स्थान का प्रबन्ध करता हूँ। उनके शरीर सहित सब सामान की रक्षा करता हूँ आत्मा को पतित होने से बचाता हूँ। अपनी प्राप्ति कराने वाले साधन उत्पन्न कर देता हूँ। मन में अपने स्वरूप की झलक डालता हूँ। उनकी इच्छा के अनुसार राम, कृष्ण, विष्णु, ब्रह्मा, महेश, सिंहवाहिनी भगवती महा माई दुर्गा, गणेश और हनुमानादि रूपों में प्रकट होकर दृष्टि गोचर होता हूँ केवल यही नहीं हैं अपितु मैं सब प्रकार से इन अपने अनन्य प्रेमी नित्ययुक्त सब भक्तों की देख भाल, रक्षा और भरण पोषण करता हूँ। गोसाईं तुलसीदास के जीवन चरित्र में लिखा है—

एक दिन गोसाईं जी के स्थान पर रात को चोर चोरी करने आये, तो श्री रघुनन्दन भगवान् धनुष वाण लेकर चोरों को डराते रहे जिस से चोर चोरी न कर सके। प्रभात होने पर चोरों ने श्री गोसाईं जी से पूछा कि महाराज ! वह श्याम सुन्दर किशोर मूर्ति परम मनोहर कौन है ? जो रात को धनुष वाण लेकर आप के हाँ पहरा देता है ?

गोसाईं जी बोल उठे—

"तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।"

ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले प्रभु मेरी सब सामग्री की रक्षा करने का कष्ट सह रहे हैं। जो मुझे असह्य है। यह कह कर उन्होंने सब कुछ उसी घड़ी दान कर दिया।

महात्मा गाँधी इस श्लोक पद टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"इस प्रकार योगी को पहचानने के तीन सुन्दर लक्षण हैं—समत्व, कर्म में कौशल, अनन्य भक्ति। ये तीनों एक दूसरे में ओत प्रोत होने चाहिएँ। भक्ति के बिना समत्व नहीं मिलता, समत्व के बिना भक्ति नहीं मिलती और कर्म-कौशल के बिना भक्ति तथा समत्व का आभासमात्र होने का भय है।"

इसी प्रकार महाभारत शां० ३४८।७२ में नारायणीय धर्म के वर्णन में लिखा है—

मनीषिणो हि ये केचित् यतयो मोक्षधर्मिणः।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

ये+अपि+अन्य-देवता-भक्ताः+यजन्ते श्रद्धया+अन्विताः। ते+अपि माम्+एव कौन्तेय! यजन्ति+अविधि-पूर्वकम् ॥

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=जो।

अपि=(अव्यय) भी।

अन्य-देवता-भक्ताः=(पुं०) अन्यासु देवतासु भक्ताः (सप्त० तत्पु०) प्र० ब० व० अन्य देवताओं में भक्ति वाले। अन्यानांदेवतानां भक्ताः (षष्ठी० तत्पु०) =अन्य देवताओं के भक्त।

यजन्ते=√यज् (भ्वा० उभ० सक०=यज्ञ करना, पूजन करना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=पूजते हैं।

श्रद्धया=(स्त्री०) श्रत्√धा+अङ्-टाप्=श्रद्धा+तृती० ए० व०=श्रद्धा से। आस्तिक बुद्धि से।

अन्विताः=अनु√इण् (अदा० पर० सक०=जाना)+क्त=अन्वित+(पुं०) प्र० ब० व०=युक्त। अनुगत।

ते=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे अपि=भी।

अपि=भी।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

एव=(अव्यय) ही।

कौन्तेय!=हे कुन्ती पुत्र (अर्जुन)!

यजन्ति=√यज् (भ्वा० उभ० सक०)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=पूजते हैं।

अविधि-पूर्वकम्=अविधिः अज्ञानं तत्पूर्वकम्=अज्ञानपूर्वक। अभेद बुद्धि से रहित। मोक्ष के जानने वाली विधि के बिना। पर-ब्रह्म को प्राप्त

कराने वाली विधि के बिना। अज्ञान वश मुझ एक निरंजन निराकार को न जानकर।

अर्थ—हे भूआ कुन्ती के पुत्र अर्जुन! जो भी अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धा से युक्त हुए (अपने उन इष्ट देवताओं को) पूजते हैं [अथवा उनके लिए यज्ञ करते हैं] वे भी अविधिपूर्वक (उन देवताओं और मुझ में अभेद बुद्धि से अयुक्त-रहित हुए) मुझ को ही पूजते हैं॥ २३॥

व्याख्या—हे अर्जुन! सब देवता लोग वास्तव में मेरे ही सगुण स्वरूप हैं। चाहे वे प्रकाश के बने हुए स्वर्गीय अलौकिक स्वरूप धारी हों। चाहे राम कृष्ण आदि अवतारी पुरुष रूपधारी हों। चाहे ब्रह्मा, विष्णु, शंकर त्रिगुणात्मक रूपधारी हों, चाहे इन्द्र, वरुण, वायु, अग्नि, आदित्य रुद्र, लक्ष्मी, पार्वती, सरस्वती और गणेश आदि रूपों में हों, चाहे इनके प्रतीक मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, कांच या किसी चित्रपट के रूप में बने हुए हों। भले ही ये मन्दिर, स्तूप, मस्जिद, गुरुद्वारे, गिरजे या किसी झण्डा गड़ी कब्र के रूप में हों। परन्तु जब कोई इन में मेरा अव्यक्त स्वरूप समाया हुआ समझ कर मेरी ही पूजा करता है तो वह वास्तव में मेरी ही पूजा करता है और उनकी वह पूजा विधिपूर्वक होती है। परन्तु जब कोई पुरुष इन में मेरा अव्यक्त रूप न देख कर इन को हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई आदिकों के अथवा स्वमत के पूज्य स्थान या प्रतीक समझ कर पूजता है तो उस की वह पूजा उसे मुझ तक पहुँचाने वाली नहीं होती। अपितु इन हठवादियों की पूजा संसार में वैमनस्य फैलाने के कारण नरक में ले जाने वाली हो जाती है। यद्यपि मुझे गरुड़, सर्प, मृत्यु, अमृत, विघ्नकर्ता, विघ्नहर्ता, भयकृत, भयनाशक, शिव, अशिव वृष्टि बरसाने वाला तथा वृष्टि रोकने वाला इत्यादि पक्ष, विपक्ष दोनों रूपों में सब कुछ कहा जाता है और परमाणु से भी सूक्ष्मतम तथा विराट् पुरुष से भी महाविराट् पुरुष कहा जाता है। परन्तु ये सब कहने मात्र की बातें हैं। मैं तो इन सब से बहुत परे हूँ। मैं तो सत् असत् से भी बहुत परे हूँ। इसलिए मुझ सर्वव्यापी अचिन्त और निरंजन का ध्यान लगाया जाना अत्यन्त कठिन है और मेरी कृपा के बिना यह कार्य होता ही नहीं है। स्वच्छ चित्त की एकाग्रता के लिए पहले पहल मेरे किसी सगुण रूप का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु इस में अपने इष्ट प्रतीक के सम्बन्ध में वृथा अभिमान और दुराग्रह महा हानिकारण और मेरे मिलाप में बाधक होता है। इसलिए निरभिमान और दुराग्रह से रहित होकर साम्य बुद्धि की प्राप्ति के लिए मन को स्थिर करके मुझ परमेश्वर की अनेक सगुण विभूतियों में से किसी एक स्वरूप का चिन्तन करना पड़ता है। यह प्रतीक ईश्वर-प्राप्ति के लिए एक प्रकार का साधन या सीढ़ी बन जाता है। यद्यपि नाम-रूपात्मक और व्यक्त अर्थात् सगुण वस्तुओं में से किसी को भी लीजिए, वह सब माया ही हैं और असत् हैं। परन्तु

जो सत्रूप से भी परे मुझ परमेश्वर को देखना चाहता है। उसे सगुण रूप से अत्यन्त परे अपनी दृष्टि को ले जाना चाहिए। मेरे सब व्यक्त रूप भी वास्तव में माया ही हैं। मैं तो वाचा, नेत्र, कान आदि इन्द्रियों से अगोचर अव्यक्त रूप ही हूँ। श्रुति में कहा है—

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्यचाचक्षिरे ॥ ३ ॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुꣳषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳश्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥
यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राण: प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥
[केनोपनिषद प्रथम खण्ड मन्त्र ३ से ८ तक]

[**अर्थ**—वहां (उस ब्रह्म तक) चक्षु इन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती मन नहीं जाता, अत: जिस प्रकार शिष्य को इस ब्रह्म का उपदेश करना चाहिए वह हम नहीं जानते—वह हमारी समझ में नहीं आता। उस को हम न स्वयं अपनी बुद्धि से जानते हैं। और न दूसरों से सुन कर ही जानते हैं। वह विदित से अन्य ही है। तथा अविदित से भी परे है ऐसा हम ने पूर्व पुरुषों से सुना है, जिन्हों ने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया था ॥ ३ ॥

जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु जिस से वाणी प्रकाशित होती है। उसी को तू ब्रह्म जान। जिस इस (देश कालावच्छिन्न वस्तु) की (प्रतीक के तौर पर) लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ४ ॥

जो मन से मनन नहीं किया जाता, परन्तु मन जिससे मनन किया हुआ कहा जाता है। उस को तू ब्रह्म जान। जिस इस (देश कालावच्छिन्न) वस्तु की (प्रतीक के रूप में) लोक उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

जिसे कोई नेत्र से नहीं देखता, परन्तु जिसकी सहायता से नेत्र (अपने विषय को) देखते हैं। उसी को तू ब्रह्म जान। जिस इस (देशकालावच्छिन्न)

वस्तु की (प्रतीक के रूप में) लोक उपासना करता है। वह ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥

जिसे कोई कान से नहीं सुनता, परन्तु जिस की सहायता से वे कान सुनते हैं, उसी को तू ब्रह्म जान। जिस इस (देश कालावच्छिन्न) वस्तु की (प्रतीक के रूप में) लोक उपासना करता है। वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

जो प्राणों के द्वारा चेष्टायुक्त नहीं होता, प्रत्युत जिस से प्राण ही चेष्टा युक्त होता है। उसको ही तू ब्रह्म जान। जिस इस (देश कालावच्छिन्न) वस्तु की (प्रतीक के तौर पर) लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥]

कोई भी प्रतीक ब्रह्म नहीं होता। सब प्रकार के प्रतीक परमेश्वर की ओर प्रवृत्त करने के साधन तो बन सकते हैं। जिस से भक्त लोग अपनी इच्छा के अनुसार उपासना के लिए कोई न कोई प्रतीक स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु यदि वे उस में प्रकाशमान परब्रह्म का पूजन न करके श्रद्धापूर्वक उस प्रतीक का ही पूजन अर्चन करते हैं तो उन का यह सब प्रयास अविधि पूर्वक होता है जिस से भगवान् उस भक्त की इच्छा के अनुसार उसे स्वर्गादि तो प्राप्त करा देते हैं। परन्तु वह मोक्ष का अधिकारी नहीं बनता। क्योंकि भक्ति मार्ग में मनुष्य का उद्धार करने की जो शक्ति है वह किसी सजीव (गुरु, अवतार, ब्राह्मण, साधु महात्मा अथवा निर्जीव (मूर्ति, चित्र, पुस्तक, मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे गिरजा या तीर्थ) में नहीं है परन्तु उस प्रतीक में उपासक की जो ईश्वर भावना होती है वही तारक होती है यह बाह्य इन्द्रियों का विषय नहीं है यह परब्रह्म तो मन और बुद्धि से भी परे का विषय है। हमारी भक्ति का फल परमेश्वर देता है। प्रतीक नहीं देता। निर्जीव प्रतीक जो अपने ऊपर बैठे हुए चूहे, चिड़े, नेवले, सर्प और कुत्ते बिल्ले को भी हटा नहीं सकता। तो उस में फल देने की शक्ति कहाँ से आ सकती है? इसलिए जब मन में किसी वासना या कामना को रख कर किसी भी देवी देवता की उपासना या आराधना की जाती है, तो उसका फल सर्वव्यापी परमेश्वर ही देता है। न कि वे देवी देवता। दयालु प्रभु तो भाव का ही भूखा है, किसी विशेष प्रतीक का नहीं। चाहे विधि या साधन शास्त्र के अनुसार न हो। तथापि अन्य देवताओं का श्रद्धा पूर्वक अर्थात् उन में परब्रह्म का भाव रखकर भजन करने वाले लोग पर्याय से मेरा ही पूजन करते हैं। मेरा असली रूप तो सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और उस के भी परे अचिन्त्य है। मेरा दृश्य स्वरूप तो केवल माया ही है। और यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए इस माया से परे जाना चाहिए। इस लिए विधि पूर्वक मेरा पूजन करने से मेरी प्राप्नि सीधे मार्ग से होती है और शीघ्र होती है।

सन्त शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर जी इस श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"इसके सिवा और भी अनेक सम्प्रदाय हैं, परन्तु उनके अनुयायी मेरा सर्व व्यापक रूप नहीं जानते। वे अग्नि, इन्द्र, सूर्य और सोम के उद्देश्य से यज्ञ करते हैं। वे यज्ञ भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। क्योंकि यह सारा विश्व भी मैं ही हूँ। परन्तु यह उपासना-प्रणाली सीधी नहीं बल्कि टेढ़ी है। देखो, वृक्ष की शाखायें और पत्ते सब एक ही बीज से उत्पन्न होते हैं। परन्तु सब के लिए पानी ग्रहण करने की क्रिया जड़ ही करती है। इस लिए जड़ में ही पानी देना ठीक है। अथवा मनुष्य के शरीर में दस इन्द्रियाँ होती हैं।और ये सब एक ही शरीर में होती हैं। और ये इन्द्रियां भिन्न-भिन्न विषयों का सेवन करती हैं। वे सब विषय भी अन्त में एक ही स्थान में जाते हैं। तो भी क्या कोई भोजन कानों में डालता है? तथा फूल क्या आँखों से सूँघता है? नहीं। अन्न मुख में डालना होगा और सुगन्ध का अनुभव नाक से करना होगा। इसी प्रकार मेरा वास्तविक स्वरूप समझ कर ही मेरी उपासना की जानी चाहिए।"

महाभारत शान्ति पर्व में इस अविधि पूर्वक पूजन का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

"ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम् ॥"

[अर्थ -ब्रह्मा को, शिव को, अथवा और दूसरे देवताओं को मेरा ही रूप जान कर) भजने वाले साधु परुष भी मुझ में ही आ मिलते हैं॥ ३४१।३५॥

इस श्लोक में स्वामी शंकराचार्य जी ने—"अन्यदेवता-भक्ताः" का अर्थ "अन्यासु देवतासु भक्ताः" अर्थात् "अन्य देवताओं में भक्ति रखने वाले" किया है। परन्तु गीता प्रेस गोरख पुर वालों ने—"अन्य-देवताः+भक्ताः" अर्थात् '(सकामी) भक्त दूसरे देवताओं को" किया है। हमारे विचार में व्याकरण की दृष्टि से दोनों ही प्रकार का अर्थ किया जा सकता है॥ २३ ॥

अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

अहम्+हि सर्व-यज्ञानाम्+भोक्ता च प्रभुः+एव च। न तु माम् +अभिजानन्ति तत्त्वेन+अतः+च्यवन्ति ते ॥

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

सर्व यज्ञानाम्=सर्वेषां यज्ञानाम् (षष्ठी० तत्पु०) (पु०) षष्ठी ब० व० =(श्रौत और स्मार्त) सब प्रकार के यज्ञों का।

भोक्ता=(वि० पु०) भोक्तृ (√भुज्+तृच्)+प्र० ए० व०=भोक्ता। खाने वाला। भोग करने वाला। काम में लाने वाला। बरतने वाला।

च=(अव्यय) और।

प्रभुः=(वि० पुं०) प्रभु (प्र√भू+डु)+प्र० ए० व०=बलवान् । मालक । स्वामी ।

एव=(अव्यय) ही ।

च=(अव्यय) और ।

न=(अव्यय) न, नहीं ।

तु=(अव्यय) परन्तु ।

माम्=अस्मद् (अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को ।

अभिजानन्ति=अभि√ज्ञा (क्र्या० पर० स०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=अच्छी तरह जानते हैं ।

तत्त्वेन=(नपुं०) तत्त्व (√तन्+क्विप्, तुक् पृषो० साधुः तस्य भावः, तत् +त्व) तृती० ए० व०=तत्त्व से । यथार्थ रूप से । वास्तविक रूप से ।

अतः=अतस् (इदम्+तसिल्) (अव्यय)=इस से । इस कारण से । इसलिये ।

च्यवन्ति=√च्यु (भ्वा० उभ० अक०=गिरना)+लट्० प्र० पु०, ब० व० गिरते हैं । पतित हो जाते हैं ।।

ते=तद् (सर्व०)+(पु०) प्र० ब० व०=वे ।।

अर्थ—क्योंकि मैं ही सब (श्रौत और स्मार्त) यज्ञों का भोक्ता (भोग करने वाला) और स्वामी हूँ परन्तु मुझ को वे (अविधि पूर्वक यज्ञ करने वाले) तत्त्व से (वास्तविक रूप में) अच्छी तरह से नहीं जानते हैं । इस लिए गिर जाते हैं । अर्थात् स्वर्ग भोग कर फिर पृथिवी पर लौट कर जन्म धारण करते हैं) ।। २४ ।।

व्याख्या—ऋग्वेद में लिखा है—

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।"

(ऋ० १।१६४।४६)

अर्थात् परमात्मा (तो) एक है, परन्तु पण्डित लोग उसी को अग्नि, यम और वायु आदि बहुत रूपों में वर्णन करते हैं ।।

महाभारत शां० ३४५।२६।२७।। में लिखा है—

"ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा ।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा ।।
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ।"

[**अर्थ**—जो लोग पितरों, देवों, गुरुओं, अतिथियों, ब्राह्मणों, गौओं, पृथिवी और माता आदि को पूजते हैं । वे पर्याय से कर्म, मन, वचन द्वारा मुझ विष्णु को ही पूजते हैं । यद्यपि उन का यह पूजन टेढ़ी रीति से या घूम फिरा कर होता है ।।]

इस प्रकार सब लोग केवल एक मुझ परमात्मा की ही पूजा करते हैं। क्योंकि यह सारा संसार मुझ भगवान् का ही विराट् रूप है। सारे देवता मेरे ही अंग हैं। वास्तव में मैं ही सबका आत्मा हूँ। जिस प्रकार देवताओं और पितरों के नाम से गंगा-जल, गंगा में ही अर्पण किया जाता है। उसी प्रकार यज्ञ आदि विधानों के द्वारा वास्तव में मेरी ही पूजा की जाती है। जो लोग अविधि पूर्वक अर्थात् उस देवता और मुझ परमात्मा में अभेद बुद्धि से रहित हुए जो यज्ञादि पूजन करते हैं। यद्यपि वे मेरे लिए ही होते हैं। परन्तु उन सकाम याज्ञिकों को मोक्ष रूप फल प्राप्त नहीं होता। वे तो केवल मुझे तत्त्व से न जानने के कारण अपने उपास्य देवताओं के लोक को ही प्राप्त होते हैं। और इन पुण्य कर्मों का स्वर्गीय फल भुक्त हो जाने के बाद पृथिवी पर गिर कर जन्म लेते हैं। स्वर्ग लोक में लाखों वर्ष के दीर्घ काल का निवास भी स्वप्नवत् व्यतीत हो जाता है। इसलिए स्वर्गादि सुखों की कामना से भेद बुद्धि रखकर देवताओं का पूजन-अर्चन निष्फल होता है। अतः जितने भी श्रौत समार्त यज्ञादि कर्म किसी भी देवता के निमित्त किए जायें, उन में देवताओं को परब्रह्म परमेश्वर का रूप समझना चाहिए और वे सब कर्म परमेश्वर के निमित्त ही होने चाहिएं। चाहे "इन्द्राय स्वाहा" कहा जाए परन्तु धारणा यह होनी चाहिए कि यह आहुति मैं परमात्मा के लिए देता हूँ। न कि किसी विशेष परमात्मा से भिन्न देवता के लिए ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

यान्ति देव-व्रताः+देवान् पितॄन् यान्ति पितृ-व्रताः। भूतानि यान्ति भूत+इज्याः+यान्ति मत्+याजिनः+अपि+माम् ॥

यान्ति=√या (अदा० पर० अक०=जाना, प्राप्त होना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=प्राप्त होते हैं।

देव-व्रताः=(वि० पुं०) देवेषु व्रतं (नियमो भक्तिः च) येषां ते (बहुव्री०)= देवव्रत धारी लोग। देवताओं की पूजा करने वाले। (प्र० ब० व०)

देवान्=(पुं०) दिव्+अच्=देव+द्वितो० ब० व०=देवताओं को।

पितॄन्=(पुं०) पाति रक्षति अपत्यम् √पा+तृच्=पितृ+द्वितो० ब० व०= पितरों को।

यान्ति=प्राप्त होते हैं।

पितृ-व्रताः=(वि० पुं०) पितृषु व्रतं (नियमो भक्ति च) येषां ते (बहुव्री०) (प्र० ब० व०)=श्राद्ध आदि क्रियाओं के परायण हुए पितृ-भक्त लोग।

भूतानि=(नपुं०)√भू+क्त=भूत+द्विती० ब० व०=भूतों को। भूत प्रेतों को।

यान्ति=प्राप्त होते हैं।

भूत+इज्याः=(वि० पुं०) (भूतेभ्यः) भूतानां यजन्ते ये ते। (बहुव्री०) प्र० ब० व०=भूतानां पूजकाः=भूत प्रेतों को पूजने वाले।

यान्ति=प्राप्त होते हैं।

मत्+याजिनः=(पु०) मद्यजनशीलाः। मेरे पूजक। मेरी पूजा करने वाले [बहुव्री०, प्र० ब० व०]

अपि=(अव्यय) भी। ही।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती, ए० व०=मुझ को।

अर्थ—देवताओं को पूजने वाले (मर कर) देवताओं को प्राप्त होते हैं। पितरों को पूजने वाले (मरकर पितरों को प्राप्त होते हैं। भूत-प्रेतों को पूजने वाले (मर कर) भूत प्रेतों को प्राप्त होते हैं। और मुझ (परमेश्वर) को पूजने वाले (मर कर) मुझ (परमेश्वर) को ही प्राप्त होते हैं॥ २५॥

व्याख्या—हे अर्जुन! सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों में से किसी एक की अधिकता के कारण ही सब मनुष्य के स्वभाव और कर्मों में अन्तर होता है। इससे उनके इष्टदेव और उनकी पूजा के ढंग भी भिन्न-भिन्न होते हैं। जो लोग इन्द्रादि देवताओं के निमित्त ही हवन यज्ञ, बलिदान आदि कर्म करते हैं वे लोग मर कर देव लोक को प्राप्त होते हैं और अपने इन कर्मों के अनुसार देवता बनकर स्वर्ग के सुख और भोग भोगते हैं। ये देवताओं की सकाम पूजा करने वाले लोग देवव्रती कहलाते हैं। मेरे इस कथन से यह भाव कदापि नहीं समझना चाहिए कि देवताओं की पूजा, हवन, यज्ञ या दान-पुण्य नहीं करना चाहिए। बल्कि ये सब शुभ कर्म अवश्य करने योग्य हैं। परन्तु निष्काम भाव से केवल मेरे निमित्त ही करने चाहिएँ। तब ये सब मेरी प्राप्ति का कारण हो जाते हैं। यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि केवल एक मैं ही परमेश्वर सर्वत्र समाया हुआ हूँ। और मैं ही सब को उनकी उपासना का फल प्रत्येक के भाव के अनुरूप न्यून अधिक प्रदान करता हूँ। क्योंकि "यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम्। स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम॥" (महा० शां० ३५२।३॥)

अर्थात् जो पुरुष जिस-जिस भाव (या इष्टदेव) में निश्चय रखता है, वह उस-उस भाव के अनुरूप ही फल प्राप्त करता है।

"यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।"

(छां० उ० ३।१४।१॥

अर्थात् इस लोक में जैसा क्रतु (संकल्प) मनुष्य का होता है, मर कर उसे वैसी ही गति प्राप्त होती है।

श्रुति कहती है—

"यं यथा यथोपासते तदेव भवति"

अर्थात् जो पुरुष जिस देवता की उपासना करता है। वह मर कर उसी देवता का स्वरूप हो जाता है। इस प्रकार सब लोग अपने-अपने कर्मों, संकल्पों या विचारों के अनुसार ही मरने के अनन्तर फल प्राप्त करते हैं।

जो लोग देव यजन करते हैं वे सात्त्विक स्वभाव वाले होते हैं।

जो लोग श्रदादि कर्मों द्वारा अग्निष्वातादि पितरों की अराधना करते हैं। और वह उन पितरों में ईश्वरीय भाव को नेत्रों से ओझल रखते हैं वे पितृ-व्रतधारी कहलाते हैं। वे लोग मर कर पितृ लोक को ही प्राप्त होते हैं और अपने पुण्यों के अनुसार कुछ समय तक वहाँ निवास करते हैं तथा पितृव्रत धारी लोगों के द्वारा दिए गए श्राद्ध तर्पण, आदि के अन्नों का उपभोग करते हैं। ये लोग राजस वृत्ति वाले होते हैं। भूत प्रेतों का पूजन करने वाले भूतेज्य कहलाते हैं। ये लोग भूत प्रेतों को अपनी अराधना द्वारा प्रसन्न करके उनसे अन्य लोगों के मारण उच्चाटन तथा वशीकरण आदि के काम लेते हैं। इन लोगों की क्रियाएँ महा भ्रष्ट और अति निन्दनीय होती हैं। ये लोग श्मशान, मढ़ियों में बैठकर रात के अन्धकारों में अपनी इन क्रियाओं को करते हैं, ये कभी मसान जगाते हैं। कभी चुड़ैल को वशीभूत करते हैं। तो कभी प्रेतों से बातें करते हैं। इनके ये इष्टदेव भूत-प्रेत भी अत्यन्त घृणित वेषधारी होते हैं और अत्यन्त अपवित्र वस्तुओं को भक्षण करके खुश होते हैं। एक बार एक ऐसा ही प्रेत गोसाईं तुलसी दास के शौच से बचे हुए जल को पीकर प्रसन्न हो गया था। इन भूत प्रेतों को पूजने वाले लोग मरकर इन भूत-प्रेतों की योनियों में ही जन्म लेते हैं। ये लोग तामस होते हैं।

परन्तु निष्काम भाव से केवल मेरी ही पूजा करने वाले लोग मुझ को ही प्राप्त होते हैं। जिस से फिर उनका जन्म-मरण कभी नहीं होता ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्तया प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

पत्रम्+पुष्पम्+फलम्+तोयम्+यः+मे भक्त्या प्रयच्छति। तत्+अहम्+भक्ति+उपहृतम्+अश्नामि प्रयत+आत्मनः ॥

पत्रम्=(नपुं०)√पत् (भ्वा० पर० अक०=गिरना)+ष्ट्रन्=पत्र+द्विती० ए० व०=पत्र को। (किसी वृक्ष के (पत्ते को)।

पुष्पम्=(नपुं०)√पुष्प् (दिवा० पर० अक०=खिलना, विकसित होना)+अच्=पुष्प+द्विती० ए० व०=पुष्प को। फूल को। खिले हुए को।

फलम्=(नपुं०)√फल् (भ्वा० पर० अक०=फलना)+अच्=फल+द्विती० ए० व०=फल को। किसी पेड़ या बेल के गूदेदार बीजों को। [आम, खरबूजा, अंगूर, अमरूद, आड़ू, सेब, नाशपाती आदि को।]

तोयम्=(नपुं०)√तु+विच्, तवे पूर्त्यै याति,√या+क वा√तु+यत् निपा० साधु:=तोय+द्विती० ए० व०=जल को।

य:=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (भक्त)

मे=अस्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=मह्यम् (मे)=मेरे लिए। मुझ को। मुझ परमेश्वर के लिए।

भक्त्या=(स्त्री०) भक्ति (√भज्+क्तिन्)+तृती० ए० व०=भक्ति से। श्रद्धा पूर्वक।

प्रयच्छति=प्र√दा (जुहो० उभ० सक०=देना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= देता है।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उस (पत्ते, फूल, फल या जल) को।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं (परमेश्वर)।

भक्ति+उपहृतम्=(नपुं०) भक्त्या उपहृतम्=(तृती० तत्पु०, द्विती० ए० व०)।

[उपहृतम्=(नपुं०) उप√हृ+क्त=उपहृत+द्विती० ए० व०=भेंट किए हुए को] भक्ति से भेंट या अर्पण किए हुए को।

अश्नामि=√अश् (क्र्या० पर० सक०=खाना)+लट्० उ० पु०, ए० व०= खाता हूँ। उपभोग करता हूँ। ग्रहण करता हूँ! अंगीकार करता हूँ।

प्रयत+आत्मन:=(वि० पुं०) प्रयत: आत्मा यस्य तस्य (बहुव्री०)।

(प्रयत=वि०) प्र√यम्+क्त वा प्र√यत्+अच्=दमन किए हुए। आत्मन:=आत्मन्+षष्ठी० ए० व०=आत्मा वाले का, इन्द्रियों वाले का।]

नियत-चित्त पुरुष का। वश की हुई इन्द्रियों वाले पुरुष का। शुद्ध बुद्धि वाले पुरुष का।

अर्थ—जो (भक्त) मुझ को पत्र, फूल, फल और जल भक्तिपूर्वक अर्पण करता है। उस शुद्ध बुद्धि वाले नियत-आत्मा पुरुष का भक्ति से भेंट किया हुआ वह (पत्र, फूल, फल, या जल आदि) मैं (सादर) स्वीकार करता हूँ॥ २६॥

व्याख्या—हे अर्जुन! यद्यपि मैं निराकार, निर्विकार, निरंजन, अलख और अजन्मा हूँ। अव्यक्त हूँ और मन वाणी तथा इन्द्रियों से अतीत हूँ। तो भी जब मेरे भक्त नियतात्मा तथा शुद्ध बुद्धि वाले श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से मेरी आराधना करते हैं। तो मैं तत्काल युक्त होकर उनकी इच्छा के अनुसार अपनी माया से देहधारी होकर उन के सम्मुख प्रकट हो जाता हूँ और उन के

द्वारा श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से अर्पण किया हुआ पुष्प, पत्र, फल, जल सादर ग्रहण करता हूँ। यह सम्पूर्ण विश्व मेरी रचना है जिस से मुझे किसी भी वस्तु की कभी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल प्रेमभाव का भूखा हूँ। "जिन प्रेम कियो, प्रभु पाइयो" लोकोक्ति के अनुसार मैं अपने प्रेमी भक्तों के प्रति अपना प्रेम प्रकट करता हूँ। हे अर्जुन! पहले तुम आप अपने सम्बन्ध में ही समझ लो। मैं तेरा सखा बन कर तेरी इच्छानुसार तेरे संग विचरता हूँ और मित्रवत् तेरे लिए गीता ज्ञान का उपदेश करता हूँ। मैं अपने भक्त की जाति पांति भी कभी नहीं पूछता हूँ। उस की छोटी बड़ी आयु का भी विचार नहीं करता हूँ। स्त्री पुरुष में भी अन्तर नहीं समझता हूँ। युवा, बाल, वृद्ध में भी कोई फर्क नहीं मानता हूँ। पशु पक्षी की भक्ति का भी फल देता हूँ। मुझे हीरे, भूषण, सोना, चाँदी, वस्त्र, भवन, भूमि, अन्न, धन या अन्य कोई वस्तु दरकार नहीं है। केवल प्रेम, भक्ति और श्रद्धा ही भक्त की देखता हूँ। मैंने अभिमानी दुर्योधन के मेवे त्याग दिए थे परन्तु भक्त विदुर के घर जाकर शाक पान खा लिया था। सुदामा के कच्चे चावल प्रसन्नता से फाँक लिए थे और साथ ही कहा था—

"नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ! ।
तर्पयन्त्यङ्ग ! मां विश्वमेते पृथकतण्डुलाः ॥
(श्रीमद् भा० १०।८१।९॥)

अर्थात् हे सखे ! आपके द्वारा लाया हुआ यह चावलों का उपहार मुझ को परम प्रसन्न करने वाला है। हे मित्र ! ये चावल मुझ कोसमस्त विश्व सहित तृप्त करते हैं।

जब दुर्वासा ऋषि अपने दस हजार शिष्यों समेत वनवासी पाण्डवों के पास भोजन करने के लिए गये थे। तो मैंने द्रोपदी की स्थाली पाक में लगा हुआ एक चावल मुँह में डाल कर दुर्वासा और उसके शिष्यों सहित सम्पूर्ण विश्व को तृप्त कर दिया था।

एक बार एक गजराज को किसी सरोवर में ग्राह ने पकड़ लिया और घसीट कर पानी में डुबोने लगा तब आर्त भयभीत गजराज ने कमल का एक फूल सूंड से तोड़ कर श्रद्धा और भक्ति से मेरे अर्पण किया जिस से प्रसन्न होकर मैंने तत्क्षण ग्राह को मार कर गजराज की रक्षा की थी इसी प्रकार वनवास काल में लक्ष्मण सहित मैंने शबरी भीलनी द्वारा प्रेम पूर्वक दिये हुए बेर खाये थे। रन्तिदेव के भोजन को मैंने क्रमशः ब्राह्मण, दरिद्र-नारायण कुत्तों वाले मनुष्य तथा चण्डाल, के रूप में ग्रहण किया था। मैंने धन्ने भक्त के पत्थर से निकल कर उस से भेंट किए हुए भोजन का भोग लगाया था प्रति दिन भोजन काल में जो लोग मुझे निवेदन करके भोग लगाते हैं, मैं उन के दिए हुए भोजन को नित्य खाता हूँ। जिस पुरुष की यह धारणा होती है कि—

"न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ॥
आर्त्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥
[श्रीमद् भा० ९।२१।१२॥]

अर्थात् "मैं परमात्मा से (अणिमा आदि आठ) सिद्धियों से युक्त उत्तम गति या मुक्ति नहीं चाहता हूँ। मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं ही सब प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर उनका दुःख भोग करूँ जिस से वे लोग दुःख से रहित हो जाएँ।"

वह मेरा सच्चा और शुद्ध बुद्धि भक्त होता है क्योंकि दुःखियों और दीनों की सहायता के लिये एक पैसा देना भी मेरी तृप्ति के लिए होता है। क्योंकि मैं उन प्राणियों में रहने वाले अन्तर्यामी रूप से उसके द्वारा दी हुई सहायता को स्वयं स्वीकार करता हूँ॥ इसी बात को विचार कर मीरां बाई द्वारा इस प्रकार प्रार्थना की गई है—

हरि ! तुम हरो जन की भीर ॥ टेक ॥
द्रौपदी की लाज राखी,
तुम बढायो चीर ॥ १ ॥
भक्त कारन रूप नरहरि,
धर्यो आप शरीर ॥ २ ॥
हरिनकस्यप मार लीन्हो,
धर्यों नाँहिन धीर ॥ ३ ॥
बूडते गजराज राख्यो,
कियो बाहर नीर ॥ ४ ॥
दास **मीरां** लाल गिरधर,
दुख जहाँ तहाँ पीर ॥ ५ ॥ ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

यत्+करोषि यत्+अश्नासि यत्+जुहोषि ददासि यत्। यत्+तपस्यसि कौन्तेय ! तत्+कुरुष्व मत्+अर्पणम् ॥

यत्=यद् (सर्व०)+नपुं०) द्विती० ए० व०=जो (कर्म)।

करोषि=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लट्० म० पु०, ए० व० =(तू) करता है।

यत्=(नपुं०) जो (भोजन)।

अश्नासि=√अश् (क्र्या० पर० सक०=खाना)+लट्० म० पु० ए० व० =(तू) खाता है।

यत्=(नपुं०) जो (हवन)।

जहोषि=√हु (जुहो० पर० सक०=होम करना)+लट्० म० पु०, ए० व०
=(तू) होम करता है।

यत्=(नपुं०) जो (दान)।

ददासि=√दा (जुहो० उभ० सक०=देना)+लट्० म० पु०, ए० व०
(तू) देता है।

[√दा (भ्वा० पर० सक०=देना)+लट् म० पु० ए० व०=यच्छसि
(तू) देता है।]

यत्=(नपुं०) जो (तप)।

तपस्यसि=√तप् (भ्वा० पर० सक० अक०=तपना)+लट्० म० पु० ए० व०, ए० व०=तपसि, तपस्यसि (दोनों रूप होते हैं)।=(तू) तपता है।

कौन्तेय!=(पुं०) [कुन्ती+ढक्-एय] हे कुन्ती भूआ के पुत्र अर्जुन!

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उस को। वह (सब कुछ)

कुरुष्व=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लोट् म० पु० ए० व०
=(तू) कर।

मत्+अर्पणम्=अस्मद् (सर्व०)+पंच० ए० व०=मेरी। (नपुं०)√ऋ
(भ्वा० जुहो० स्वा०, पर० स०=हवाले करना। भेंट करना)+णिच्
+ल्युट् पुक च=अर्पण+प्र० ए० व०=अर्पण=भेंट। नज़र।
मेरी भेंट। मेरी नज़र।

['यत्' सब जगह नपुं० द्विती० ए० व० है जो क्रमशः 'कर्मन्', 'भोजन', 'हवन', 'दान', और 'तपस्' इन पाँच नपुंसक लिङ्ग] शब्दों के विशेषण के रूप में है]

अर्थ—हे मेरी भूआ कुन्ती के पुत्र अर्जुन! जो (कर्म तू) करता है। जो (भोजन तू) खाता है। जो (हवन तू) होमता है। जो (दान तू) देता है और जो (तप तू) तपता है। वह (सब कुछ तू) मेरे अर्पण कर॥ २७॥

व्याख्या—हे मेरे परम प्रिय भाई अर्जुन! यह संसार कर्म बन्धन से बंधा हुआ सुख दुःखों का अनुभव कर रहा है। जब कर्म बन्धन टूट जाता है, तब जीव शुद्ध बुद्धि और निर्मल हो जाता है और मुझ में मिल कर मद्रूप हो जाता है फिर कभी उसका जन्म मरण नहीं होता। तेरा कर्मबन्धन से मुक्त होने का सब से अच्छा उपाय यह है कि तू सारे कर्म निरभिमान होकर निष्काम भाव से किया कर और किसी समय भी उनका कर्त्ता अपने को न समझ। सदा मुझ को अपने शरीर में समाया हुआ जान ले और सम्पूर्ण कर्म जो तेरे अंगों द्वारा हो रहे हैं। उनको मेरे द्वारा होते हुए अनुभव कर ले। क्योंकि यद्यपि कोई मोटर या रेलगाड़ी चलती हुई दिखाई देती है। परन्तु उसके चलाने और स्थिर करने वाला तो उस में बैठा हुआ ड्राइवर ही होता है। इसी प्रकार

गी० ।१८।६१।। के अनुसार मैं सब जीवों की शरीर रूपी गाड़ियों के हृदय रूपी इंजनों में बैठा हुआ उनको सदा चलाता हूँ और साथ ही सब कर्म जीवों की भलाई और भूतों के परोपकार के निमित्त ही किया कर। मैं सब भूतों में रम रहा हूँ। इसलिए तेरे ये सब कर्म मेरे निमित्त ही किए हुए हो जाएँगे और फिर तू कोई दुष्कर्म भी न कर सकेगा और सब कर्म मेरे निमित्त किए होने से तू फिर कर्म बन्धन में भी न बंध सकेगा। इस प्रकार तू अपने भूतकाल में हो चुके, वर्तमान काल में हो रहे और भविष्यत् काल में होने वाले सब कर्म मेरे अर्पण कर दे।

भोजन, अन्न, फल, फूल तथा अन्य भोज्य या पेय पदार्थ आदि जो तू मुँह में डाल कर अपने आमाशय में पहुँचाता है। उन सब को तू अपने लिए न समझ कर केवल मेरे खाने के लिए ही अर्पण किए हुए समझा कर क्योंकि मैं ही तेरे शरीर के भीतर विराजमान हुआ उन सब का भोग लगाता हूँ तथा तू दूसरे भूखे-प्यासे प्राणियों को अन्न जल देकर उन की क्षुधा तृषा को दूर करने के लिए भरसक प्रयत्न किया कर, उन को खिला पिला कर यही विचार किया कर कि इन प्राणियों के मिस स्वयं भगवान् ही इस अन्न जल को ग्रहण कर रहे हैं। इस प्रकार सदैव अपना भोजन मुझे ही अर्पण किया कर। जिस से तू पाप-पुण्य दोनों से मुक्त होकर मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। तू जो भी हवन करता है। वह अन्य किसी देवता के निमित्त न समझ कर केवल मुझ परमेश्वर के निमित्त ही किया कर उस श्रौत या स्मार्त कर्म में अहंभाव से रहित होकर निष्काम भाव से किया हुआ हवन यज्ञ आदि मुक्ति प्रदाता होता है। यदि तू इन्द्रादि देवताओं को मुझ प्रभु से भिन्न मान कर पूजा करेगा तो तुझे स्वर्ग तो अवश्य मिल जायेगा परन्तु मुक्ति प्राप्त न होगी। ये हवन यज्ञ आदि कर्म भी प्राणियों के हितार्थ ही किया कर, जिस से मेरी तृप्ति होती है क्योंकि अन्य प्राणियों के ब्याज से मैं ही उस हवन यज्ञादि का भोक्ता हूँ। तेरा दिया हुआ दान भी मेरे अर्पण होना चाहिए। जो दान तू करता है उस में लेने वाले को मेरा स्वरूप समझ कर ही दान किया कर। जिस से तेरा दान मेरे अर्पण हो जाएगा। दान देते समय किसी प्रकार के लाभ की आकांक्षा मत कर। अपने पराए का विचार न कर। अभिमान, अहंकार, दर्प, दंभ और घमण्ड से रहित होकर दान कर। नम्रता और दया भाव से प्रेरित होकर दान-योग्य व्यक्ति के लिए दान कर। "दरिद्रान्भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्" हे अर्जुन जिस दीन दु:खी को तेरे दान की आवश्यकता है। उसे ही मेरा स्वरूप जान कर दान दे। धनियों को दान देने से कोई लाभ नहीं है।

जो तू जप, तप या व्रतादि करता है वह भी शुद्ध बुद्धि होकर निष्काम भाव से मेरे अर्पण ही किया कर। मैं तेरी सब सुख सुविधाओं का पूरा करने

वाला हूँ तथा मरने के बाद मोक्ष का देने वाला हूँ। यदि तू ये सब तप आदि कर्म पुत्र, कलत्र या धन धान्य आदि की आकांक्षा से प्रेरित होकर ही करेगा तो इस संसार चक्र में ही फँसा रहेगा। मोक्ष न पा सकेगा। इसलिए हे अर्जुन! अपने सब प्रकार के कर्म; नाना प्रकार के भोजन, श्रौत, स्मार्त सब तरह के हवन, धरती, धाम, स्वर्ण भूषण, वस्त्र, अन्न, औषध, विद्या, सहायता तथा निर्भयता आदि सब प्रकार के दान और सब प्रकार के तप, जप, व्रत, संयम आदि जो कुछ भी इस संसार में करता है वे सब मेरे अर्पण कर। ताकि इस जन्म के समाप्त होने पर तू मोक्ष को पा सके ॥ २७ ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

शुभ+अशुभ-फलैः+एवम्+मोक्ष्यसे कर्म-बन्धनैः। संन्यास-योग-युक्त+आत्मा विमुक्तः+माम्+उपैष्यसि ॥

शुभ+अशुभ-फलैः=(नपुं०) शुभाशुभे (इष्टानिष्टे) फले येषां तानि-शुभाशुभ-फलानि (कर्माणि) तैः।

कर्मबन्धनैः=कर्माणि एव बन्धनानि तैः। शुभाशुभ (अच्छे बुरे) फल, रूप, कर्मों के बन्धनों से।

एवम्=(अव्यय) इस प्रकार (कर्म, भोजन, हवन, दान और तप आदि सब कुछ मेरे अर्पण करने से)।

मोक्ष्यसे=√मुच् (तुदा० उभ० सक०=छोड़ना, छूटना)+लृट्० म० पु० ए० व०=(तू) छूट जाएगा।

कर्मबन्धनैः=(नपुं०) तृती० ब० व०)=कर्मों के बन्धनों से।

संन्यास-योग-युक्त+आत्मा=मेरे अर्पण करके, कर्म किए जाने का नाम संन्यास है और वही कर्म रूप होने के कारण 'योग' है। इस संन्यास रूप योग से युक्त हुए अन्तःकरण वाला हुआ। संन्यास (त्याग), योग (मुझ में जुड़े हुए) चित्त से युक्त हुआ (बहुव्री०)।

विमुक्तः=वि√मुच्+क्त=विमुक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=छूटा हुआ।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

उपैष्यसि=उप√इ (भ्वा० पर० अक०=प्राप्त होना)+लृट्० म० पु०, ए० व०=(तू) प्राप्त होगा।

अर्थ—इस प्रकार (कर्म, भोजन, हवन, दान और तप आदि सब कुछ मेरे अर्पण कर देने से) संन्यास (त्याग) और योग (मुझ में जड़े हुए) चित्त से युक्त

हुआ तू शुभाशुभ फल रूप कर्मों के बन्धनों से छूट जाएगा। (और फिर उन से) छूटा हुआ मुझ को प्राप्त हो जाएगा ॥ २८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! सब कुछ मेरे अर्पण करने में कोई आयास या परिश्रम नहीं करना पड़ता। ऐसा करने के लिए केवल अभ्यास की आवश्यकता होती है और यदि इस अर्पण के साथ सर्व प्रकार के त्याग का अन्तःकरण अभ्यासी हो जाए तथा निरन्तर अपने भीतर बाहर मुझे विद्यमान समझ कर मुझ में दत्त-चित्त होकर लीन रहे तो इससे उत्तम और सहज भक्ति और कोई नहीं हो सकती क्योंकि भक्त की यह पूर्वोक्त अवस्था दृढ़ हो जाने पर वह शुभ और अशुभ या अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्मों से मुक्त हो जाता है! इस प्रकार जब शुभाशुभ कर्मों का बन्धन टूट जाता है तब जन्म मरण का कोई कारण शेष नहीं रह जाता है। क्योंकि जन्म मरण के चक्र में भ्रमण कराने वाले केवल ये शुभाशुभ कर्म ही होते हैं। जन्म मरण से विमुक्त हुआ जीव सर्वत्र रम रहे मुझ परमेश्वर में ही मिल जाता है तथा मद्रूप हो जाता है। हे अर्जुन! तू भी इस प्रकार सब कुछ मेरे लिए अर्पण करके संन्यास और योग-युक्त चित्त वाला होकर कर्म-बन्धनों से विमुक्त हो जाएगा और इन शुभाशुभा कर्म-बन्धनों से छुटकारा पाया हुआ जन्म-मरण से सदा के लिए रहित होकर मुझ पर-ब्रह्म-परमेश्वर में इस प्रकार मिल जाएगा जैसे नदी का जल समुद्र के जल में मिल कर एक रूप हो जाता है और फिर उस की समुद्र के जल से अलग सत्ता नहीं रहती अथवा पृथक परख नहीं की जा सकती। जिस प्रकार अग्नि द्वारा भूना हुआ बीज कभी अंकुरित नहीं हो सकता इसी प्रकार मुझ को अर्पण किए हुए कर्मों का कभी कोई फल नहीं हो सकता है क्योंकि मेरा प्रचण्ड तेज उन कर्मों को सदा के लिए दग्ध करके निःशेष कर देता है। ये कर्म हो जन्म मरण का आधार हुआ करते हैं। जब आधार रूप कर्मों का ही नाश हो जाता है तो फिर जन्म-मरण रूप आधेय कहाँ रह सकता है। जिसके निःशेष हो जाने से मोक्ष फिर अवश्य प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

समः+अहम्+सर्व-भूतेषु न मे द्वेष्यः+अस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु माम्+भक्त्या, मयि ते, तेषु च+अपि+अहम्।

समः=(वि०)√सम् (चुरा० उभ० अक०)+अच्=सम+(पु०) प्र० ए० व०=समः=तुल्य। समान। सम (—भाव से व्यापक)

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं (हूँ)।

सर्व-भूतेषु=सर्वेषु भूतेषु (सप्त० तत्पु०)=सब भूतों में। सब प्राणियों के प्रति।

न=(अव्यय) न । नहीं।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा।

द्वेष्यः=(पुं०)√द्विष् (अदा० उभ० सक०=वैर करना)+ण्यत्=द्वेष्य +प्र० ए० व०=द्वेष्यः=द्वेष करने योग्य। शत्रु। घृणा करने योग्य विरोधी। अप्रिय।

अस्ति=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

प्रियः=(वि०)√प्री (क्र्या० उभ० सक०, दिवा० आत्म० सक०, चुरा० पर० सक०=प्रसन्न करना, तृप्त करना)+क=प्रिय+(पुं०) प्र० ए० व०=प्रियः=प्यारा। प्रेमी। प्रिय। प्रसन्न करने वाला। आनन्द देने वाला।

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=जो (भक्त लोग)

भजन्ति=√भज् (भ्वा० उभ० सक०=पूजा करना, भजना)+लट्० प्र० पु० ब० व०=भजते हैं। पूजते हैं।

तु=(अव्यय) पर। परन्तु।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

भक्त्या=(स्त्री०) भक्ति (√भज्+क्तिन्)+तृती० ए० व०+भक्ति से। प्रेम से।

मयि=अस्मद् (सर्व०)+सप्त० ए० व०=मुझ में (हैं)।

ते=तद् (सर्व०)+प्र० ब० व०=वे (भक्त लोग)

तेषु=तद् (सर्व०)+सप्त ब० व०=उन में।

च=(अव्यय) और।

अपि=(अव्यय) भी।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

अर्थ—मैं सब भूतों (प्राणियों) में सम (भाव से व्यापक) हूँ। न (कोई) मेरा द्वेष्य (वैर करने योग्य—अप्रिय) है। (और) न प्रिय है। परन्तु जो मुझ को भक्ति (प्रेम) से भजते हैं, वे मुझ में हैं, और मैं भी उन में हूँ॥ २९॥

व्याख्या—हे अर्जुन! केवल मैं ही एक सर्वव्यापक और सर्वत्र व्यापक हूँ। इस से मैं ही सब प्राणियों में सम रूप से रम रहा हूँ। मेरा कहीं भी न कोई शत्रु या अप्रिय है। और न कोई मित्र या प्रिय है। मैं अग्नि के समान हूँ जैसे अग्नि अपने से दूर रहने वाले प्राणियों के शीत का निवारण नहीं करती,

समीप आने वालों का ही त्राण करती है वैसे ही मैं भी समीप हो जाने वाले भक्तों का सुख, शान्ति और मोक्ष देने वाला बन जाता हूँ। परन्तु जो प्राणी दूर रहते हैं उनको ये लाभ प्राप्त नहीं होते हैं। इस से महामूढ़ लोग मुझ में शत्रु तथा मित्र होने का आभास अनुभव करने लगते हैं। मैं तो देदीप्यमान प्रचण्ड-रश्मि सूर्य के समान हूँ जिसका प्रतिबिम्ब भक्तों के हृदय रूपी स्वच्छ जल परिपूर्ण सरोवर में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है। और पाप रूपी मल-कीचड़ से युक्त पापियों के हृदयों में किंचिन् मात्र भी भासमान नहीं होता। इस से मैं तो पापियों का शत्रु या भक्तों का मित्र नहीं बनता हूँ। उन के शत्रु या मित्र तो स्वयं उनके अन्तःकरण ही होते हैं।

जो मेरे भक्त मेरे साकार या निराकार किसी भी रूप का श्रद्धा और भक्ति से चिन्तन करते हैं। मेरे नाम, गुण, प्रभाव, महिमा और लीला-चरित्रों का श्रवण, मनन, तथा कीर्तन करते हैं। जल, फल, पुष्प, पत्र आदि से अर्चन करते हैं। और यथा-योग्य मेरा भजन और पूजन करते हैं। मैं उन को उन में पूरी तरह भासमान दिखाई देता हूँ। और वे अपने को मुझ में मिला हुआ अनुभव करते हैं। तथा वे मुझे सदा-सर्वदा अपने हृदय में प्रत्यक्ष देखते हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए भगवान् ने दुर्वासा जी से कहा था—

"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥"

[श्रीमद् भागवत ९।४।६८॥]

अर्थात् 'साधु या भक्त लोग मेरे हृदय हैं। और मैं उनका हृदय हूँ। वे मेरे बिना और किसी को नहीं जानते। और मैं उन को छोड़ कर और किसी को किंचिन् मात्र भी नहीं जानता।'

जैसे सूक्ष्म रूप से सब जगह व्यापक अग्नि माचस या दियासिलाई की तीलियों आदि साधनों द्वारा प्रकट करने से प्रत्यक्ष हो जाता है वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी मैं श्रद्धा भक्ति से भजने वाले के अन्तःकरण में प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो जाता हूँ। और वह श्रद्धालु प्रेमी भक्त अपने भीतर बाहर मुझ को इस प्रकार देखने लगता है। जिस प्रकार सरोवर में गोता लगाने वाला पुरुष अपने भीतर बाहर पानी ही पानी देखता है।

श्री ज्ञानेश्वर जी ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—

"हे अर्जुन! मैं समस्त भूतों में सम भाव से रहता हूँ। मुझ में अपने और पराये का तिलमात्र भी भेद-भाव नहीं है। जो लोग मेरा शाश्वत तत्त्व स्वरूप पहचान लेते हैं। समस्त भाव और समस्त कर्म मुझे अर्पण कर देते हैं। वे चाहे शरीर में भी रहें, परन्तु वास्तव में शरीर में नहीं होते, बल्कि वे पूर्ण

रूप से मेरे स्वरूप में ही रहते हैं। और मैं भी उन में निवास करता हूँ। इतना बड़ा वट-वृक्ष अपने सम्पूर्ण विस्तार के साथ एक छोटे से बीज में लीन स्थिति में रहता है। और वह बीज उस वट-वृक्ष में रहता है। इसी प्रकार मुझ में और मेरे भक्तों में केवल बाहरी और नाम मात्र का अन्तर रहता है। परन्तु यदि भीतर की वस्तु-स्थिति का विचार किया जाये तो जो कुछ मैं हूँ, वह मेरे भक्त भी हैं और हम दोनों में कोई भेद नहीं होता। जिस प्रकार किसी दूसरे से मांग कर उधार लिया हुआ गहना यदि अपने शरीर पर धारण कर लिया जाये। तो भी धारण करने वाले के मन में यह भाव नहीं होता कि यह गहना मेरा है। उसी प्रकार मेरे भक्त यद्यपि देहधारी होते हैं। परन्तु फिर भी वे कभी उसे अपनी देह नहीं समझते।

फूल की सुगन्धि हवा के साथ मिल कर उड़ जाती है। और पीछे जो खाली फूल रह जाता है वह तब तक शाखा में लगा रहता है जब तक मुरझा कर गिर नहीं जाता। इसी प्रकार वह भक्त भी अपने मन से अपनेपन का विचार निकल जाने पर अन्तकाल तक किसी प्रकार अपनी आयुष्य धारण किये रहता है। और उस के समाप्त होते ही मुझ में पूरी तरह से लीन हो जाता है फिर जिस प्रकार उस गिरे हुए फूल का शाखा से कोई सम्बन्ध नहीं रहता उसी प्रकार भक्त के मुझ में मिल जाने के बाद संसार के जन्म मरण से उस का कोई नाता नहीं रहता ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

अपि चेत्+सु-दुर्+आचारः+भजते माम्+अनन्य-भाक्। साधुः+एव सः+मन्तव्यः सम्यक्+व्यवसितः+हि सः ॥

अपि=(अव्यय) भी।

चेत्=(अव्यय) यदि।

सु-दुर्+आचारः=(वि०) सुष्ठु कुत्सितः आचारः यस्य तं कश्चित् (बहुव्री०)
[आचारः=(पु०) आ√चर् (भ्वा० पर० सक०=चलना)+घञ्=आचार+प्र० ए० व०=आचारः=आचरण। चरित्र। चाल-ढाल।]

(कोई) अतिशय बुरे आचरण वाला। अतीव कुत्सित आचार वाला। अतिशय दुराचारी व्यक्ति।

भजते=√भज् (भ्वा० उभ० सक०=भजना, पूजना) लट्० प्र० पु०, ए० व०=भजता है।

माम्=अस्मद (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

अनन्य-भाक्=[अनन्य (=नञ् बहुव्री०, नञ् तत्पु०) अन्य से सम्बन्ध न रखने वाला। एक निष्ठ। भाज् (वि०)=√भज्+घञ्=भाज् +प्र० ए० व०=भाक्]

न अन्यं अन्यां वा भजते यः (बहुव्री०) (परमेश्वर के बिना) किसी अन्य से अनुराग या प्रेम न करने वाला। अनन्य भक्त हुआ। अनन्य भक्ति से युक्त हुआ।

साधुः=(वि० पुं०)√साध् (भ्वा० पर० सक०=जीतना)+उन्=साधु +प्र० ए० व०=साधुः=नेक। उत्तम। पुण्यात्मा। महात्मा। यथार्थ आचरण करने वाला।

एव=(अव्यय) ही।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

मन्तव्यः=√मन् (दिवा०, तना०, आत्म० सक०=मानना, जानना)+तव्यत् =मन्तव्य+प्र० ए० व०=जानना चाहिए। मानना चाहिए। माना जाने योग्य। जाना जाने योग्य।

सम्यक्=(अव्यय) यथार्थ। ठीक।

व्यवसितः=वि, अव√सो (दिवा० पर० सक०=पूर्ण करना। ठीक करना) +क्त=व्यवसित+(पुं०) प्र० ए० व०=ठीक या यथार्थ निश्चय वाला हुआ (है)।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र०, ए० व०= वह।

अर्थ—यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरा अनन्य भक्त हुआ मुझ को भजता है, तो वह महात्मा माना जाने योग्य है। क्योंकि वह (पूर्व किये हुए दुराचारों को त्याग कर) यथार्थ निश्चय वाला हुआ है॥ ३०॥

व्याख्या—जो लोग जन्म से ही सदाचारी और मेरे अनन्य भक्त होते हैं। वे तो निरन्तर मेरा पूजन, अर्चन और भजन करने से सदैव लोगों के द्वारा महात्मा माने जाते हैं। परन्तु जो लोग अत्यन्त दुराचारी और अतिशय कुकर्मी होते हैं। कभी कभी वे लोग भी शुभ पुण्यों के उदय हो जाने से तथा किसी विशेष कारण से मेरी अपार कृपा-दृष्टि हो जाने पर मेरी ओर आकर्षित हो जाते हैं। और मेरे बिना किसी अन्य से अनुराग या प्रेम न करने वाले होकर निरन्तर मेरा भजन करने लगते हैं। तथा मेरे प्रेम के रंग में रंगे जाते हैं। तब वे महात्मा माने जाने योग्य हो जाते हैं। क्योंकि उन का यह निश्चय अत्यन्त पूर्ण और परिपक्व हो जाता है कि मुझे प्रभु के भजन के बिना मोक्ष प्रदाता और कोई भी नहीं है। बाल्मीकि, अजामिल आदि मेरे ऐसे ही अनन्यभाक् और सम्यक् व्यवस्थित भक्त हो चुके हैं जो दुराचरणों को त्याग

कर प्रेम पूर्वक निरन्तर मेरा भजन करते हुए मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं। कहा भी है—

"अति पापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावन पावनः ॥ १ ॥"

अर्थात् "अतिशय पापों में आसक्त पुरुष भी जब अनन्यभाक् होकर एक निमिष मात्र समय तक भी मुझ अच्युत को ध्याता है। तब वह उस मेरे ध्यान के बल से सब पापों से रहित हो कर तपस्वी महात्मा हो जाता है। और पंक्ति के पवित्र करने वाले सदाचारियों को भी अपने प्रभाव से पवित्र करने वाला बन जाता है ॥"

जिस प्रकार साबुन से वस्त्रों की सब प्रकार की मैल धुल कर वे स्वच्छ, साफ, निर्मल और चमकीले हो जाते हैं। उसी प्रकार मेरी अनन्य भक्ति से अत्यन्त दुराचारियों के भी पाप धुल जाते हैं और वे टिके हुए स्थिर चित्त वाले होकर महात्मा बन कर मुक्ति प्राप्ति के अधिकारी हो जाते हैं। अन्त समय में भी यदि मनुष्य प्रेमपूर्वक मेरी अनन्य भक्ति में पूर्ण रूप से दत्तचित्त हो जाए तो भी उसके पूर्व आचरित संपूर्ण पाप धुल जाते हैं। जिस प्रकार पानी में डूबे हुए मनुष्य को पानी से बाहर निकाल कर उस के पेट का पानी बाहर निकाल दिया जाता है ओर फिर कृत्रिम श्वास-क्रिया द्वारा उसे पुनर्जीवित कर लिया जाता है। उसी प्रकार महा पुरुषों की संगति से अत्यन्त दुराचारी पुरुष भी मेरे अनन्य भक्त बन कर संसार सागर से पार हो जाते हैं। सारांश यह है कि जिसके अन्तःकरण में जिस काल में भी मेरा पूर्ण-अनुराग उत्पन्न हो जाता है उसी काल वह सब पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

क्षिप्रम्+भवति धर्मात्मा शश्वत्+शान्तिम्+निगच्छति । कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

क्षिप्रम्=(वि०, अव्यय)√क्षिप्+रक्=क्षिप्र+(नपुं०) प्र० ए० व०=क्षिप्रम् =शीघ्र। तत्काल।

भवति=√भू+लट्० प्र० पु०, ए० व०=हो जाता है।

धर्मात्मा=(पुं०) धर्म+आत्मन्=धर्मात्मन्+प्र० ए० व०=धर्मात्मा। धर्म आत्मा-स्वभावो यस्य (बहुव्री०)=धर्मानुसार चलने के स्वभाव वाला। धर्मशील। धार्मिक।

शश्वत्=(वि०, अव्यय)√शश्+वत् (बा०)=सदैव। नित्य। शश्वतीम्= सदा रहने वाली को।

शान्तिम्=(स्त्री०)√शम्+क्तिन्=शान्ति+द्विती० ए० व०=शान्ति को।

निगच्छति=नि√गम्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=प्राप्नोति, प्राप्त होता है।
कौन्तेय !=हे कौन्तेय ! (सम्बो० ए० व०)=कुन्त्या अपत्यम्। कुन्ती+ढक्-एय
हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! हे मेरी भूआ कुन्ती के पुत्र प्यारे अर्जुन !
प्रतिजानीहि=प्रति√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) भली भान्ति जान ले। (तू) दृढ़ निश्चय कर। (तू) प्रतिज्ञा कर।

न=(अव्यय) नहीं।
मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा।
भक्तः=√भज् (भ्वा० उभ० सक०=भजना)+क्त=भक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=उपासक। भक्त।
प्रणश्यति=प्र√नश् (दिवा० पर० अक०=नष्ट होना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=नष्ट होता है। नाश होता है। (परमपद से) गिरता है। पतित होता है।

अर्थ—वह (दृढ़ और यथार्थ निश्चय वाला मेरा अनन्य भक्त) शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और सदैव रहने वाली शान्ति (रूप मेरे साथ मेल) को प्राप्त होता है। हे मेरी भूआ कुन्ती के पुत्र प्रिय अर्जुन ! तू भली भान्ति (यह बात) जान ले, कि मेरा भक्त (मुक्ति से पतित या) नाश नहीं होता ॥ ३१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस पुरुष का अन्तःकरण धुले हुए श्वेत वस्त्र की भान्ति मेरी अनन्य भक्ति रूपी सर्फ या साबून से धुल कर निर्मल हो जाता है। उस के सब पाप कट जाते हैं और वह मेरे उस गूढ़े प्रेम के रंग से रंगा जाता है, जिस पर फिर दूसरा और कोई रंग नहीं चढ़ सकता है। पुनः जिस से वह तत्काल ही धर्मात्मा बन जाता है और सदैव रहने वाली शान्ति को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जीवन काल में ही देह गेह आदि से नाता तोड़ कर मेरे स्वरूप में मिला रहता है। संसार के दुःखों से उसका सम्बन्ध नितान्त टूट जाता है। मेरे स्वरूप के बिना उसे और कुछ भासमान ही नहीं होता, वह सदा उस शान्ति में निमग्न रहता है। जिसकी कभी समाप्ति ही नहीं होती, मरण काल में उस का शरीर आत्मा से इस प्रकार वियुक्त हो जाता है। जिस प्रकार हाथी के गले से पुष्प-माला टूट कर गिर जाती है और हाथी को उस के गिरने का थोड़ा भी पता नहीं चलता और उस को अपने आत्मा का मुझ में मिलने का भी भान नहीं होता। क्योंकि वह तो अपने जीवन काल में ही मद्रूप हो जाता है। इस प्रकार मेरा भक्त सहज ही जीवन-मरण चक्र स विमुक्त हो जाता है। फिर वह सदा के लिए अमर हो जाता है तथा उस का कभी नाश नहीं होता अर्थात् उस के मद्रूप हो जाने पर फिर उस का किसी काल में भी जन्म या मरण नहीं होता। ऐसे अनेक प्राचीन और अर्वाचीन भक्तों की पवित्र गाथाएँ जगद्विख्यात हैं और कई पुराण इतिहास आदि पुस्तकों में वर्णित हैं। जो अत्यन्त

दुराचारी जीवन को त्याग कर मुझ प्रभु के अनन्य भक्त हुए थे और मोक्ष को पा चुके हैं। जिन में से वाल्मीकि और विल्वमंगल आदि बहुत प्रसिद्ध हैं ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

माम्+हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य ये+अपि स्युः पाप-योनयः । स्त्रियः +वैश्याः+तथा शूद्राः+ते+अपि यान्ति पराम्+गतिम् ॥

माम्+अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को ।

हि=(अव्यय) ही ।

पार्थ !=हे पृथा (कुन्ती) पुत्र अर्जुन !

व्यपाश्रित्य=वि आ√श्रि (भ्वा० उभ० सक०=आश्रय लेना)+ल्यप्=आश्रय करके ।

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=जो ।

अपि=(अव्यय) भी ।

स्युः=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+विधिलिङ् प्र० पु०, ब० व०=हों ।

पाप-योनयः=(वि० पुं०) पापा योनिः येषां ते (बहुव्री०) प्र० ब० व० =पाप योनि वाले । जरायम पेशा लोग । मारधाड़ करने वाले लोग । सांसी गण्डीले । कुसाई बूचड़ । जन्म के पापी । दैत्य । राक्षस ।

स्त्रियः=(स्त्री०) स्त्यायतः शुक्रशोणिते अस्याम्,√स्त्यै (भ्वा० पर० अक० =इकट्ठा होना)+ड्रट्-ङीप्=स्त्री+प्र० ब० व०=स्त्रियां । औरतें । नारियाँ ।

वैश्याः=(पुं०)√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना, बसना, अपने हाथ से काम करना)+क्विप्+ष्यञ्=वैश्य+प्र० ब० व० वैश्य लोग । व्यापारी और कृषक लोग ।

तथा=(अव्यय) और । तथा ।

शूद्राः=(पुं०)√शुच् (भ्वा० पर० अक०=शोक करना)+रक्, पृषो० चस्य दः, दीर्घः=शूद्र+प्र० ब० व०=शूद्र लोग ।

ते=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वे ।

अपि=(अव्यय) भी ।

यान्ति=√या (अदा० पर० सक० अक०=जाना, प्राप्त होना)+लट्०, प्र० पु०, ब० व०=प्राप्त होते हैं ।

पराम्=√पृ+अप्=पर+टाप्=(स्त्री०) परा+द्विती० ए० व०=पराम् =सर्वोत्कृष्ट को ।

गतिम्=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+द्विती० ए० व०=गति को ।

अर्थ—हे पृथा (मेरी भूआ कुन्ती के) पुत्र अर्जुन ! स्त्रियां, वैश्य वर्ग, शूद्र लोग तथा पाप योनियों में जन्मे हुए पुरुष (कुसाई, बूचड़, दैत्य, राक्षस, पापी, डाकू, वटमार, व्याध, हिंसक आदि वर्गों के लोग) भी जो कोई हों, वे भी मुझ को आश्रय करके परम-गति को प्राप्त होते हैं ।। ३२ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! "हरि को भजे सो हरि का होय । जाति पांति न पूछे कोय" के अनुसार चाहे कोई स्त्री हो, चाहे वैश्य हो । चाहे कोई शूद्र हो, जन्म का पापी कूसाई बूचड़, डाकू, वटमार, व्याध हिंसक, राक्षस, दैत्य भी क्यों न हो । जो कोई मेरा आश्रय ग्रहण कर लेता है वह अवश्य ही परमगति या मोक्ष को प्राप्त हो जाता है जैसे जो नदी समुद्र तक पहुँच जाती है वह अपना रूप नाम मिटाकर अवश्य ही समुद्र में जाकर तद्रूप हो जाती है । चमड़ा एक अत्यन्त निकृष्ट वस्तु मानी जाती है परन्तु जब नज़ाम सक्के ने हुमायूं के स्थान पर भारत का एक दिन के लिये सम्राट् बन कर उस के छोटे छोटे टुकड़ों पर राजाज्ञा की मोहर लगा दी थी तो वे चर्म के टुकड़े भी सोने के सिक्कों के स्थान पर बाज़ार में बिकने लगे थे । इसी प्रकार कौड़ी से भी कम कीमत का एक मैला कुचैला कागज़ राजाज्ञा की मोहर लगा हुआ सौ या हज़ार रुपये का करंसी नोट कहलाता है । और बाज़ार में सादर उसी मूल्य की वस्तुओं के बदले ग्रहण किया जाता है । इसी प्रकार एक तुच्छ व्यक्ति जब मुझ परमेश्वर की शरण में आ जाता है तो उस पर मेरी मेहर की मोहर लग जाती है । और वह सर्वोत्कृष्ट गति जन्म मरण से मुक्ति या मोक्ष पा लेता है । और मुझ में मिलकर मद्रूप हो जाता है । इस लिए केवल एक मेरी भक्ति ही तर जाने के लिए मुख्य साधन है । कुल, जाति और वर्ण आदि तो गौण रूप में ही मोक्ष प्राप्ति के सहायक बन सकते हैं । चन्दन, शीशम, बेरी, पलाश आदि लकड़ियों का भेद भाव तभी तक होता है जब तक वे सब अग्नि में जल कर भस्म नहीं हो जातीं । इसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चण्डाल आदि का भेद भाव भी मुझ परमेश्वर में मिलने से पूर्व तक के लिए ही होता है । इसी प्रकार गन्दा नाला और स्वच्छ जल का नाला उसी समय घृणा और सरुचि के पात्र होते हैं जब तक परम पावनी गंगा में मिलकर तद्रूप नहीं हो जाते । जब हानिकारक गैस कार्बन डाई औक्साइड सूर्य की किरणों के योग में पौधों के हरे पत्तों के पर्णहरिम या क्लोरोफिल में प्रविष्ट होती है तो स्वास्थ्य वर्धक शुद्ध आक्सीजन के रूप में परिवर्तित हो जाती है । इसी प्रकार जब कोई चण्डाल भी मेरी अनन्य भक्ति रूपी सूर्य-रश्मियों से युक्त हो कर मुझ पर्ण हरिम रूप परमेश्वर में प्रविष्ट होता है तो मैं उस को उस के शुद्ध आत्म रूप में बदल देता हूँ । जिस प्रकार अग्नि में डाला हुआ सोना मलों के जल जाने से कुन्दन बन जाता है । इसी प्रकार चण्डाल भी अनन्य भक्ति पूर्वक मेरी शरण में आया हुआ परम गति को प्राप्त हो जाता

है। इसी भाव को श्री मद् भागवत् ११।१४।२१। में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानापि सम्भवात् ॥"

अर्थात् "हे उद्धव। मैं सन्तों का परम प्रिय आत्मा हूँ। जो एकमात्र श्रद्धा और भक्ति से ही वशीभूत होता हूँ। मेरी भक्ति जन्म से चण्डाल को भी पवित्र (या मोक्ष का अधिकारी) कर देती है॥"

'नारद भक्ति० ७२' में भी कहा है—

"नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल धन-क्रियादि भेदः॥"

अर्थात् "मेरे भक्तों में—जाति, विद्या, रूप, कुल धन और क्रिया आदि का कोई भेद नहीं माना जाता।"

ऐसे ही एक भक्त निषादराज गुह को भगवान् राम ने अपने हृदय से लगा कर अपना बना लिया था। भीलनी के जूठे बेर जो मुझे भक्ति-पूर्वक अर्पण किए थे वे मैंने सहर्ष खा लिए थे। और उस स्त्री को स्वरूप प्रदान किया था। निकृष्ट आचार वाला व्याध, अत्यन्त अल्पायु ध्रुव, दासी पुत्र विदुर अत्यन्त कुरूप कुबजा, निर्धन सुदामा, यज्ञ पत्नी, वैश्य पुत्र समाधि सूत पुत्र सञ्जय तथा कितने ही हून आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक यवन और खस आदि भिन्न-भिन्न जातियों के लोग मेरा आश्रय पाकर मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं॥ ३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

किम्+पुनः+ब्राह्मणाः पुण्याः+भक्ताः+राज+ऋषयः+तथा। अनित्यम्+असुखम्+लोकम्+इमम्+प्राप्य भजस्व माम्॥

किम्=किम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=क्या (मेरे आश्रय हुए परम गति को प्राप्त नहीं हो सकते? भाव यह कि अवश्य ही हो सकते हैं।)

पुनः=पुनर् (अव्यय)=फिर। तो फिर।

ब्राह्मणाः=(पुं०)। ब्रह्मणो विप्रस्य प्रजापतेर्वा अपत्यम्, वा ब्रह्म वेदः तम् अधीते-ब्रह्मन्+अण्=ब्राह्मण+प्र० ब० व०=ब्राह्मण लोग।

पुण्याः= ब्राह्मणाः का-वि०) पुण्य्+अच्=पुण्य+(पुं०) प्र० ब० व०=पुण्य-शील। पुण्य-योनि। पवित्र लोग। भले लोग।

भक्ताः=(वि०)√भज्+कर्तरिक्त=भक्त+(पुं०) प्र० ब० व०=भक्त जन।

राज-ऋषयः=राजानः च ते ऋषयः च=जो राजा भी हों और ऋषि भी हों। क्षत्रि जाति के ऋषि।

[इन राजर्षियों में पुरूरवस्, जनक, विश्वामित्र और नानक आदि गिने जाते हैं]

(राजर्षि+प्र० ब० व०=राजर्षय:)

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल् । वैसे ही । और ।

अनित्यम्=(वि०) न नित्यम् (नञ् तत्पु०)=क्षणभङ्गुरम्=सदा न रहने वाले । अनित्य । क्षणभङ्गुर ।

असुखम्=(वि०) सुखवर्जित: य: तम् (नञ् बहुव्री०)=दु:ख से भरे हुए । सुख रहित । शोकाकुल ।

लोकम्=(पुं०)√लोक् (भ्वा० आत्म० सक०=(देखना)+घञ्=लोक+द्वितीο एο व=लोक को । संसार को । मनुष्य लोक को ।

इमम्=इमम् (सर्व०)+(पुं०) द्वितीο एο व०=इस को ।

प्राप्य=प्र√आप् (चुरा०, स्व० पर० सक०=प्राप्त होना)+ल्यप्=प्राप्त होकर ।

भजस्व=√भज् (भ्वा० उभ० सक०=भजना)+लोट्० (आत्म०) म० पु०, ए० व०=तू भज ।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्वितीο एο व०=मुझ को ।

अर्थ—तो फिर क्या पुण्य-शील ब्राह्मण लोग और भक्त-जन राजर्षि (क्षत्रिय जाति के ऋषि) लोग (मेरे आश्रय हुए परम-गति को प्राप्त नहीं हो सकते हैं ? अर्थात् हो सकते हैं ।) इसलिए तू इस अनित्य और सुख-रहित मनुष्य-लोक (या मनुष्य-शरीर) को प्राप्त होकर (सदा) मुझ को भज ।। ३३ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! प्राचीन समय में वाल्मीक, प्रह्लाद, गुह निषाद, भीलनी, कुब्जा आदि अनेक भक्त जोकि ब्राह्मण या क्षत्रिय न थे मेरी अनन्य भक्ति के प्रताप से परम शान्ति को प्राप्त हो चुके हैं और आने वाले कलियुग में भी रविदास, सदना, कबीर, नामा, बुल्लेशाह, फरीद आदि अनेक मेरे भक्त ब्राह्मण-क्षत्रिय भिन्न जातियों में उत्पन्न होकर मद्रूप को प्राप्त हो गए हैं। देखो, वानर जाति में उत्पन्न हुए हनुमान् मेरे परम भक्त हुए हैं। भक्त प्रह्लाद ने दैत्यों के घर में जन्म ग्रहण किया था । इसी प्रकार अगिनत भक्त छोटी जातियों में जन्म लेकर परम-पद को प्राप्त कर चुके हैं और भविष्य में जन्म लेकर न केवल आप ही तरेंगे । अपितु दूसरों को भी भक्ति मार्ग पर चलाएँगे । फिर इसमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षि भक्त लोग तो परम-गति को प्राप्त होते ही हैं । क्योंकि ये जन्म से सत्त्व-गुण सम्पन्न होते है । यहाँ माँस, मदिरा भक्षी ब्रह्म-क्षत्रियों का वर्णन नहीं है । यहाँ तो उन केवल मेरे भक्त पुण्यात्मा ब्राह्मणों और ऋषि बन चुके क्षत्रियों के सम्बन्ध में ही कहा गया है, जो कि जन्म से ही धर्मात्मा होते हैं ऐसे मेरे भक्त मुझ को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं । सुतीक्ष्ण, अम्बरीष तथा वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि अनेक ऋषि, मुनि, साधु, महात्मा, ब्राह्मण, क्षत्रिय जातियों में जन्म लेकर परम गति को पहुँच चुके हैं ।

यह संसार असार है। अनित्य है। क्षणभङ्गुर है। इस में तनिक भी सुख नहीं है केवल कभी कभी सुख का आभास मात्र होता है यह जगत् पूर्णतया दु:खों से परिपूर्ण है। पहले तो नौ मास मनुष्य को माता के गर्भ का दु:ख सहना पड़ता है, जहाँ पर पास ही मलमूत्र का कुण्ड होता है। पाँव पसारने के लिए स्थान भी नहीं होता। सारा समय जेर की गठड़ी में पैक होकर बन्द रहना पड़ता है। माता द्वारा कड़ुवे, कसैले भोजनों के विकार से कभी कभी जीव वहाँ पर काल का ग्रास भी हो जाता है। यदि बच कर वहाँ से बाहर आने में सफलता मिलती भी है तो जन्म काल की वेदना से मुक्त होकर माता और पुत्र दोनों का नवीन जन्म ही होता है। फिर शिशु काल में भूख, प्यास, दु:ख; दर्द के प्रकट करने का तो कोई सामर्थ्य उस में होता ही नहीं, केवल चीखने, चिल्लाने और रोने पर ही जोर होता है। थोड़ा बड़ा होने पर माता पिता की ताड़ना और अध्यापक वर्ग का डण्डा खून शुष्क करता रहता है। युवक बन जाने पर आजीविका की चिन्ता घुन की तरह खाने लगती है। ब्याह और बच्चे हो जाने पर स्त्री और बच्चों के निर्वाह के लिए सारा दिन कोल्हू के बैल की तरह श्रम करना पड़ता है और ईंटें ढोने वाले गधे की तरह भार ढोना पड़ता है। फिर बच्चों के पढ़ाने और ब्याहने की चिन्ता होती है। हिंस्रक जीवों और शत्रुओं का भय सदा बना रहता है। अपने शरीर को लगे हुए नाना प्रकार के रोग सताते रहते हैं। बन्धुओं, बाँधवों सम्बन्धियों तथा परिवार की चिन्ताएँ सदा कल्पाती हैं। नाना प्रकार के झगड़े, दंगे और मुकद्दमे आदि दुखों में वृद्धि करते रहते हैं। दरिद्रता तो कोढ़ की भान्ति चिमट जाती है। जरा तो मनुष्य का रूप मरकट, भूत, चुड़ैल जैसा ही बना देती है जिसे देख कर भय भी लगता है और हँसी भी आती है। कान सुनना छोड़ देते हैं। आँखें देखना बन्द कर देती हैं। दान्त झड़ जाते हैं। मुख खाली आले की तरह पोपला हो जाता है। जीभ बिना इच्छा ही लपलपाने लगती है। ठोड़ी नाक के अग्रभाग से मिलने का प्रयास करती है। आँखें चुँधिया कर भीतर धँस जाती हैं नाक बहने लगती है, मुँह से लार गिरती रहती है, खाल लटक जाती है। मज्जा और रुधिर सूख जाते हैं। केवल हड्डियों का एक ऐसा ढाँचा शेष रह जाता है जिस पर ढीली ढाली खाल लिपटी हुई होती है, खाँसी आती है, श्लेष्मा दम नहीं लेने देती। कमजोरी थूकने में भी बाधक हो जाती है। जीवन भर किए हुए पाप रह रह कर याद आते हैं और महापश्चाताप होता है परन्तु "अब पछताए क्या होत जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।" घर और बाहर के सभी लोग इस बूढ़े के प्राणों के त्याग होने के लिए दिन रात प्रार्थना करते हैं कि इतने में मृत्यु का पत्र आ प्राप्त होता है और बड़ी कठिनता और दु:खों से प्राण देह से बाहर निकलते हैं।

जब इस जीवन की यह दुर्दशा होने की आशंका सदा बनी ही रहती

है तो फिर बड़े पुण्यों से प्राप्त हुए इस नर-शरीर का सदुपयोग क्यों नहीं करना चाहिए ? बड़े दु:ख की बात है कि अनमोल हीरा नर शरीर पाकर जीव इसे व्यर्थ ही विषय विकारों में खो देता है। भला जहाँ बम, तोप के गोले और मशीन गनों से दनादन गोलियाँ बरस रही हों। शत्रु तीरों तलवारों के वार पर वार कर रहे हों वहाँ मनुष्य अपने शरीर की रक्षा क्यों न करे। जहा पत्थर बरस रहे हों वहाँ मनुष्य बचने का प्रयत्न क्यों करे। जिस समय शरीर रोग से जर्जर हो रहा हो तो दवाई को क्यों न सेवन न करे ? जिस समय चारों ओर आग लगी हुई हो। उस समय वहाँ से दूर भागने का प्रयास क्यों न करे ? इसी प्रकार हे अर्जुन ! दु:खों और संकटों से भरे हुए इस मृत्यु लोक में आया हुआ मनुष्य इन से छूटने के लिए मेरा भजन क्यों न करे ?

श्रुति में कहा है—

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि। भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा: प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥"

(केनोपनिषद् २।५॥)

[अर्थ—यदि मिले हुए इस मनुष्य जन्म में परमेश्वर को जान लिया, तो ठीक है। और यदि उस को इस जन्म में न जाना, तब तो बड़ी भारी हानि है। बुद्धिमान लोग उस परमात्मा को सारे प्राणियों में (रम रहा) विचार कर इस लोक से मरकर अमर हो जाते हैं।] जो जीव इस संसार में जन्म लेता है वह अवश्य यहा से जाता है। सूर्य भी अस्त होने के लिए उदय होता है। इस मनुष्य को सदा मेरा भजन करना चाहिए ताकि मर कर पुन: वापस न आना पड़े। और परमात्मा के साथ मिल कर तद्रूपिता प्राप्त हो जाए ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ॥ ३४ ॥

मत्+मन:+भव मत्+भक्त:+मत्+याजी माम्+नमस्+कुरु माम्+एव+एष्यसि युक्त्वा+एवम्+आत्मानम्+मत्+परायण: ॥

मत्+मना:=(पुं०) मयि मनो यस्य स: (बहुव्री०)

[मत्=अस्मद् (सर्व०) पंच० ए० व०।

मना:=(नपुं०) मनस्+प्र० ए० व०] मेरे मन वाला। मुझ में मन वाला।

भव=√भू+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) हो।

मत्+भक्त:=(पुं०) प्र० ए० व०=मेरा भक्त (हो)।

मत्+याजी=(पुं०) [√यज्+णिङ्+णिनि=याजिन्+प्र० ए० व० =याजी=यजन करने वाला। पूजन करने वाला] मेरा यजन (पूजन) करने वाला (हो)।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्वितीं० ए० व०=मुझ को।

नमस्=(अव्यय) नम+असुन्=प्रणाम। नमस्कार ['नमस्' के योग में 'मह्यम्' या "मे" चतुर्थी विभक्ति होती हैं। परन्तु इस स्थान पर 'माम्' द्वितीया का रूप लाया गया है। कारण यह है कि "उपपद विभक्तेः कारक विभक्तिः बलीयसी (कारिका)" अर्थात् "उपपद-विभक्ति से कारक-विभक्ति बलवती होती है]

कुरु=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लोट्० पर० म० पु०, ए० व० =(तू किया) कर।

माम्=मुझ को।

एव=(अव्यय) ही।

एष्यसि=√इ (ण्) [अदा० पर० सक०=जाना]+लृट्० म० पु०, ए० व० (तू) प्राप्त हो जाएगा।

युक्त्वा=√युज् (रुधा० उभ० सक०=जोड़ना)+क्त्वा=जोड़ कर। युक्त करके।

एवम्=(अव्य०)√इ+वमु (बा०)=इस प्रकार।

आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्विती० ए० व०=अपने आप को।

मत्+परायणः=[परायण=(नपुं०) परम्) अयनम् (णत्वम्)=उत्तम स्थान। अत्यन्त आसक्ति। किसी काम में बहुत लग जाना।]

मयि परायणः यः (बहुव्री०)=मुझ में अत्यन्त लगा हुआ। मेरे शरण हुआ।

अर्थ—मुझ में मन वाला हो। मेरा भक्त हो। मेरा यजन (पूजन) करने वाला हो। सदैव मुझ को नमस्कार (किया) कर। इस प्रकार आत्मा को (=अपने आप को अर्थात् मन, बुद्धि और इन्द्रियों सहित शरीर को) (मुझ में) युक्त करके मेरे परायण (शरण) हुआ तू मुझ को ही प्राप्त हो जायेगा॥ ३४॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! सोते, जागते, चलते फिरते, खाते, पीते आदि प्रत्येक दशा में सर्व-शक्तिमान्, सर्व-व्यापक, सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ मुझ परमात्मा को अपने भीतर बाहर सब ओर पृथिवी आकाश में असीम अनुभव किया कर। और मुझ से माता-पिता तुल्य प्यार करता रह। सब काम मेरे ही किए हुए जान। भोजन करते समय आप न खाकर मुझ प्रभु को ही खिलाया कर। एक पल भर भी मुझे भूलना न चाहिए अर्थात् तुम्हें अपना मन पूर्ण रूप से मेरे अर्पण कर देना चाहिए। सदा मेरा ही भक्त बना रह। हर हालत में खुश रह। और प्रत्येक बात और कार्य में मेरी ही इच्छा जान। सब में मेरे स्वरूप का ही दर्शन कर। सब प्रकार के यज्ञ, तप, दान, पुण्य आदि कर्म मेरे अर्पण कर। श्रद्धा, विश्वास और प्रेम भाव से सदा मेरे चरणों का ध्यान

करता रह। अपना हृदय पूर्ण रूप से मेरे अर्पण कर दे। सब को देखते समय मेरे स्वरूप को देखता रह। और सदैव मुझे नमस्कार किया कर। सब धर्मों के पूजा स्थान मेरे ही पूज्य-मन्दिर है तू उन सब को देख कर सदा शीश झुकाया कर। किसी से भी द्वेष न कर। मुझे सब जीवों में चलता फिरता और खाता पीता देखा कर। मेरे और अपने मध्य से अपने तन, मन धन को एक ओर हटा दे। ताकि तेरा और मेरा कोई भेद न रहे। तू इस बात को भली भान्ति समझ ले कि मैं परमेश्वर सगुण, निर्गुन, निराकार, साकार आदि सब कुछ हूँ। हाथी के भिन्न-भिन्न अंगों के स्पर्श करने वाले पाँचों अन्धों की तरह मेरे स्वरूप के सम्बन्ध में हठी-क्षुद्र-हृदय लोगों से झगड़ा न कर। सदा मेरे ज्ञानी बुद्धिमान् भक्तों के मद्विषयक वचन श्रवण करता रह। विषय वासनाओं के इंधन को मेरी भक्ति और ज्ञानाग्नि में भस्म कर दे। इस प्रकार अभ्यास करने से तू मद्रूप हो कर मुझ में मिल जायेगा। और परम शान्ति को प्राप्त हो जायेगा ॥

लोकमान्य श्री तिलक महाराज ने इस स्थान पर इस प्रकार टिप्पणी की है—

"वास्तव में इस उपदेश का आरम्भ ३३वें श्लोक में ही हो गया है। ३३वें श्लोक में "अनित्य" पद अध्यात्म शास्त्र के इस सिद्धान्त के अनुसार आया है कि प्रकृति का फैलाव अथवा नाम-रूपात्मक-दृश्य-सृष्टि अनित्य है और एक परमात्मा ही नित्य है और असुख पद में इस सिद्धान्त का अनुवाद है कि इस संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है तथापि यह वर्णन अध्यात्मक का नहीं है। भक्ति, मार्ग का है। अतएव भगवान् परब्रह्म अथवा परमात्मा शब्द का प्रयोग न करके "मुझे भज", "मुझ में मन लगा", "मुझे नमस्कार कर" ऐसे व्यक्तस्वरूप के दर्शाने वाले उत्तम पुरुष का निर्देश किया है। भगवान् का अन्तिम कथन है कि अर्जुन ! इस प्रकार भक्ति करके मत्परायण होता हुआ योग अर्थात् कर्मयोग का अभ्यास करता रहेगा तो तू कर्म-बन्धन से मुक्त हो कर निःसन्देह मुझे पा लेगा। इसी उपदेश की पुनरुक्ति ग्यारहवें अध्याय के अन्त में की गई है। गीता का रहस्य भी यही है। भेद इतना ही है कि उस रहस्य को एक बार अध्यात्मक दृष्टि से और एक बार भक्ति दृष्टि से बतला दिया है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

[इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषदों में, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में राजविद्या-राजगुह्ययोग नामक नवम अध्याय है ॥

॥ शुभम् ॥

अथ दशमोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच—

भूयएव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

भय:+एव महाबाहो ! शृणु मे परमम्+वच: । यत्+ते+अहम्+प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हित-काम्यया ॥

भूय:=भूयस् (अव्यय) [भुवे भावाय यस्यति यतते, भू√यस् (दिवा० पर० अक०=यत्न करना)=पुन: । फिर ।

एव=(अव्यय)√इ+वन्=ही । भी ।

महाबाहो !=हे महाबाहो ! (सम्बोधन ए० व०)=महान् बाहु: यस्य महाबाहु: (पुं०, बहुव्री)=हे लम्बी भुजाओं वाले !

शृणु=√श्रु (स्वा० पर० सक०=सुनना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) सुन ।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरे ।

परमम्=(वि०) [परम् उत्कृष्टं माति,√मा+क] परम+(नपुं०) द्विती० ए० व०=परम को ।

वच:=(नपुं०) वचस् [√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+असुन्]+द्विती० ए० व०=वच:=वचन को ।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिस (वचन) को । जो (वचन) ।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिए ।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं ।

प्रीयमाणाय=√प्री (दिवा० आत्म० सक०=प्रसन्न करना)+शानच्=प्रीयमाण +चतु० ए० व०=प्रीयमाण के लिए । प्रसन्न करने वाले के लिए । प्रीति वाले के लिए । अत्यन्त प्रसन्न होने वाले के लिए । खुश होने वाले के लिए । तृप्त होने वाले के लिए । श्रद्धालु के लिए ।

वक्ष्यामि=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+लृट्० उ० पु०, ए० व०= कहूँगा ।

हित-काम्यया=[हित=√धा+क्त=लाभ, भला, भलाई (नपुं०)]। हितम् इच्छतीति=हितकाम्यते+क्यच्=हितकामा+तृती० ए० व०=हित-काम्यया। हितेच्छया। हित की इच्छा से। हित करने की कामना से। भलाई की इच्छा से। हित कामना से।

अर्थ—श्री भगवान् बोले=हे महाबाहो (अर्जुन)! (तू) फिर भी मेरे परम (गुह्य) वचन को सुन। मैं जिस (वचन) को (तेरे) हित की इच्छा से तुझ प्रीयमाण के लिए कहूँगा ॥ १ ॥

व्याख्या—श्री भगवान् बोले—हे वीरवर अर्जुन! सातवें अध्याय में तुम मुझ से सुन चुके हो कि—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

फिर ८।४। में तूने सुना है कि—

"अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥"

पुनः ९।१६। में यह भी सुन लिया है कि—

"अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥"

मैंने ४।२४। में भी कहा था कि—

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्य ब्रह्मकर्म समाधिना ॥

अब मैं फिर इस अध्याय में अपनी विभूतियों का वर्णन करूँगा। क्योंकि तुम मुझे अति प्रिय हो और मैं तुम्हें अत्यन्त प्रिय हूँ तथा तुम्हें मेरे वचनों को सुन कर अपार हर्ष और तृप्ति होती है और मुझे भी तेरे हित के लिए ये अत्यन्त गुह्यतम वचन कह कर हर्ष और उल्लास होता है। इसलिए अब फिर तुम मेरे इन गीता रूपी अमृत वचनों को ध्यान पूर्वक दत्तचित्त होकर सुनो ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

न मे विदुः सुर-गणाः प्रभवम्+न महा+ऋषयः। अहम्+आदिः+हि देवानाम्+महा+ऋषीणाम्+च सर्वशः ॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा, मेरे, मेरी।

विदुः=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ब० व० =जानते हैं। (जानन्ति)।

सुर-गणाः=सुराणां गणाः (षष्ठी तत्पु०) (पुं०) प्र० ब० व०=ब्रह्मादि देवताओं के समूह।

प्रभवम्=(पुं०) प्र√भू+अप्=प्रभव+द्विती० ए० व०=प्रभव को। अतिशय प्रभुत्व शक्ति को। उत्पत्ति को।

न=(अव्यय) न। नहीं।

महा+ऋषयः=(पुं०) महर्षि+प्र० ब० व०=महर्षि लोग। भृगु वसिष्ठादि बड़े बड़े ऋषि लोग।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

आदिः=(वि० पुं०) आ√दा+कि=आदि+प्र० ए० व०=आदिः=आदि कारण। मूल कारण।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

देवानाम्=(पुं०) देव+षष्ठी० ब० व०=देवों का। देवताओं का।

महर्षीणाम्=महर्षि+षष्ठी० ब० व०=महर्षियों का।

च=(अव्यय) और।

सर्वशः=(अव्यय) सर्व+शस्=पूर्ण रूप से। सब प्रकार से।

अर्थ—मेरे प्रभव [अतिशय प्रभुत्व शक्ति को अथवा उत्पत्ति] को (ब्रह्मादि) देवता लोगों के समूह नहीं जानते हैं। और न महर्षिजन (ही जानते हैं)। क्योंकि मैं सम्पूर्ण देवताओं और सब महर्षियों का सब प्रकार से आदि कारण हूँ ॥ २ ॥

व्याख्या—आकाशादि सारे प्रपंच की उत्पत्ति, स्थिति, संहार, प्रवेश, निर्गम, नियमन, निग्रह अनुग्रह आदि सब कार्यों को करने की सामर्थ्य वाला केवल एक मैं ही हूँ। सारी सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य केवल मेरी ही सत्ता से होते हैं। मेरा जन्म या प्रभव न कभी हुआ है न होता है न कभी होगा ही। जो बात त्रिकाल असत् है। उस के सम्बन्ध में देवता लोग या ऋषि गण क्या जान सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं जान सकते। इसी प्रकार मेरी शक्ति के उत्कर्ष और प्रभाव को भी कोई नहीं जान सकता क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि की

उत्पत्ति का मूल कारण तो मैं ही हूँ ।। ये देवता और ऋषि लोग भी मेरे कार्य होने से मुझ कारण को कैसे जान सकते हैं ? ।।

श्री ज्ञानेश्वर महाराज इस श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"मेरे स्वरूप का प्रतिपादन करने में वेदों ने भी मौन धारण कर लिया है । मन और वायु की गति भी वहाँ तक नहीं है । जिस प्रकार माता के उदर में रहने वाला भ्रूण माता की उत्पत्ति और तारुण्य को नहीं देख पाता, उसी प्रकार किसी देवता या महर्षि को मेरा ज्ञान नहीं हो सकता । जिस प्रकार समुद्र में रहने वाला कोई जलचर समुद्र को नाप नहीं सकता अथवा मच्छर गगन-मण्डल के विस्तार की थाह नहीं पा सकता इसी प्रकार इन देवताओं और महर्षियों का ज्ञान भी मेरा स्वरूप जान नहीं सकता । मैं कौन हूँ ?" "कितना बड़ा हूँ ?" और "किस से उत्पन्न हुआ हूँ ?" आदि प्रश्नों का निर्णय करते करते बुद्धिमान् लोगों को कल्प बीत गए हैं । क्योंकि मैं ही सब का मूल कारण हूँ । इसलिये कोई भी कभी मुझे जान नहीं सका है ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढ़ः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

यः+माम्+अजम्+अनादिम्+च वेत्ति लोक-महा+ईश्वरम् ।
असंमूढः सः+मर्त्येषु सर्व-पापैः प्रमुच्यते ॥

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो ।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को ।

अजम्=(वि० पुं०)न जायते इति√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+ड=अज (नञ् बहुव्री०)+द्विती० ए० व०=जन्म रहित को । अजन्मा को ।

अनादिम्=न यस्य अन्यः आदि विद्यते (नञ् बहुव्री०) न, आ√दा+कि =अनादि+(पुं०) द्विती० ए० व०=अनादिम्=अनादि को । आदि रहित को । सनातन को । सब के कारण को ।

च=(अव्यय) और ।

वेत्ति=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =जानता है ।

[विजानाति=अच्छी तरह से जानता है] ।

लोक-महा+ईश्वरम्=(पुं०) लोकानां महान्तम् ईश्वरम् (षष्ठी० तत्पु०, कर्मधारय, द्विती० ए० व०)=सम्पूर्ण लोकों के सब से बड़े ईश्वर को ।

असंमूढ़ः=(पुं०) संमोहवर्जितः मोह से रहित । न-सम्√मुह् (दिवा० पर० अक०=मूर्ख होना)+क्त (नञ् बहुव्री०, प्र० ए० व०)=मोह से रहित ।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह ।

मर्त्येषु=(पुं०)√मृ+तन्=मर्त+यत्=मर्त्य+सप्त० ब० व०=मनुष्यों में ।

सर्व-पापैः=सर्वैः पापैः (तृती० तत्पु०) । सर्वपाप+तृती० ब० व०=सब पापों द्वारा ।

प्रमुच्यते=प्र√मुच् (तुदा० उभ० सक०=छोड़ना)+लट्० कर्मवाच्य प्र० पु०, ए० व०=छोड़ा जाता है । [प्रमोक्ष्यते=छोड़ दिया जाता है ।।]

अर्थ—जो मुझ अज (जन्म रहित), अनादि (सनातन), और लोक-महेश्वर (सम्पूर्ण लोकों के सब से बड़े ईश्वर) को (भली भान्ति यथार्थ रूप में) जानता है, वह मनुष्यों में मोह माया से रहित हुआ सब पापों से छोड़ दिया जाता है ।। ३ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! मैं अजन्मा हूँ । अर्थात् मेरा जन्म कभी किसी काल मैं भी नहीं हुआ था । इसी कारण से मैं अनादि हूँ क्योंकि कोई काल भी ऐसा नहीं था जबकि मैं नहीं था । जिस का आदि नहीं है उस मुझ परमेश्वर का अन्त भी कभी नहीं होगा जिस मेरे कृष्ण रूप को आप अपने सामने विद्यमान देख रहे हो इस का जन्म भी कहने मात्र के लिए ही देवकी के गर्भ से हुआ है । यदि मेरा जन्म वास्तव में देवकी के गर्भ से हुआ होता तो मैं देवकी को जन्मते ही अपना चतुर्भुज, शंख चक्र, गदा पद्मधारी अलौकिक मनोहर विष्णु रूप कैसे दिखला सकता था ? मैं भी अन्य अबोध शिशुओं की भान्ति असमर्थ और अशक्त होता, तथा कारागार के जटल द्वार अकस्मात् न खुलते । गोकुल ग्राम को लेजा रहे मुझ छाज में डाल कर सिर पर रखे हुए के पांव को उच्छल कर यमुना जी न चूमती । तथा मेरी बालपन की अलौकिक लीलाएँ संसार में इस प्रकार प्रकट न होती ।

मैं तो अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए उनकी इच्छानुसार अपनी माया से ही प्रकट होता हूँ । जब धर्मस्थापन और दुष्ट विनाशन रूप मेरा कार्य पूर्ण हो जाता है तो फिर मैं इस माया के पर्दे से रहित होकर अपने निराकार स्वरूप में होता हूँ । मैं वास्तव में निराकार हूँ । परन्तु साकार होने में भी मुझे कोई कठिनता नहीं होती है । भक्त जब सच्चे भाव से मेरा स्मरण करते हैं तो मैं तत्काल इस प्रकार प्रकट हो जाता हूँ जिस प्रकार दियासलाई घिसने पर अग्नि प्रकट हो जाती है । इस प्रकार जो अधिकारी पुरुष अपने आत्मा में अभिन्न रूप से मुझ अज तथा अनादि परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है वह मेरे अज, अनादि और लोकमहेश्वर रूप को जान लेता है । तथा वह ज्ञानी पुरुष इसी मृत्यु लोक में रहता हुआ, सब मनुष्यों में असमूढ (मोह या मूर्खता से रहित) हुआ अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति के हो जाने से आत्मा अनात्मा के तादात्म्य अध्यास रूप संमोह से हीन हुआ सब पापों से इस प्रकार छोड़ा जाता है जिस प्रकार अग्नि से प्रदीप्त और

ज्वलित चन्दन का वृक्ष सर्पों द्वारा छोड़ा जाता है। कहने का भाव यह है कि वह तत्त्ववेत्ता पुरुष जाने या अनजाने में किए हुए भूत कालिक, हो रहे वर्तमान कालिक तथा होने वाले भविष्यत् कालिक सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। यद्यपि अज्ञानी पुरुष भी उन पापों के फल को भोग चुकने पर या उनका प्रायश्चित करने पर उनसे मुक्त हो जाता है। तो भी अज्ञानी पुरुष उन पापों से नित्तान्त मुक्त नहीं होता क्योंकि उसके किए हुए सब पाप कर्मों का कारण रूप अज्ञान तो उसके पास ही बना रहता है। उससे फिर पापों की उत्पत्ति हो जाती है। इस लिए भोग द्वारा निवृत्त हुए भी वे पाप कर्म संस्कार रूप से उस अज्ञानी पुरुष में फिरप्रवल हो जाते हैं और वह अज्ञानी पुरुष पुनः उन पापों से अच्छी तरह लिप्त हो जाता है। परन्तु तत्त्ववेत्ता पुरुष तो आत्मसाक्षात् करने के कारण से अज्ञान और उससे उत्पन्न हुए अहंभाव तथा संस्कार से सहित सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। इसलिए मैंने "मुच्यते" शब्द न कह कर "प्रमुच्यते" कहा है। प्र उपसर्ग के कारण अर्थ में यह विशेषता हो गई है कि ज्ञानी अज्ञानियों के भुक्त पापों की भान्ति नहीं छोड़ा जाता जिसमें संस्कार रूप बीज शेष रह जाते हैं। बल्कि ज्ञानी पुरुष अच्छी तरह से पापों से मुक्त हो जाता है जिसमें पापों के साथ पुनः जन्म के कारण रूप संकार भी घुल जाते हैं ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धिः+ज्ञानम्+असंमोहः क्षमा सत्यम्+दमः शमः। सुखम्+दुःखम्+भवः+अभावः+भयम्+च+अभयम्+एव च ॥

अहिंसा समता तुष्टिः+तपः+दानम्+यशः+अयशः। भवन्ति भावाः+भूतानाम्+मत्तः+एव पृथक्+विधाः ॥

बुद्धिः=(स्त्री०)√बुध्+क्तिन्=जानने, समझने और विचार करने की शक्ति। सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि पदार्थों को समझने वाली अन्तःकरण की वियेष शक्ति। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य और शुभ-अशुभ आदि का निश्चय करने वाली शक्ति। (प्र० ए० व०)

ज्ञानम्=(नपुं०)√ज्ञा+ल्युट=सम्यक् बोध। आत्मा अनात्मा आदि का बोध। (प्र० ए० व०)

असंमोहः=(पुं०) (नञ् तत्पु०)=मोह या भ्रम का अभाव। जानने योग्य पदार्थ प्राप्त होने पर उनमें विवेक पूर्वक प्रवृत्ति। संसार के सब पदार्थों को

अनित्य, क्षणिक, दु:खमूलक और जन्म-मरण रूप संसार-चक्र में फंसाने वाले समझकर उनमें मोह न करना। (प्र० ए० व०)।

क्षमा=(स्त्री०)√क्षम्+अङ्—टाप्=किसी के द्वारा अपनी निन्दा की जाने, ताड़ना दी जाने, धन हर लेने, भूमि छीन लेने, गाली देने, विष देने अथवा कोई और अपराध करने पर भी चित्त में विकार न होना। शक्ति होने पर अपने शत्रु को मुआफ करने की शक्ति। माफी। (प्र० ए० व०)

सत्यम्=(नपुं०) सते हितम्, सत्+यत्=सच्च । सचाई। जो बात जिस रूप में देखी सुनी या अनुभव की गई हो। उसी रूप में वाणी द्वारा प्रकट करना। (प्र० ए० व०)

दम:=(पुं०) √दम्+घञ्+प्र० ए० व०=वाह्य इन्द्रियों को वश में कर लेना।

शम:=(पुं०) √शम्+घञ्+प्र० ए० व०=अन्त:करण की उपरति। अन्त:करण की शब्दादि विषयों से निवृत्ति। मन को भली भान्ति संयत करके अपने वश में करना।

सुखम्=(नपुं०) √सुख्+अच्+प्र० ए० व०=मन की वह उत्तम तथा प्रिय अनुभूति जिसके द्वारा अनुभव-कर्त्ता का विशेष समाधान और सन्तोष होता है। और उसके निरन्तर बने रहने की उसे सदा अभिलाषा बनी रहती है। अनुकूल वस्तु की प्राप्ति और प्रतिकूल वस्तु के वियोग की अनुभूति। आह्लाद।

दु:खम्=(नपुं०) √दु:ख्+अच् या घञ्+प्र० ए० व०=सन्ताप। आध्यात्मिक आधिदैविक और आधि भौतिक आदि संतापों से होने वाली अनुभूति।

(१) अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, उल्कापात, ज्वालामुखी का फटना, बिजली का गिरना, बाढ़ का आना, अकाल, महामारी आदि दैवी प्रकोपों से होने वाले कष्ट "आधिदैविक" दु:ख कहलाते हैं।

(२) सर्प, व्याघ्र, शत्रु आदि प्राणियों द्वारा प्राप्त होने वाले कष्ट "आधि भौतिक" दु:ख माने जाते हैं।

(३) ज्वर आदि रोग, चिन्ता, भय, शोक आदि से उत्पन्न होने वाले कष्ट "अध्यात्मिक" दु:ख होते हैं।

भव:=(पुं०) √भू+अप्+प्र० ए० व०=उत्पत्ति। होना। जन्म।

अभाव:=[कुछ टीकाकारों ने भवोभाव: का संधिच्छेद "भव:+अभाव:" न करके "भव:+भाव: किया है उस अवस्था में—भाव:=(पुं०)√भू+घञ्, भावयति चिन्तयति वा ज्ञापयति पदार्थान्√भू+णिच्+अच्+प्र० ए० व०=अस्तित्व। सत्ता। विद्यमानता। इस प्रकार अर्थ होगा]।

(पुं०) √भू+घञ् (नञ् तत्पुरुष०) असत्ता। न होना। मृत्यु। (प्र० ए० व०) नाश।

भयम्=(नपुं०) √भी+अच्+प्र० ए० व०=डर। भीति। ख़ौफ़। त्रास।

च=(अव्य०) और।

अभयम्=(नपुं०) नञ् तत्पु०। प्र० ए० व०=भय का अभाव। निडरता होना।

एव=(अव्यय) ही।

च=(अव्य०) और।

अहिंसा=(स्त्री०) नञ् तत्पु०। प्र० ए० व०=किसी प्राणि को न मारना। मन, वाणी और कर्म से किसी को कष्ट न देना।

समता=(स्त्री०) सम+तल्-टाप्+प्र० ए० व०=राग-द्वेष से रहित होकर सब के साथ बर्ताव करना। समानता से बर्तना। समबुद्धि का भाव। दुःख-सुख, हानि-लाभ आदि प्रत्येक अवस्था में समभाव होकर रहना।

तुष्टिः=(स्त्री०)√तुष्+क्तिन्+प्र० ए० व०=सन्तोष। प्रसन्नता। यथालाभ सन्तुष्टि होना।

तपः=(नपुं०) √तप्+असुन्+प्र० ए० व०=धार्मिक अनुष्ठान। इन्द्रिय-संयमपूर्वक शरीर को सुखाना। तपस्या।

दानम्=(नपुं०)√दा+ल्युट्+प्र० ए० व०=उत्तम या समुचित देशकाल में श्रद्धापूर्वक सत्पात्रों के लिए यथाशक्ति अन्न, धन, रक्त, वस्त्र, वास, औषधियाँ, विद्या और स्वश्रम आदि प्रदान करना।

यशः=(नपुं०) यशस् (अश्नुते व्याप्नोति, √अश्+असुन्, युट्+प्र० ए० व० =कीर्ति। प्रशंसा। अच्छे कर्म करने से लोगों द्वारा प्रशंसा किया जाना।

अयशः=(नपुं०) [नञ् तत्पु०, प्र० ए० व०]=अपयशः। अपकीर्ति। निन्दा। बदनामी। बुरे कर्मों के कारण लोगों द्वारा निन्दा किया जाना।

भवन्ति=√भु+लट्० प्र० पु०, ब० व=होते हैं।

भावाः=(पुं०)√भू+घञ्+प्र० ब० व०=अवस्था। स्थिति। अस्तित्व। सत्ता। होना।

भूतानाम्=पुं०)√भू+क्त+षष्ठी० ब० व०=भूतों के। प्राणियों के।

मत्तः=अस्मद् (सर्व०)+पंच० ए० व०=मत्+तस्=मत्तः=मुझ से।

एव=(अव्यय) ही ।

पृथक्=(अव्यय)√प्रथ्+अज्, कित्, संप्रसारण=अलग अलग । भिन्न भिन्न । नाना ।

विधाः=(पुं०)√विध्+क+प्र० ब० व०=प्रकार के । भान्ति के । तरह के ।

अर्थ—बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, मृत्यु (नाश), भय तथा अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अयश (ये सब) भूतों के भिन्न भिन्न भान्ति के भाव मुझ से ही (उन में) होते हैं ॥ ४, ५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! संसार के सब जीव वास्तव में पाँच तत्त्वों हवा, पानी, मिट्टी, तेज और आकाश के मिलने से बनते हैं जिन की रचना मेरी इच्छा और इंगित से मेरी प्रकृति करती है और मेरा प्रकाश प्रतिबिम्बित होकर उन में प्राणों का संचार करता है। फिर उन भूतों में निश्चयात्मिका शक्ति, वास्तविक ज्ञान, ज्ञानपूर्वक त्याग तथा वैराग्य, क्षमा-भाव, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, नाश, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, दान, यश, अपयश आदि भाव मुझ से ही उत्पन्न किये जाते हैं अर्थात् ये सब भिन्न-भिन्न भाव मैं ही उन में भरता हूँ। प्रत्येक प्राणी में ये भाव पृथक-पृथक स्थिति के अनुरूप ही रहते हैं। इन भावों की सरदार बुद्धि है। निःसीम ज्ञान उस का मन्त्री है। मोह का अभाव, सहनशीलता, क्षमा उसके मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्य हैं। सत्य प्रधान न्यायाधीश है। शम और दम सच्चे राजगुरु हैं। शेष सुख दुःखादि सब राज-प्रबन्ध कर्ता कर्मचारी हैं जो प्राणियों के शरीर रूपी देशों में प्रबन्ध करते हैं। जो जीव अपने शुभ कर्मों द्वारा मेरे समीप आ जाते हैं। इन में शुभ भाव भर जाते हैं और जो जीव अपने दुष्कर्मों के कारण मुझ से दूर हो जाते हैं। उन में बुरे भाव पूरित हो जाते हैं ॥ ४, ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

महा+ऋषयः सप्त पूर्वे चत्वारः+मनवः+तथा मत्+भावाः+मानसाः+जाताः+येषाम्+लोके+इमाः प्रजाः ॥

महा+ऋषयः=(पुं०) (कर्मधारय०) महर्षि+प्र० ब० व०=महर्षि लोग ।

सप्त=सप्तन् (संख्यावाची विशेषण)=√सप्+तनिन्=सप्तन्+प्र० ब० व० =सप्त ।

पूर्वे=(व०)√पूर्व् (चुर० पर० अक०=निवास करना)+अच्=पूर्व+प्र० ब० व०=सप्त ऋषियों से पूर्व (पहले) जन्म लेने वाले ऋषि लोग ।

चत्वार:=चतुर्=(संख्यावाची विशेषण)=√चित्+उरन्=चतुर+(पुं०) प्र० ब० व०=चार (सनक, सनन्दन, सनातन और सनत् कुमार।)

मनव:=(पुं०)√मन्-उ=मनु+प्र० ब० व०=मनव:=ब्रह्मा के पुत्र, जो मानव जाति के मूल पुरुष माने जाते हैं। चौदह मनु। पुराणों और सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ के अनुसार एक कल्प में चौदह मनु होते हैं और उन में से प्रत्येक के अधिकार काल को मन्वन्तर कहते हैं। उनके नाम क्रमानुसार इस प्रकार हैं—

(१) स्वयंभुव (२) स्वारोचिष (३) औत्तमि (४) तामस (५) रैवत (६) चाक्षुष (७) वैवस्वत् (इस समय पदाधिकारी मनु)।

आगे होने वाले सात मनु ये हैं—

(१) सावर्णि (२) दक्षसावर्णि (३) ब्रह्मसावर्णि (४) धर्म सावर्णि (५) रुद्र सावर्णि (६) (रौच्य) देव सावर्णि (७) इन्द्र सावर्णि।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल=वैसा ही। और।

मत्=अस्मद् (सर्वनाम)+पंच० ए० व०=मेरे।

भाव:=(पुं०) भाव+प्र० ए० व०=भाव हैं।

अथवा

मद्गत भावना वैष्णवेन सामर्थ्येन उपेता:=मुझ में भावना वाले—ईश्वरी सामर्थ्य से युक्त। सर्वज्ञ। मुझ में भाव वाले।

मानसा=मनस् (नपुं०)+तृती० ए० व०=मनसा। मनसा एव मानसा (श्री शंकराचार्य जी) मन से। संकल्प से ब्रह्मा रूप के मन के संकल्प मात्र से।

जात:=√जन् (दिवा० आत्म० अक०=उत्पन्न होना)+क्त=जात+(पुं०) प्र० ब० व०=उत्पन्न हुए हैं।

येषाम्=यद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=जिन की।

लोके=(पुं०)√लोक् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+घञ्+सप्त० ए० व० =लोक में। संसार में। जगत् में।

इमा:=इदम् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ब० व०=यह।

प्रजा:=(स्त्री०) प्र√जन्+उ—टाप्=सन्तान। औलाद। जनता। शिष्य वर्ग।

अर्थ—सप्त महा-ऋषि, (उन से) पहले (उत्पन्न होने वाले) चार (सनकादि) तथा (चौदह) मनु (ये सब) मेरे ही भाव हैं और मेरे मन के संकल्प से उत्पन्न हुए हैं। जिनकी लोक में यह सारी प्रजा है।

व्याख्या—मैं कल्प के आदि में ब्रह्मा के रूप में प्रकट होता हूँ। ब्रह्मा के एक कल्प में चौदह मन्वन्तर होते हैं। कल्प के आदि में ब्रह्मा ने अपने अन्तः-करण या संकल्प से चार महर्षि बालक रूपधारी सनक, सनन्दन, सनातन और सनत् कुमार उत्पन्न किए, फिर उन को आज्ञा दी कि संसार में सन्तान की उत्पत्ति करो। परन्तु वे चारों ब्रह्मज्ञानी थे तत्काल संन्यासी बन गए और ईश्वर-चिन्तन करने लगे उन्होंने ब्रह्मा की आज्ञा की अवज्ञा की और सन्तान-उत्पत्ति करने से इन्कार कर दिया यद्यपि उन्होंने सन्तान वृद्धि नहीं की तो भी प्रजा को धर्मोपदेश देकर उनका मार्गप्रदर्शन तो अवश्य ही किया था। मार्ग-प्रदर्शी गुरु होता है और गुरु के शिष्य उस के पुत्र ही होते हैं। इसलिए सनकादि महर्षियों ने यद्यपि अपने वीर्य द्वारा सन्तान की वृद्धि नहीं की, तदपि अपने पवित्र ज्ञान द्वारा अवश्य ही शिष्य रूप सन्तान की वृद्धि की थी। इसलिए जो टीकाकार "पूर्वेचत्वारः"का अर्थ इन चार महर्षि के के अतिरिक्त कुछ और करते हैं वह ठीक नहीं करते हैं और उन का यह कहना व्यर्थ है कि "इन चारों महर्षियों ने संन्यासी होने के कारण सन्तान-वृद्धि नहीं की थी इसलिए इन का यहाँ ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है।"

कई टीकाकार "पूर्वे चत्वारः" का अर्थ निम्नलिखित ढंग से भी करते हैं :—

"कल्प के आदि में मरीचि आदि सात ऋषियों से पहले वासुदेव (आत्मा), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार) ये चार मूर्तियां उत्पन्न हो गई थीं और इनसे ही मरीचि आदि पुत्रों की उत्पत्ति हुई थी इसलिए यहाँ इन चारों का ग्रहण करना ही उपयुक्त है।"

प्रत्येक मन्वन्तर के आदि में मुझ ब्रह्मा के मन या संकल्प से एक मन उत्पन्न होता है जिन से प्रजाओं की वृद्धि होती है छः मनु पहले हो चुके हैं सातवें मनु वैवस्वत् का मन्वन्तर इस समय बीत रहा है। सात मन्वन्तरों के मनु बाद में अपने अपने मन्वन्तरों में प्रकट होकर पदाधिकारी बनेंगे। इसलिए यह कह कर कि "जो सात मनु अब तक हो चुके हैं यह सारी प्रजा उन्हीं की सन्तान है बाद में जो मनु आएँगे उन की प्रजा भी उनके साथ बाद में ही उत्पन्न होगी। इस श्लोक के "मनवः" शब्द से भी आज तक के सात मनुओं का ग्रहण ही अभिप्रेत है। सो ऐसी कोई बात ठीक नहीं है क्योंकि "इमाः प्रजाः" से तात्पर्य इस सारे कल्प की प्रजा से है। यदि हम यह अर्थ ग्रहण न करेंगे तो वर्तमान अर्थात् केवल एक दिन अर्थात् आज की ही प्रजा का ग्रहण हो सकेगा भूत और भविष्यत् दोनों की प्रजा हमारे अर्थ से बहिष्कृत हो जाएगी इसलिए "मनवः" का अर्थ यहाँ चौदह मनु ही है।

प्रत्येक मन्वन्तर के आदि में भिन्न भिन्न सप्तर्षि ही प्रादुर्भूत होते हैं जैसा कि इस वैवस्वत् मन्वन्तर के आदि में—विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज गौतम, अत्रि वसिष्ठ और कश्यप ये सप्तर्षि उत्पन्न हुए थे परन्तु इस श्लोक में "महर्षयः सप्त" से इन का ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि ये "ब्रह्मा या मुझ ब्रह्म" के मानस से जात नहीं थे। इन का जन्म तो माता और पिता द्वारा हुआ था। कल्प के पहले मन्वन्तर में जो सात महर्षि मेरे मन या संकल्प से उत्पन्न हुए थे उन के नाम इस प्रकार हैं—

मरीची, अङ्गिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ।

इस स्वयंभुव मन्वन्तर के महर्षि अत्रि, और वसिष्ठ वर्तमान मन्वन्तर में होने वाले इन दो नाम वाले ऋषियों से भिन्न थे उन में केवल नाम की ही समता थी। शरीर की नहीं। इन सप्त महर्षियों द्वारा सर्वतोमुख प्रजा की वृद्धि हुई हैं।

इन सप्त महर्षितों के लक्षण वायु पुराण अध्याय ६२ में इस प्रकार लिखे है—

षट् कर्माभिरता नित्यं, शालिनो गृहमेधिनः।
तुल्यै र्व्यवहरन्ति स्म अदृष्टैः कर्महेतुभिः ॥ ९५ ॥
अग्राम्यैर्वर्तयन्ति स्म रसैश्चैव स्वयंकृतैः ।
कुटुम्बिनः ऋद्धिमन्तो बाह्यन्तर निवासिनः ॥ ९६ ॥
कृतादिषु युगाख्येषु सर्वेष्वेव पुनः पुनः ।
वर्णाश्रमव्यवस्थां न क्रियते प्रथमं तु वै ॥ ९७ ॥

[अर्थ—ये महर्षि लोग छः कर्म (पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना) नित्य करने वाले, (ब्रह्मचारियों को पढ़ाने के लिए अपने निवास स्थानों में) पाठशालायें (गुरुकुल) बनाने वाले, गृहमेधी (सन्तान उत्पन्न करने के लिए गृहस्थी और पंचयज्ञ करने के लिए अग्नि रखने वाले) होते थे। तथा कर्म-जन्य अदृष्ट की दृष्टि से तुल्यों के साथ व्यवहार करते थे ॥ ९५ ॥

और अपने द्वारा बनाए हुए अग्राम्य (सभ्य या अनिन्द्य) रसों (भोजनों या पदार्थों) से ही स्वनिर्वाह करते थे। वे कुटुम्बी (या बाल बच्चों वाले) थे। (गौओं की) सम्पत्ति वाले थे। मथा लोकों के बाहर और भीतर निवास करते थे (अर्थात् महान् विज्ञानी थे) ॥ ९६ ॥

कृत (सत्य) युग आदि सब युगों के आरम्भ में बार बार पहले ये महर्षि लोग ही वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था किया करते हैं।] इसलिए सनकादि चार महर्षि, मरीचि आदि सप्त महर्षि तथा चौदह मनु मुझ ब्रह्मा रूप धारी, अव्यक्त

परब्रह्म के मन या संकल्प से उत्पन्न हुए हैं। ये सब मेरे ही भाव हैं अर्थात् मुझ में भावना वाले हैं, वैष्णवी सामर्थ्य से युक्त हैं। सर्वज्ञ हैं। वेदों के पाठ तथा अर्थ को भली भान्ति जानने वाले हैं। मुझ में प्रेम और श्रद्धा रखने वाले हैं। वास्तव में ये सब मेरा ही विस्तार हैं। इन की उत्पत्ति से पूर्व जब तक लोकों की रचना नहीं होती तब तक महाभूतों का समूह निष्क्रिय ही रहता है। कल्प भर में होने वाली सम्पूर्ण प्रजा इन मेरे भावों द्वारा ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् वास्तव में मेरे द्वारा ही वितत होता है॥ ६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

एताम्+विभूतिम्+योगम्+च मम यः+वेत्ति तत्त्वतः। सः+अविकम्पेन योगेन युज्यते न+अत्र संशयः॥

एताम्=एतद् (सर्व०)+(स्त्री०) द्वितीं० ए० व०=इस को।

विभूतिम्=(स्त्री०) वि√भू+क्तिन्+द्वितीं० ए० व०=विभूति को। अलौकिक शक्ति को। विस्तार को। प्रभाव को।

योगम्=(पुं०)√युज्+घञ्+द्वितीं० ए० व०=योग को। योग युक्ति को। सर्वज्ञता को।

च=(अव्यय) और।

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरी।

वेत्ति=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु० ए० व० =जानता है।

तत्त्वतः=√तन्+क्विप्, तुक्, पृषो० साधु, तस्य भावः, तत्+त्व=तत्त्व +तस्=तत्त्वतः (अव्ययः)=यथार्थ रूप से। तत्त्व से।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

अविकम्पेन=(वि०) न विशेष कम्पो यस्मिन् तेन (नञ् बहुव्री०)। न+वि √कम्प्+घञ्+(पुं०) तृती० ए० व०=अप्रचलितेन। (पूर्ण ज्ञान की स्थिरता रूप) निश्चल से। अचल से।

योगेन=(पुं०) योग+तृती० ए० व०=योग से।

युज्यते=√युज् (दिवा० आत्म० सक०=युक्त होना)+लट्० प्र० पु० ए० व०+युक्त होता है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अत्र=(अव्यय) इस में।

संशयः=(पुं०) सम्√शी+अच्+प्र० ए० व०=सन्देह। शक। द्विविधा। अनिश्चयात्मक बात या ज्ञान।

अर्थ—जो (कोई व्यक्ति) मेरी इस विभूति (महान् जीवों के भीतर सर्वोत्तम प्रकाश) और योग (युक्ति) को तत्त्व से (यथार्थ रूप से) जानता है। वह विशेष निश्चल (मेरे ध्यान) योग से युक्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ७ ॥

व्याख्या—ब्रह्मा से लेकर तुच्छ कीट पतंग तक सारी सृष्टि मेरी ही रचना है और मैं इन सब में व्याप्त हूँ। परन्तु इन सब मूर्तियों, विभूतियों या व्यक्तियों में मेरा रंग भिन्न-भिन्न रूप में भासमान होता है। जैसे सूर्य का प्रचण्ड प्रकाश जब संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थों पर पड़ता है तो उन को बैंगनी (Violet), नीले (Indigo), आसमानी (Blue), हरे (Green), पीले (Yellow), नारंगी (Orange) और लाल (Red) इन अलग-अलग सात रंगों अथवा इन के संमिश्रण अनेक रंगों में रंग देता है। किसी पदार्थ को श्वेत तथा किसी को अत्यन्त श्वेत भी कर देता है। किसी को काला ही बना रहने देता है। क्योंकि विज्ञान ने यह बात भलि भान्ति सिद्ध कर दी है कि किसी वस्तु या पदार्थ में उस का अपना कोई रंग नहीं है। सूर्य का प्रकाश ही सात रंगों का समूह है प्रकाश के कारण ही वस्तुएँ विविध प्रकार के रंगों से रंगी हुई दिखाई देती हैं जिन पर प्रकाश का कम प्रभाव पड़ता है वे काली ही रहती हैं जिस प्रकार पापी पुरुष पर परमात्मा का अधिक प्रभाव प्रकट नहीं होता, जो वस्तुएँ प्रकाश के सब रंगों को खाकर चट कर जाती हैं वे निर्मल, शुभ्र और स्वच्छ दिखाई देती हैं। इसी प्रकार जो पुरुष शुभाशुभ कर्मों को खाकर नि:शेष कर देते हैं। वे महात्मा और महर्षि प्रतीत होते हैं। दर्पण की भान्ति चमकीले पदार्थ प्रकाश को मूल रूप में ही लौटाने लगते हैं। उस समय सूर्य को देखने की भान्ति उनको देखना भी कठिन होता है। ये लोग राम, कृष्ण आदि साक्षात् परमेश्वर के अवतार होते हैं। हे अर्जुन! मेरा प्रकाश तो कोटि सूर्यों से भी अधिकतम है। ये सूर्य भी मेरे ही प्रकाश को परिवर्तित करते हैं। वास्तव में इन में भी अपना कोई प्रकाश नहीं है। यद्यपि मैं सब में प्रकाशित हूँ। परन्तु जिन जिन में मेरा अधिक प्रकाश बल वीर्य आदि अनेक रूपों में लोगों को प्रभावित करता है उनको मैं अपनी विभूतियों के रूप में इस अध्याय में वर्णन करूँगा। इन विभूतियों के मिस में अपार विस्तृत हुआ हूँ। इस मेरे विस्तार को विस्तृत करने वाली मेरी शक्ति योग नाम से भी कही जाती है। जो पुरुष इन दोनों बातों को भली भान्ति तत्त्व से जान लेता है उस की आँख से मैं कभी ओझल नहीं होता हूँ। इस में तनिक सा भी सन्देह या संशय नहीं है। कि ऐसा पुरुष सदा के लिए योग से युक्त हो जाता है अर्थात् निरन्तर मेरे ही ध्यान में लीन रहने लगता है और मेरे बिना भीतर, बाहर सब ओर दसों दशाओं में, धरती, आकाश में तथा तारों के संसार से भी उस पार और कुछ वह देखता ही

नहीं है वह पुकार उठता है—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

तब उसकी दशा अवर्णनीय होती है और—"यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधय:" अर्थात् जहाँ जहाँ उस का मन जाता है। वहा वहाँ तत्त्व ज्ञान की स्थिरता, रूप समाधि उसे तत्काल स्वत: प्राप्त हो जाती है॥ ७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

अहम्+सर्वस्य प्रभव:+मत्त: सर्वम्+प्रवर्त्तते। इति मत्वा भजन्ते माम्+बुधा:+भाव-समन्विता:॥

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं (प्रभु)। (वासुदेव नामक परब्रह्म)।

सर्वस्य=सर्व (सर्व०)+(पु०) प्र० ए० व०=सबका।

प्रभव:=(पु०) प्र√भू+अप्=प्रभव+प्र० ए० व०=उत्पत्ति का स्थान। उत्पत्ति का कारण।

मत्त:=अस्मद् (सर्व०)+पंच० ए० व०=मत्+तसिल्=मुझ से।

सर्वम्=(सर्वनाम)+(नपुं०) प्र० ए० व०=स्थिति, नाश, क्रिया और कर्मफल उपभोग रूप विकारमय) सारा (जगत्)।

प्रवर्त्तते=प्र√वृत् (भ्वा० आतम० सक०=विद्यमान होना। वर्तना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=चेष्टा करता है। घूमता फिरता है। प्रवृत्त होता है। घुमाया जाता है।

इति=(अव्यय) इस प्रकार।

मत्वा=√मन् (दिवा० आतम० सक०=जानना, मानना)+क्त्वा=जान कर। मान कर।

भजन्ते=√भज (भ्वा० उभ० सक०=भजना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०= भजते हैं।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

बुधा:=(पुं०)√बुध्+क=बुध+प्र० ब० व०=बुद्धिमान् लोग।

भाव-समन्विता:=भावो भावना परमार्थतत्त्वाभिनिवेश: तेन समन्विता: संयुक्ता: =परमार्थ तत्त्व की धारणा से युक्त हुए।

भाव=(पुं०)√भू+णिच्=अच्=श्रद्धा। भक्ति। अनुराग।

समन्विता:=सम्-अनु√इ+क्त=समन्विता:+पुं०) प्र० ब० व०= संयुक्त। मिले हुए। भावात् समन्विता:=भाव से युक्त हुए।

अर्थ —मैं (वासुदेव नामक परब्रह्म ही) सारे (जगत्) की उत्पत्ति का कारण हूँ। और मुझ से ही सारा संसार प्रवृत्त होता है (अर्थात् मेरी सत्ता से ही सूर्य चन्द्र नक्षत्र पृथिवी और सम्पूर्ण जीव जगत् आदि सब कुछ गतिशील और चेष्टायुक्त होता है।) इस प्रकार (दृढ़ और स्थिर निश्चय पूर्वक) जान कर भावना (श्रद्धा और भक्ति भाव) से युक्त हुए बुद्धिमान् लोग मुझ को भजते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! चाहे इस संसार को ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न हुआ कहा जाए चाहे मनु महाराज की सन्तति माना जाए। चाहे महर्षियों से उत्पन्न हुआ कथन किया जाए। चाहे प्रकृति और उसके तीन गुणों से निर्मित समझा जाए। परन्तु वास्तव में इसका निर्माता और रचयिता मैं परब्रह्म ही हूँ। गोले गोलियां तोपों और बन्दूकों के मुखों से निकलते हुए दीखते हैं। परन्तु वास्तव में उनको चलाने वाले तोपची और बन्दूकची ही होते हैं। तीर तो धनुष से निकलता है। परन्तु उसको चलाने वाला तो धन्वी ही होता है। इसी प्रकार संसार के सारे कार्य सूर्य चन्द्र आदि ग्रहों वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आकाश तथा मनुष्यों और अन्य भिन्न भिन्न जीवो द्वारा होते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु वास्तव में वे सारे कार्य मुझ परब्रह्म परमेश्वर द्वारा ही होते हैं। इस लिए सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति का असली कारण मैं ही हूँ। इस जगत् का पालन पोषण करने वाला भी मैं ही हूँ। और प्रलय भी मेरे द्वारा ही सम्पन्न होती है। मेरी सत्ता से ही यह सूर्य चन्द्र नक्षत्र तथा पृथिवी आदि सम्पूर्श पिण्ड ब्रह्माण्ड में मेरे द्वारा नियत किए हुए निज निज मार्गों पर भ्रमण कर रहे हैं। कभी परस्पर टकराते नहीं हैं। और न ही किसी काल में अपने कार्यों से विरमित होते हैं। या अपने मार्गों से विचलित होते हैं। सब जीव मुझ से ही स्फूर्ति और सत्ता ग्रहण करते हैं। मेरी सत्ता और प्रेरणा से ही जीवों के सर्व कर्म सम्पन्न होते हैं। क्योंकि संसार की सब सत्ताओं का मूल कारण मैं हूँ। इस प्रकार जो बुद्धिमान् लोग मेरा यह विश्व व्यापक रूप जान कर उस का साक्षात्कार कर लेते हैं। वे अटल श्रद्धा और अनन्य भक्ति से मेरा भजन करते हैं। ऐसे लोग देश, काल और स्थानादि सब को मुझ से अभिन्न अनुभव कर लेते हैं। और जिस प्रकार स्वतन्त्र वायु सम रूप होकर गगन में संचार करता है। उसी प्रकार भक्त भी मद्रूप हो जाने पर अपने आत्मज्ञान के बल से तीनों भुवनों में सुखपूर्वक रमण करने लगता है ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

मत् + चित्ताः + मत् + गत-प्राणाः + बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तः + च माम् + नित्यम् + तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

मत्+चित्ता:=मयि चित्तं येषां ते (बहुव्री०)=मुझ में चित्त वाले (प्र० ब० व०)। अपने चित्त को छोड़ कर मेरे चित्त वाले। अर्थात् जिन के शरीर के भीतर उन का अपना कोई चित्त नहीं है। केवल मेरे चित्त को ही अपने हृदय में धारण किए हुए हैं, ऐसा अनुभव करने वाले।

मत्+गत-प्राणा:=मां गता: (चक्षुरादय:) प्राणा येषां ते=मुझ में अर्पित किए हुए प्राणों वाले। मेरी पूजा अर्चा में लगी हुई इन्द्रियों वाले। मेरी भेंट किए हुए प्राणों वाले। अपने प्राणों को मुझ परमात्मा की धरोहर जानने वाले। मेरे निमित्त निज प्राणों को त्यागने की इच्छा वाले। मेरे निमित्त अपना जीवन अर्पण करने वाले।

बोधयन्त:=√बुध् (भ्वा० उभ० सक०=जानना)+णिच्+शतृ=बोधयत्+(पुं०) प्र० ब० व०=बोध करते कराते हुए। समझते समझाते हुए। मुझ ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करते कराते हुए॥ मेरा तत्त्व समझाते हुए।

परस्परम्=(अव्यय) एक दूसरे के साथ। आपस में। एक दूसरे को।

कथयन्त:=√कथ् (चुरा० उभ० सक०=कहना)+णिच्+शतृ=कथयत्+(पुं०) प्र० ब० व०=कथन करते कराते हुए।

च=(अव्य०) और।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को। (मेरा—षष्ठी अर्थ में)

नित्यम्=(अव्यय) प्रतिदिन।

तुष्यन्ति=√तुष् (दिवा० पर० अक०=प्रसन्न होना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=सन्तुष्ट होते हैं॥ सन्तोष को प्राप्त करते हैं। खुश होते हैं।

च=(अव्यय) और।

रमन्ति=√रम् (भ्वा० उभ० अक०=रमण करना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=रमण करते हैं। प्रियतम के मिलने वाली रति को प्राप्त करते हैं। आनन्द को प्राप्त करते हैं।

च=(अव्यय) और।

अर्थ—मुझ में चित्त वाले (या मेरे ही चित्त वाले) और मुझ में अर्पण किए हुए प्राणों वाले (भक्त लोग) आपस में (एक दूसरे को मेरे तत्त्व स्वरूप का) बोध करते कराते हुए, मेरे प्रभाव के यश को नित्य कहते (और सुनते) हुए सन्तुष्ट होते और मुझ में रमण करते हैं॥ ९॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जिन भक्त जनों के चित्त निरन्तर मुझ में गड़े हुए

या लीन रहते हैं उन के वे चित्त उन के अपने न रह कर मुझ परमात्मा के ही बन जाते हैं। वे चित्त मेरी भक्ति और प्रेम में इतने अधिक रंगे जाते हैं कि जो अन्य लोगों की दृष्टि में उन के शरीर के भीतर उन के न होकर मेरे चित्त ही दिखाई देते हैं। उन के शरीर पारदर्शी काँच की चिमनियों के समान उन चित्त रूपी देदेप्यमान ज्वालाओं या ज्योतियों को छिपाने में असमर्थ हो जाते हैं। उन लोगों के प्राण शरीर के जीवित रहते ही मेरे अन्तर्गत चले जाते हैं यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि उन के प्राण मुझ परमात्मा में लीन हो जाने पर फिर वे भक्त जीवित कैसे रहते हैं? तो उस का उत्तर यह है कि उनके प्राण शरीर के भीतर रम रहे मुझ परमात्मा में लीन होने पर भी मेरे साथ उस समय तक शरीर में ही विद्यमान रहते हैं जब तक कि शरीर का भाण्डा फूट नहीं जाता। और शरीर का निधन हो जाने पर भी वे फिर मुझ से वियुक्त नहीं होते जिस से फिर सदा के लिए जन्म मरण से रहित हो जाते हैं। जिन टीकाकारों ने इस का यह अर्थ किया है कि उनका प्राण अथवा जीवन केवल ईश्वर निमित्त ही हो जाता है।" अंशत: यह बात भी ठीक ही है। एक टीकाकार ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—

"जिन्होंने बाह्य विषयों से निवृत करके चक्षु आदि सब इन्द्रियां मुझ परमेश्वर में ही लीन कर दी हैं, उनका नाम "मद्गतप्राण" है यह भी ठीक है श्रद्धा के फूल हैं जो कई प्रकार से मुझ पर चढ़ाये जा सकते हैं।

ऐसे भक्त लोग प्रभु प्रेम से भरे हुए, पूर्णावस्था को प्राप्त हुई कमल की कली के सदृश होते हैं जो अपने भीतर का मधुरस, पराग और सुगन्ध पदार्थ किसी प्रकार दबाकर नहीं रख सकती और भ्रमर, मधुमक्खी आदि तुच्छ कीट पतंग से लेकर रंक राव तक सब प्राणियों का समान रूप से आतिथ्य तथा सत्कार करती है। ऐसे ही वे भक्त लोग अपने उपदेश, कीर्तन और ख्याति से प्राणी मात्र का उपकार करते हैं जब वे परस्पर मिलते हैं तो अपने अनुभवों, श्रुतिचनों, पुराण कथाओं और उक्ति युक्तियों द्वारा मेरा बोध एक दूसरे को कराते रहते हैं और मेरा स्वरूप और उसकी प्राप्ति का मार्ग दर्शाते रहते हैं। सदैव उन में मेरे ज्ञेय रूप और ध्येय रूप की चर्चा होती रहती है। ऐसे मेरे भक्त परस्पर एक दूसरों को मेरा यथार्थ स्वरूप समझाते हुए एवं ज्ञान, बल और सामर्थ्य आदि गुणों से युक्त मुझ परमेश्वर का वर्णन करते हुए सदैव सन्तुष्ट रहते हैं और परम सन्तोष को प्राप्त होते हैं। जैसा कि योगशास्त्र पाद दो सूत्र ४२ में लिखा है—

सन्तोषादनुत्तमसुख लाभः।"

अर्थात् इस सन्तोष से उन मुझ में चित्त लगाने वाले, मुझ में प्राणार्पण

करने वाले, एक दूसरे को मेरे स्वरूप का बोध कराने वाले और मेरा ही नित्य कीर्तन करने वाले मेरे अनन्य भक्तों को अत्यन्त उत्तम सुख प्राप्त होता है। उस सुख का मूल्य इस श्लोक में आंका गया है।

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णा क्षय सुखस्यते नार्हत: षोडशीं कलाम् ॥"

[**अर्थ**—इस लोक में जो सुख कामरूप विषय भोग से प्राप्त होता है और जो स्वर्गवास का महान् सुख है। वे सब सुख मिल कर तृष्णा नष्ट हुए मेरे भक्त को प्राप्त हुए सुख के सोलहवें भाग के तुल्य भी नहीं होते हैं।]

ये मेरे भक्त मेरे नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीला आदि के श्रवण, मनन और कीर्तन में दत्त चित हुए सदा मुझ में रमण करते हैं। मेरे प्रेम में मस्त रहते हैं। मुझे सदा संग समझ कर प्रेमपूर्वक मेरा साक्षात्कार कर लेते हैं और मेरे दर्श, स्पर्श और आलिङ्गन से अपना सब कुछ भूल जाते हैं। दिन रात मुझे देखते हैं और पागलों की सी क्रीड़ाएँ करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

तेषाम्+सतत-युक्तानाम्+भजताम्+प्रीति-पूर्वक। ददामि बुद्धि-योगम्+तम्+येन माम्+उपयान्ति ते ॥

तेषाम्=तद् (सर्व०)+षष्ठी० ब० व० (पुं०)=उनके (हृदय में)।

सतत=(वि०) सम्√तन्+क्त, समः अन्त्यलोप:=निरन्तर। (अव्यय) सदैव। हमेशा।

युक्तानाम्=(वि०)√युज्+क्त=युक्त+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=युक्तों के। एकाग्र चित्त हुओं के। युक्तों के। मुझ प्रभु के ध्यान में लगे हुओं के।

भजताम्=(वि०)√भज्+शतृ=भजत्+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=भजन करते हुओं के।

प्रीति-पूर्वकम्=प्रीति: स्नेह: तत्पूर्वम्।
[प्रीति=(स्त्री०)√प्री+क्तिन्=प्रेम। पूर्वकम्=(वि०)√पूर्व्+अच्+कन्+(नपुं०) प्र० ए० व०=सहित। साथ।] प्रीत्या पूर्वकम् (तृती० तत्पु०)=प्रेम सहित।

ददामि=√दा (जुहो० उभ० सक०=देना)+लट्०+उ० पु०, ए० व०=देता हूँ।

बुद्धि-योगम्=बुद्धि: सम्यग्दर्शनं मत्तत्त्वविषयं तेन योगम्। बुद्ध्या योगम्।

द्विती० ए० व०)। बुद्धि के योग को। तत्त्व-ज्ञान रूप योग को।
परमात्मा के तत्त्व के यथार्थ ज्ञान का नाम बुद्धि है उस से युक्त होना ही बुद्धि योग है—उस को। तत्त्व ज्ञान को।

तम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=उसको।

येन=यद् (सर्व०)+(पुं०) तृती० ए० व०=जिस के द्वारा। जिस से।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

उपयान्ति=उप√या (अदा० पर० सक०=प्राप्त होना)=प्राप्त होते हैं।

ते=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे।

अर्थ—उन निरन्तर मेरे ध्यान में लगे हुओं और प्रेम के साथ भजन करते हुओं के (हृदयों में) मैं बुद्धि योग देता हूँ। जिस के द्वारा वे मुझ को प्राप्त होते हैं॥ १०॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जो बुद्धिमान् भक्त लोग मच्चित, मद्गतप्राण और निष्काम भाव से अनन्य प्रेमी होकर मेरा भजन करते हैं तथा मेरे ध्यान में निरन्तर लीन रहते हैं। मेरे गुणों को परस्पर कहते और सुनते रहते हैं तथा श्रीमद्भागवत् ६।११।२५॥ में वर्णित शब्दों के अनुसार प्रार्थना करते हैं—

"न नाकपृष्टं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस! त्वा विरहय्यकाङ्क्षे॥"

[अर्थ—हे समञ्जस (=न्यायवान् परमात्मा)! आप को छोड़ कर—न मैं स्वर्गलोक में उच्चासन (इन्द्र पदवी) चाहता हूँ, न (ब्रह्मा होकर) ब्रह्मलोक पाना चाहता हूँ। न सारी पृथिवी का चक्रवर्ती राज्य चाहता हूँ न पाताल लोक का (राजा बलि बन कर) आधिपत्य चाहता हूँ। न योग की सिद्धि रूप अपुनर्जन्म की इच्छा करता हूँ। (मैं तो केवल एक आप को ही चाहता हूँ।)]

उन को मैं वह बुद्धि योग (ईश्वरीय ज्ञान) प्रदान करता हूँ जिस के द्वारा वे मुझ में मिल कर इस प्रकार मद्रूप हो जाते हैं जिस प्रकार गंगा, यमुना और सिन्धु आदि नदियाँ अपने अपने नाम और रूप को परित्याग करके समुद्र में जाकर एक रूप हो जाती हैं अथवा जिस प्रकार घट रूप उपाधि के निवृत होने पर घटाकाश, महाकाश में अभेद रूप होकर विलीन हो जाता है॥ १०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

तेषाम्+एव+अनुकम्पा+अर्थम्+अहम्+अज्ञानजम्+तमः।
नाशयामि+आत्म-भाव-स्थः+ज्ञान-दीपेन भास्वता॥

तेषाम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=उनके।

एव=(अव्यय) ही ।

अनुकम्पा+अर्थम्=अनुकम्पाया: अर्थम्=अनुकम्पा के लिए ।

[अनुकम्पा=(स्त्री०) अनु√कम्प्+आ=अनुग्रह । दया । कृपा ।

अर्थम्=अर्थ+अच्=अर्थ+(नपुं०) प्र० ए० व०=प्रयोजन से । हेतु । निमित्त । लिए ।]

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं ।

अज्ञान-जम्=(वि०) अज्ञानतो (अविवेकतो) जातम् (पंच० तत्पु०-द्विती० ए० व०, नपुं०) अज्ञान से उत्पन्न हुए को ।

तम:=(नपुं०) तमस् (√तम्+असच्)+द्विती० ए० व०+अन्धकार को । [मिथ्य-प्रत्यय-लक्षणं मोहान्धकारम्=मिथ्या प्रतीति रूप मोहमय अन्धकार को]

नाशयामि=√नश् (दिवा० पर० अक०=लुप्त या नाश होना)+णिच्+लट्० उ० पु०, ए० व०=नाश करता हूँ ।

आत्म-भाव-स्थ:=(वि०) आत्मनो भाव:(=अन्त:करणाशय:=अन्त:करण रूपी स्थान) तस्मिन् स्थित:=आत्म-भाव में स्थित हुआ । अन्त:करण में बैठा हुआ ।

(पुं०, प्र० ए० व०)

ज्ञान-दीपेन=(पुं०) ज्ञानम् एव दीप: तेन (कर्मधारय०) तृती० ए० व०=तत्त्व-ज्ञान रूप दीपक से । विवेक-बुद्धि-योग-ज्ञान रूप दीपक से ।

भास्वता=(वि०) भास्वत् (√भास्+क्विप्=भास्+मतुप्, मस्य व:) +(पुं०) तृती० ए० व०=प्रकाशमय से । दीप्तिमान् से । चमकीले ।

अर्थ—उन के अनुग्रह के लिए ही मैं (उनके) अन्त:करण में स्थित हुआ (उन में) अज्ञान से उत्पन्न हुए (मिथ्या प्रतीति रूप) अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञान-दीपक से नाश करता हूँ ।। ११ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि मैं सब के लिए समान हूँ । सारी सृष्टि मेरी ही रची हुई हैं और मैं सर्वत्र सब में व्यापक हूँ । अग्नि भी सब वस्तुओं में व्यापक है । परन्तु दिखाई नहीं देती । जब दो वस्तुओं को परस्पर रगड़ा जाता है तो वे गर्म होने लगती हैं और अन्त में उन से अग्नि प्रकट हो जाती है । इसी प्रकार जब कांच के उत्तल गोल टुकड़े में से सूर्य की किरणें लांघती हैं तो वे उस के फोक्स पर इकट्ठी हो जाती हैं और वहां रखे हुए कपड़े से अग्नि की ज्वाला प्रकट हो जाती है । इसी प्रकार मेरे प्रकाश की किरणें भी मुझ में सतत-युक्त और प्रीति-पूर्वक भजने वाले भक्तों के हृदय में एक विन्दु

पर एकत्रित हो जाती हैं। जिस से मैं वहाँ प्रकट हो जाता हूँ। तथा उन भक्तों का कल्याण करने के लिए मैं उन के आत्म भाव (अन्तःकरण) में स्थित हुआ उस ज्ञान दीपक को जला देता हूँ जो भक्ति के प्रसाद रूप घृत से भरा हुआ होता है। तथा जिस में ब्रह्मचर्य आदि साधनों के संस्कार से युक्त बुद्धि रूप बत्ती होती है। आसक्ति रहित अन्तःकरण जिस का आधार होता है। जो उस चित्त रूप पारदर्शी साफ़ शफ़ाफ़ कांच की चिमनी के भीतर भरा हुआ होता है। जिस में राग-द्वेष रूप कालुष्य की कणिका मात्र भी लगी हुई नहीं होती। तथा विषयों की वायु उस के भीतर जाकर उसे बुझा भी नहीं सकती। वह दीपक मेरे स्वस्वरूप की भावना के अभिनिवेश रूप वायु की आक्सीजन की सहायता से सदा प्रज्वलित रहता है। और निरन्तर अभ्यास किये हुए एकाग्रता रूप, ध्यानजनित, पूर्ण ज्ञान स्वरूप प्रकाश से उन भक्तों के अज्ञान-जन्य मिथ्या प्रतीति रूप मोह-मय अन्धकार को नाश करता है॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३ ॥

परम्+ब्रह्म परम्+धाम पवित्रम्+परमम्+भवान् । पुरुषम्+शाश्वतम्+दिव्यम्+आदि-देवम्+अजम्+विभुम्॥

आहुः+त्वाम्+ऋषयः सर्वे देव+ऋषिः+नारदः+तथा । असितः+देवलः+व्यासः स्वयम्+च+एव ब्रवीषि मे॥

परम्=(वि०)√पृ+अप्=पर+(नपुं०) प्र० ए० व०=सर्वोच्च। अन्तिम। उच्चतमा सब से परे।

ब्रह्म=(नपुं०)√बृह्+मनिन्=ब्रह्मन्+प्र० ए० व०=ब्रह्म। परमात्मा। परब्रह्म।

परम्=(वि०) सर्वोच्च । उच्चतम।

धाम=(नपुं०)√धा+मनिन्=धामन्+प्र०, ए० व०=धाम । घर। निवास स्थान। आश्रय।

पवित्रम्=(वि०)√पू+इत्र=पवित्र+(नपुं०) प्र० ए० व०=शुद्ध। पाप रहित। निर्मल। साफ़। पवित्र।

परमम्=(वि०) परम् उत्कृष्टं माति,√मा+क। जो सब से उच्च या उत्कृष्ट हो। सर्वोत्कृष्ट। मुख्य। [परम+(नपुं०) प्र० ए० व०]

भवान्=(सर्व०) भवत्+प्र० ए० व०=आप ।

पुरुषम्=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति,√पुर+कुषण्=पुरुष+द्वितीο एο वο =जीवों में सब से श्रेष्ठतम । पुरुष को । पुरुष।

शाश्वतम्=(वि०)√शश्+वत्=शश्वत (अव्यय)+अण्=शाश्वत्+(पुं०) द्वितीο एο वο=शाश्वतम्=शाश्वत को। सनातन को। सनातन। नित्य।

दिव्यम्=(वि०)√दिव्+यत्=दिव्य+(पुं०) द्विती० एο वο=दिव्य को। अलौकिक को। समूचे आकाश में फैले हुए को। स्वर्गीय को। [यह 'पुरुष' का विशेषण है।]

आदि-देवम्=(पुं०) कर्मधारय० । द्विती० एο वο । आदि देव को। आदि देव। नारायण। विष्णु देवताओं से भी पहले विद्यमान् को।

अजम्=(पुं०, वि०) न जायते इति,√जन्+ड, (नञ् तत्पु०)=अज+द्विती० एο वο=अज को। जन्म रहित को। अज को।

विभुम्=(वि०) वि√भू+डु=विभु+(पुं०) द्विती० एο वο=विभु को। सर्व व्यापक को। सर्व शक्तिमान् को। सर्वव्यापी ॥ १२ ॥

आहुः=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लट्० प्र० पु० ब० व० =कहते हैं।

त्वाम=युष्मद् (सर्व०)+द्विती० एο वο=आप को।

ऋषयः=(पुं०) ऋषि (ऋषति गच्छति संसार-पारम् इति√ऋष्+इन्, कित् =वैदिक-मन्त्र द्रष्टा)+प्र० ब० व०=ऋषि लोग। ज्ञान, श्रवण सत्य और तप धारी लोग।

सर्वे=सर्व (सर्व० वि०)+(पुं०) प्र० एο वο=सारे । सब।

देव+ऋषिः=(वि०) देवानां वा देवेषु ऋषिः=(षष्ठी वा सप्त० तत्पु०) देवताओं का ऋषि। देवताओं में ऋषि। देव ऋषि (पुं०) प्र० एο वο। (यह नारद का विशेषण है)।

नारदः=(पुं०) नारं परमात्म-विषयकं ज्ञानं ददाति, नार√दा+क=नारद +प्र० एο वο=ब्रह्मा के दस मानस पुत्रों में से एक। ये देव ऋषि माने जाते हैं। वेद और उपनिषदों के मर्मज्ञ. भक्ति-मार्ग-दर्शी, सब जगह जाने में समर्थ और वीणा-वादन में निपुण कहे जाते हैं। इन के शाप को अङ्गीकार करके भगवान् ने राम अवतार धारण किया था। और नारद के उपदेश से ध्रुव, प्रह्लाद और सति आदि अनेक भक्तों ने लाभ उठाया था।

तथा=(अव्यय)तेन प्रकारेण, तद्+थाल्=वैसे ही। और। तथा।

असितः=(वि० पुं०) नञ् तत्पु०=जो सफेद न हो। काला। असित नाम के प्रजापति के एक पुत्र। आदि काल के एक महर्षि। जो ब्रह्मवेत्ता थे और ब्रह्म ज्ञान का उपदेश देते थे। (प्र० ए० व०)

देवलः=(पुं०)√दिव्+अलच्=देवल+प्र० ए० व०=असित ऋषि का उनकी पत्नी एकपर्णा से उत्पन्न पुत्र, जो ब्रह्मवेत्ता और महा ज्ञानी था। जो वेद निष्णात था। तथा अपने पिता असित की भान्ति ऋग्वेद का मन्त्र द्रष्टा था।

व्यासः=(पुं०) वि√अस्+घञ्। (वेदों का) विभाग करने वाला। पुराणों और महाभारत का विस्तार करने वाला। सत्यवती से उत्पन्न महर्षि पराशर का पुत्र। भगवान् विष्णु का अंशावतार। द्वीप में उत्पन्न होने से इन का नाम "द्वैपायन" था। श्याम वर्ण होने से कृष्ण-द्वैपायन कहलाए। वेदों के विभाग करने से वेदव्यास बने। ये अद्वितीय कवि और महा विज्ञानी थे। आज कल के रेडियो सैट, टैलीविज़न आदि से भी अत्युत्तम यन्त्र इन के पास थे जिनकी सहायता से ये एक स्थान पर स्थित होते हुए भी सब संसार में होने वाली घटनाओं को देख लेते थे सब की गुप्त बात चीत सुन लेते थे तथा सब के हृदय की जान लेते थे। ऐसा ही एक सूक्ष्म यन्त्र इन्हों ने संजय को दिया हुआ था, जिस के द्वारा वह युद्ध में हो रही सम्पूर्ण घटनाओं को देखता था और सब की बातों को सुनता था। तथा धृतराष्ट्र को सुनाता जाता था। व्यास जी धृतराष्ट्र को एक ऐसा यन्त्र देना चाहते थे जिस से वह अन्धा होते हुए भी अपने नेत्रों से घर बैठे ही युद्ध का सम्पूर्ण वृत्तान्त देख सके। परन्तु धृतराष्ट्र ने अपनी आँखों से अपने वंश का सर्वनाश देखना स्वीकार न किया। व्यास जी के पास ऐसे सूक्ष्म यन्त्र थे जिनकी सहायता से वे नभ मार्ग द्वारा उड़ कर सब जगह जा सकते थे। वे ईरान में महात्मा ज़रतुस्त से से मिले थे जिस का वर्णन पारसियों की धर्म पुस्तक में किया गया है और व्यास की बहुत प्रशंसा की गई है। सच पूछो तो वर्तमान हिन्दू धर्म के प्रवर्तिक कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास जी हैं। ब्रह्म सूत्र भी इन की ही रचना है।

स्वयम्=(अव्यय) सु√अय्+अमु=खुद। आप। स्वयं। (आप) स्वयं।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) ही। भी।

ब्रवीषि=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लट्० म० पु० ए० व० =कहते हो। कहते हैं।

मे=अस्मद् (सर्व०)+चतु० ए० ब०=मह्यम् (मे)=मेरे लिए। मेरे प्रति मुझे। मझ को।

अर्थ—अर्जुन बोला—

हे भगवन्! आप परम ब्रह्म, परमधाम तथा परम पवित्र हैं। आप को सब ऋषि लोग (महर्षि ब्रह्मर्षि, और राजर्षिजन), देव-ऋषि नारद तथा असित, देवल और व्यास (आदि) शाश्वत् (सनातन), दिव्य, पुरुष, आदि देव, अज (अजन्मा) और विभु (सर्वव्यापक) कहते हैं। और स्वयं आप भी मेरे तईं ऐसा ही कहते हैं॥ १२, १३॥

व्याख्या—अर्जुन ने कहा—हे भगवन्! इस विश्व में जिसके बिना सब कुछ मिथ्या और नाशवान् है तथा जिसका न कोई रूप है न रंग है. न नाम है न धाम है, न आकृति है न ही स्वयं जिसके बिना उसको कोई दूसरा जानता है। ऐसे निराकार निर्विकार अविनाशी, सच्चिदानन्द, परब्रह्म परमात्मा आप ही हैं और सगुण रूप धारी होकर आप परमधाम कहलाते हैं। क्योंकि आप सूक्ष्मतम से स्थूलतम पर्यन्त सारे संसार के आधार-स्वरूप और आश्रय दाता हैं। जब तक यह जीवनाना योनियों में जन्म लेता रहता है। तब तक अनेक छोटे बड़े शरीरों और निवास-स्थानों को धारता और त्यागता रहता है। उस अवस्था में कोई भी शरीर तथा घर, इसका परमधाम नहीं बनता, जिसमें यह सदा स्थायी रूप से रह सके। परन्तु जब वह जन्म मरण से मुक्त होकर तुझ में मिल जाता है। तब फिर कोई भी इसे वहाँ से निकाल कर बे-घर नहीं कर सकता है। इसलिए इसके आप ही पक्के या स्थायी घर या धाम हो। अतः परमधाम कहना केवल आप के लिए ही शोभा देता है। संसार में अनेक तीर्थ हैं जो पवित्र कहे जाते हैं परन्तु उनकी वह पवित्रता केवल आपकी विद्यमानता के कारण से ही हैं। यदि आप साँसारिक पवित्रों को छोड़ दें। तो उनमें कुछ भी शेष नहीं रह जाता। इसलिए आप ही परम पवित्र हैं। जिसके कारण संसार के पवित्र, पवित्र माने जाते हैं। विष्णुसहस्रनामस्त्रोत में भीष्म जी युधिष्ठिर से कहते हैं—

"पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम्॥" १०॥

इस के अतिरिक्त आप परम शुद्ध-स्वरूप हो। सारे ऋषि-मुनि, ज्ञानी-ध्यानी, साधु-सन्त, वसिष्ठादि ब्रह्मर्षि, जनकादि ज्ञानी राजर्षि, याज्ञवल्क्यादि महर्षि, नारद सरीखे देवर्षि तथा वेद मन्त्र द्रष्टा असित और देवल पिता पुत्र आदि काल के ऋषि एवं वेदों के विभाग कर्त्ता, महाभारत और पुराणों के रचयिता और ब्रह्म-सूत्र आदि के निर्माता महा बुद्धिमान्, महा विज्ञानी अत्यन्त उच्च कोटि के कवीश्वर भगवान् द्वैपायन वेद व्यास ऋषि भी आप

को पुरुष, शाश्वत्, दिव्य, आदि देव, अज और विभु कहते हैं। और आप स्वयं भी अपने सम्बन्ध में मेरे प्रति ऐसा ही बताते हैं इस कथन के प्रमाण श्रुति-स्मृति में यत्र तत्र बहुलता से विद्यमान हैं—

श्रुति में कहा है कि "पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः" अर्थात् पुरुष से परे या अत्युत्तम और कोई नहीं है। वह ही अन्तिम सीमा है, वह ही परम गति है।"

फिर कहा है—"एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥"

[प्रश्नोपनिषद् ४।९॥]

[अर्थ—वह पुरुष (अर्थात् परमात्मा) ही (सब कुछ) देखने वाला है। स्पर्श करने वाला है। सुनने वाला है! सूंघने वाला है। स्वाद लेने वाला है। मनन करने वाला है। जानने वाला है (कर्म करने वाला है। विज्ञान का स्वरूप है। वह ही सब से परे है। अविनाशी है। और अपने आप में भली भान्ति स्थित है ॥]

और भी—

"पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।"

[मुण्डकोपनिषद् २।२।१०]

अर्थात् "यह पुरुष ही सम्पूर्ण कर्म, तप तथा परम ब्रह्म अमृत है।"

फिर वह पुरुष कैसा है ?

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम् ॥"

[श्वे० उ० ३।१४॥, यजु० ३१।१॥, ऋग्वेद १०।९०।१॥, अथर्व० १९।६।१॥]

[अर्थ—वह (परम) पुरुष हज़ारों (अनन्त) सिरों वाला, अनन्त आँखों वाला, और अनन्त पैरों वाला है। वह सारे संसार को सब ओर से घेर कर नाभि से दस अंगुल ऊपर (हृदय) में स्थित है ॥

इस प्रकार वेद शास्त्र और सारे ऋषि मुनि अनन्त महिमा युक्त आप को पुरुष कहते हैं। तथा आप शाश्वत या सनातन हो। नित्य हो। एक रस रहने वाले हो। आप भूत, भविष्यत् और वर्तमान सर्व काल में समरूप रहते हो। आप "दिव्य" हैं अर्थात् स्वतः प्रकाश स्वरूप हैं और साक्षात् ज्ञान स्वरूप हैं। आप तेजपुञ्ज से परिवेष्ठित दिव्य धाम में स्वरूप से सदैव स्थित हैं। आप आदिदेव हो। क्योंकि आप ही सारे विश्व के कारण हो। आप उत्पत्ति

और नाश से रहित हो। किसी काल में भी आप का जन्म नहीं हुआ था। आप सदैव से इसी प्रकार चले आ रहे हो। इसी प्रकार उक्त वे सब महापुरुष आप को विभु भी कहते हैं। जिस का अर्थ सर्वव्यापक होता है। इस लिए आप सर्वव्यापी भी हो ॥ १२।१३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

सर्वम्+एतत्+ऋतम्+मन्ये यत्+माम्+वदसि केशव !। न हि ते भगवन् ! व्यक्तिम्+विदुः+देवाः+न दानवाः ॥

सर्वम्+सर्व (सर्व०)+नपुं०) द्विती० ए० व० =सब को।

एतत्=एतद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व० =इस को। इस (कथन) को।

ऋतम्=(नपुं०)√ऋ+क्त=ऋत+द्विती० ए० व०=सत्य।

मन्ये=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=जानना)+लट्० उ० पु०, ए० व० =(मैं) मानता हूँ। जानता हूँ।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिस को। जो।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

वदसि=√वद् (भ्वा० पर० सक०=बोलना)+लट्० म० पु०, ए० व० =(आप) कहते हैं।

केशव !=हे केशव ! (पुं० क=ब्रह्मा, अ=विष्णु, ईश=शिव, व=वपु हैं जिस के वह केशव है) हे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश के मूल कारण पर ब्रह्म परमेश्वर कृष्ण !

न=(अव्यय) न। नहीं।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

ते=युष्मद् (अव्यय)+षष्टी० ए० व०=तब, ते=तेरी।

भगवन् !=हे भगवन् ! (भगवत्+सम्बो० ए० व०। भग+मतुप्-वत्व=सर्व ऐश्वर्य युक्त !)

व्यक्तिम्=(स्त्री०) वि√अञ्ज्+क्तिन्=व्यक्ति+द्विती० ए० व०=व्यक्ति को। व्यक्त होने की क्रिया या भाव को। प्रकटन को। उत्पत्ति को स्वरूप को। प्रभाव को। विभूति को। प्रताप को। प्रकाश को। लीलामय स्वरूप को।

विदुः=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० प्र० पु०, ब० व० (लिट् लकार के समान विकल्पिक रूप)=जानते हैं।

देवा:=(पुं०) देव+प्र० ब० व०=देवता लोग ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

दानवा:=(पुं०) दनोः अपत्यम्, दनु+अण्=दानव+प्र० ए० व०=कश्यप के पुत्र, जो दनु के गर्भ से उत्पन्न हुए थे ।

अर्थ—हे केशव (हे जगत् की उत्पत्ति स्थिति और विनाश के मूल कारण—परब्रह्म परमेश्वर कृष्ण)! जो आप मुझ को कहते हैं, मैं इस सब (कथन) को सत्य मानता हूँ । क्योंकि हे भगवन् ! आप की व्यक्ति (प्रकटन) को न देवता जानते हैं और न दानव ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! भक्त और महात्मा लोग आप के विषय में जो कुछ भी कहते हैं वह सब कुछ आप के अनुग्रह और जताने से ही जानते हैं । क्योंकि अपने सम्बन्ध में तो केवल आप ही सब कुछ जानते हैं और इसी कारण से आप जो कुछ मुझ से कहते हैं । मैं भी उसको सत्य मानता हूँ । उन नारदादि प्राचीन महर्षियों के वचन शास्त्रों द्वारा पढ़े थे और वर्तमान महात्माओं के मुखारविन्द से श्रवण किए थे, वे हृदय रूपी क्षेत्र में सूखे बीज की भान्ति ही पड़े थे । परन्तु अब जब आप की कृपा के वचनों की अमृत वर्षा हुई तो उन में सोये हुए भ्रूण मूर्तिमान् होकर जाग उठे ऊपर का पर्दा फट गया । भक्ति, प्रेम और ज्ञान की कौंपल बाहर निकल आई दूसरे छोर से जड़ निकल कर हृदय क्षेत्र में जम गई है । पहले पढ़ी सुनी बात सत्यता का रूप धारण कर गई है । आपके वचनामृत के श्रवण करने से इस बात का पूरा विश्वास हो गया है कि इस पौधे को मोक्ष रूपी अमृत फल अवश्य लगेगा जिस को भक्षण करके सदैव रहने वाली गति प्राप्त हो जाएगी अर्थात् आप के स्वरूप में मिलने का परमानन्द प्राप्त हो जाएगा । हे भगवन् ! आप साक्षात् भगवान् हैं जिस के सम्बन्ध में वायु पुराण में दो श्लोक इस प्रकार हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीरणा ॥ (६।५।७४)
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥ (६।५।७८)

[**अर्थ**—"सारे ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, समूचे यश, सारी श्री, समूचे ज्ञान और समग्र वैराग्य—ये छः 'भग' नाम से कहे जाते हैं । (भगवत् का सम्बोधन एक वचन भगवन् ! होता है) ॥ ७४ ॥

उत्पत्ति और प्रलय को, भूतों के आने और जाने को, एवं विद्या और अविद्या को जो जानता है । उसे "भगवान्' कहना चाहिए ॥ ७८ ।]

आप ने स्वयं इस अध्याय के दूसरे श्लोक में कहा है—"देव और महर्षि मेरे प्रभव (व्यक्ति) को नहीं जानते हैं क्योंकि मैं ही देवों और महर्षियों का सब प्रकार से आदि कारण हूँ।"

हे भगवन् ! जब ये त्रिकाल दर्शी महर्षि और दिव्य स्वरूप धारी देवता लोग आप की व्यक्ति (उत्पति प्रकटन या सत्ता आदि) को नहीं जानते हैं तो तमोगुण प्रधान प्रकृति वाले दानव, दैत्य या राक्षस उसको कैसे जान सकते हैं। भाव यह कि वे किसी प्रकार भी नहीं जान सकते हैं ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

स्वयम्+एव+आत्मना+आत्मानम्=वेत्थ त्वम्+पुरुष+उत्तम । भूत-भावन ! भूत-ईश !, देव-देव !, जगत्+पते ! ॥

स्वयम्=(अव्यय, वि०) सु√अय्+अमु=खुद । आप । अपने आप ।

एव=(अव्यय) ही ।

आत्मना=(पुं०) आत्मन्+तृती० ए० व०=अपने द्वारा । अपने से ।

आत्मानम्=(पुं०) आत्मन्+द्विती० ए० व०=अपने को । अपने आप को ।

वेत्थ=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लट्० म० पु०, ब० व०= जानते हो । जानते हैं ।

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=तू (तुम, आप) ।

पुरुष+उत्तम !=(पु०) पुरुषेषु उत्तमः । (सम्बो० ए० व०=हे पुरुषोत्तम ! हे परम श्रेष्ठ ! । हे क्षर और अक्षर दोनों से उत्तम ! । हे निरतिशय ज्ञान, ऐश्वर्य, सामर्थ्य आदि शक्तियों से युक्त परमेश्वर ! भूतानां भायति इति भूतभावनः ।

भूत-भावन !=[भूतानां भावनः, उत्पत्ति कर्त्ता, पिता । भूत+प्राणी । भावन (वि०)√भू+णिच्+ल्यु=उत्पादक, सृष्टि कर्ता] सम्बो० ए० व०) हे भूतभावन ! ।

भूत+ईश !=भूतानाम् ईशः=भूतों का स्वामी । ईश्वर या नियन्ता] (सम्बो० ए० व०) हे सम्पूर्ण भूतों के स्वामी !

देव-देव ! =[देवानां देवः] । हे देवों द्वारा भी पूजनीय परमेश्वर ! ।

जगत्-पते !=हे जगतः पते ! हे सम्पूर्ण प्रपंच के स्वामी !

अर्थ—हे पुरुषोत्तम !, हे भूतभावन ! हे भूतेश !, हे देव-देव, हे जगत्पते ! आप स्वयं ही अपने द्वारा अपने आप को जानते हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या — हे भगवन् ! आप कृष्ण, आदि नर रूप अवतार धारी पुरुषोत्तम हैं अर्थात् क्षर और अक्षर दोनों से अत्यन्त परम श्रेष्ठ हैं। सम्पूर्ण चर और अचर भूतों के उत्पादक हैं सब भूतों के नियन्ता और स्वामी हैं। देवताओं के भी पूजनीय हैं। सारे देवता आप की आज्ञा में वर्त्तते हैं तथा आप सम्पूर्ण प्रपंच के स्वामी हैं। जब नारद, शारद और शेष गणेश भी आप के गुणों का वर्णन नहीं कर सकते तब मैं उन को कैसे कह सकता हूँ ? और तो और ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी आप की माया को देख कर चकित रह जाते हैं आप ने जिन को इस प्रपंच की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का अधिकार सौंप रक्खा है। कोई भी इस बात का वास्तविक रहस्य नहीं पा सका है कि यह प्रपंच किस कारण से रचकर बार बार नष्ट किया जा रहा है जब कोई चित्रकार किसी चित्र की रचना करने लगता है तो वह उस समय तक गल्त रेखाओं को मिटाता रहता है जब तक उसका मन चाहा चित्र बन नहीं जाता। परन्तु हे भगवन् ! आप किस मूर्त्ति विशेष की रचना करने में लगे हुए हो जो आज तक बन नहीं सकी और सम्भवतः प्रलय तक भी न बनाई जा सके क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ काल से ही आप असंख्य मूर्त्तिया बनाते और ढाते चले आ रहे हो इसी भाव को लक्ष्य करके एक उर्दू कवि ने यह सुन्दर उक्ति कही थी—

"शबीह मद्दे नज़र है किस की जो पूरी नहीं उत्तरती।
मिटा दिए साने अक़्ल ने हज़ारों नक्श बना बना कर ॥"

अर्थात् वह अनादि चित्रकार किस मनचाहे चित्र को बनाना चाहता है जो आज तक बना नहीं है क्योंकि उसने असंख्य चित्र आज तक बना बना कर मिटा दिए हैं।

हे भगवन् ! आप अनन्त हैं। अगाध हैं। आप को जानने में कोई भी समर्थ नहीं है। क्योंकि आप से पूर्व कोई न था आप ही सब के पिता हैं। पिता के जन्म को पुत्र कैसे जान सकते हैं ? स्वामी के गुप्त रहस्यों को भृत्य कैसे पा सकते हैं ? सब भूत ईश्वर को जानने में असमर्थ हैं। जगत्पति को जगत् वाले कैसे पा सकते हैं ? अपने उत्पन्न करने वाले पूज्य पिता को इन्द्रादि देवता भी कैसे जान सकते हैं ? हे पुरुषोत्तम ! केवल एक आप ही ऐसे हैं जो स्वयं अपने आप को अपने योग बल द्वारा जानते हैं ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

वक्तुम् + अर्हसि + अशेषेण दिव्याः + हि + आत्म-विभूतयः याभिः विभूतिभिः + लोकान् + इमान् + त्वम् + व्याप्य तिष्ठसि ॥

वक्तुम् = √वच् (अदा० पर० सक० = कहना) + तुमुन् = कहने के लिये। (कथयितुम्)

अर्हसि=√अर्ह (भ्वा० पर०अक०=योग्य होना)+लट्० म०पु०, ए० व०=
(आप) योग्य हैं। समर्थ हैं।

अशेषेण=(वि०)अशेष (नास्ति शेषो यस्य—नञ् बहुव्री०)+तृती० ए० व०=
पूर्णतया। जिस में कुछ भी शेष न रहे उस तरह से। सम्पूर्णता से।

दिव्या:=(वि०, स्त्री०) दिव्या (√दिव्+यत्+आ)+प्र० ब० व०=दैवी।
अलौकिक। दिव्य।

हि=(अव्यय) ही।

आत्म-विभूतय:=(स्त्री०) आत्मन: विभूतयः या: ता: (षष्ठी० तत्पु०)। आत्म-
विभूति+प्र० ब० व०=अपनी विभूतियां।
(अपनी विभूतियों को—द्वितीया के अर्थ में प्रथमा० भी हो सकती है)।

याभि:=यद् (सर्व०)+(स्त्री०) तृती० ब० व०। जिन के द्वारा। जिन से।

विभूतिभि: (स्त्रीं०) विभूति+तृती० ब० व०=विभूतियों के द्वारा। विभूतियों से।

लोकान्=(पुं०) लोक+द्विती० ब० व०=लोकों को।

इमान्=(सर्व०) इदम्+(पुं०) द्विती० ब० व०=इन को।

त्वम्=(सर्व०) युष्मद्+(पुं०) प्र० ए० व०=तू (आप)।

व्याप्य=वि√आप् (चुरा०, स्वा० पर० सक०=व्याप्त करना)+ल्यप्=व्याप्त
करके।

तिष्ठसि=√स्था (भ्वा० पर० अक०=स्थित होना)+लट्० म० पु०, ए० व०
=स्थित हो।

अर्थ—आप ही (स्वयं) वे अपनी दिव्य विभूतियां सम्पूर्णता से कहने के लिये समर्थ हैं। जिन विभूतियों के द्वारा आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हो ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! आप की विभूतियों को जानने के लिये विश्व में उस समय तक कोई भी समर्थ नहीं होता जब तक कि आप स्वयं कृपा करके किसी को निज रहस्य जितला नहीं देते। क्योंकि अपनी शक्तिी से तो न देवता लोग आप को जान सकते हैं न दानव ही समझ सकते हैं। केवल एक आप ही अपनी दिव्य या अलौकिक शक्तियों को सम्पूर्णतया जानने और बतलाने में समर्थ हैं। वे शक्तियां ऐसी महान् हैं कि जिन के द्वारा आप विश्व के सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं। आप की कृपा से आप की कुछ शक्तियों का ज्ञान संसार के उन महापुरुषों को हो चुका है जो आपकी माया का कुछ भेद पा चुके हैं। इन में से कुछ प्रसिद्ध शक्तियों के नाम इस प्रकार हैं। १. जलशक्ति २. पवन शक्ति ३. रसायनिक शक्ति ४. उष्मा या तेज शक्ति। ५. प्रकाश शक्ति

६. ध्वनि शक्ति ७. विद्युत शक्ति ८. परमाणु शक्ति ९. यांत्रिक शक्ति १०. शारीरिक शक्ति ११. मानसिक शक्ति १२. देवशक्ति इत्यादि और इन सब शक्तियों की पूर्णतया नियन्ता आपकी ईश्वरीय शक्ति है।

ये शक्तियां विश्व के लिये अनेक कार्य करती हैं। और इन शक्तियों की उपस्थिति का ज्ञान इनके द्वारा किए हुए कार्यों से होता है। जैसा कि जलशक्ति का प्रमाण चलती हुई पनचक्कियों और कार्यशील विद्युत जनरेट्रों से मिलता है। पवन-शक्ति का प्रकटन पवन चक्की के चलने से होता है। रसायनिक शक्ति का प्रकाश भिन्न भिन्न रसायनों के मेल जोल से होता है। उष्मा भोजन पकाती है। धातु तथा अन्य कई प्रकार के पदार्थों को पिघलाती है। इंजनों में डाले हुए पानी को वाष्प में बदल कर उन्हें गतिशील करती है। प्रकाश शक्ति को आधुनिक अविष्कार टैलीविज़न (Television), फोटो इलैक्ट्रिक सैल (Photo electric-cell) और फोटो सिन्थिसिज (Photo synthesis) की क्रियाएं स्पष्टतया सिद्ध करती हैं। ध्वनि शक्ति का कार्य संसार भर में रेडियो द्वारा सम्पन्न होता हुआ दिखाई देता है। विद्युत शक्ती सब प्रकार के यन्त्र चलाती है। रंगबिरंगे प्रकाश करती है। हीटर, पंखे और अनेक प्रकार के जीवन-सुख-साधनों में काम करती हुई दृष्टि गोचर होती है। परमाणु शक्ति ने मनुष्य को चन्द्र-लोक में पहुँचा दिया है। और इस शक्ति द्वारा बनी हुई दूरबीन से आठ लाख वर्ष मील दूर के सूर्य और आकाशी पिण्ड भी खोज लिये गये हैं। दिन रात और मेघादि कुछ भी इस दूरबीन के मार्ग को रोकने में समर्थ नहीं हैं। यह आण्वी शक्ति अथाह और बेपनाह शक्तिशाली है। धरती पर बैठे ही पुलाड़ या नभ में विचर रहे विमानों पर इस शक्ति के द्वारा नियन्त्रण किया जाता है। यान्त्रिक शक्ति पशु या मनुष्य-शरीर-शक्ति से हजारों गुणा अधिक कार्य थोड़े ही समय में कर देती है। महात्मा पुरुषों में मानसिक शक्ति होती है जिससे असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। दूर की बात तो जाने दीजिए वर्तमान काल में भारत की स्वतन्त्रता देशपिता महात्मा गाँधी की अलौकिक मानसिक शक्ति का ही चमत्कार है और बंगला देश की विजय का श्रेय श्रीमती इन्दिरा गाँधी जी की मानसिक शक्ति को प्राप्त हुआ है। शारीरक शक्ति तो नित्य ही पशु, पक्षी और मनुष्यों में देखी जाती है। और देव शक्ति देवताओं से सम्बन्ध रखती है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी शक्तियां हो सकती हैं जिन से संसार के संपूर्ण कार्य संपन्न होते हैं। परन्तु इन शक्तियों में से किसी एक का भी वास्तविक स्वरूप आज तक किसी ने नहीं देखा है क्योंकि प्रत्येक शक्ती इसी प्रकार निराकार होती है जिस प्रकार परब्रह्म परमेश्वर निराकार है परन्तु ये शक्तियां जिन मूर्तिमान् पिण्डों में प्रविष्ट होकर कार्य करती हैं। वे पिण्ड ही कार्य करते हुए भासमान होते हैं। और वे सब शक्तियां वास्तव में महान् शक्ति

अर्थात् परब्रह्म परमात्मा से ही अनुप्राणित होती हैं। जब यह बात है तो इन शक्तियों से सम्पन्न सब चर और अचर भूत ही ईश्वर की विभूतियाँ कहलाते हैं। जिन को समझाने के लिए भगवान् ने एक सच्चे अध्यापक की शिक्षा पद्धति का अनुसरण किया है—अक्षर और अंक दोनों निराकार होते हैं परन्तु अध्यापक उनको साकार रूप देकर छात्रों के सामने उपस्थित करता है एक दो तीन आदि अंकों के समझाने के लिये बालकों के सम्मुख कौड़ियां, घोंघे, रीठे, मनके, तीलियां, काँच की गोलियां पैसे और बालफ्रेम आदि अनेक वस्तुएँ रखता है। अपने हाथ-पाँवों की अँगुलियाँ भी खड़ी करता है इस प्रकार मूर्तिमान् वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ कर बालकों को अंकों का ज्ञान करा दिया जाता है जिस से वे फिर निराकार अंकों की गिनती जान जाते हैं इसी प्रकार भगवान् ने आगे चलकर जिनको अपनी विभूतियां कहा है उन में से कोई भी परमात्मा का स्वरूप नहीं हैं। वे तो केवल अंकों को समझाने की कौड़ियों, गोलयों आदि के समान ही हैं। जब शिक्षक बालकों को निराकार का ज्ञान करवाता है तो सब से पहले अ-अनार, आ-आम आदि दिखाता है।

'अ' अक्षर आदि वाले तो अमरूद, अखरोट, आदि अनेक शब्द और भी होते हैं। इसी प्रकार 'आ' अक्षर वाले भी और अनेक शब्द होते हैं परन्तु अध्यापक पहले अ-अनार और आ-आम ही सिखाता है। इसी प्रकार भगवान् भी—"ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।" अर्थात् मैं हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा हूं।" तो क्या बाकी हाथी भगवान् नहीं हैं? अथवा राजा से अतिरिक्त शेष मनुष्यों में परमात्मा का निवास नहीं हैं?

है! अवश्य है!! परन्तु हाथी के पैर में सब का पैर होता है। इसी न्याय से भगवान् ने सब हाथियों और सब मनुष्यों में अपना होना जता दिया है। पहले वर्णमाला के अक्षर मोटे और सरल लिखकर सिखाए जाते हैं फिर छोटे और पेचदार सिखाए जाते हैं। और फिर द्वित्व अक्षरों का बोध कराया जाता है। भगवान् ने भी ऐरावत, राजा, पीपल और वृहस्पति आदि को अपना रूप कहकर सरल और मोटे अक्षरों का बोध कराया है। "अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एवच।" में छोटे और टेढे अक्षरों का बोध है तथा-"मृगों में मैं सिंह हूँ।" मछलियों में मगरमच्छ हूँ।" "छल करने वालों का द्यूत हूँ।। इत्यादि द्वित्व अक्षर हैं। समुद्र, पर्वत और महान् विभूतियों में प्रकटित परमेश्वर तुरन्त आँखों में समा जाता है। जल-बिन्दु और मिट्टी के प्रत्येक कण में भी वही परमात्मा समाया हुआ है। समय पाकर यह भी धीरे धीरे समझ में आ जायेगा। राम को परमात्मा के रूप में देखना एक सरल अक्षर को पढ़ना सीखना है। परन्तु सिंह को परमात्मा के रूप में देखना एक संयुक्त अक्षर को पढ़ना है।

क्योंकि उस में अधिकतर क्रूर भाव भरा हुआ है। जिस से ये सिंह और मगर-मच्छ (निहंग) ऋषिमुनियों पर भी झपटने से चूकते नहीं हैं। यह अपार सृष्टि एक ऐसी पुस्तक है जिस में सर्वत्र सुन्दर अक्षरों में परमेश्वर लिखा हुआ है। उसी को पढ़ाने के लिये भगवान् ने इस अध्याय में अपनी विभूतियों का वर्णन किया है। उसी की व्याख्या वेदों, उपनिषदों और शास्त्र में की गई है। उसी के लिये मेरे जैसे तुच्छ-बुद्धि लोग प्रयास कर रहे हैं परन्तु कविवर विहारी के शब्दों में—

"लिखन बैठ जा की सबी, गहि गहि गर्व ग़रूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥"

अर्थात् अनेक विद्वान् लोग उस परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए—ठीक वर्णन न कर सकने से जगत् में अपनी हँसी करवा चुके हैं। इस लिए अर्जुन के शब्दों में—

"वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।"

कह कर इस श्लोक की व्याख्या समाप्त की जाती है॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥

कथम्+विद्याम्+अहम्+योगिन्+त्वाम्+सदा परिचिन्नयन्। केषु केषु च भावेषु चिन्त्यः+असि भगवन्!+मया॥

कथम्=(अव्यय) कैसे? किस प्रकार?।

विद्याम्=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+विधिलिङ् उ० पु० ए० व० =जानूं?।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

योगिन्!=हे योगिन्! [योग+इन् वा√युज्+घुनिन्=योगिन्+सम्बोधन ए० व०]। हे योगेश्वर।

त्वाम्=युष्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=तुझ को। आप को।

सदा=(अव्यय) [सर्वस्मिन् काले, सर्व+दाच्, सादेशः]=नित्य। हमेशा। सदा। निरन्तर। सर्वदा।

परिचिन्तयन्=परि√चिन्त् (चुरा० पर० सक०=सोचना)+णिच्+शतृ= परिचिन्तयत्+(पुं०) प्र० ए० व०=चिन्तन करता हुआ। सोचता हुआ।

केषु=किम् (सर्व०)+(पुं०) सप्त० ब० व०=किन में।

केषु=किन में।

भावेषु=(पुं०)√भू+घञ्=भाव+सप्त०, ब० व०=भावों में। अलौकिक शक्तियों में।

चिन्त्यः=√चिन्त् (चुरा० पर० सक०=सोचना)+क्यप्=चिन्त्य+(पुं०) प्र० ए० व०=चिन्तन करने योग्य। चिन्तन किये जाने योग्य।

असि=√अस् (अदा० पर अक०=होना)+लट्० म० पु०, ए० व० हो। आप हो।

भगवन्!=हे भगवन्! [भगवत् (=भग+मतुप्—वत्व)+सम्बो० ए० व०] =हे ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर!

मया=अस्मद् (सर्व०)=मेरे द्वारा। मुझ से। (तृती० ए० व०)।

अर्थ—हे योगिन्! मैं सदा चिन्तन करता हुआ आप को किस प्रकार जानूं? हे भगवन्! आप मेरे द्वारा किन किन भावों में चिन्तन किए जाने योग्य हो? ॥१७॥

व्याख्या—अर्जुन बोला, हे योगिन्! अर्थात् हे निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्तिशाली भगवन्! आप पूर्ण योगेश्वर हो, सब कुछ जानते हो, अत्यन्त महान् हो। संसार के पूज्य हो। मैं सदा आप का ही चिन्तन करता हूँ परन्तु फिर भी आप को जानता नहीं हूँ सब से पहले मैं ने आप को माता कुन्ती (पूर्ण देवी) के रूप में देखा था। वह मुझे वत्सलता के रूप में साक्षात् तेरी ही मूर्ति दिखाई देती थी। फिर मैं ने इस श्रुति वचन को सुना "मातृदेवो भव"। इस से मेरी पहली धारना मुझे दृढ़ सत्य के रूप में प्रतीत होने लगी। और माता सब से ऊँची परमेश्वर की प्रतिमा दिखाई देने लगी। जिस के कहने पर मैंने अपनी प्रिय पत्नी द्रौपदी को भी पाचों पाण्डवों की पत्नी बनाना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार माता के रूप को देखकर मैं ने सदा तेरे रूपका चिन्तन करना सीखा। इस के अनन्तर अपने बड़े और छोटे भाइयों में सदैव तेरे दर्शन किए। और उन की आज्ञा का पालन किया। इस के बाद छोटे बच्चों में आप का प्रकाश मिला, जिन के संग मिलकर खेला कूदा तथा शस्त्र-शास्त्र-दोनों प्रकार की विद्याएँ प्राप्त कीं। इतने में आप कृष्ण मुझे मिल गये और मुझे सखा रूप में परमेश्वर के निरन्तर दर्शन होने लगे। तथा गुरु रूप में भी आप की झलक दृष्टि गोचर होने लगी। नित्य प्रातः ऊषा देवी तेरा नित्य नया सन्देश सुनाती है जिस को सुन कर मैं तेरे प्रेम में आनन्द विभोर होकर नाचने लगता हूँ और साथ ही सब ओर अपने साथ ऋषियों मुनियों और साधु-सन्तों को तेरे प्रेम में मग्न हुए तथा तेरे ही स्वरूप को धारण किए हुए देखता हूँ। इतने में सूर्य नारायण सुनहरी किरणों का मुकुट धारण किए हुए उदय होते हैं और तेरे तेज और प्रकाश को सारे संसार पर विकीर्ण करते हैं। और अपने रूप में तेरे प्रकाशमान् स्वरूप के दर्शन कराते हुए

नील गगन पर आगे बढ़ते चले जाते हैं जिस से अन्धकार आगे भागता हुआ भू-गोल के दूसरी ओर छुपने का प्रयास करता रहता है "सूर्य आत्मा जगतस्त-स्थुषश्च"। अर्थात् सूर्य सारे चराचर संसार का आत्मा है और स्थावर जंगम सब का आधार है ।।

फिर ये सब पर्वत, सागर, नदी, नाले, सरोवर, मेघ विद्युत आदि तेरे रूप के दर्शन कराने लगे हैं। नित्य प्रातः सब पशु-पक्षी भी तेरे गीत गाते ही सुनाई देने लगे हैं। सिंह की गर्जना में, नाग की फुंकार में तथा मगरमच्छ के मकर-अश्रुओं में भी मुझे तू ही दिखाई देता है। मैं तो रावण, कंस और कौरवों में भी तेरा ही स्वरूप देखता हूँ। तेरे तीन गुण 'उत्पत्ति', 'स्थिति' और 'प्रलय' करना तो जगत् प्रसिद्ध ही हैं। इन में से अन्तिम गुण रावणादि में भी था तो फिर वे रावणादि आप के स्वरूप क्यों नहीं हैं ? वेद में कहा है—

"नमो नमः स्तेनानां पतये नमो नमः
नमः पुंजिष्ठेभ्यो नमो निषादेभ्यः।
ब्रह्म दाशा, ब्रह्म दासा
ब्रह्मैवेमे कितवाः ।।"

अर्थ—उन डाकुओं के सरदारों को नमस्कार, बार बार नमस्कार। उन क्रूरों को नमस्कार। हिंसक निशादों को नमस्कार। क्योंकि ये सब दाश (हिंसक), दास (तामसी लोग) और सब ठग-चोर-डाकू भी ब्रह्म ही हैं ।।

इतना सब कुछ होने पर और निरन्तर आप का चिन्तन किए जाने पर भी हे भगवन् ! मैं आप से जानना चाहता हूँ कि किन किन भावों में आप मुझ से चिन्तन किए जाने योग्य हो। क्योंकि हे योगिन ! आप के उपदेश के वचनामृत को सुन कर मेरा मन तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है। अपितु इन को श्रवण करने के लिए मेरी तृष्णा और अधिक बढ़ती जाती है ।। १७ ।।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्तिमेऽमृतम् ।। १८ ।।

विस्तरेण+आत्मनः+योगम्+विभूतिम्+च जनार्दन ! भूयः कथय तृप्तिः+हि शृण्वतः+न+अस्ति मे+अमृतम् ।।

विस्तरेण=(पुं०) वि√स्तृ (क्रया० उभ० सक०=विस्तार करना)+अप्= विस्तर+तृती० ए० व०=विस्तार से।

आत्मनः=(पुं०) आत्मन्+षष्ठी० ए० व०=अपनी। अपने।

योगम्=(पुं०) योग+द्विती० ए० व०=योग को।

विभूतिम्=(स्त्री०)+द्विती० ए० व०=विभूति को।

जनार्दन !=√अर्द=गमन और याचना। अर्दते: गति-कर्मणी सम्बो॰ ए॰ व॰ =हे जनार्दन ! [जनै: अर्द्यते याच्यते स्वाभीष्टं असौ (बहुव्री॰),√अर्द (मांगना)+कर्मणि ल्युट्। लोग अपनी इच्छा जिस से पूरा किया चाहते हैं। असुराणां देव प्रतिपक्ष भूतानां गमयितृत्वाद् जनार्दन: वा=असुरों को अर्थात् देवों के प्रतिपक्षी मनुष्यों को नरकादि में भेजने वाला 'जनार्दन' कहलाता है अथवा√अर्द (मारना)+ल्युट्=जनार्दन=जो जीवों को (पाप के कारण) मारता है=विष्णु, कृष्ण ! हे कृष्ण !।

भूय:=(अव्यय) भूयस्=पुन:। फिर।

कथय=√कथ् (चुरा॰ उभ॰ सक॰) सेट्=कहना)+लोट्॰ म॰ पु॰, ए॰ व॰ =(आप) कहिए।

तृप्ति:=(स्त्री॰)√तृप्+क्तिन्=तृप्ति:=सन्तोष। रज्ज। अघाई। तृप्ति। सन्तुष्टि।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

शृण्वत:=√श्रु (स्वा॰ पर॰ सक॰=(सुनना)+शतृ=शृण्वत्+(पुं॰) षष्ठी॰ ए॰ व॰=सुनते हुए की।

न=(अव्यय) न। नहीं।

अस्ति=√अस् (अदा॰ पर॰ सक॰=होना)+लट्॰ प्र॰ पु॰, ए॰ व॰= =है।

मे=अस्मद् (सर्व॰)+षष्ठी॰ ए॰ व॰=मम, मे=मेरी।

अमृतम्=त्वन्मुख-निसृत-वाक्यामृतम्=आप के मुख से निकले हुए वाक्य रूप अमृत को। (नपुं॰)√मृ+क्त=मृत। न मृत (नञ् तत्पु॰=अमृत+ द्विती॰ ए॰ व॰=अमृतम्=अमृत को।

[अमृत=वह पेय पदार्थ जिस के छिड़कने से मुर्दा जी उठे और जीवित प्राणी अजर अमर हो जाए। सुधा। आबेहयात।]

अर्थ—हे जनार्दन (हे लोगों की याचनाएँ पूरी करने वाले !) अपने योग [अपने अव्यक्तरूप को छोड़ कर व्यक्तस्वरूप धारण कर लेने की युक्ति वाले और जगत् के रूप में प्रकट होकर अनेक रूपों में विस्तृत होने] और विभूति (अधिकारी जनों के ध्यान के आलंबन करने योग्य रूपों) को विस्तार से आप फिर से कहिए। क्योंकि (आप के मुख से निकले हुए वाक्य रूप) अमृत को सुनते हुए भी मेरी तृप्ति ही नहीं होती है ॥ १८ ॥

व्याख्या—अर्जुन ने कहा—हे भगवन् ! आप तो जनार्दन हैं। जिन से लोग अपनी इच्छा पूरी करते हैं। आप से की हुई याचना कभी निष्फल नहीं

होती। मेरी इच्छा भी आप सदा पूर्ण करते रहे हैं। अब मैं लोक-हितार्थ फिर याचना करता हूँ, कि आपने अध्याय ७, ८ और ९ में अपने जिस योग और विभूतियों का जो संक्षिप्त वर्णन किया है अब वह फिर अधिक विस्तार से कहिए। आप अपने अव्यक्त रूप को छोड़ कर व्यक्त स्वरूप धारण कर लेने की उस युक्ति को कहिए, जिस का नाम योग युक्ति है। हे भगवन्! आप जगत् के रूप में प्रकट होकर जिन अनेक रूपों में विस्तृत होते हो, उनको भी विस्तारपूर्वक बतलाइए। अधिकारी जनों के आलंबन करने योग्य रूपों का भी विस्तार से वर्णन कीजिए हे देव! मुझे तो आप का नाम और ध्यान ही अत्यन्त मधुर लगता है। तिस पर आप के साक्षात्कार और मिलाप का तो कहना ही क्या है? फिर निरन्तर आप की समीपता मेरे मन को प्रेम से परिपूर्ण करती है। आप के वचनों की तुलना तो अमृत भी नहीं कर सकता जिनको सुन कर मेरा मन तृप्त ही नहीं होता। निरन्तर मन यही इच्छा करता है, कि आप के वचनों को लगातार सुनता रहूँ। नित्य एक ही सूर्य उदय होता है। परन्तु तो भी प्रत्येक प्राणी उस के उदय होने की सदा प्रेमपूर्वक उत्साह से इच्छा करता है। कोई भी उसे वासी नहीं कहता है और न ही नित्य उसके उदय होने से ऊबता है। इसी प्रकार आप के वचनामृत सुनने की पुनः पुनः आकांक्षा होती है। आप के वचनामृत को सुन कर ऐसा मालूम होता है कि आज शब्द-ब्रह्म ने मूर्तिमान होकर स्वयं ही अवतार धारण किया है ॥ १८ ॥

श्री भगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १८ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्याः+हि+आत्म-विभूतयः। प्राधान्यतः कुरु-श्रेष्ठ! न+अस्ति+अन्तः+विस्तरस्यमे ॥

हन्त=(अव्यय)√हन्+त। बहुत अच्छा (अब)।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतुर्थी० ए० व०=तुभ्यम् (ते)=तेरे लिए। तेरे प्रति। तुझ से।

कथयिष्यामि=√कथ् (चुरा० उभ० सक०=कहना)+लृट्० उ० पु०. ए० व०=(मैं) कहूंगा।

दिव्याः=(वि० स्त्री०) दिवि भवाः=देव लोक में होने वाली। अलौकिक दिव्य। (प्र० ब० व०)

हि=(अव्यय) क्योंकि।

आत्म-विभूतयः=(स्त्री०) आत्मनो मम विभूतयो याः ताः (षष्ठी० तत्पु०)= अपनी मेरी जो विभूतियां हैं, वे। अपनी विभूतियां (प्र० ब० व०)।

प्राधानतः=(वि०) प्र√धा+युच् वा ल्युट्=प्राधान+तस् (अपादानार्थक)= प्रधानता से । प्रधान प्रधान । जो जो जहाँ जहाँ प्रधान हैं, वे ।

कुरु-श्रेष्ठ ! हे कुरु वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! [कुरुणां श्रेष्ठः यः सः (बहुव्री०)] अर्थात् कुरुवंश में अर्जुन रूप में तू मेरी विभूति है । हे अर्जुन तू भी मेरा ही रूप है । इस बात को भली प्रकार समझ ले ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

अस्ति=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= है ।

अन्तः=(पुं०)√अम्+तन्+प्र० ए० व०=सीमा । समाप्ति । किनारा । अखीर । अन्त ।

विस्तरस्य=(पुं०) वि√स्तॄ (क्र्या० उभ० सक०=विस्तार करना)+अप्+ षष्ठी० ए० व०=विस्तार का ।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरे ।

अर्थ—भगवान् बोले !

हे कुरु वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! बहुत अच्छा, (अब) मैं तेरे प्रति अपनी दिव्य विभूतियाँ कहूँगा । क्योंकि (मेरी विभूतियों के) विस्तार का अन्त नहीं है ॥ १७ ॥

व्याख्या—भगवान् ने अर्जुन ने कुरु श्रेष्ठ कह कर यह समझाया है कि जो भी किसी श्रेणी या समूह में सर्व-श्रेष्ठ है । वह मेरी विभूति है अर्थात् मेरा ही रूप है इस प्रकार हे अर्जुन ! तू भी कुरु वंशियों में सर्वश्रेष्ठ है । इसलिए मेरी विभूति या मेरा ही रूप है । अर्जुन ! मैंने तेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली है । इसलिए अब मैं तेरे ज्ञानार्थ अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन पूर्व की अपेक्षा अधिक विस्तार से करूँगा, वैसे तो मेरे विस्तार का न कोई अन्त है और न मेरी सब विभूतियाँ ही गिनी और समझी जा सकती हैं । पहले तो तुम केवल इतना ही समझो कि संसार के जिन भूतों में दूसरों की अपेक्षा मेरा अधिक तेज अधिक बल, अधिक विद्या, अधिक ज्ञान या कोई और अधिक विशेषता या गुण है अथवा अधिक विकास है । उसको मेरी विभूति जान लो । श्री विष्णुपुराण ३।१।४६ में कहा है—

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च ।
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥

[**अर्थ**—सकल देवता, सारे मनु, सप्त-ऋषि और जो मनु के (आदि) पुत्र हैं तथा जो देवताओं के अधिपति इन्द्र हैं ये सामूचे (मुझ) भगवान् विष्णु

की विभूतियाँ हैं ।] इनके अतिरिक्त रुद्र, वसु, आदित्य, साध्य, विश्वेदेव, मरुत् पितृदेव, मनुष्य, गन्धर्व, यज्ञ, किन्नर, ऋषि, मुनि साधु सन्त, सिद्ध, योगी, आकाश, पाताल, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, समुद्र, पर्वत, नदी, नाले, झीलें, सरोवर, साँप बिच्छु मकर, सिंह, विद्युत मेघ आदि सभी मेरी विभूतियाँ हैं। हिंसक चोर डाकू और दस्यु भी मेरे ही रूप हैं। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति की आँखें इनमें मेरे रूप को देख नहीं पातीं। जिस पर मेरी अपार कृपा होती है वही समदर्शी होकर मुझे सब जगह सदैव देखने लगता है और "अनलहक़" (मैं परमेश्वर हूँ) पुकारने लगता है। बुल्लेशाह के शब्दों में शोर मचाने लगता है कि "बुलिलया! शाह तेथों वक्ख नहीं, पर देखन वाली अक्ख नहीं" अर्थात् हे नर! प्रभु तो तुझ से भिन्न नहीं है परन्तु उसके देखने के लिए तेरे पास दिव्य नेत्र या विशेष दैवी बुद्धि नहीं है ॥

हे अर्जुन! मेरी विभूतियाँ तो अनन्त हैं। उनमें से अब मैं कुछ प्रधान विभूतियों का वर्णन करूँगा। जिनको सुनकर तेरी तृप्ति हो जाएगी। और तू सम्पूर्ण विश्व में मुझे देखने लगेगा ॥ १८ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

अहम्+आत्मा गुडाका+ईश! सर्व-भूत+आशय-स्थितः । अहम्+आदिः+च मध्यम्+च भूतानाम्+अन्तः+एव च ॥

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व=मैं (हूँ)।

आत्मा=(पुं०)√अत्+मनिन्=आत्मन्+प्र० ए० व०=आत्मा। प्रत्यगात्मा। चैतन्य स्वरूप आनन्द घन परमात्मा।

गुडाका+ईश! गुडाका निद्रा तस्या ईशो यः सः (बहुव्री०) [गुडाका (स्त्री०) गुडयति संकोचयति देहेन्द्रियादीनि स गुडः तम् आकयति प्रकाशयति, गुड-आ√कै+क—टाप्=नींद।] नींद का स्वामी। नींद को वश में करने वाला। अथवा गुडा+केश=चिकने सघन बालों वाला। अथवा घने केश होने के कारण अर्जुन का नाम गुडाकेश है। हे गुडाकेश!

सर्व-भूत-आशय-स्थितः=सर्वेषां भूतानाम् आशये (अन्तर्हृदि) स्थितः=सारे भूतों के आशय (आन्तरिक हृदय देश) में स्थित।

अहम्=मैं (हूँ)।

आदिः=(पुं०) आ√दा+कि+प्र० ए० व०=आरम्भ। आदि कारण। उत्पत्ति कारण। मूल कारण।

च=(अव्यय) और।

मध्यम्=(नपुं०)√मन्+यक्+प्र० ए० व०=मध्य में स्थिति का कारण। स्थिति कारण।

च=और।

भूतानाम्=(नपुं०)√भू+क्त+षष्ठी० ब० व०=भूतों का। सब पदार्थों और सब जीवों का।

अन्तः=(पुं०)√अम्+तन्=अन्त+प्र० ए० व०=सीमा। मृत्यु। नाश। नाश का कारण।

एव=(अव्यय) ही।

च=और।

अर्थ—हे नींद और धन को जीतने वाले चमकीले सघन सुन्दर बालों से युक्त अर्जुन! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित चैतन्य स्वरूप आनन्द घन परमात्मा हूँ। और मैं ही सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण हूँ॥ २०॥

व्याख्या—यहाँ गुडाकेश के तीन प्रसिद्ध अर्थ हैं, जिनका सम्बन्ध तन, मन, धन से है। संसार में प्रत्येक मनुष्य के लिए इन तीनों का स्वस्थ और सन्तोष जनक होना उस के सम्पूर्ण मानव होने का प्रतीक होता है और उस के सुखी होने का लक्षण है। यदि तन स्वस्थ न हो तो वैद्य, हकीम या डाक्टर की आवश्यकता होती है। यदि धन को धक्का लगता हो तो न्यायालय में जाना होता है और किसी अत्युत्तम वकील (वाक्कील) की सहायता लेनी पड़ती है और मन को स्वस्थ और सुशिक्षित करने के लिए ब्रह्मवेत्ता बुद्धिमान् और सदाचारी गुरु की शरण में जाना होता है। इस श्लोक में भगवान् ने गुडाकेश कह कर अर्जुन को सूचित किया है कि हे अर्जुन! तू तन, मन और धन तीनों का स्वस्थ है। तेरे चमकीले सुन्दर घुंघुरियाले काले केश हैं जो तेरे तन के सुस्वास्थ्य के प्रतीक हैं। रूखे शुष्क और श्वेत केश रोग शोक और जरा के प्रतीक होते हैं। तू मन का बहुत मज़बूत है जिस ने निद्रा, तन्द्रा और आलस्य को वशीभूत किया हुआ है तथा तू धनेश है। जिस से तेरे घर में सुकाल और राहत है। क्योंकि "विभुक्षितः किन्न करोति पापम्।" भूखा या दरिद्री पुरुष सारे पाप कर सकता है। "पेट न पैयां रोटियां, सभी गल्लां खोटियां" वाली लोकोक्ति बिल्कुल ठीक है। इस प्रकार तन मन धन से तू पूर्ण और स्वस्थ पुरुष होने से मेरी विभूति है और मेरे उपदेश को ग्रहण करने में समर्थ है। हे अर्जुन! और भी सुनो। मैं सब प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ चैतन्य स्वरूप आनन्द घन परमात्मा हूँ जो प्राणी मात्र में चलने फिरने समझने सोचने और कर्म करने के सामर्थ्य को उत्पन्न करता हूँ। संसार में एक पत्ता भी

मेरी सत्ता के बिना हिलता नहीं है। सब कर्म जीवों द्वारा मेरी सत्ता से ही किए जाते हैं। परन्तु जीव उन में कर्तृत्व अभिमान, आसक्ति और फलेच्छा से बँधता है। जिस से शुभाशुभ कर्मों के फल को पाकर जन्म मरण के चक्र में भ्रमण करता रहता है।

कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि जब भूमि के किसी विवर से परदार कीट निकलने प्रारम्भ होते हैं तो वे असंख्य संख्या में बाहर निकलते और उड़ते हैं। इसी प्रकार भूतों के असंख्य समुदाय सृष्टि के आदि काल में मुझ परमेश्वर के अव्यक्त स्वरूप से निकल कर सृष्टि में फैल जाते हैं और यह भूतों की उत्पत्ति का सम्पूर्ण कार्य मेरी ही प्रेरणा से होता है इस लिए सृष्टि के भूतों की उत्पत्ति का आदि कारण मैं ही हूँ। सब भूतों में मेरा निवास होने से उन की स्थिति का कारण भी मैं ही हूँ। उन सब का भरण पोषण भी मेरे ही द्वारा होता है। और सृष्टि के भूतों का विनाश भी मैं ही करता हूँ इस प्रकार सब से पहले सारे भूतों के हृदय में स्थित और जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाश के कारण मुझ को तू अच्छी तरह जान ले। और इसी के प्रकाश में मेरे द्वारा अगले श्लोकों में कही गई मेरी विभूतियों को समझ ले ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

आदित्यानाम्+अहम्+विष्णुः+ज्योतिषाम्+रविः+अंशुमान। मरीचिः +मरुताम्+अस्मि नक्षत्राणाम्+अहम्+शशी ॥

आदित्यानाम् (पुं०) अदितेरपत्यम्, अदिति+ण्य+षष्ठी० ब० व०=अदिति के बारह पुत्रों में। बारह आदित्यों में।

[महाभारत आदिपर्व अ० ६५। श्लोक १५, १६ ॥ में लिखा है—

"धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥ १५ ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते।
जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥ १६ ॥

अर्थ—धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग विवस्वान्, पूषा और दसवा सविता तथा ग्यारहवां त्वष्टा और बारहवां विष्णु, ये बारह अदिति के पुत्र आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं और अन्तिम अर्थात् 'विष्णु' इन सब आदित्यों में से अधिक श्रेष्ठ है ॥]

अहम्=अस्मद् (सर्वनाम)+प्र० ए० व०=मैं।

विष्णुः=(पुं०)√विष् (व्याप्त होना)+नुक्+प्र० ए० व०=विष्णु हूँ।

ज्योतिषाम्=(नपुं०) द्योतते द्युत्यते वा,√द्युत्+इसुन्, दस्य जादेश:=ज्योतिस्+षष्ठी० ब० व०=ज्योतियों में ॥

रवि:=(पुं०)√रु+इ+प्र० ए० व०=सूर्य ।

अंशुमान्=(पुं०)√अंश्+कु=अंशु+मतुप्=अंशुमत्+प्र० ए० व०=किरणों वाला ।

मरीचि:=(पुं०, स्त्री०)√मृ+ईचि+प्र० ए० व०=किरण । प्रकाश का अणु । "मरीचि" नाम वाला उनचास वायु देवताओं का प्रधान देवता ।

मरुताम्=(पुं०) म्रियते प्राणी यस्याभावात्√मृ+उत्=मरुत्+षष्ठी० ब० व०=मरुत देवताओं में ।

["मरुत्" देवता गिनती में उनचास हैं । ये दिती के पुत्र माने जाते हैं । कहते हैं कि दिति ने इन्द्र को मारने के लिए गर्भ धारण किया । परन्तु इन्द्र ने उसके गर्भ में घुस कर वज्र से उस के सात टुकड़े कर दिये । जब वह गर्भ पीड़ा से रोने लगी । तो इन्द्र ने कहा "मा रोदी, अर्थात् "मत राओ" फिर इन्द्र ने उन सात के उनचास टुकड़े कर दिए इस प्रकार वे गर्भ उनचास देवताओं के रूपों में विभाजित हो गया उन उनचास मरुत देवताओं के नाम इस प्रकार है—

१.सत्त्वज्योति २. आदित्य ३. सत्यज्योति ४. तिर्यग्ज्योति ५. सज्योति ६. ज्योतिष्मान् ७. हरित ८. ऋतजित ९. सत्यजित १०. सुषेण ११.सेनजित् १२. सत्य मित्र १३. अभिमित्र १४. हरिमित्र १५. कृत १६. सत्य १७. ध्रुव १८. धर्ता १९. विधर्ता २०. विधारय २१. ध्वान्त २२. धुनि २३. उग्र २४. भीम २५. अभियु २६. साक्षिप २७. ईदृक् २८. अन्यादृक २९. यादृक ३०. प्रतिकृत् ३१. ऋक् ३२. समिति ३३. संरम्भ ३४. ईदृक्ष ३५. पुरुष ३६. अन्यादृक्ष ३७. चेतस ३८. समिता ३९. समिदृक्ष ४०. प्रतिदृक्ष ४१. मरुति ४२. सरत ४३. देव ४४. दिश ४५. यजु: ४६.अनदृक् ४७. साम ४८ मानुष ४९. विश ॥

नोट—उनचास पवन देवताओं के ऊपर जो ये नाम दिए गए हैं । वास्तव में ये उनचास प्रकार की गैसों के नाम है । जो उन के रंगों और गुणों के आधार पर रखे गए हैं जैसे—'हरित' यह हरे रंग की एक गैस होती है । "सेनजित्" शत्रु सेनाओं को मौत की नींद सुलाने वाली गैस होती है । "ध्वान्त' गैस का रंग धूएँ जैसा होता है इत्यादि ये सब भिन्न भिन्न गैसों के ही नाम है । इन सब गैसों में एक विशेष सत्ता होती है

जिस से रसायनिक क्रियाओं द्वारा इन से किरणें निकलने लगती हैं। इन किरणों को ही "मरीचि" कहते हैं ॥ हो सकता है इन्द्र को पहले पहल सात ही गैसों का ज्ञान प्राप्त हुआ हो फिर उसने विज्र (ऐटमी बम या अणु शक्ति के प्रयोगों द्वारा उन के उनचास रूप मालूम कर लिए हों। इन्द्र के "मा रोदीः" कहने से यह आभास होता है कि ये सब गैसें तरल रूप भी धारण कर सकती है और "मा रोदीः" शब्द-से ही "मरुत्" शब्द की उत्पत्ति हुई है ॥

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० उ० पु०, ए० व० (मैं) हूँ।

नक्षत्राणाम्=(नपुं०) नक्षति शोभा गच्छति, √नक्ष्+अत्रन्=नक्षत्र+षष्ठी० ब० व०=नक्षत्रों में। तारों में।

[नोट—यहां नक्षत्रों का अर्थ-अश्विनी भरनी आदि सत्ताईस नक्षत्र नहीं है। वल्कि आकाश पर रात को चमकने वाले सारे तारों से है।]

अहम्=अस्मद (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

शशी=(पुं०)√शश् (भ्वा० पर० सक०=उछल कर जाना)+अच्=शश+इनि=शशिन्+प्र० ए० व०=शशी। चन्द्रमा।

अर्थ—मैं (द्वादश) आदित्यों में विष्णु हूँ। (अग्नि आदि) ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ। (उनचास) पवनों (गैसों) में मरीचि हूँ और (आकाश पर रात्रि को चमक रहे) नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।

[मैं आदित्यों का (स्वामी) विष्णु हूँ। ज्योतियों का (स्वामी) किरणों वाला सूर्य हूँ। मरुतों का (स्वामी) मरीचि हूँ और तारों का स्वामी चन्द्रमा हूँ] ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! मेरा असली स्वरूप तो नाम रूप आदि विकारों और उपाधियों से रहित अव्यक्त और निराकार ही है। परन्तु मैं सारे ब्रह्माण्ड में रम रहा हूँ। जगत् में जितने चर और अचर प्राणधारी जीव हैं वे सब मेरी सत्ता से ही हिलते जुलते और काम करते हैं क्योंकि मैं उन सब में स्थित और उन सब का उर-प्रेरिक हूँ। परन्तु इस बात को जनसाधारण समझने में असमर्थ हैं। क्योंकि बिना प्रत्यक्ष प्रमाण कोई सूक्ष्म बात उन की समझ में बैठती नहीं है। उदाहरणार्थ जब तक रेडियो, बोलते हुए चलचित्रों, ऐटमी शक्ति, टैलीविज़न आदि आधुनिक आश्चर्यजनक यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था, तो वे लोग कोई भी ऐसा विचार नहीं कर सकते थे कि ऐसा हो भी सकता है या नहीं। इसलिए संसार में जिन व्यक्तियों या वस्तुओं में दूसरों की अपेक्षा अधिक चमक, बल या अलौकिक शक्ति होती है। साधारण लोग उसी को

परमेश्वर मान लेते हैं। मैं भी उन्हीं को अपनी विभूतियां कह कर तुम से वर्णन कर रहा हूँ। संसार में यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है कि "लड़े सेना नाम सरदार का।" वर्तमान काल में बंगला देश विजय तो किया है लड़ने वाले सैनिकों ने परन्तु नाम हुआ प्रधानमन्त्री श्री इन्दिरा जी का। इसी प्रकार मैं तो सब जीवों में व्यापक होकर रम रहा हूँ परन्तु मैं उन सब समुदायों के प्रधानों को ही अपनी विभूतियाँ कह रहा हूँ। जैसे यह इन्दिरा भी मेरी एक विभूति है। इन विभूतियों द्वारा मुझ भगवान् का ऐश्वर्य अधिक स्पष्ट होता है। या जो व्यक्तियाँ मेरे शुद्ध स्वरूप के सादृश्य सी हैं वे ही मेरी विभूतियाँ हैं। इसी से मैं कहता हूँ कि द्वादश आदित्यों में से मैं विष्णु रूप में अधिक प्रकट हूँ। अग्नि, बिजली और अन्य सब ज्योतियों की अपेक्षा इस सुनहरी किरणों वाले सूर्य में मैं अधिक देदीप्यमान् हूँ। उनचास पवन देवताओं में जो मरीचि या आन्विक चमक है वह भी मैं ही हूँ। यद्यपि आकाश पर चमक रहे नक्षत्र या तारों में असंख्य नक्षत्र ऐसे हैं जो हमारे सूर्य से बहुत बड़े और अधिक प्रकाशमान् हैं। परन्तु वे इतनी अधिक दूरी पर हैं कि इस पृथिवी वालों को चमकते हुए बिन्दुओं के रूप में ही दिखाई देते हैं और रात को आकाश पर चाँद उन से बहुत बड़ा, बहुत सुन्दर और प्रकाशमान् दिखाई देता है इसी कारण से वह मेरी विभूति है। हे अर्जुन् ! यदि कोई पुरुष इस संसार में मुझ को न देख सकता हो। तो इन प्रकट मेरी विभूतियों में मेरे शुद्ध स्वरूप को देखने का प्रयत्न करे। अभ्यास पक्का हो जाने पर मैं उस के सामने प्रकट हो जाता हूँ ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदानाम्+साम-वेदः+अस्मि देवानाम्+अस्मि वासवः। इन्द्रियाणाम्+मनः+च+अस्मि भूतानाम्+अस्मि चेतना ॥

वेदानाम्=(पुं०)√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+घञ् वा अच्+षष्ठी० ब० व०=वेदों में।

[वेदानां वेदेषु वा यहां दोनों ठीक हैं अर्थ "वेदानां मध्ये" है]।

ऋक्, साम, यजुष् और अथर्व के बीच में।

साम-वेदः=(पुं०)√सो+मनिन्—सामन् सामन् में 'न्' का लोप अथवा प्र० ए० व०। 'साम'। सामवेद।

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ।

देवानाम्=(पुं०)√दिव्+अच्+षष्ठी० ब० व०=देवानां वा देवेषु मध्ये= देवताओं में । रुद्र, आदित्य आदि देवों में ।

अस्मि=(मैं) हूँ ।

वासवः=(पुं०) वसु+अण्+वासव+प्र० ए० व०=इन्द्र ।

इन्द्रियाणाम्=(नपुं०) इन्द्र+घ-इय=इन्द्रिय+षष्ठी० ब० व०=एकादशानां चक्षुरादीनां इन्द्रियानाम्=ग्यारह चक्षु आदि इन्द्रियों में ।

मनः=(नपुं०) मन्यते बुध्यते अनेन,√मन्+असुन्+प्र० ए० व०=संकल्प-विकल्पात्मक-शक्ति-मनः । प्राणियों में वह शक्ति जिस के द्वारा उन को वेदना, सङ्कल्प, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, बोध और विचार आदि का अनुभव होता है । अन्तःकरण । चित्त । मन ।

च=(अव्यय) और ।

अस्मि=मैं (हूँ) ।

भूतानाम्=(नपुं०)√भू+क्त+(षष्ठी० ब० व०=भूतों में । प्राणियों में ।

अस्मि=मैं (हूँ) ।

चेतना=(स्त्री०)√चित्+भावे युच्-टाप्+प्र० ए० व०=जीवन, सजीवता । जान । ज्ञान शक्ति । होश ।

अर्थ—(मैं) [ऋक्, यजुष्, साम और अथर्वण इन चार] वेदों में सामवेद हूँ । [रुद्र, आदित्य, अग्नि, वायु आदि सब] देवों में (मैं) इन्द्र हूँ । [चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसन, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, पायु, मन] इन ग्यारह इन्द्रियों में (मैं) मन हूँ । और भूतप्राणियों में (मैं) चेतना (सजीवता, जान या होश) हूँ ।। २२ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! मैंने पहले अध्याय ७ श्लोक ८ में कहा है कि "प्रणवः सर्ववेदेषु" अर्थात् "मैं सब वेदों में ओंकार हूँ ।" यह ठीक ही है परन्तु तेरे मन में यह बात उत्पन्न हुई होगी कि भगवान् तो सारे संसार में ही ओंकार रूप से व्यापक हैं केवल वेदों में ही क्यों ? यह ठीक है । इन चारों वेदों में मैं साम वेद हूँ । यद्यपि साम वेद के मन्त्र भी ऋग्वेद से ही लिये गये हैं तदपि साम वेद को ऋग्वेद पर प्रधानता प्राप्त है । क्योंकि सामवेद में मुझ परमेश्वर की गानयुक्त स्तुति विद्यमान है । भक्ति मार्ग में गायन की मधुरता अत्यन्त रमणीक मानी जाती है । ऋग्वेद गद्य और पद्य दोनों से युक्त है परन्तु सामवेद सम्पूर्ण पद्य और संगीत संयुक्त है । इसलिए सामवेद मेरा रूप माना जाता है और शेष दोनों वेद भी कर्मकाण्ड और यज्ञ कर्म प्रधान होने से सामवेद के तुल्य नहीं हैं । यही कारण है कि भक्ति प्रधान धर्म में यज्ञयाग आदि क्रियात्मक वेदों की अपेक्षा

गायन प्रधान सामवेद को अधिक महत्त्व दिया गया है । मैं देवताओं में इन्द्र हूँ । इन्द्र सारे देवताओं का अधिपति या राजा है अतः उसकी प्रधानता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता । मैं इन्द्रियों में मन हूँ । क्योंकि इन्द्रियाँ तो घोड़ों के तुल्य हैं । उनको मन ही सुषारथी के सदृश्य सीधे मार्ग पर चलाता है । इसलिये मन शेष दस इन्द्रियों से अत्युत्तम है । यजुर्वेद अध्याय ३४ के पहले छः मन्त्रों में इस मन की अति प्रशंसा की गई है और इसके शिव-संकल्प होने के लिये मुझ परमेश्वर से प्रार्थना भी की गई है ।

सब प्राणियों में मैं ही चेतना हूँ । वे इस चेतना द्वारा ही जीवित रहते हैं । इसी के कारण चलते फिरते और कार्य करते हैं । इसी से सोचते और समझते हैं । इस चेतना के न रहने से वे बेहोश या मृत कहलाते हैं ।। २२ ।।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ।। २३ ।।

रुद्रानाम्+शंकरः+च+अस्मि वित्त+ईशः+यक्ष-रक्षसाम् । वसूनाम्+पावकः+च+अस्मि मेरुः शिखरिणाम्+अहम् ।।

रुद्राणाम्=(पुं०)√रुद् (अदा० पर० अक०=रोना, दहाड़ना)+णिच्+रक् =रुद्र+षष्ठी० ब० व०=शिव जी के ग्यारह भयानक रूप । जिनके नाम हरिवंश १।३।५१।५२।। में इस प्रकार लिखे हैं—

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः ।
वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ।। ५१ ।।
मृगव्याधश्च-शर्वश्च कपाली च विशांपते ! ।
एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ।। ५२ ।।

[अर्थ—हे राजन् ! हर, बहुरूप, त्र्यंबक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली, ये त्रिभुवनेश्वर 'ग्यारह रुद्र' कहलाते हैं ।। [प्राणियों को रुदन कराने वाले ।] कहीं कहीं ग्यारह रुद्रों के नाम इस प्रकार लिखे हैं वीरभद्र, शंकर, गिरीश, अजैकपात, अहिर्बुध्न्य पिनाकी, अपराजित, भुवनाधीश्वर, कपाली, स्थाणु और भग ।

शंकरः=(पुं०) शम्√कृ+अच्+प्र० ए० व०=मंगलकारी, शिव भगवान्, महादेव जी ।

च=(अव्यय) और ।

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ ।

वित्त+ईशः=(वि०) वित्तानाम् ईशः यः सः, (बहुव्री०)=धन सम्पत्तियों का

स्वामी। कुवेर।

कुवेर के पिता का नाम विश्रवा और दादा का नाम ऋषि पुलस्त्य था। ये यक्षों के राजा और धनाध्यक्ष देवता माने जाते हैं। इनका निवास स्थान उत्तर में कैलाश पर्वत पर माना जाता है। ब्रह्मा ने इनको चौथा लोकपाल बनाकर पुष्पक विमान दिया था। पहले तीन लोकपाल—इन्द्र, यम और वरुण हैं। रावण, कुम्भकर्णादि जो लंका में रहते थे वे कुवेर की माता कैकसी के पुत्र थे।

यक्षरक्षसाम्=यक्षाणाम् च रक्षसां च (इतरेतर द्वन्द्व०) [यक्षते पूज्यते,√यक्ष्+घञ्=यक्ष (पुं०)। देवयोनि विशेष, जिनके राजा कुवेर हैं। रक्षस् (नपुं०)=रक्ष्यते हविः अस्मात्। जिस से यक्ष का हविः (घी आदि) बचाया जाता है। √रक्ष्+असुन्।]

(षष्ठी० ए० व०) राक्षसों और यक्षों में।

वसूनाम्=(पुं०) √वस्+उ=वसु+षष्ठी० ब० व०=वसुओं में।
[वसु आठ हैं—१—आप-(या अह) २—ध्रुव, ३—सोम ४—धर ५—अनिल ६—अनल ७—प्रत्युष और ८—प्रभास।]

पावकः=(पुं०) √पू+ण्वुल्=पौ+अक=पावक+ प्र० ए० व०= अनल। अग्नि।

च=(अव्यय) और।

अस्मि=(मैं) हूँ।

मेरुः=(पुं०)√मि—रु+प्र० ए० व०=यह एक पुराणोक्त पर्वत है। जो सोने का कहा गया है और जिसके बारे में कहा जाता है कि समस्त ग्रह उसके गिर्द घूमा करते हैं। जो उत्तरी ध्रुव में स्थित है।

शिखरिणाम्=(पुं०) शिखर+इनि। चोटी वाला (षष्ठी० ब० व०)= पर्वत।

[आठ शिखरियों के नाम इस प्रकार हैं—उदायचल। अस्ताचल। कनकाचल। शंखाचल। नारायणाचल। हिमाचल। ईशानाचल और मेरु पर्वत॥]

अर्थ—मैं रुद्रों में शंकर हूँ। और यक्ष राक्षसों में धनपति कुवेर हूँ। वसुओं में पावक (या अनल) हूँ। और पर्वतों में मेरु हूँ॥२३॥

व्याख्या—मैं एकादश रुद्रों में शंकर हूँ। ये रुद्र शिव जी के (देखने में) भयानक स्वरूप हैं। परन्तु अपने भक्त का कल्याण करने वाले हैं इन में शंकर तो विशेष कर आशुतोष और अव-ढर-दानी हैं, जिनके सम्बन्ध में एक शंकर-भक्त के उद्गार इस प्रकार हैं—

सीस पै जा के सुधाधर हैं वही साहिब पीर हमारी हरेंगे ।
अंग हैं जा को विभूति भरो वही भौन में संपत्ति भूरी भरेंगे ।
घातक हैं जो मनोभव को सब पातक ताही के जारे जरेंगे ।
दास सू सीस पै गंग लिये रहे ता की कृपा कहो को न तरेंगे ?॥"

एक और भक्त कहता है—

जटाओं से तेरी है बह रही गंगा महारानी ।
यह है इक, सौ दलीलों की दलीले पाक दामानी ॥

नहीं है देवता कोई हक़ीक़त-आशना तुझ सा ।
है सर बस्ता समाधि से तेरी हर राज़े पिनहानी ॥

नहीं तुझ सा दो आलम में महा योगी नज़र आता ।
कथन तुझ को करे है ! क्या मजाले अक़्ले इनसानी ॥

ज़माने भर में है मशहूर तू हे भोले नाथ ! भण्डारी ।
प्रकट है जगत् पर तेरी सख़ावत की फ़रावानी ॥

लबासे फक़्र में है पर्वते कैलाश के स्वामी ! ।
शहनशाहों की तेरे सामने है आबरू पानी ॥

तेरी भक्ति बज़ाते-ख़ुद है इक कारण सकूने दिल ।
तेरे भक्तों को फिर क्योंकर हो दुनिया की परेशानी ॥

हम अमृत मोतमिद होकर दुआ मांगें जो शंकर से ।
बदल सकती है सुबह्-ए आश्यां से शामे ज़न्दानी ॥

यक्ष और राक्षसों के समुदायों में मैं धन पति कुबेर हूँ । कुबेर की राजधानी अलका पुरी नाम से प्रसिद्ध है । जो कैलाश पर्वत पर बसी हुई है । जिस के वैभव का वर्णन महाकवि कालिदास ने मेघदूत के उत्तर मेघ में अति रोचक ढंग से किया है उस का एक पद इस प्रकार है—

"विद्युत्वन्तं ललित-वनिता सेन्द्रचापं सचित्रा,
संगीताय प्रहत-मुरजाः स्निग्ध-गम्भीर घोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमय भुवस्तुङ्गमभ्रं-लिहाग्राः,
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥१॥

[अर्थ—यक्ष ने कहा—हे मेघ ! जिस (अल्कापुरी) में भवनों की सुन्दर दीवारों पर सुन्दरियों के मनमोहक चित्र बने हुए हैं । मणियों से बने हुए फर्श हैं । गगन चुम्बी ऊँचे महल हैं । जो बिजली के प्रकाश और इन्द्र धनुष से युक्त हैं । उन से सदा वीणा और मृदंग आदि साजों के मधुर संगीत से युक्त कर्णप्रिय गायन ध्वनियाँ उठ रही हैं । भीतर निर्मल जलाशय बने हुए हैं । अल्का-

पुरी के वे भवन तोय युक्त और तुङ्ग होने से तेरी तुलना (बरावरी) करने में समर्थ हैं ।।]

राक्षसों का राजा रावण था जिसकी राजधानी लंकापुरी थी जो भारत के दक्षिण में है जिस की शोभा का वर्णन रामचरितमानस में इस प्रकार किया गया है—

''अति उतंग जल-निधि चहुँ पासा । कनक-कोट कर परम प्रकासा ।।
छं०—कनक-कोट विचित्र-मनि-कृत सुन्दरायत अति घना ।
चउहट्ट हट्ट सुवट्ट बीथी चारु पुर बहुविधि बना ।।
गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ विरूथन्हि को गनई ।
बहुरूप निसिचर-यूथ अति बल सेन वरनत नहिं बनई ।।
बनबाग उपबन बाटिका सर कूप वापी सोहहीं ।
नर-नाग-सुर-गंधर्व-कन्या-रूप मुनिमन मोहहीं ।।
कहुँ मल्ल देह विसाल सैल समान अति बल गर्जहीं ।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहुविधि एक एकन्ह तर्जहीं ।।
करि जतन भट कोटिन्ह विकट तन नगर चहुँदिसि रच्छहीं ।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं ।।

हे अर्जुन ! आप का विचार होगा कि भगवान् ने यक्ष और राक्षसों को एक ही रस्से से बान्ध दिया है और दोनों में अपनी विभूति कुवेर को कह दिया है जबकि राक्षसों के राजा रावण या विभीषण को राक्षसों में अपनी विभूति कहना चाहिए था । परन्तु हे अर्जुन ! यह तेरा विचार ठीक नहीं है । क्योंकि रावण तो मेरे शत्रु के रूप में प्रकट हुआ था उसे विभूति नहीं कहा जा सकता था और विभीषण मेरा भक्त होते हुए भी मेरी विभूति कहलाने के योग्य नहीं था । यद्यपि यक्ष लोग देवताओं के समान माने जाते हैं तो भी उन का राजा कुवेर रावण की विमाता का पुत्र होने से उस का भाई ही था इस लिये यक्ष और राक्षस दोनों में अत्युत्तम व्यक्ति कुबेर को अपनी विभूति कहना पड़ा है ।

आठ वसुओं में मैं अग्नि हूँ जो सब को पवित्र कर देता है और जिस के बलबूते पर मोटरें, रेले और विमान आदि गतिशील होते हैं । और प्राणी मात्र जीवित और स्वस्थ रहते हैं । तथा जिस के द्वारा संसार को प्रकाश आलोक और ताप प्राप्त होते हैं । और अत्युच्च शिखर वालों में मैं मेरू हूँ । जिस के चारों ओर सब लोक चक्र काट रहे हैं और जिस में सोना और रत्न भरे हुए हैं ।।२३।।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।। २४ ।।

पुरोधसाम्+च मुख्यम्+माम्+विद्धि पार्थ ! वृहस्पतिम् । सेनानीनाम्+अहम्+स्कन्दः सरसाम्+अस्मि सागरः ॥

पुरोधसाम्=(पुं०) पुरः (अग्रे) धीयते, पुरस् (अव्यय, पूर्व+असि, पुर आदेश =आगे)+√धा (जुहो० उभ० सक०=स्थापित करना, बैठाना)+असि =पुरोधस्+षष्ठी० ब० व०=आगे किए जाने वालों में। पुरोहितों में (अर्थात् राज पुरोहितों में)।

च=(अव्यय) और।

मुख्यम्=(पुं०) मुख (√खन्+अच्, डित्, मुडागम=मुँह)+यत्+द्विती० ए० व०=प्रधान को। श्रेष्ठ को। नेता को। मुख्य को।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्०, म० पु० ए० व०=(तू) जान।

पार्थ !=(पुं०) पृथायाः अपत्यम्, पृथा+अण्। हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन !

वृहस्पतिम्=(पुं०) वृहतां वाचां पतिः (षष्ठी० तत्पुरुष, निपा० सुट्)+द्विती० ए० व०=वृहस्पति को। देवताओं के गुरु वृहस्पति को।

सेनानीनाम्=(पुं०) सेनां नयति, सेना+√नी+क्विप्=सेनानी+षष्ठी० ब० व०=सेना नायकों में। सेनापतियों में।

अहम्=(सर्व०) अस्मद्+प्र० ए० व०=मैं।

स्कन्दः=(पुं०)√स्कन्द् (भ्वा० आत्म० अक०=उछलना)+घञ् वा अच्=स्कन्द्+प्र० ए० व०=कार्त्तिकेय। स्कन्द। शिव जी का बड़ा पुत्र। देवताओं का सेनापति।

सरसाम्=(नपुं०)√सृ+असुन्=सरस्+षष्ठी० ब० व०=सरोवरों में। जलाशयों में।

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ।

सागरः=(पुं०) सागर के पुत्रों से खोदा हुआ, सगर+अण्=सागर+प्र० ए० व०=समुद्र, सागर।

अर्थ—हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! पुरोहितों में प्रधान (देवताओं के गुरु) वृहस्पति को तू मुझ को जान। मैं सेनापतियों में (देवताओं का सेनापति) स्कन्द हूँ और जलाशयों में सागर हूँ ॥ २४ ॥

व्याख्या—हे पार्थ ! जिस प्रकार तू सब कुरुवंशियों में श्रेष्ठ है इसी प्रकार

सब राजाओं में देवराज इन्द्र श्रेष्ठ है। वैसे ही देवराज इन्द्र का पुरोहित वृहस्पति भी सब पुरोहितों में श्रेष्ठ है। क्योंकि वे विद्या में उत्तम, बुद्धि में श्रेष्ठ और इन्द्र को उपदेश और परामर्श देने वाले हैं और वे सर्वश्रेष्ठ पुरोहित होने से लौकिक तथा पारलौकिक सम्पूर्ण कार्यों में सब से आगे किए जाते हैं। इस से गुरु या देव-गुरु नाम से प्रसिद्ध हैं। उस देव गुरु वृहस्पति को तू साक्षात् मेरा रूप ही जान ले। त्रिभुवन के सेनापतियों में कृत्तिका-कान्त शंकर से उत्पन्न देव-सेनापति कार्त्तिकेय सर्वश्रेष्ठ सेनापति हैं। जिनका दूसरा नाम स्कन्द है। हे अर्जुन! वह स्कन्द भी मैं ही हूँ। संसार में पाँच महासागर हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. हिन्द महासागर, २. प्रशान्त महासागर, ३. अन्ध महासागर, ४. उत्तरी हिम महासागर तथा ५. दक्षिणी हिम महासागर। वास्तव में ये सब महासागर, एक बहुत बड़े सागर के ही भाग हैं क्योंकि सब के जल मिले हुए हैं और भी अनेक छोटे-छोटे सागर और खाड़ियाँ हैं जो इस बहुत बड़े सागर के ही भाग हैं। पृथ्वी के ३/४ भाग को यह सागर घेरे हुए हैं। इस के अतिरिक्त अनेक ऐसे सरोवर, ह्रद, झीलें और मीठे खारी जलाशय हैं जो विविध देशों में स्थित हैं। इन सब प्रकार के छोटे बड़े मीठे, नमकीन, गर्म तथा बर्फीले जलाशयों में मैं समष्टि रूप सागर हूँ; जो अथाह है अनेक स्वादों वाले जलों से परिपूर्ण हैं। कहीं श्वेत रंग है, कहीं कृष्ण वर्ण है, कहीं रक्त रंग वाला है और कहीं नील वर्ण है तथा हरित द्युति है एवं कहीं पीत वर्ण है। जिस की अपार शोभा है जो स्वयं रत्नाकर है और सौम्य तथा विकराल रूप धारी है और मुझ विराट् भगवान् का ही स्वरूप है ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षीणाम्+भृगुः+अहम्+गिराम्+अस्मि+एकम्+अक्षरम्। यज्ञानाम्+जप-यज्ञः+अस्मि स्थावराणाम्+हिमालयः ॥

महर्षीनाम्=(पुं०) महान् ऋषि (कर्मधारय)+षष्ठी० ब० व०=महर्षियों में।

भृगुः=(पुं०) तपसा भृज्ज्यते। √भ्रस्ज् (तुदा० उभ० सक०=भूनना)+कु (सम्प्रसारण, कुत्व)=भृगु+प्र० ए० व०=भृगुः=ब्रह्मा जी के मानसिक पुत्रों में से एक महर्षि। एक मन्त्रप्रणेता महर्षि। एक गोत्र प्रवर्तक महर्षि, ये महर्षि ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ भृगु संहिता के रचयिता माने जाते हैं। इस महर्षि ने विष्णु भगवान् के वक्षःस्थल पर लात मार कर उनकी सात्विक क्षमा की परीक्षा की थी। आज भी विष्णु भगवान् उस भृगु चरण के चिन्ह को अपने हृदय पर धारण किए हुए हैं। भृगु,

पुलस्त्य आदि नौ महर्षि प्रजा सृष्टि करने वाले नौ ब्रह्मा माने जाते हैं ॥

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

गिराम्=(स्त्री०)√गृ (भ्वा० पर० सक०=छिड़कना। चुरा० आत्म० सक० =जानना)+क्विप्=गिर्+षष्ठी० ब० व०=वाणियों में। शब्दों में।

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट् उ० पु० ए० व० =(मैं) हूँ।

एकम्+अक्षरम्=(नपुं०) [एक (सर्व०)=√इ+कन्=एक+प्र० ए० व० =एकम्। अक्षरम्=√क्षर्+अच नञ् तत्पु०]

एक-अक्षर=ओङ्कार [ॐ इत्येकाक्षरम् (गी० ९।१३॥ 'ॐ' यह एक अक्षर है।]

यज्ञानाम्=(पुं०) इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा√यज्+नङ् =यज्ञ+षष्ठी० ब० व०=यज्ञों में।

जप-यज्ञः=(पुं०) जपश्चासौ यज्ञः=जपः यज्ञः=जपयज्ञः (प्र० ए० व०। भगवान् के नाम का जपना रूप यज्ञ।

अस्मि=मैं हूँ।

स्थावराणाम्=(पुं०)√स्था (भ्वा० पर० अक०=स्थित होना)+वरच् =स्थावर+षष्ठी० ब० व०=स्थावरों में पहाड़ों में। स्थावर ऐसे पर्वतों का नाम है जो कभी ज्वालामुखियों से विध्वंस नहीं होते।

हिमालयः=(पुं०) हिम+आलयः=हिमस्य आलयः। हिमालय पर्वत। भारत की उत्तरी सीमा पर स्थित संसार में सब से ऊँचा पर्वत जो अफंगानिस्तान से ब्रह्मा तक फैला हुआ है और लगभग तीन हज़ार किलोमीटर लम्बा है और समानन्तर तीन शृंखलाओं में फैलता चला गया है। इसकी जगत् प्रसिद्ध चोटी गौरी शंकर या मौंट ऐवरैस्ट २९००९ फीट ऊँची है। गंगा यमुना, सिंधु और ब्रह्मपुत्र आदि उत्तरी भारत की सब प्रसिद्ध नदियाँ इसी पर्वत से निकलती हैं। और इस पर्वत के उच्च शिखिर सदैव हिमाच्छादित या बर्फ से ढके रहते हैं जिस से इस पर्वत का नाम हिमालय या बर्फ़ का घर रखा गया है। इस पर्वत के साथ टकराकर हिन्द महासागर और खाड़ी बंगाल की जल वाष्प पूर्ण पवनें भारत के उत्तर में बहुत वर्षा बरसाती हैं। जिस से भारत में सब प्रकार के नाज मेवे और लता वृक्ष भूरि मात्रा में उत्पन्न होते हैं, इस पर्वत पर घने जंगल उगे हुए हैं। और खनिज पदार्थों की भरमार है। यह पर्वत

उत्तर के शत्रुओं से हमारी रक्षा करता है। तथा इस पर बहुत से स्वास्थ्य-वर्धक स्थान और तीर्थ पाए जाते हैं। चाय और अन्य बहुत सी जड़ी बूटियां और औषधियाँ भी हमें हिमालय से प्राप्त होती हैं। इस प्रकार यह हिमालय सारे संसार के पर्वतों से अत्यन्त उत्तम पर्वत है।

अर्थ—मैं महर्षियों में भृगु हूँ। शब्दों में एक अक्षर अर्थात् "ॐ" कार हूँ। यज्ञों में जप-यज्ञ और स्थावरों (सदा स्थिर रहने वाले पर्वतों) में हिमालय हूँ ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ; मैं महर्षियों में भृगु हूँ। जो सर्वश्रेष्ठ महर्षि हैं। जिस ने घोर तप द्वारा अपने शरीर को भून डाला है। इसी से उस का नाम भृगु रखा गया है। इस महर्षि का चरण-चिन्ह मेरे विष्णु स्वरूप के हृदय पर चिन्हित रहता है। यह महर्षि भी मन्त्रप्रणेता है और भृगु संहिता का लिखने वाला है तथा यह ऋषि गोत्र प्रवर्त्तक और प्रजा-सृष्टि करने वाला ब्रह्मा भी माना जाता है। शब्दों में मैं एक अक्षर अर्थात् ॐकार हूँ। ॐकार मेरी तीनों शक्तियों उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकारी ब्रह्मा, विष्णु और शिव का द्योतक है। और चारों वेदों का प्राण स्वरूप है तथा तत्सत् है। अनादि अनन्त और सर्व व्यापक मुझ ब्रह्म का सर्वोत्कृष्ट नाम है। मैं यज्ञों में जप यज्ञ हूँ संसार में अनेक प्रकार के यक्ष हैं। जैसे महायज्ञ जो पाँच प्रकार के हैं—१. वेदाध्यन २. अग्नि होत्र ३. तर्पण ४. अतिथि पूजन और ५. भूतवलि इन के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के अश्वमेध, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों का वर्णन वेदों और गीता के चौथे अध्याय में किया है और वहाँ पर श्लोक ३३ में द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ उत्तम कहा गया है। यद्यपि वेद शास्त्रों में "यज्ञानां हुत-मुत्तमम्" अर्थात् यज्ञों में अग्नि में हवि समर्पण करके सिद्ध होने वाला यज्ञ ही उत्तम कहा गया है। और भागवत में "यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहम्" कहा गया है। परन्तु भक्ति मार्ग में सब यज्ञों की अपेक्षा नाम का जपना या जप-यज्ञ ही विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इस जप यज्ञ में न कोई सामग्री एकत्रित करनी पड़ती है। न हिंसा आदि की संभावना होती है। न धन की आवश्यकता है। न इस में कोई कठिनाई होती है। न स्नान दान करना होता है, इस लिए जप-यज्ञ शीघ्र ही भक्ति-द्वार खोल देता है। इस जप-यज्ञ की महिमा मनुमहाराज ने इस प्रकार वर्णन की है—

"विधियज्ञाज्जपज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥"

मनु० २।८५॥

[अर्थ—विधि-यज्ञ से जप-यज्ञ दस गुणा श्रेष्ठ होता है। उपाँशु जप

(मन्द स्वर से किसी को न सुनाई देने वाला जप) सौ गुणा श्रेष्ठा होता है और मानस जप हज़ार गुणा श्रेष्ठ कहा गया है।] ब्रह्म राम ते नाम बड़, बरदायक बरदानि। स्थावरों में मैं हिमालय पर्वत हूँ। स्थावर उन पर्वतों को कहा जाता है जो ज्वालामुखी नहीं हैं अर्थात् जिन में से विध्वंसकारी लावा निकल कर पर्वत के भू-भाग को नष्ट भ्रष्ट नहीं करता है। तथा जो पर्वत प्रशान्त प्रकृति और और स्थिर रूप धारण कर चुके हैं। ऐसे सम्पूर्ण पर्वतों में हिमालय सब से ऊँचा, सब से सुन्दर प्रकृति नटी का सुरम्य केलि स्थल और संसार के महर्षियों की तपो भूमि है। रत्नों की खान और अत्युत्तम मीठे सरस फलों को उपजाने वाला नन्दन वन है। जगज्जननी गिरिजा का जनक और गंगा यमुना आदि देव नदियों का उद्गम स्थान है। जिस में स्थान स्थान पर सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर यक्ष और देवता लोग निवास करते हैं॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६ ॥

अश्वत्थः सर्व-वृक्षानाम्+देव+ऋषीणाम्+च नारदः। गन्धर्वाणाम्+चित्ररथः सिद्धानाम्+कपिलः+मुनिः॥

अश्वत्थः=(पुं०) न श्वः चिरं शाल्मलि वृक्षादि वत् तिष्ठति इति √स्था+क, पृषो० (प्र० ए० व०)=पीपल का वृक्ष।

[मनुष्य और पक्षी दो पावों वाले हैं चौपाए चार पांवों वाले होते हैं अन्य कीट पतंग आदि जीप जन्तु चार, छः आठ दस, बारह आदि टांगों वाले होते हैं। खनखजूरे की तो हज़ार टांगें होती हैं। सांप आदि बिना पांवों के भी शीघ्र-गामी होते हैं। वृक्ष केवल एक चरण वाले होते हैं। जो धरती के पानी को अपने पांव द्वारा पीते हैं इसी से पादप कहलाते हैं ये सब वृक्ष पौधे और जड़ी बूटियां संसार का महा उपकार करते हैं। इन के बिना शेष प्राणा एक दिन भी जीवित नहीं रह सकते। क्योंकि जीवों के सांस लेने और चीजों के जलने, गलने एवं सड़ने से एक दिन में ही वायु में कार्बानिक ऐसिड गैस की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि जिस में प्राणी दम घुट कर मर सकते हैं। इस हानिकारक गैस को वृक्षों के हरे पत्ते दिन की धूप में लगातार फाड़ते रहते हैं आक्सीजन हवा में छोड़ देते हैं और कार्बन से हमारे लिए शक्कर, निशास्ता और तेल आदि बनाते रहते हैं। पीपल का वृक्ष एक महान वृक्ष है जो सब वृक्षो से अधिक वायु शुद्ध करता है और धरती से पानी चूस कर अपने पत्तों के द्वारा वायु में छोड़ता रहता है। जिससे वायु की शुष्कता और गर्मी कम होती रहती है। अनेक पशु पक्षी और

मनुष्य दिन की ग्रीष्म कालीन कड़ी धूप के समय इस की स्वास्थ्य वर्धक छाया में विश्राम करते हैं तथा रात को पक्षी इस पर बने हुए घोंसलों में आराम करते हैं इस के फल खाकर पक्षी अपना पेट भरते हैं। इस की जड़, छाल, पत्ते, फल और दूध अनेक औषधियों में बरते जाते हैं। इस सर्वश्रेष्ठ वृक्ष के अनन्त लाभों और गुण को देख कर पुराणों में इस की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है और इस असार संसार को अश्वत्थ रूप कहा गया है। इस वृक्ष की महानता को देख कर स्कन्द पुराण के ये श्लोक कोई अतिशयोक्ति नहीं मालूम होते—

"मूले विष्णुः स्थितो नित्यं स्कन्धे केशव एव च।
नारायणस्तु शाखासु पत्रेषु भगवान् हरिः॥
फलेऽच्युतो न सन्देहः सर्व देवैः समन्विताः॥"
(स्क० नागर २४७।४१,४२)

[अर्थ—इस पीपल वृक्ष की जड़ों में विष्णु स्थित है। और तने में नित्य ही केशव विराजमान है। शाखाओं में नारायण का निवास है पत्तों में हरि भगवान् रम रहे हैं और फलों में सकल देवताओं सहित अच्युत विश्राम करते हैं।]

सर्व-वृक्षाणाम्=(पुं०) सर्वेषां वृक्षाणाम् (षष्ठी० तत्पु०) सारे वृक्षों में।
[वृक्षणाम्=(पुं०)√व्रश्च् (तुदा० पर० सक०=काटना)+स, कित् =वृक्ष+षष्ठी० ब० व०]

देवर्षीनाम्=(पुं०) देव एव सन्त ऋषित्वं प्राप्त यन्त्र-दर्शित्वात् ते देवर्षयः (बहुव्री०)=जो देव होकर मन्त्रों के द्रष्टा होने के कारण ऋषि भाव को प्राप्त हुए हैं वे होते हैं—देवर्षि+षष्ठी० ब० व०=देवर्षियों में।

च=(अव्यय) और।

नारदः=(पुं०) नारं 'परमात्म-विषयक' ज्ञानं ददाति, नार√दा+क=नारद +प्र० ए० व=नारद। ब्रह्मा के दस मानस पुत्रों में से एक नारद भी हैं।

गन्धर्वाणाम्=(पुं०) गन्ध√अर्व+अच् वा गो√धृ+व, पृषो० साधुः =गन्धर्व+षष्ठी० ब० व०=गन्धर्वों में।

['गन्धर्व' इन्द्र-लोक में गाने का काम करने वाले देवता हैं। ये स्वर्ग में सब से सुन्दर और अत्यन्त रूपवान् माने जाते हैं। इन्द्र लोक के समीप ही इन का अपना गन्धर्व लोक है। पुराणों में अनेक प्रसिद्ध गन्धर्वों के नाम लिखे हुए मिलते हैं जिनमें हाहा, हूहू, विश्वावसु, तुम्बरु, और चित्ररथ उन के प्रधान समझे जाते हैं। परन्तु सम्पूर्ण गन्धर्वों का प्रधान 'चित्ररथ' माना जाता है।]

चित्ररथ:=(पुं०) चित्र: रथ: अस्य=जिस का रथ चित्र है (बहुव्री०)। "चित्ररथ" नाम वाला गन्धर्वों का राजा। कश्यप ऋषि की 'मुनि' नाम्नी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न सोलह पुत्रों में से एक का नाम 'चित्ररथ' है।

सिद्धानाम्=(पुं०) सिद्धि: अस्ति अस्य, √सिध्+क्त=सिद्ध+षष्ठी० ब० व०=सिद्धों में।

जन्मना एक धर्म-ज्ञान-वैराग्यैश्वर्यातिशयं प्राप्ता: पुरुषा:=जन्म से ही अतिशय धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त हुए पुरुष सिद्ध माने जाते हैं। सब प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त हुए पुरुषों में।

कपिल:=(पुं०)√कम्प्+इलच्, पादेश:=कपल+प्र० ए० व०=भूरा, बादामी। एक महर्षि का नाम, जिस ने सगर राजा के साठ हजार पुत्रों को भस्म कर डाला था। इन्होंने सांख्य दर्शन का आविष्कार किया था। ये कर्दम मुनि की पत्नी देवहूति के पुत्र थे। इनकी उत्पत्ति के समय स्वयं ब्रह्मा ने ऋषि के आश्रम में आकर देवहूति से कहा था—

"अयं सिद्धगणाधीश: सांख्याचार्यै: सुसम्मत:।

लोके कपिलइत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धन: ॥"

(श्रीमद्भा० ३।२४।१९)

[अर्थ—यह बालक सिद्धों का अधीश होगा। संसार में कपिल नाम से प्रसिद्ध होगा और सांख्यशास्त्र के आचार्यों से सम्मानित होकर तेरे यश में वृद्धि करने वाला होगा।]

मुनि:=(पुं०) मनुते जानाति य:, √मन्+इन्, उत्व=मुनि+प्र० ए० व०= ईश्वर, धर्म और सत्यासत्य प्रभृति सूक्ष्म विषयों का विचार करने वाला व्यक्ति मननशील महात्मा।

अर्थ—मैं सब वृक्षों में पीपल का वृक्ष हूँ। देवर्षियों में देवर्षि नारद हूँ। गन्धर्वों में उनका राजा चित्ररथ हूँ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ ॥ २६ ॥

व्याख्या—सब वृक्षों में पीपल मेरा स्वरूप है। क्योंकि पीपल सब वृक्षों से अधिक लाभकारी है। वायु को शुद्ध करने के लिए इस के पत्ते सब वृक्षों से अधिक कार्य करते हैं। जड़ों की ओर से आए हुए जल को अधिक मात्रा में वायुमण्डल में छोड़ते हैं। जिस से वर्षा बरसने में सहायता मिलती है और वायु के तर हो जाने से फेफड़े और त्वक् सुरक्षित रहते हैं तथा ताप की पीड़न शक्ति कम हो जाती है। काँटों का अभाव होने से नीचे फिरने वाले लोगों के पांव शल्य युक्त नहीं होते। इस की शीतल छाया पशु, पक्षी और मनुष्यों को

ग्रीष्म काल में अत्यन्त सुख प्रदान करती है तथा इस का प्रत्येक भाग ओषध रूप में रोग नाशक है।

मैं देवर्षियों में देवर्षि नारद हूँ। जो महाज्ञानी और मेरा परम भक्त है। वीणा बजा कर सदैव मेरे गुणों का गायन करता है। भ्रमण करता हुआ भक्तों को मुझ ब्रह्म विषयक ज्ञान का उपदेश करता है।

गन्धर्वों में मैं गन्धर्व राज चित्ररथ हूँ। जो गायन विद्या में सब से अधिक प्रवीन और अत्यन्त सुन्दराकृति है।

सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ जो मेरा ही अवतार माना जाता है जिसके नेत्र के उन्मीलित होते ही सगर के साठ हज़ार पुत्र भस्म हो गए थे और जिनकी सद्गति के लिए भगीरथ को भगीरथ-प्रयास करके परम पावनी भागीरथी स्वर्ग लोक से भारत-भूखण्ड पर लानी पड़ी थी। इसी महा मुनि ने संसार को सांख्य शास्त्र का पवित्र उपहार प्रदान किया था॥ २६॥

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

उच्चैः श्रवसम्+अश्वानाम्+विद्धि माम्+अमृत+उद्भवम्। ऐरावतम्+गज+इन्द्राणाम्+नाराणाम्+च नर+अधिपम्॥

उच्चैः श्रवसम्=(पुं०) उच्चैः (उन्नतं) श्रवाऽस्य (बहुव्री०) ऊँचे कानों वाला। उच्चैः (अव्यय)+श्रवस्+द्विती० ए० व+ऊँचे कानों वाले को।

[जब दैत्यों और देवताओं ने अमृत निकालने के लिए समुद्र-मंथन किया था। तो समुद्र से अमृत समेत चौदह रत्न निकले थे। जिन में उच्चैः श्रवा नामक एक घोड़ा भी सम्मिलित था। जो अब इन्द्र का वाहन है।[उच्चैः श्रवा नामक घोड़े को।

विद्धि=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) जान।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०+मुझ को। मुझे (मेरा स्वरूप)।

अमृत+उद्भवम्=(पुं०) अमृतेन सहोद्भवम्=(समुद्र मन्थन के अन्त में) अमृत सहित उत्पन्न हुए को। (अमृतनिमित्त मथनोद्भवम्)।

[ऊद्भवम्=(पुं०) उत् √भू+अप्+द्विती० ए० व०=उत्पन्न हुए को।]

ऐरावतम्=(पुं०) इरा+मतुप्, मस्य वः=इरावान् (समुद्रः) तत्र भवः इत्यर्थे अण्।=ऐरावत+द्विती० ए० व०=ऐरावत को। इन्द्र के हाथी को।

गज+इन्द्राणाम्=(पुं०) गजेन्द्र+षष्ठी० ब० व०=गजेन्द्रों में।

[गज जातियों के इन्द्र या राजा-हाथी। हाथियों के यूथों के सरदार भी गजेन्द्र कहलाते हैं।]

नराणाम्=(पुं०)√नृ+अच्=नर+षष्ठी० ब० व०=नरों में। मनुष्यों में।

च=(अव्यय) और।

नर+अधिपम्=(पुं०) नराणाम् अधिपम् (षष्ठी तत्पु०) [अधि √पा +क=अधिप+द्वितीο एο वο=अधिपम्=स्वामी को] नरों के स्वामी को। राजा को।

अर्थ—घोड़ों में (तू) मुझ को (देवताओं द्वारा समुद्र मन्थन काल में) अमृत के साथ उत्पन्न (इन्द्र के) उच्चैः श्रवा नामक घोड़े को जान। गजेन्द्रों (गज-यूथ-पतियों) में (इन्द्र के हाथी) ऐरावत को और मनुष्यों में (उनके) राजा को तू मुझे जान॥ २७॥

व्याख्या—हे अर्जुन! बहुत प्राचीन काल में देवताओं और दैत्यों ने मिलकर समुद्र-मन्थन किया था भगवान् विष्णु ने कछुवे का रूप धारण किया था। जो समुद्र तल में स्थित हुए थे उनकी पीठ पर मन्दराचल पर्वत की मथानी रखी गई थी। जिस के ऊपर के सिरे पर भगवान् विष्णु एक और रूप धारण करके स्वयं विराजमान हुए थे ताकि मन्दराचल रूप मथानी किसी ओर झुके विना सीधी खड़ी रह कर चलती रहे। मथानी को चलाने के लिये शेष नाग की विलोडिनी (रस्सी) बनाई गई थी। नाग के मुँह की ओर का सिरा दैत्यों ने पकड़ा था, और पूँछ की तरफ देवता लोग खींच रहे थे। नाग के मुख से विष की ज्वालाएं बाहर निकल रही थीं जिन से दैत्य श्याम वर्ण हो गये। इस समुद्र मन्थन के अन्त में सागर से चौदह रत्न निकले थे। इन के नाम इस प्रकार हैं—

लक्ष्मी : कौस्तुभ-पारिजातक-सुरा धन्वन्तरिश्चन्द्रमा,
गावो कामदुघाः सुरेश्वर-गजो रम्भादि देवाङ्गना :॥
अश्व : सप्तमुखो विषं हरिधनुः शंखोऽमृतं चाबुधे;
रत्नानीह चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्युः सदा मंगलम्॥

[हमारे विचार में यह अलंकारिक वर्णन उस आन्विक प्रयोग के सम्बन्ध का है जो किसी प्राचीन काल में पृथिवी पर रहने वाले महा विज्ञानियों ने किया था। असभ्य बलवान् श्रमकों को मौत के मुँह में झोंक कर ये विज्ञानी स्वयं ऐटम बम चलाने में जुटे थे जिसके परिणामस्वरूप धरती का एक बहुत बड़ा खण्ड पृथिवी से पृथक होकर आकाश में जाकर पृथिवी के चारों ओर घूमने लगा। जो इस पृथिवी का चन्द्रमा कहलाने लगा। इस प्रयोग के समय बहुत सा सोना चाँदी आदि धन पृथिवी ने उगल दिया था जिसे लक्ष्मी का नाम दिया गया है। तथा कौस्तुभ आदि हीरे जवाहर प्राप्त हुए थे उस समय पारिजात आदि अनेक प्रकार के बहुमूल्य वृक्षों के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध हुई थी अनेक

प्रकार की रोगों में लाभकारी सुरा का आविष्कार किया गया था तथा उस काल में धन्वन्तरि आदि महा चिकित्सकों और डाक्टरों ने जन्म ग्रहण किया था। गौओं के वंश में सुधार किया गया जिस से कामधेनु वंश की अपार दूध देने वाली गौएं उत्पन्न हो गईं थीं। शीघ्रगामी घोड़ों और सुन्दर हाथियों की वृद्धि की गई। रंभादि अति सुन्दर नारियां जगत् में प्रकट हुईं। अनेक भान्ति के विषों का अनुसन्धान किया गया। तथा नाना प्रकार के आयुधों और वाद्यों का आविष्कार हुआ। अमृत तुल्य औषधियों की उपलब्धी हुई जिस से मनुष्य जीवन सुखमय हो गया।]

हे अर्जुन! इन चतुर्दश रत्नों में अमृत सहोदर सप्तमुख जिस घोड़े का वर्णन हुआ है उस का नाम उच्चैः श्रवा है। जो श्वेत वर्ण और श्याम कर्ण है। जिस के कान ऊपर को सीधे उठे हुए हैं। वह देवाधिपति राजा इन्द्र का वाहन है और संसार के सब घोड़ों से उत्कृष्ट और श्रेष्ठ है उस को तू मेरा रूप ही जान इसी प्रकार उन चतुर्दश रत्नों में एक हाथी है जिस का नाम ऐरावत है। वह भी देवराज इन्द्र का वाहन है जिस प्रकार साधारण हाथियों में यूथपति या गजेन्द्र श्रेष्ठ होता है इसी प्रकार सब गजेन्द्रों में ऐरावत श्रेष्ठ है वह भी मेरा ही रूप या मेरी ही विभूति है। इसी प्रकार मनुष्यों से वह राजा श्रेष्ठ होता है जो प्रजा की पालना और रक्षा करता है वाह्य आक्रमणकारियों के दांत तोड़ता है तथा भीतरी प्रजा-शत्रुओं एवं देशद्रोहियों का दमन करता है। प्रजा में धर्म की वृद्धि करता है विद्या, स्वास्थ्य और विचार-स्वतन्त्रता की प्रगति में सहायक होता है। पक्षपात रहित और धर्म निर्पेक्ष होता है। न्याय संगत कर लगाकर कोष वृद्धि करता है। जिस के राज्य में घूंसखोरी, चोरी, हिंसा आदि दुर्गुणों की नाम मात्र भी स्थिति नहीं है। तथा राज-काज सब कुछ प्रजा की सम्मति से होता है। ऐसा राजा धर्मावतार कहलाता है और मेरा ही स्वरूप होता है ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

आयुधानाम्+अहम्+वज्रम्+धेनूनाम्+अस्मि कामधुक्। प्रजनः+च +अस्मि कन्दर्पः सर्पाणाम्+अस्मि वासुकिः ॥

आयुधानाम्=(पुं०, नपुं०) आ√युध् (दिवा० आत्म० अक०=युद्ध करना)+ घञ्=आयुध्+षष्ठी० ब० व०=आयुधों में। हथियारों में।

[हथियार तीन प्रकार के होते हैं —

१. प्रहरण, जैसे तलवार २. हस्त-मुक्त, जैसे चक्र, भाला, बरछी, बम आदि। ३. यंत्र मुक्त जैसे बन्दूक, पिस्तौल, रेवालवर, स्टेन गन, ब्रेन गन, मशीन गन, तोप, तीर और वज्र या ऐटम बम तथा उद्जन बम आदि।]

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं ।

वज्रम्=(नपुं०) √वज् (भ्वा० पर० सक०=जाना तैयार करना, समझदारी से संभालना)+रन्=वज्र+प्र० ए० व०=वज्र, सब से अधिक विनाशकारी हथियार । ऐटम बम या उद्जन बम । [दधीचि या दधीच नाम के एक महर्षि थे जो अथर्वमुनि के औरस (असली) पुत्र थे । कर्दम प्रजापति की कन्या से उत्पन्न हुए थे । जब वृत्र दैत्य और इन्द्र का युद्ध हुआ तो इन्द्र उस दैत्य को मारने में सफल न हो सका । तब उसने उस समय के महा तपस्वी या परम उत्कृष्ट विज्ञानी दधीचि को वज्र या ऐटम बम के आविष्कार करने के लिए प्रार्थना की । दधीचि इस कार्य में सफल हो गया और उसने इन्द्र के लिए वज्र तो बना दिया परन्तु उस समय कोई धमाका होने से उस की हड्डियों के टुकड़े-टुकड़े हो गये । जिस से जगत् में ये कहानी प्रसिद्ध हो गई कि दधीचि ने इन्द्र को वज्र बनाने के लिए अपनी छाती की हड्डियां दे दीं । यह आयुद्ध इतना विनाशकारी और विध्वंसिक था कि सारी धरती को नष्ट भ्रष्ट कर सकता था इस लिए प्राचीन विज्ञानवेत्ता इसे अत्यन्त गुप्त रखते थे और योग्य और धर्मात्मा व्यक्तियों को ही सिखलाते थे । विश्वामित्र मुनि ने राम को इस आयुद्ध का बनाना और चलाना सिखा दिया था । जिस के द्वारा श्री राम चन्द्र जी ने अकेले ही खर, दूषण और त्रिशिरा जैसे महा जरनैलों सहित लगभग साढ़े तेरह हजार सैनिकों को थोड़े घण्टों में ही मौत की नींद सुला दिया था । लंका के युद्ध में भी वज्रीय आयुधों का प्रयोग किया गया था । जब मेघनाद भी किसी ऐसे ही आयुध का आविष्कार कर रहा था तो इस की सूचना पाते ही अंगद और हनुमानादि ने जाकर मेघनाद की प्रयोगशाला की ईंट से ईंट बजा दी थी । महाभारत के विनाशकारी भयंकर अठारह दिन के युद्ध में इन्हीं ऐटमी आयुधों का प्रयोग हुआ था । जिस में दोनों ओर के असंख्य लोग मारे गए थे । यह वज्र था ऐटम बम, या तो सब से हलके तत्त्व हाईड्रोजन का बन सकता है या सब से भारी तत्त्व यूरेनियम का । प्राचीन महर्षि पारे से भी ऐटमी शक्ति उत्पन्न करना जानते थे ।

प्रत्येक परमाणु की तीन मौखिक इकाइयाँ होती हैं—

१. प्रोटान २. न्यूट्रान और ३. इलैक्ट्रान ।

प्रोटान घन आवेश वाले कण होते हैं, इलैक्ट्रान ऋण आवेश के कण होते हैं और न्यूट्रान में कोई आवेश नहीं होता । प्रोटानों और न्यूट्रानों से नाभिक बनता है जो परमाणु का क्रोड होता है । इलैक्ट्रान नाभिक की परिक्रमा करते हैं परमाणु एक नन्हें सौर-मण्डल की तरह माना जाता है

जिस के केन्द्र में नाभिक होता है उस नाभिक के चारों ओर इलैक्ट्रान अत्यन्त शीघ्र गति से परिक्रमा करते हैं। जिस प्रकार सारे ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। नाभिक में परमाणु की ऊर्जा बन्द रहती है। भारी परमाणुओं के नाभिक को तोड़ने से ऊर्जा प्राप्त होती है और हलके परमाणु के नाभिक को जोड़ने से ऊर्जा मिलती है। ये विखण्डन और संलयन ही ऊर्जा को विकिरण रूप में क्रोड से बाहर निकालते हैं। ऐटम बम और उद्‌जन बम में क्रोड से सारी ऊर्जा एकाएक निकल पड़ती है और परमाणु में विखण्डन की द्रुत गामी शृंखलाएँ सब ओर उत्पन्न हो जाती हैं। जिस से विनाशकारी प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है।]

धेनूनाम्=(स्त्री०) धयति लेढि (चाटती है) सुतान् वा धीयते वत्सैः, √धे+नु=धेनु+षष्ठी० ब० व०=दूध देने वाली गौओं में।

अस्मि=√अस्+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ।

कामधुक्=(स्त्री०) कामं दोग्धि, काम+√दुह्+क्विप=कामदुह्+प्र० ए० व०=कामधुक्=कामधेनु। सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाली स्वर्ग की गाय जो समुद्र मंथन काल में अमृत के साथ समुद्र से निकली थी।

प्रजनः=(पुं०) प्र√जन्+घञ् अथवा प्र√जन्+णिच्+कर्तरि अच्+प्रजन+प्र० ए० व०=गर्भाधान के लिए नर का मादा से संगम। सन्तान उत्पत्ति करने वाला।

अस्मि=(मैं) हूँ।

कन्दर्पः=(पुं०) कं कुत्सितो दर्पो यस्मात् (बहुव्री०) जिस से बुरा अहंकार उत्पन्न होता है।

अथवा

कं सुखं तेन तत्र वा दृप्यात (सुख से वा सुख में अभिमान करता है। इसमें जीव को सुख का अभिमान होता है)।

कम्+√दृप्+अच्=कन्दर्प+प्र० ए० व०=काम देव।

सर्पाणाम्=(पुं०)√सृप्+घञ्=सर्प+षष्ठी० ब० व०=घूम घुमाव की चाल वालों में। सर्पों में।

अस्मि (मैं) हूँ।

वासुकिः=(पुं०) वसुक+इञ्=वासुकि+प्र० ए० व०=कश्यप-पुत्र सर्पराज वासुकि॥

अर्थ—मैं आयुधों में वज्र या ऐटम बम हूँ। दूध देने वाली गौओं में कामधेनु हूँ। मैं सन्तान उत्पत्ति करने वाला काम-देव हूँ। और सर्प-कुलों में वासुकि सर्प हूँ॥ २८॥

व्याख्या—ऐटमी शक्ति की प्रत्येक युग में प्रधानता रही है। इसी के द्वारा दुष्यन्त आदि राजा लोग स्वर्गादि लोकों में जाते रहे हैं इसी शक्ति के बल से लंका और भारत के मध्य में सैंकड़ों मील लम्बा पुल नल, नील ने थोड़े ही दिनों में बना दिया था। इसी शक्ति के बल से रामचन्द्र जी ने रावण के जरनैल खर, दूषण और त्रिशरा को साढ़े तेरह हजार सेना सहित सदा के मौत की नींद सुला दिया था। जब राम समुद्र में ऐटमी बम से प्रहार करने लगे तो पूर्व अकड़े हुए समुद्र देवता ने राम से क्षमा प्रार्थना की थी। इसी एटमी शक्ति के बल से हनुमान ने उड़ कर समुद्र को पार किया था फिर इसी के बल से ही लंका से पच्चीस सौ मील हिमालय पर जाकर और संजीविनी बूटी लेकर रातों रात लंका में वापस लौट आया था और वापसी पर मार्ग में अयोध्या में उतरा था। भरत भी इस ऐटमी शक्ति के प्रयोग को जानता था। इसी से उस ने हनुमान से कहा था कि मैं तुम को राकट द्वारा लंका में पहुँचाता हूँ। परन्तु हनुमान जी न माने और निज सामर्थ्य द्वारा ही वापस लंका में लौट गये थे। इसी ऐटमी शक्ति के द्वारा लंका और महाभारत की लड़ाइयाँ लड़ी गईं थी। इसी ऐटमी शक्ति से बना हुआ वज्र या ऐटम बम आयुधों में सर्वश्रेष्ठ हथियार है। जिससे जापान के दो बड़े नगर नागासाकी और हीरोशमा एक,एक विध्वंस होकर मिट्टी के ढेरों में बदल गये थे। और इसी वज्र के द्वारा विशाल ऊँचे पर्वत भी विध्वंस किए जा सकते हैं जैसा कि राजा इन्द्र पहले भी कर चुके हैं। इस लिए मैं आयुधों में सब से शक्तिशाली विध्वंसक वज्र हूँ।

कामधेनु भी अमृत के साथ समुद्र से उद्भूत हुई थी और सब गौओं से अति सुन्दर अधिक दूध देने वाली तथा मनवांच्छित फल प्रदान करने वाली है उस के तुल्य और दूसरी कोई भी गौ नही है इस लिये मैं गौओं में कामधेनु हूँ।

यद्यपि वीर्य का मादा में टीका करने से भी बच्चों की उत्पत्ति होती है जैसा कि गौ भैंसों और घोड़ी आदि में की जाती है और धृतराष्ट्र आदि की उत्पत्ति हुई थी परन्तु जब नर के शरीर में कामदेव का संचार और साम्राज्य होता है तो उस समय भी मादा में मेल होने से बच्चे उत्पन्न होते हैं। और अधिकतर शिशुओं का जन्म इसी ढंग से होता है। ऐसे बच्चे टीके के बच्चों की अपेक्षा अधिक चतुर अधिक सुन्दर और अपनी इच्छा के अनुसार काले गोरे भूरे बिल्ले मोटे पतले, लम्बे छोटे उत्पन्न किए जा सकते हैं। इस लिए उत्पत्ति करने वाला सर्व श्रेष्ठ कामदेव मैं ही हूँ। वास्तव में यह काम ही सन्तानोत्पत्ति का मूल कारण होता है।

सर्पों में मैं वासुकि सर्प हूँ। जो सब सर्पों से अधिक विषधर है। और उन सब का राजा है ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

अनन्तः+च+अस्मि नागानाम्+वरुणः+यादसाम्+अहम् । पितॄणाम् +अर्यमा च+अस्मि यमः संयमताम्+अहम् ॥

अनन्तः=(वि० पुं०) नास्ति अन्तो यस्य (नञ् बहुव्री०)=नागराज शेष (जो अन्तरहित और निस्सीम है—प्र० ए० व०)।

शेषनाग के हजारों फण माने जाते हैं। पुराणों के अनुसार विष्णु भगवान् शेष नाग की शय्या पर शयन करते हैं। और शेष जी सारे संसार को अपने शीर्ष पर धारण किए हुए हैं राम के भाई लक्ष्मण इन्हीं के अवतार माने जाते हैं। अनन्त या शेष नाग का वर्ण अग्नि के समान है।

च=(अव्यय) और।

अस्मि=(मैं) हूँ।

नागानाम्=(पुं०) नगे पर्वते भवः, नग=अण् अथवा न गच्छति अगः। न अगः नागः। (नञ् बहुव्री०)=जो पाप रहित है। यह सर्पों की एक विशेष जाति है जिन के अनेक फण होते हैं और ये साँपों की अपेक्षा दीर्घकाय और भारी होते हैं।

वरुणः=(पुं०) व्रियते सर्वैः√वृ+उनन्=वरुण+प्र० ए० व०=समुद्र के अधिष्ठातृ देवता। जल देवता।

यादसाम्=(नपुं०) यान्ति वेगेन,√या+असुन्, दुर्गागम=यादस्+षष्ठी० ब० व०=जलचरों में।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

पितॄणाम्=पाति रक्षति अपत्यम्,√पा+तृच्=पितृ+षष्ठी० ब० व० =पितरों में।

[क्रव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सुकाल, आङ्गिरस सुस्वधा, सोमपा, वैराज ये सब पितृगण कहलाते हैं।]

अर्यमा=(पुं०) अर्यं श्रेष्ठं मिमीते इति अर्य√मा+कनिन्=अर्यमन्+प्र० ए० व०=पितरों का मुखिया। पितरों का सरदार या स्वामी।

च=और।

अस्मि=(मैं) हूँ।

यमः=(पुं०)√यम्+घञ् वा अच्=यम+प्र० ए० व०=यमराज। मृत्यु का देवता। जीवों को मरने के बाद—न्याय और धर्म से युक्त, हितपूर्ण और पाप नाशक दण्ड देने वाले धर्म-राज। नचिकेता को आत्म-तत्त्व का ज्ञान देने वाले देवता। [यमराज का शासन सब शासकों से कठोर नियमों वाला, पक्षपात से रहित, किसी प्रकार की सिफारिश, रिश्वत और खुशामद से पाक साफ़ है॥]

संयमताम्=(वि० पुं०) सम्√यम्+शतृ=संयमत्+षष्ठी० ब० व०
=संयमन करने वालों में। कण्ट्रोल करने वालों में। शासन करने वालों में। दण्ड देने वाले लोगों में॥

अर्थ मैं नागों में अनन्त (शेष नाग) हूँ। जलदेवता वरुण हूँ। पितरों में (उनका मुखिया) अर्यमा हूँ और संयम (शासन) करने वालों में यमराज हूँ॥ २९॥

व्याख्या—इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को स्थिर रखने वाली मेरी शक्ति का नाम शेष नाग है जिस पर मैं शयन करता हूँ और मेरी माया, लक्ष्मी का रूप धारण किए हुए मेरे चरणों में बैठी हुई मेरी सेवा करती है तथा मेरी नाभि से निकले हुए पद्मासन पर चतुर्मुख श्री ब्रह्मा जी विराजमान हैं तथा मेरे सिर पर अनन्त शक्ति शेष नाग हज़ारों देदीप्यमान मणियों से युक्त फणों से छाया किए हुए हैं। जो मेरे अवतार धारण करने पर मेरी सेवा के लिए लक्ष्मी सहित अवतार धारण करते हैं। सब नागों में यह अनन्त या शेष नाग सर्वश्रेष्ठ होने से मेरा ही रूप है। जलों और जलचरों का स्वामी वरुण देवता भी मैं ही हूँ। क्योंकि वह मेरी दी हुई शक्ति से ही सब जलचरों में महा शक्तिशाली है। पितृलोक में जो अनेक पितर निवास करते हैं उन में उन सब का मुखिया (नायक) अर्यमा नामक पितर भी मैं ही हूँ। और संसार या ब्रह्माण्ड में जितने भी संयमन या शासन करने वाले हैं। मैं उन सब का शिरोमणि यमराज हूं। जो धर्म से युक्त, न्याय पूर्ण हितकारी और पाप नाशक दण्ड देने वाला धर्म-राजा है किसी का पक्षपात नहीं करता, रिश्वत नहीं लेता, सिफ़ारिश नहीं मानता और खुशामद नहीं चाहता है। जिस के दण्ड नियम अति कठोर और अटल हैं। उस की 'आज्ञा का पालन यमदूतों द्वारा बड़ी सावधानी से किया जाता है। और कोई भी उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता है॥ २९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहंवैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

प्रह्लाद:+च+अस्मि दैत्यानाम्+काल: कलयताम्+अहम्। मृगाणाम्+च मृग+इन्द्र:+अहम् वैनतेय:+च पक्षिणाम्॥

प्रह्लाद=(पुं०) प्र√ह्लाद+णिच्+अच्+प्र० ए० व०=(अत्यन्त) प्रसन्न करने वाला) हिरण्यकशिपु के पुत्र का नाम। जिसे पुराणों में भक्त शिरोमणि की उपाधि दी गई है। उस का पिता अपनी प्रजा से भगवान् के स्थान पर अपने नाम का जप करवाता था परन्तु प्रह्लाद स्वयं राम नाम जपता था और लोगों को भी इसी का उपदेश देता था। इस से उस के पिता ने प्रह्लाद को मरवाने के कई प्रयत्न किए। पहाड़ से नीचे गिराया। अपनी बहिन होलिका के साथ अग्नि में बैठलाया। और अन्त में लोहे के गर्म खम्भे के साथ लिपटने की आज्ञा दी। परन्तु खम्भा फट

गया और उस में से नृसिंह रूप धारी भगवान् निकल पड़े और उन्होंने दैत्यराज हिरण्यकिशिपु का वध कर दिया।

च=और।

अस्मि=(मैं) हूँ।

दैत्यानाम्=(पुं) दिति वंश्यानाम्। दितेरपत्यम्, दिति+ण्य=दैत्य+षष्ठी ब० व०=दैत्यों में। दिति के वंशजों में।

कालः=(वि० पुं०) कु ईषत् कृष्णत्वं लाति, कु√ला (अदा० पर० सक०+लेना,पाना)+क।

कोः कादेशः=काल+प्र० ए० व०=गहरे नीले या काले रंग का। काल भगवान्। मृत्यु का देवता। महाकाल।

अथवा

कलयति आयुः,√कल्(भ्वा० आत्म०, चुरा० उभय० सक०=गिनना)+निच्+अण् वा अच्। कलयति सर्वाणि भूतानि। काल=समय विपल, पल घड़ी दिन, पक्ष, मास, अयन, वर्ष, सैकण्ड, मिण्ट, घण्टा आदि।

कलयनाम्=(वि० पुं०)√कल्+णिच्+शतृ=कलयत्+षष्ठी० कलनं गणनं कुर्वताम्।

ब० व०=गिनती करते हुओं (ज्योतिषियों) में। ग्रसने या निगल जाने वालों में। वश में करने वालों में।

अहम्=मैं।

मृगाणाम्=(पुं०)√मृग (चुरा० आत्म० सक०=ढूँढना)+क=मृग+षष्ठी० ब० व०=[जो (आखेट के लिए) ढूँढा जाता में (बहुव्री०) वन्य पशु] वन्य पशुओं में।

च=और।

मृग+इन्द्रः=(पुं०,वि०) मृगाणां इन्द्रो राजा यः (बहुव्री०)=वन्य पशुओं का राजा। सिंह।

अहम्=मैं।

वैनतेयः=(पुं०) विनताया: अपत्यम्। विनता+अपत्ये ढक् (एय)+प्र० ए० व०=विनता का पुत्र। भगवान् विष्णु का वाहन। गरुड़।

पक्षिणाम्=(वि०, पुं०)√पक्ष्+अच् वा घञ्=पक्ष+इनि=पक्षिन्+षष्ठी० ब०व०=पक्षियों में। उड़ने वालों में।

अर्थ—दैत्यों (या दिति के वंशजों) में मैं प्रह्लाद हूँ। गिनती गरने वालों (ज्योतिषियों में मैं काल (समय) हूँ। वशी-भूत करने वालों में मैं काल भगवान् हूँ, ग्रसन करने वालों में मैं महाकाल हूँ। मृगों अर्थात् वन्य-पशुओं में मैं मृगों का राजा (सिंह) हूँ। और पक्षियों में विनता का पुत्र (विष्णु-वाहन—गरुड़) हूँ ॥ ३० ॥

व्याख्या—दैत्यों का स्वभाव प्रायः तामस होता है। परन्तु दैत्यराज हिरण्यकशिपु के घर में उत्पन्न हुए प्रह्लाद का स्वभाव सात्विक था। वह सब लोगों को प्रसन्न और आनन्दित करने वाला था। और मेरा अत्यन्त प्रिय तथा मेरे भक्तों की शिरोमणि पंक्ति में गिना जाता है जिस की भक्ति से प्रसन्न होकर मैंने सदा सर्वत्र उसकी रक्षा की है। उसके पिता हिरण्यकशिपु ने शंकर से वर प्राप्त किया हुआ था कि मैं न दिन में मरूँ। न रात को मरूँ। न घर में मरूँ। न घर से बाहर मरूँ। न पशु से मरूँ न मनुष्य से मरूँ। इस से उसे पूर्ण विश्वास हो गया था कि मैं किसी समय भी किसी स्थान पर और किसी के द्वारा मारा नहीं जा सकता हूँ। इस प्रकार उसे अपने अमृत या अमर होने का महा अभिमान हो गया था। जिस से वह निःशंक होकर पाप कर्म करने लगा था और प्रजा से अपना नाम जपवाने लगा था। अपने परम भक्त प्रह्लाद के रक्षार्थ और हिरण्यकशिपु के वधार्थ मैं अग्नि से तपे हुए लाल-लोह-स्तम्भ को फाड़ कर बाहर निकला। उस समय मेरी देह का उर्ध्व भाग सिंह जैसा और अधोभाग नराकृति था। सायंकालीन सूर्य अस्तगत हो रहा था। मैंने हिरण्यकशिपु को पकड़ लिया और उसके घर की दहलीज़ पर बैठ कर पूछा कि कहो अब दिन है या रात? तुम घर के बाहर हो या भीतर?। मैं पशु हूँ या नर हूँ?। उस ने उत्तर दिया कि इस समय न दिन है न रात है। मैं न घर से बाहर हूँ, न घर के भीतर हूँ। तुम न नर हो न पशु हो। यह सुनते ही मैं ने उसका पेट अपने तीक्ष्ण नखों से फाड़ डाला और अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा की। क्योंकि यह प्रह्लाद मेरा ही रूप है मेरी ही विभूति है।

मैं कलयतों में काल हूँ। ऐसा कह कर मैं ने श्लेष से अपनी तीन विभूतियों का वर्णन किया है क्योंकि काल और कलयत् शब्द तीन-तीन भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं पहला यह कि विपल, पल, घड़ी, दिन, सप्ताह, पक्ष आदि के मान या नाप की गणना करने वाले ज्योतिषियों की गणना का विषय जो काल या समय है वह मैं हूँ। दूसरे यह कि दूसरों को वशीभूत करने वाला काल भगवान् मैं ही हूँ तीसरा अर्थ यह है कि जीवों को ग्रसने या मारने वाला मृत्यु का देवता महाकाल भी मैं ही हूँ। वन्य पशुओं में सब से अधिक शक्तिशाली और तेजवान् जीव सिंह होता है। जिस से वन के सब जीव भयभीत होते हैं जिसके कारण वह मृगेन्द्र या जंगल का महाराजा कहलाता है। उस के भीतर की शक्ति और तेज मेरे ही कारण से हैं इसलिये मृगों में मैं मृगेन्द्र हूँ। पक्षियों में सब से अधिक शक्तिशाली और तेजस्वी गरुड़ है जो मुझ विष्णु का वाहन और परम भक्त है वह भी मेरा ही रूप या मेरी ही विभूति है॥ ३०॥

पवनः पवतातस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

पवनः पवताम्+अस्मि रामः शस्त्र-भृताम्+अहम् ।
झषाणाम्+मकरः+च+अस्मि स्रोतसाम्+अस्मि जाह्नवी ॥

पवनः=(पुं०(√पू (भ्वा० आत्म०, क्रया० उभ० सक०=पवित्र करना)+युच् वा पू+ल्युट्=वायु ।

पवताम्=√पू+शतृ=पवत्+षष्ठी० ब० व०=पवित्र करते हुओं में (पवित्र करने वालों में) ।

अस्मि=√अस्+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ ।

रामः=(पुं०) रमते इति√रम्+णा वा रम्यतेऽनेन,√रम्+घञ्=राम+प्र० ए० व०=दाशरथि राम । दशरथ का पुत्र राम ।

शस्त्र-भृताम्=(पुं०) शस्त्राणां भृतां धारयितृणाम्=शस्त्रों के धारण करने वालों में । [√भृ (भ्वा०, जुहो० उभ० सक०=धारण करना)+शतृ =भृत्+षष्ठी० ब० व०=धारण किए हुओं में ।]

अहम्=मैं ।

झषाणाम्—(पुं०)√झष् (भ्वा० उभ० सक०=मारना, छिपाना)+घ=झष+षष्ठी० ब० व०=मछलियों में ।

मकरः=(पुं०)√कृ+अच्=करः, मनुष्याणां करः हिंसकः, वा मुखं वा मं विषं किरति, मुखं वा म√कृ+ट, पृषो० साधु=मकर+प्र० ए० व० =मगरमच्छ । पानी में रहने वाला एक विकराल जन्तु । जिसका मुँह बहुत लम्बा होता है और उसमें बहुत से दाँत होते हैं । जो समुद्र या नदियों के किनारों की रेत में धूप तापा करता है और छोटे बड़े जीवों को पकड़ कर पानी में घसीट ले जाता है तथा साबत ही निगल जाता है ।

च=और

अस्मि=(मैं) हूँ ।

स्रोतसाम्=(नपुं०)√स्रु+तसि+स्रोतस्+षष्ठी० ब० व०=तेज जलप्रवाह वालों में । नद-नदियों में । स्रवन्तीनाम्=स्रोतों में । बह रहे जल समूहों में ।

अस्मि+(मैं) हूँ ।

जाह्नवी=(स्त्री०) जह्नु+अपत्ये अण्—ङीप्+प्र० ए० व०=श्री गंगा जी । [जह्नु=(पुं०)√हा+नु, द्वित्व, अकार लोपः=सुहोत्र राजा का पुत्र, जिसने गंगा को अपना दत्तक बनाया । चन्द्र वंश का राजा, जिस ने गंगा को अवतरण (स्वर्ग से नीचे आने या उतरने) के समय पी लिया था । यह कथा पुराणों में प्रसिद्ध है । फिर उसके पेट से बाहर

निकलने के कारण श्री गंगा जी का नाम "जाह्नवी" हुआ।] जह्नु की पुत्री।

स्वर्ग से आई हुई गंगा को वेगवती देखकर जह्नु राजर्षि ने पहले मुख से पी लिया पीछे (गंगोत्री नामक) कान के मार्ग से बाहर निकाला। इसलिये जह्नु राजर्षि की कन्या होने से गंगा को जाह्नवी भी कहा गया है।

[बहुत प्राचीन काल में गंगा का मैदान एक शुष्क और बंजर मैदान था राजा सगर के समय में उसकी पुत्रों के समान प्यारी प्रजा पानी के अभाव से कपल रूपी प्यास के शाप के दु:ख से दु:खी होकर मर गई। इसलिये सगर राजा ने अपने इंजनीयरों को लेकर कैलाश पर्वत तक उत्तम जल की खोज की। ये लोग कैलाश से पानी उतारने में सफल हो गये। परन्तु वह जल हिमालय के घने जंगलों या महादेव की जटाओं में उलझ कर रह गया। फिर जब शंकर की आराधना की गई अर्थात् जब उस जल को उन घने जंगलों से बाहर लाया गया तो वह जल जह्नु नामक एक महागर्त में गिर कर समाता या लोप होता चला गया फिर उस राजर्षि के पेट में घूम फिर कर गंगोत्री नामक स्थान पर बाहर निकला जिसे जह्नु राजर्षि का कान कहा गया है फिर हरिद्वार या कनखल तक गंगा को लाने के लिये राजा भागीरथ के इंजनीयरों को बहुत प्रयास करना पड़ा। तब मैदान में गंगा के उतरते ही रथ (टैंक) की चाल के वेग से गंगा जी का मार्ग खोद कर समुद्र से मिला दिया गया। इस प्रकार श्री गंगा जी को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाना सगर से लेकर भागीरथ तक चार सूर्यवंशी राजाओं के राज्यकाल के इंजनीयरों का एक महान् और बड़ा आश्चर्यजनक कार्य था। जो इस संसार में किया गया था।

इस पवित्र नदी से भारत की शान हैं सारे मैदान की उपज गंगा और उस की सहायक नदियों पर निर्भर है इसका पवित्र जल चिरकाल तक रखा हुआ भी विकृत नहीं होता भारत के बड़े-बड़े बहुत से समृद्ध नगर इसी के किनारे पर बसे हुए हैं। इस नदी में अग्निबोट चलते हैं जिन के द्वारा आवागमन और व्यापार होता है। इस प्रकार माता गंगा तरणतारिणी और परम पवित्र मानी जाती है पुराणों में स्थान-स्थान पर माता गंगा की प्रशंसा की गई है उदाहरणार्थ एक श्लोक इस प्रकार है :—

"धातु: कमण्डलु-जलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजन-पवित्रतया नरेन्द्र !।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव-कीर्तिः ॥"
(श्रीमद्भा० ८।२१।४)

[अर्थ—हे नरेन्द्र ! वह ब्रह्मा जी के कमण्डल का जल विष्णु के चरणों को धोने से पवित्रतम होकर स्वर्ग-गंगा हो गया। वह गंगा भगवान्

की विशद और धवल कीर्ति के सदृश आकाश से धरती पर गिर कर तीनों लोकों को पवित्र कर रही है ।]

अर्थ—मैं पवित्र करने वालों में पवन हूँ । शास्त्र-धारियों में श्रीराम (दशरथ का पुत्र) हूँ । मछलियों में मगरमच्छ हूँ । और नदियों में जाह्नवी (श्रीगंगा जी) हूँ ।। ३१ ।।

व्याख्या—संसार में जितने भी पवित्र करने वाले पदार्थ हैं । हवा उन सब में से अधिक पवित्र करने वाली है । हवा प्राणियों के श्वास के द्वारा उन के फेफड़ों में जाकर अशुद्ध काले खून के साथ अपने शरीर का पाँचवाँ भाग आक्सीजन मिला देती है जिससे वह शुद्ध पवित्र चमकदार और लाल रंग का हो जाता है और फिर हृदय में एकत्रित होकर हृदय से निकलने वाली नाड़ियों द्वारा खाये हुए भोजन के सार को साथ लेकर शरीर की प्रत्येक कोशिका तक पहुँचता है । जिस से सब कोशिकाओं को भोजन प्राप्त हो जाता है और खून में मिली हुई वायु के अंश आक्सीजन द्वारा ये सब कोशिकाएँ शुद्ध पवित्र और स्वस्थ होती रहती हैं । जिससे जीव-शरीर बढ़ता फूलता प्रगति करता और क्रिया-शील बना रहता है । यदि संसार में वायु रूप पवित्र वस्तु न हो तो जीव शीघ्र ही खून के पवित्र न हो सकने के कारण दम घुट कर मर जायें । जब किसी स्थान पर अग्नि जलती है अथवा वस्तुएँ गलती और सड़ती हैं तो वहाँ दुर्गन्ध और दूषित गैस कार्बानिक एसिड गैस के उत्पन्न हो जाने से रोगाणु पैदा हो जाते हैं । परन्तु चलता हुआ पवन उनको वहाँ से उड़ाकर दूर जंगलों में ले जाता है जहाँ वृक्षों के हरे पत्ते दुर्गन्ध और कार्बानिक एसिड गैस को खा जाते हैं । इस प्रकार सब पवित्र करने वाले पदार्थों में अधिक पवित्र करने वाला वायु साक्षात् मेरा ही स्वरूप है । प्रातःकाल खुले मैदानों और क्षेत्रों में जाकर जिस के सेवन करने से शरीर शुद्ध पवित्र और बलवान् होता है । स्वास्थ्य बढ़ता है । यह वायु ही है जो घनी जनसंख्या वाले नगरों और दुर्गन्धमय स्थानों को शुद्ध और पवित्र करता है । और उद्यानों से सुमन-सुगन्ध उड़ा कर वहाँ पहुँचाता है । तथा हवन की पवित्र सुगन्धि दशों-दिशाओं में फैलाता है । ओज़ोन बन कर क्षय रोग के कीटाणु नष्ट करता है ।

मैं शस्त्र-धारियों में अयोध्या के सूर्यवंशी राजा दशरथ का पुत्र राम हूँ । जिसके समान अत्युत्कृष्ट और उत्तम शस्त्रधारी न आज तक हुआ है न भविष्य में कोई होगा । प्राचीन मुनि लोग जो ऐटमी हथ्यारों को बनाना जानते थे वे इस विद्या को अत्यन्त गुप्त रखते थे । वे केवल धर्मात्मा और परोपकारी पुरुषों को ही यह विद्या सिखाते थे । त्रेता युग में यद्यपि परशुराम जी इस विद्या के पारङ्गत समझे जाते थे जिन्होंने इक्कीस बार बड़े-बड़े शूरवीरों को युद्ध में जीता था परन्तु गाधि-पुत्र महर्षि विश्वामित्र जी इस विद्या के

जानकारों में सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त निपुण थे उनकी दूरदर्शी निगाहों ने भारत के लिये लंका के राजा रावण के रूप में एक महान् ख़तरे को देखा और अत्यन्त उत्तम सभ्यता की रक्षा का उपाय सोचा उन्होंने देखा कि एक सिर वाले रावण ने अपने धड़ पर प्लास्टिक आदि के नौ और सिर बना रखे हैं जो उसके असली सिर के समान असली ही मालूम होते हैं और बीस में से अठारह कृत्रिम भुजाएँ जोड़ रखी हैं। उसके अधिकार में सारा दक्षिण भारत गोदावरी नदी से परे का आ चुका है राजा दशरथ बूढ़ा हो चुका है। जो इस शक्तिशाली रावण को भारत के भू-भाग से खदेड़ नहीं सकता। जनक ब्रह्मज्ञानी होने से ऐसा करना ही नहीं चाहता। इस लिये उसने दूसरे महर्षियों के साथ मिलकर एक गुप्त योजना तैयार की और किसी कारण विशेष राजा दशरथ और जनक आदि को भी इस से अवगत न किया गया। महर्षि विश्वामित्र राजा दशरथ के पास गये और बोले—

असुर-समूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आयेउँ नृप तोहीं॥
अनुज-समेत देहु रघुनाथा। निसिचर वध, मैं होव सनाथा॥
देहु भूप मन हरषित, तजहु मोह अज्ञान।
धर्म सुजस प्रभु तम्ह कौं, इन्ह कहँ अति कल्याण॥

यह बात सुन कर राजा के होश गुम हो गये। और राम लक्ष्मण को देने में आना-कानी करने लगे और बोले—

कहँ निशिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुन्दर सुत परम कसोरा॥
तब वसिष्ठ बहु विधि समुझावा। नृप सन्देह नास कहँ पावा॥

अर्थात् तब वसिष्ठ मुनि ने महाराजा दशरथ को समझा कर उनका सन्देह नष्ट कर दिया जिससे राम लक्ष्मण महर्षि बिश्वामित्र को सौंप दिए गए और महर्षि विश्वामित्र उनको अपने आश्रम में ले गए और दोनों भ्राताओं को सब प्रकार के ऐटमी हथ्यार बनाने और चलाने सिखा दिए तथा राकट चलाने और सुरंगे बिछाने आदि की सब विधियाँ सिखा दीं एवं वह विधि भी सिखा दी, जिस से भूख और प्यास दोनों कभी सता न सकें तथा उनके शरीरों में अतुल बल और तेज का प्रकाश भर दिया। फिर राम की ताड़िका से मुठभेड़ हुई जिसे एक ही वाण (बम) से यमलोक पहुँचा दिया गया। तब मारीच ने राम पर आक्रमण किया जिसे राम ने एक राकट मार कर आठ सौ कोस समुद्र के तीर पर जीवित ही फैंक दिया। फिर एक अग्नि बम सुबाहु पर फैंक कर उसे जला दिया गया और छोटे भाई लक्ष्मण ने उन राक्षसों की सारी सेना को थोड़े ही काल में वाणों से काल का ग्रास बना दिया। इसके बाद दोनों भाई विश्वामित्र के साथ सीता-स्वयंवर देखने के लिये जनकपुरी मिथुला में पहुँचे वहाँ पर राम ने अत्यन्त कठोर और बहुत भारी उस शिव धनुष को तोड़ दिया जिसके सम्बन्ध में कहा गया था—

नृपभुजबल-विधु, सिवधनु-राहू। गरुअ कठोर विदित सब काहू ॥
रावण बाण महाभट भारे। देख सरासन गर्वहिं सिधारे ॥

धनुष के टूटने के साथ ही राम के बल वीर्य की धाक उत्तरी भारत के सब शूरवीरों और राजाओं पर बैठ गई।

तेहि अवसर सुनि सिव-धनु भंगा। आए भृगुकुल कमल पतंगा ॥
देख महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने ॥
देखत भृगुपति वेष कराला। उठे सकल भय विकल भुआला ॥
पितु समेत कहि निज निज नामा। लगे करन सब दण्ड प्रनामा ॥

परन्तु राम के बल-वीर्य और तेज को देज कर परशुराम का सारा क्रोध दूर हो गया और उसने रमापति का धनुष राम को दे दिया। राक्षसों को मरवाने वाली योजना में महर्षियों ने रानी कैकेयी को भी अपने साथ गाँठा हुआ था। जिसके द्वारा राम को चौदह वर्ष का वनवास दिलाया गया। इसमें देश-भक्त कैकेयी का अपना कोई स्वार्थ न था। राजा बूढ़ा था उसने तो मरना ही था। इसी से शस्त्र-धारी राम को उस समय न कोई हर्ष हुआ न ही विषाद हुआ। वे लक्ष्मण और सीता को साथ लेकर वन को चले गये और गोदावरी नदी के निकट वन में रहने लगे। एक दिन रावण की बहन शूर्पणखा घूमती फिरती वहाँ आ निकली और काम के वशीभूत होकर राम लक्ष्मण पर बारी-बारी डोरे डालने लगी। परन्तु पहले तो दोनों भाइयों ने उसे प्रेम-पूर्वक समझाने का प्रयत्न किया, इस पर जब वह किसी तरह भी उनके हृदय की पवित्रता और सच्चरित्रता को पा न सकी तो दोनों भाइयों ने उसे झिड़क दिया तब वह भूखी सिंहिनी की तरह सीता को मार डालने के लिये लपकी, उस समय राम के इशारे पर लक्ष्मण ने उस की नाक पर मुक्का मारा जिससे वह चीखती चिल्लाती और शोर मचाती हुई रावण राज्य के भारती प्रदेश के अधिकारी खर-दूषण और त्रिशिरा के पास पहुँची और राम-लक्ष्मण द्वारा की गई अपनी दुर्गति कह सुनाई। ये सुनते ही वे तीनों क्रोध से लाल पीले हो गये और चौदह हज़ार सेना लेकर राम से लड़ने के लिये आगे बढ़े। लक्ष्मण सीता को लेकर पर्वत की एक सुरक्षित कन्दरा में चले गये और श्री राम ने अपने वाणों (ऐटमी आयुद्धों) से पाच छः घण्टों के भीतर ही उन सब का काम तमाम कर दिया। जब शूर्पणखा ने खरदूषण और त्रिशिरा तथा उनकी सेना की यह दुर्गति देखी तो रावण के पास चली गई और उस के अनुचरों के मरने का हाल कह सुनाया।

खर दूषण त्रिशिरा कर घाता। सुनि दससीस जरे सब गाता ॥
सूपनखहि समुझाइ करि बल बोलेसि बहु भान्ति।
गयउ भवन अति सोच बस नींद परइ नहिं राति ॥

प्रात:काल होते ही वह समुद्र तट पर मारीच के स्थान पर गया और उसे सोने का मृग बनने पर मजबूर किया।

उस समय राम वन में जिस स्थान पर निवास करते थे वह अत्यन्त सुरम्य और स्वच्छ था उन का पवित्र और मनोहर आश्रम कई हैकटर भू-भाग पर बना हुआ था जिस में सुगन्धित फूल खिले हुए थे और बेल बूटे मन को मुग्ध करते थे आश्रम के चारों ओर बारूदी सुरंगे धरती में दबी हुई थीं। उस से बाहर आने या भीतर जाने का मार्ग केवल उन तीनों को ही विदित था। तथा उन से मिलने वालों को। मारीच स्वर्ण मृग बन कर आश्रम के चारों ओर घूमने लगा सीता ने उसे पकड़ लाने या मारने के लिए राम से कहा तो वे लक्ष्मण को सीता के पास छोड़ कर मृग के मारने के लिए उस के पीछे भागे वह मृग भागता हुआ उन्हें दूर तक लेकर निकल गया परन्तु जब राम ने उस के वाण मारा तो वह ऊँचे स्वर से तीन बार लक्ष्मण का नाम लेकर पृथिवी पर मर कर गिर पड़ा सीता ने समझा राम पर कोई विपत्ति आ पड़ी है। इसलिए उन की सहायता के लिए लक्ष्मण को भेज दिया गया।

सीता को अकेली जान कर रावण अपने शरीर से नौ सिरों और अठारह कृत्रिम वाहों को हटा कर भिक्षुक का रूप धारण करके आश्रम के समीप आया और सीता से भिक्षा मांगी। सीता ने उसे अन्दर आकर भीख लेने के लिए कहा। परन्तु वह कूटनीतिज्ञ रावण बारूदी सुरंग पर पैर आ जाने की शंका से भयभीत था उस ने सीता को बाहर आकर भिक्षा देने के लिए कहा। और कपट से उसको उठा कर विमान द्वारा लंका को ले गया। फिर राम ने थोड़े ही समय में ऐटमी शक्ति की सहायता से सैंकड़ों मील लम्बा सुदृढ़ पुल समुद्र के जल पर बांध दिया। और अपने श्रेष्ठतम आयुधों के बलबूते पर बन्दरों और रीछों जैसे मानवों की सेना से लंका के महा विज्ञानी राजा रावण पर विजय प्राप्त की। लंका की वह लड़ाई दोनों पक्षों द्वारा हवाई जहाज़ों और ऐटमी आयुधों से लड़ी गई थी। जिस में राम के आयुध अत्युत्तम सिद्ध हुए थे, इस लिए सब शस्त्रधारियों में मैं दशरथ का पुत्र राम हूँ।

मत्स्य आदि सब जल चरों में मैं मगरमच्छ हूँ। जो सब जलचरों में बलवान् और समझदार होता है और जल और स्थल के सब जीवों को पकड़ कर खा जाता है। और सब नदी नदों में मैं गङ्गा नदी हूँ जो परम पवित्र जल से युक्त है। और सब प्रकार से देश के लिए लाभकारी और सुखदायिनी है तथा स्वर्ग और मोक्ष को देने वाली है ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

सर्गाणाम् + आदिः + अन्तः + च मध्यम् + च + एव + अहम् + अर्जुन ! अध्यात्म-विद्या विद्यानाम् + वादः प्रवदताम् + अहम् ॥

सर्गाणाम्=(पुं०)√सृज् (दिवा० आत्म० सक०=सृष्टि रचना)+घञ्=सर्ग +षष्ठी० ब० व०=सर्गाणाम्=सृष्टीनाम्=सृष्टियों का। आकाश में इस पृथिवी सहित जितने जीवन युक्त पिण्ड विद्यमान हैं उन सब का।

आदि:=(पुं०) आ√दा+णिनि=आदि+प्र० ए० व०=आरम्भ। आदि। उत्पत्ति।

अन्त:=(पुं०)√अम्+तन्+प्र० ए० व०=मृत्यु। नाश। अन्त। लय।

च=(अव्यय) और।

मध्यम्=(नपुं०)√मन्+यक्, नि० नस्य ध:=बीच का। मध्य का मध्यवर्ती। मध्य। स्थिति।

च=(अव्यय) और।

एव=(अव्यय) ही।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं (हूँ)।

अर्जुन !=हे अर्जुन !।

अध्यात्म-विद्या=(स्त्री०) आत्मनि देहे मनसि वा इति विभक्त्यर्थे अव्ययी भाव समास। तत्सम्बन्धी विद्या या सा (बहुव्री०)। वह विद्या जिस में आत्म तत्त्व का विचार किया जाता है। श्रीधर के मतानुसार प्रत्येक शरीर में परब्रह्म की जो सत्ता या अंश वर्तमान रहता है वही अध्यात्म कहलाता है। ब्रह्म विद्या। जीव और ब्रह्म का स्वरूप बतलाने वाली विद्या।

विद्यानाम्=(स्त्री०) विदन्ति अनया,√विद्+क्यप्—टाप्=विद्या+षष्ठी० ब० व०=विद्याओं में।

[विद्या वह गुण है जिस को जाना या समझा जाता है तथा उस के बल से नई वस्तुओं को निर्माण किया जाता है।

विद्या दो प्रकार की होती है—१—परा। २—अपरा। किसी-किसी शास्त्रकार के अनुसार विद्या चार प्रकार की होती है—

"आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।" मनु के मत में एक पांचवीं विद्या और है जिस का नाम आत्म या अध्यात्म विद्या है।]

वाद:+(पुं०)√वद्+घञ्=वाद+प्र० ए० ब०=बातचीत। वादविवाद। शास्त्रार्थ।

[शास्त्रार्थ तीन प्रकार का होता है—१—वाद २—जल्प ३—वितण्डा। केवल तत्त्व या सिद्धान्त के निर्णयार्थ प्रेमपूर्वक राग द्वेष से रहित होकर जो बातचीत की जाती है। अथवा जो गुरुशिष्य संवाद होता है। उस का नाम "वाद" है। केवल अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए और पर-पक्ष खण्डन करने के लिए उचित अनुचित का विचार छोड़ कर राग द्वेष के वशीभूत हो कर जो वाद विवाद किया जाता है उस का नाम

"जल्प" होता है । दूसरे का पक्ष केवल द्वेष बुद्धि से खण्डन करने के लिए जो बकवास मात्र किया जाता है । उस का नाम "वितण्डा" होता है ।]

प्रवदताम्=(वि० पुं०) प्र√वद्+शतृ=प्रवदत्+षष्ठी० ब० व०=विवाद करने वालों का ।।

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं (ब्रह्माण्ड में रचित) सम्पूर्ण सृष्ठियों का आदि (उत्पत्ति) मध्य (स्थिति) और अन्त (प्रलय) हूँ । मैं सब प्रकार की विद्याओं में अध्यात्म विद्या (ब्रह्मविद्या) हूँ । और परस्पर विवाद करने वालों का (तीनों प्रकार के शास्त्रार्थ में से) वाद (नाम का शास्त्रार्थ) हूँ ।। ३२ ।।

व्याख्या—हे दिन के प्रकाश की तरह उज्वल बुद्धि वाले अर्जुन ! ब्रह्माण्ड में असंख्य सृष्टि-लोक विद्यमान हैं जिन में से एक यह तेरा पृथिवी लोक भी है । और इन में अनन्त जीव निवास करते हैं । इन सब सृष्टियों का आदि या आदि कारण (रचयिता) केवल एक मैं ही हूँ । और मध्य या स्थिति भी मैं ही हूँ । तथा अन्त या प्रलय भी मैं ही हूँ । जिस प्रकार वस्त्र के आदि मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और नाश इन तीनों अवस्थाओं में तन्तु ही तन्तु रहते हैं उसी प्रकार इस सृष्टि की तीनों अवस्थाओं में मैं ही ओत-प्रोत भरा हुआ हूँ ।

अध्यात्म विद्या (ब्रह्म विद्या), आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति तथा अन्य सब प्रकार की विद्याओं में से मैं अध्यात्म-विद्या हूँ । क्योंकि अन्य सब विद्याएँ केवल लौकिक सिद्धियाँ ही प्राप्त कराती हैं केवल ब्रह्म विद्या ही एक ऐसी विद्या है जो मोक्ष-प्राप्ति का साधन होती है । मैं वाद, जल्प और वितण्डा विवाद इन तीनों प्रकार की बात चीतों में वाद हूँ । जिस के द्वारा प्रेम पूर्वक छल कप्ट या किसी प्रकार की हार जीत के भाव से रहित हो कर किसी सिद्धान्त या तत्त्व का निर्णय किया जाता है ।। ३२ ।।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ।। ३३ ।।

अक्षरणाम्+अकारः+अस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च । अहम् एव+अक्षयः कालः+धाता+अहम्+विश्वतः+मुखः ।।

अक्षराणाम्=(वि०, नपुं०)√क्षर+अच् (नञ् तत्पु०) । वह ध्वनि जिस को विभाजित नहीं किया जा सकता । वर्ण । (अक्षर+षष्ठी० ब० व०) [इस परिभाषा के अनुसार केवल देव नागरी के अक्षर ही "अक्षर" कहला सकते हैं । अलफ़, ऊड़ा, ऐफ़ आदि दूसरी भाषाओं के जो अक्षर हैं । उन के नाम तो कई ध्वनियों से मिल कर बने हैं परन्तु शब्दों की रचना में इन की ध्वनियाँ देवनागरी अक्षरों के समान ही मानी जाती हैं । जैसे अलफ़ (।)=अ, ऊड़ा (ੳ)=उ और ऐफ़ (F)=फ् इत्यादि] ।

अकारः=(पुं०) अ+कार+प्र० ए० व०='अ' देव-नागरी और संस्कृत (भाषा) परिवार की अन्य वर्ण-मालाओं का पहला अक्षर (और स्वर वर्ण) [अ=विष्णु, शिव, ब्रह्मा] ॐकार में मिला हुआ पहला वर्ण।

अस्मि=√अस्+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ।

द्वन्द्वः=(पुं०) द्वौ द्वौ सहाभिव्यक्तौ, द्वि शब्दस्य द्वित्वं, पूर्वपदस्य अम्भावः =द्वन्द्व+प्र० ए० व०=समास का एक भेद जिसमें दोनों (या सारे) पद प्रधान होते हैं॥

सामासिकस्य—(पुं०) सम्√अस्+घञ्=समास+ठक्=सामासिक+षष्ठी० ब० व०=समास समूह। (समास समूहस्य)।

[समास चार प्रकार का होता है—१. अव्ययी भाव, जिस में पहला पद प्रधान होता है। वह कोई 'अव्यय' होता है। जिस के रूप बदलते नहीं हैं जब वह किसी रूप बदलने वाले शब्द के पूर्व जुड़ जाता है तो उस दूसरे शब्द को भी अपने जैसा न रूप बदलने वाला ही बना देता है। यही उस की प्रधानता है, जैसे 'शक्ति' शब्द सब विभक्तियों और बचनों में अपने रूपों को बदलता है परन्तु जब 'यथा' अव्यय के साथ मिला कर 'यथाशक्ति' शब्द बन जाता है तो फिर उस का और कोई रूप किसी भी अवस्था में नहीं बदलता है।

२. तत्पुरुष—इस में दूसरा पद प्रधान होता है। जैसे "गंगाजल" लाओ कहने से तात्पर्य है 'जल' लाना जो कि गंगा का हो। गंगा शब्द तो केवल जल की विशेषता को ही प्रकट करता है। इसी प्रकार हवन सामग्री कहने से उस सामग्री से तात्पर्य है जो केवल हवन के लिए है। इन दोनों उदाहरणों में उत्तर पद 'जल' और "सामग्री" ही प्रधान हैं। 'गंगा' और 'हवन' केवल उन दोनों की पहिचान मात्र के लिए हैं। द्विगु और कर्मधारय ये दो समास तत्पुरुष समास के ही भेद हैं। एक और नञ् समास होता है जो कभी तत्पुरुष होता है कभी बहुव्रीहि होता है।

३. बहुव्रीहि—इस समास में कोई भी पद प्रधान नहीं होता जैसे "पीताम्बर"। इस शब्द का अर्थ है—पीत (पीले) हैं अम्बर (वस्त्र) जिस के वह अर्थात् भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र। इसलिए यहाँ न 'पीत' शब्द प्रधान है और न 'अम्बर' शब्द। यहाँ एक और शब्द 'भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र' ही प्रधान है जो पीले वस्त्र धारण करने वाला है। ४. द्वन्द्व जिस में दोनों (या सारे) पद प्रधान होते हैं जैसे रामकृष्ण, रामलक्ष्मण, माता पिता, भाई बन्धु, दाल-भात, रुपया पैसा, आदि में सब शब्द प्रधान होते हैं।

च=(अव्यय) और ।
अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं ।
एव=(अव्यय) ही ।
अक्षय:=(पुं०, वि०)√क्षि+अच् (नञ् बहुव्री०)=अक्षय+प्र० ए० व०= जिसका नाश नहीं होता । अविनाशी । [नास्ति क्षय: यस्य]
काल:=(पुं०) काल+प्र० ए० व० । महाकाल । परमात्मा ।
धाता=(पुं०)√धा+तृच्=धातृ+प्र० ए० व०=धारण करने वाला । पोषण करने वाला । सम्पूर्ण संसार के कर्म फल का विधान करने वाला ।
विश्वत:+मुख: = (अव्यय)√विश्+क्वन् = विश्व + तसित्=विश्वतस् (विश्वत:)=हर तरफ । सब ओर । सर्वत: । विश्वतो मुखं यस्य स:= सब ओर है मुख जिस का वह (बहुव्री०) सब ओर सुख वाला । विराट् पुरुष ।। ब्रह्मा ।। ब्रह्म ।

अर्थ—मैं (वर्ण-माला के) अक्षरों में (पहला अक्षर) अकार (अ) हूँ । और समासों के समूह में द्वन्द्व समास हूँ । मैं अक्षय (अविनाशी) महाकाल हूँ और मैं सब ओर मुख वाला (विराट् स्वरूप) सब का पालन-पोषण करने वाला तथा सब के कर्म-फल का विधान करने वाला हूँ ।। ३३ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! मैं अक्षरों में अकार हूँ जो वर्ण-माला का इसी प्रकार पहला अक्षर है । जिस प्रकार मैं सृष्टि का आदि परब्रह्म और अविनाशी हूँ । सारे व्यंजय अकार के मिलने से ही अनुप्राणित होते हैं इसी प्रकार मेरी सत्ता से ही जीव मात्र अनुप्राणित होता है । श्रुति में कहा है—"अकारो वै सर्वा वाक्" (ऐ० ब्रा० पू० ३।६ ।।) सब वाणी अकारमयी है ।। वह 'अकार' मैं हूँ । ॐकार के तीन अक्षरों अ+उ+म् में से भी पहला अक्षर मैं ही हूँ । मुसलमान सूफ़ी कवि बुल्ल्हे शाह ने भी कहा है । "इक्को अलफ़ तेरे दरकार" अर्थात् हे पुरुष ! तेरे मोक्ष के लिए एक ही अक्षर अकार पर्याप्त है । जो अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूप है ।

समासों में मैं द्वन्द्व समास हूँ । क्योंकि उसका प्रत्येक भाग प्रधान होता है और मैं भी सब प्रकार से परिपूर्ण हूँ । शेष समासों में या तो पहला पद प्रधान होता है । या दूसरा अथवा कोई भी पद प्रधान नहीं होता, परन्तु द्वन्द्व समास मेरी भान्ति सब अंगों में एक रस होता है । कभी वह 'इतरेतर' रूप में होता है । कभी 'समाहार' होता है । तो कभी 'एकशेष' ही होता है । इसी प्रकार मैं भी सृष्टि के आदि और अन्त में एकशेष ही होता हूँ । परन्तु मध्य में इतरेतर और समाहार हो जाता हूँ ।। जब जगत् रचना होती है तो द्वन्द्व रूप धारण करता हूँ । अर्थात् प्रकृति की साथ ही रचना कर लेता हूँ जो मेरी माया या लक्ष्मी कहलाती है । मैं काल का भी महाकाल हूँ । क्योंकि काल का नाश तो कल्पान्त के साथ ही हो जाता है । परन्तु मेरा नाश कभी

नहीं होता। मैं अक्षय या अविनाशी महाकाल हूँ। क्योंकि सब का नाश कर देने पर भी मैं सदा स्थित रहता हूँ।

मैं सब ओर मुख वाला धाता हूँ। अर्थात् विराट् स्वरूप हो कर सर्वत्र व्यापक हूँ। सब को देखता हूँ। सब को सुनता हूँ। सल को जानता हूँ। सब कुछ बोलता हूँ। सब कुछ खाता और सूँघता हूँ। चतुर्मुख ब्रह्मा हूँ जो सब की उत्पत्ति का कारण है। सब के भरण पोषण करने वाला विष्णु हूँ तथा कर्म-फल का विधान करने वाला शंकर और धर्मराज भी मैं ही हूँ॥ ३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्री वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥

मृत्यु: सर्व-हर:+च+अहम्+उद्भव:+च भविष्यताम्।
कीर्ति: श्री वाक्+च नारीणाम्+स्मृति:+मेधा धृति: क्षमा॥

मृत्यु:=(पुं०)√मृ+त्युक्=मृत्यु+प्र० ए० व०=मौत। मृत्यु। मृत्यु का देवता।

सर्व-हर:=(वि०, पुं०) सर्वाणि हरति य: स: (बहुव्री०)। अथवा सर्वान् हरति य: (बहुव्री०)=जो प्राण-धनादि सब कुछ हर लेता है। अथवा जो सब को हर लेता है अर्थात् नष्ट कर देता है। (√हृ धातु)। सब के हरने वाला। सब का नाश करने वाला।

च=(अव्यय) और।

अहम्=अस्मद् (सर्व०) प्र० ए० व०=मैं।

उद्भव:=(पुं०) उद्√भू+अप्=उद्भव+प्र० ए० व०=उत्कर्ष (अभ्युदय)। उत्पत्ति। प्राप्ति का कारण। उत्पत्ति का कारण।

च=और।

भविष्यताम्=(वि० नपुं०)√भू+लट्–शतृ,स्य=भविष्यत्+षष्ठी० ब० व० =आगे होने वालों की। आगे उत्पन्न होने वालों की। भविष्यत् में कल्याण होने वालों की।

कीर्ति:=(स्त्री०)√कृत् (चुरा० पर० सक०=उल्लेख करना, प्रशंसा करना) +इन्, इरादिश्च=कीर्ति+प्र० ए० व०=यशोगान। धर्म की स्त्री।

श्री:=(स्त्री०)√श्री (क्र्या० पर० सक०)+क्विप्=श्री+प्र० ए० व०=श्री: =धन सम्पत्ति। सौन्दर्य। प्रभा। धन की अधिष्ठातृ देवी। लक्ष्मी। भगवान् विष्णु नारायण की स्त्री।

वाक्=(स्त्री०) उच्यतेऽसौ अनया वा, √वच्+क्विप्, दीर्घ, असम्प्रसारण =वाच्+प्र० ए० व०=वाक्=वाणी। भाषा। सरस्वती देवी। ब्रह्माणी। विद्या प्रदातृ देवी।

च=और।

नारीणाम्=(स्त्री०) नुः नरस्य वा धर्म्या, नृ+अञ्+ङीन्=नारी+षष्ठी० ब० व०=नारियों में। स्त्रियों में।

स्मृतिः=(स्त्री०)√स्मृ (भ्वा० पर० सक०=स्मरण करना)+क्तिन्=स्मरण-शक्ति। अङ्गिरा ऋषि की स्त्री।

मेधा=(स्त्री०) मेधते संगच्छते अस्याम्, √मेध्+अङ्—टाप्=मेधा+प्र० ए० व०=धारणा शक्ति। बुद्धि। धर्म की दूसरी स्त्री।

धृतिः=(स्त्री०)√धृ+क्तिन्=धृति+प्र० ए० व०=धृतिः=धारण करने की शक्ति। धैर्य शक्ति। धर्म की तीसरी स्त्री।

क्षमा=(स्त्री०)√क्षम्+अङ्—टाप्=क्षमा+प्र० ए० व०=क्षमा। सहन-शक्ति। महर्षि पुलह की स्त्री। दुर्गा देवी।

अर्थ—मैं सब के हरने या नाश करने वाला मृत्यु हूँ। और भविष्यत् काल में होने वाली उत्पत्ति का कारण हूँ। अर्थात् आगे होने वालों की उत्पत्ति का कारण हूँ। मैं नारियों में कीर्ति श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।

व्याख्या—हे अर्जुन! युद्ध में योधाओं द्वारा अनेक लोग मारे जाते हैं, चोर, डाकू और हत्यारे अनेकों की हत्याएं कर डालते हैं। बूचड़ लोग अनेक गाय, भैंसों के गले नित्य काट डालते हैं। कसाई लोग हर रोज़ असंख्य भेड़, बकरे और सूअर आदि काट कर उन का मांस बेचते हैं। इसी प्रकार वधिक लोर बहुत से पक्षियों के प्राण छीनते रहते हैं, मछेरे मछलियों को पानी से बाहर निकाल कर जीवन रहित बना देते हैं। सिंह और भेड़िये आदिक हिंसक पशु अनेक जीवों को चीर फाड़ कर असुहीन कर देते हैं। बिल्ली, चूहों ओप पक्षियों को खाती है। शिकरे और बाज पक्षियों को दबोचते हैं। कुत्ते हिरणों और खरगोशों के प्राण हरते हैं। इसी प्रकार और भी बहुत से जीव जीवों को मारते और खाते हैं। परन्तु ये सब मरने और मारने वाले जीव और अन्य सब प्राणी मृत्यु-देवता द्वारा ही मारे जाते हैं। और वह सबके प्राण हरण करने वाला मृत्यु-देवता मैं ही हूँ।

भविष्यत् काल में जितने भी जीव या पदार्थ उत्पन्न होने वाले हैं उन की उत्पत्ति का कारण भी मैं ही हूँ। सब के होने वाले अभ्युदय और उन्नति का कारण भी मैं ही हूँ। भविष्यत् में कल्याण होने वालों की कल्याण का कारण भी मैं ही हूँ।

सब नारियों में कोई न कोई गुण होता है। किसी की सारे संसार में शुभ गुणों के कारण श्री इन्दिरा गाँधी की भान्ति कीर्ति फैली हुई है। किसी की श्री या शोभा का ठिकाना ही नहीं होता। जिस से वह विश्व सुन्दरी चुनी जाती है। किसी में वाक् चातुरी होती है और वह अपने भाषणों या कविताओं द्वारा संसार पर मोहिनी डालती है तथा अपने मधुर

वचनों कोकिल—सदृश कण्ठों से नूरजहाँ और लतामंगेशकर की तरह लोगों के चित्तों को वशीभूत किये हुए हैं। किसी की स्मरणशक्ति इतनी प्रबल है कि कुछ न पूछिये बहुत बड़े-बड़े ग्रन्थ कण्ठस्थ कर रखे हैं और कोई तो अपने पूर्वले जन्मों की खबरें दे रही हैं। मेधा या धारणा शक्ति और बुद्धि प्रगल्भता तो अनेक स्त्रियों का भूषण है। ऐसा मालूम होता है कि धृति या धैर्य का गुण तो भगवान् ने केवल स्त्रियों के लिये ही उत्पन्न किया है। माता, पिता, भाई, बहिन, सास, ससुर और पति की झिड़कियाँ सहना, नौ मास भ्रूण का गर्भ द्वारा धारण करना, शिशु को जन्म देना, बच्चों का पालन पोषण करना, यह सब धृति या धैर्य की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या है ? बहुधा स्त्री जाति में क्षमा-गुण तो कूट-कूट कर भरा हुआ होता है। यद्यपि ये सातों गुण पुरुषों में भी पाये जाते हैं। परन्तु स्त्रियों में इन का प्रकाश अत्यन्त उज्ज्वल और प्रज्वलन्त रूप में पाया जाता है। स्त्री शक्ति है जो सिंह पर चढ़ कर सुखपूर्वक उसकी सवारी कर सकती है परन्तु पुरुष ऐसा कदापि नहीं कर सकता वह तो शिव रूप होने पर बैल पर ही चढ़ सकता है अथवा दैत्य या यम रूप होने पर भैंसों की सवारी करता है। इसलिये मैं सब नारियों में होने वाले गुण कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।

केवल यही नहीं—बल्कि दक्ष प्रजापति की स्त्री मनु-पुत्री प्रसूति से उत्पन्न जो चौबीस कन्याएँ हुई हैं। उन में से सात सब स्त्रियों में से अधिक गुण सम्पन्न और श्रेष्ठ हैं। जिन के नाम कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हैं। ये सब मेरा ही रूप हैं ॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

वृहत्साम तथा साम्नाम्+गायत्री छन्दसाम्+अहम्।
मासानाम्+मार्गशीर्षः+अहम्+ऋतूनाम्+कुसुमाकरः ॥

वृहत्—साम=(नपुं०)√वृह् (भ्वा० पर० सक० सेट=बढ़ना) +अति= वृहत्=बहुत बड़ा।

√सो+मनिन्=सामन्+प्र० ए० व०=साम=सामवेद का मन्त्र।

"वृहत्साम" साम वेद में एक विशेष गीति है। जिस में ईश्वर-रूप में इन्द्र की स्तुति की गई है। यह गीति बहुत विस्तृत है—यह ऋचा "त्वामिद्धि हवामहे।" के शब्दों वाली है और "अतिरात्र" याग में यही पृष्ठस्तोत्र है ॥

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद+थाल्=तथा, वैसा ही, और।

साम्नाम्=(नपुं०) सामन्+षष्ठी० ब० व०=सामों में। साम वेद की गीतियों में। गायन करने योग्य श्रुतियों में।

गायत्री=(स्त्री०) गायन्तं त्रायते, गायत्√त्रा+क+प्र० ए० व०=गायत्री। जो गाते हुए को बचाती है। "गायत्री" नाम का एक छन्द है जो ऋक्,

साम 'और यजुर्वेद में पाया जाता है। सम्पूर्ण छन्द में २४ वर्ण होते हैं चाहे ये छः छः वर्णों के रूप में चार चरण हों चाहे आठ आठ वर्णों वाले तीन चरणों के रूप में हों।

छन्दसाम्=(नपुं०)√छन्द् (चुरा० पर० सक०=प्रसन्न करना, प्रवृत्त करना) +असुन्=छन्दस्+षष्ठी० ब० व०=छन्दों में।

[मात्राओं या वर्णों की रचना, यति तथा गति का नियम और चरणान्त में किसी प्रकार की समता जिस रचना या कविता में पाई जाती है। उसे "छन्द" कहते हैं। इन छन्दों के अनेक प्रकार आकार और नाम है। राष्ट्र भाषा हिन्दी में तो ये सैंकड़ों नामों से प्रसिद्ध है परन्तु वेदों में तो केवल सात प्रकार के छन्द ही पाये जाते हैं जिन के नाम ये हैं— २४ वर्ण का 'गायत्री' छन्द। २७ वर्ण का 'उष्णिक' छन्द। ३२ वर्ण का 'अनुष्टुप' छन्द। ३६ वर्ण का 'वृहती' छन्द। ४० वर्ण का "पंक्ति" छन्द। ४४ वर्ण का 'त्रिष्टुप' छन्द और ४७ वर्ण का 'जगती' छन्द।]

लौकिक और वैदिक छन्दों में।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं (हूँ)।

मासानाम्=(पुं०, नपुं०)√मस् (दिवा० पर० सक०=रूप बदलना)+घञ्= मास+षष्ठी० ब० व०=मासों में। वष के बारह मासों में।

मार्गशीर्षः=(पुं०) मृगशिरानक्षत्र युक्ता पौर्णमासी अत्र, मृगशीर्ष+अण्+ (प्र० ए० व०)=अगहन का महीना। मग्घर मास। मार्गशीर्ष मास।

अहम्=मैं (हूँ)।

ऋतूनाम्=(पुं)√ऋ+तु, कित्=ऋतु+षष्ठी० ब० व०=ऋतुओं में। मौसमों में।

[भारत वर्ष में, प्रत्येक वर्ष में छः ऋतुएँ होती हैं। उन के नाम इस प्रकार हैं—१—चैत्र, वैशाख में—वसन्त। २—ज्येष्ठ, आषाढ़ में—ग्रीष्म। ३—श्रावण, भाद्रपद में—वर्षा। ४—आश्विन, कार्तिक में—शरद। ५ मार्गशीर्ष, पोष में—हेमन्त। और ६—माघ फाल्गुन में—शिशिर ऋतु]।

कुसुम+आकरः=(पुं०) कुसुमानां (पुष्पाणां) आकरः (हमूहः खानिः वा) यः (बहुव्री०)=जो मास फूलों का आकर या समूह हो। बसन्त ऋतु।

अर्थ—मैं सामों (गायन करने योग्य श्रुतियों या सामवेद की गीतियों) में वृहत्साम नाम की ऋचा या गीति हूँ। तथा (लौकिक और वैदिक सम्पूर्ण) छन्दों में गायत्री छन्द हूँ। (वर्ष के बारह मासों में मार्गशीर्ष मास हूँ। मैं षट् ऋतुओं में वसन्त ऋतु हूँ॥ ३४॥

व्याख्या—हे अर्जुन! 'साम' शब्द सामवेद का वाचक भी है और सामवेद गीतियों या मन्त्री का वाचक भी है। पूर्व में श्लोक २२ में मैं ने कहा है कि "वेदानां सामवेदोऽस्मि" अर्थात् चारों वेदों में से मैं सामवेद हूँ। जो गायन की मधु-

रता से अत्यन्त रमणीक और मनोहर है। जो प्रभुभक्ति की गायनयुक्त गीतियों या मन्त्रों का समूह है। सामवेद की इन सब गीतियों में मैं वृहत्साम नाम की गीति हूँ। जिस में ईश्वर रूप इन्द्र की स्तुति गायन की गई है। यह इसी प्रकार है जैसे कहा जाय कि रेलों में डाकगाड़ी हूँ और उस में भी मैं इंजन हूँ। सब प्रकार की लौकिक और वैदिक छन्दवद्ध रचनाओं में मैं गायत्री छन्द हूँ जो २४ वर्णों का होता है जिस के तीन या चार पाद होते हैं इस गायत्री छन्द मे परम पवित्र गायत्रीं मन्त्र भगवान् ने स्वयं छन्दवद्ध किया है जो ऋग्वेद में मण्डल ३। सूक्त ६३ का मन्त्र १० है। यजुर्वेद अध्याय ३६ का मन्त्र ३ है एवं सामवेद में भी यह मन्त्र पाया जाता है। यह परम पावन गुरु मन्त्र है। जो तन मन को शुद्ध करने वाला है। बुद्धि को शुद्ध और प्रगल्भ बनाता है। अन्तःकरण के अन्धकार को नष्ट करता है आत्मा में परमात्मा रूपी सूर्य का प्रकाश भरता है। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि शास्त्रों में स्थान-स्थान वर वेदमाता गायत्री का यशोगान किया गया है। प्राचीन-काल से ही ऋषि-मुनि ब्राह्मण और साधु सन्त सब इस का जप-जाप करते चले आए हैं। ब्रह्मचारी लोग सन्ध्या वन्दन करते समय नित्य ही गायत्री माता का ध्यान, स्मरण और जप करते हैं। गायत्री की उपासना करने वाला द्विज अपने अभीष्ट लोक को प्राप्त होता है तथा मनोवाञ्छित भोग प्राप्त करता है। गायत्री सब वेदों की माता और समस्त पापों का नाश करने वाली है। यह ठीक है कि—

"नास्ति गंगासमं तीर्थं न देवः केशवात्परः।
गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति ॥"

अर्थात् गंगा जी के तुल्य कोई तीर्थ नहीं है। श्री विष्णु भगवान् से श्रेष्ठतम कोई देवता नहीं है तथा वेदमाता गायत्री से अधिकतम जपने योग्य कोई जप न वर्तमान काल में है न भूत काल में था न भविष्यत् काल में होगा।

प्रत्येक वर्ष के बारह महीनों में मैं मार्गशीर्ष मास या मग्घर का महीना हूँ। जिस में समशीतोष्ण जलवायु होता है जिस से मनुष्य मात्र के स्वास्थ्य में प्रगति और वृद्धि होती है, खाया हुआ अच्छी तरह से पच जाता है। मच्छर, मक्खी आदि लुप्त-प्राय हो जाते हैं। बिच्छु, सर्पादि भूमि-गर्भ में छिप कर निष्क्रिय हो जाते हैं। पर्वतों पर हिमपात होने लगता है। जिस से हिमालय शिवशंकर का धवल रूप धारण करने लगता है और प्रकृति नटी श्री और सुषुमा से युक्त होकर माता भवानी का रूप धर कर मानो शंकर को रिझाने के लिये नृत्य करने लगती है। सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में वर्ष का पहिला महीना मार्गशीर्ष ही माना जाता था। इस लिये पुरुषों में जिस प्रकार मैं

आदिपुरुष हूँ। इसी प्रकार वर्ष के मासों का आदि मास मार्गशीर्ष भी मैं ही हूँ।

वर्ष में होने वाली षट् ऋतुओं में मैं ऋतुराज वसन्त ऋतु हूँ। जो वसन्त पंचमी से आरम्भ होती है। जिस में सब ओर खिले हुए फूल ही फूल दृष्टिगोचर होते हैं। जिन की सुगन्धि से सारी हवा महक उठती है। आम के वृक्ष लाल-पीले बौर से बौरा या लद जाते हैं जिन की भीनी भीनी खुशबू दशों दिशाओं में फैल कर प्राणी मात्र को मस्त बना देती है और सब के मन में मनसज-उद्दीपन कर देती है। भौंरे पुष्पों को विकसित देख कर उन पर मण्डराते हुए गुञ्जार करने लगते हैं। रंग बिरंगी तितलियाँ पुष्पों की कोमल पंखड़ियों को चूम और छूकर उन से प्यार करती और पुष्प रस पान करती हैं। कोयल अपनी कल काकली और मधुर कण्ठ-ध्वनि से सारे संसार को मोहित करता है। इन सब गुणों के कारण वसन्त ऋतु को ऋतुराज और कुसुमाकर कहा जाता है और वह कुसुमाकर मेरी ही विभूति है ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

द्यूतम्+छलयताम्+अस्मि तेजः+तेजस्विनाम्+अहम्। जयः+अस्मि व्यवसायः+अस्मि सत्त्वम्+सत्त्ववताम्+अहम् ॥

द्यूतम्=(पुं०, नपुं०)√दिव् (दिवा० पर० अक० सक०=दाँव लगाना, जूआ खेलना)+क्त, ऊठ=द्यूत+प्र० ए० व० (नपुं०)=जूआ।

छलयताम्=(पु० वि०)√छो+कलच्, पृषो० साधुः=छल+णिच्+शतृ=छलयत्+षष्ठी० ब० व०=छल करते हुओं में। छल करने वालों में (छलस्य कर्तृणाम्)।

अस्मि=√अस्+(लट्०) उ० पु०, ए० व०=मैं (हूँ)।

तेजः=(नपुं०) तेजस् (√तिज्+असुन्)+प्र० ए० व०=प्रकाश। चमक। तेज। जलाल। मुख के चारों ओर फैली हुई प्रचण्ड आभा। रोब। प्रभाव।

तेजस्विनाम्=(वि० पुं०) तेजस्+विनि=तेजस्विन्+षष्ठी० ब० व०= तेजस्वियों में। प्रभावशालियों में। जलाल वालों में।

अहम्=मैं।

जयः=(पुं०)√जि (भ्वा० पर० सक०=जीतना)+अच्=जय+प्र० ए० व० =जीत। जय। विजय।

[जेतृणाम्=जीतने वालों में]

अस्मि=(मैं) हूँ।

व्यवसायः=(पुं०) वि, अव √सो+घञ्=व्यवसाय+प्र० ए० व०=१. उद्योग, धंधा, व्यापार। २. संकल्प, निश्चय पक्का इरादा।

[व्यवसायिनाम्=व्यवसाय करने वालों का। उद्योग या व्यापार करने वालों का। निश्चय करने वालों का।]

अस्मि=(मैं) हूँ।

सत्त्वम्=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व=सत्त्व+प्र० ए० व०=सात्विक भाव। सत्त्व गुण।

सत्त्ववताम्=(वि० पुं०) सत्त्व+मतुप्=सत्त्ववत्+षष्ठी० ब० व०=सत्त्व गुण वाले पुरुषों में। सात्विक पुरुषों का। सत्त्वशीलों का।

[मतुप् प्रत्यय से पूर्व शब्द के अन्त में यदि 'अ' या 'आ' हो, तो 'म्' को 'व्' हो जाता है। अन्य सब जगह 'म' बना रहता है। इसलिए यहाँ 'सत्त्ववत्' पद में 'मत्' के स्थान पर 'वत्' प्रत्यय हुआ है।]

(सात्विकानाम्)।

अहम्=मैं (हूँ)।

अर्थ—मैं छल करने वालों में जूआ हूँ। तेजस्वियों का तेज हूँ। मैं विजेताओं की विजय हूँ। निश्चय करने वालों का निश्चय हूँ या उद्योग व्यापार करने वालों का उद्योग याव्यापार हूँ। सात्विक पुरुषों का सत्त्वगुण या सात्विक भाव हूँ॥ ३६॥

व्याख्या—संसार में अनेक पुरुष ऐसे हैं। जो दूसरों को छल करके ठगते हैं। धोखा देते और फ़रेब करते हैं और दूसरों की धन संपत्ति अपने वश में कर लेते हैं। परन्तु जूए से अधिकतर छल और कोई नहीं हो सकता। महाराज युधिष्ठिर के साथ कौरवों ने भरी सभा में जूआ खेला। दुर्योधन ने शकुनी के छल की सहायता से आप लोगों का सारा राजपाट, धरती, धन स्वयं आप पाँचों भाइयों तथा द्रौपदी को जीत लिया और भरी सभा में आप सब को अपमानित किया गया। यहीं पर बस नहीं, आप सब को जूए के दुष्परिणाम स्वरूप लम्बी अवधि का वनवास भी करना पड़ा। कुछ ऐसी ही दशा जूआ खेलने के उपरान्त राजा नल की हुई थी। यह जूआ एक महान् छल है जिस का एक प्रकार सट्टा नाम से भी प्रसिद्ध है जिस में झूठ मूठ ही चीजें खरीदीं और बेची जाती हैं। इस के द्वारा कुछ लोग लाखों के मालक बन जाते हैं और कुछ धनी लोग अल्प काल में ही भिखमंगे और दीवालिये बन जाते हैं। जिस प्रकार मैं परमेश्वर अपनी प्रसन्नता से रंक को राजा बना देता हूँ और अप्रसन्नता से राव को रंक कर देता हूँ। यही बात जूआ और सट्टा करता है। इस लिए यह महा शक्तिशाली जूआ मैं ही हूँ। परन्तु इस का यह अभिप्राय बिल्कुल नहीं है कि जूए को मेरी विभूति समझ कर द्यूत क्रीड़ा अवश्य करनी चाहिए क्योंकि कोई बुद्धिमान् पुरुष सिंह को मेरा स्वरूप समझ कर उस की गुफा में जान बूझ कर प्रवेश नहीं करता और न मगरमच्छ को मेरा स्वरूप जान कर उस के मुँह में हाथ डालता है। यह बात अलग है कि कि महापुरुष या

महर्षि लोग जो स्वयं मेरी महान् विभूतियाँ हैं सिंह और बकरी को एक घाट पानी पिलाते हैं तथा उन के पवित्र शान्त आश्रम में जाकर हिंसक पशु भी हिंसा रहित हो जाते हैं। तेजवानों में जो तेज दृष्टिगोचर होता है वह भी मैं ही हूँ। क्योंकि कोई जीव भी मेरे बिना तेजस्वी या जलाल वाला नहीं हो सकता। विजेताओं को युद्ध में जो जीत प्राप्त होती है वह मेरा ही रूप होती है और मेरे ही कारण से होती है। क्योंकि किसी की जय या पराजय मेरे ही वश की बात है। निश्चय करने वाले किसी बात का, किसी कार्य का, मेरा या किसी देवता आदि का जो निश्चय करते हैं वह निश्चय वास्तव में मेरा ही रूप होता है। उद्योग तथा व्यापार करने वाले जो भी उद्योग या व्यापार करते हैं वे सब मेरे ही रूप होते हैं। सात्विक पुरुषों में जो सत्त्वगुण होता है। वह भी मैं ही हूँ ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कवि ॥ ३७ ॥

वृष्णीनाम्+वासुदेवः+अस्मि पाण्डवानाम्+धनञ्जयः । मुनीनाम्+अपि+अहम्+व्यासः कवीनाम्+उशना कविः ॥

वृष्णीनाम्=(पुं०)√वृष् [भ्वा० पर० सक०=बरसना। चुरा० आत्म० अक०=उत्पन्न करने की शक्ति का होना।]+नि=(श्री कृष्ण के एक पूर्वज का नाम। यादवों का वंश) वृष्णि+षष्ठी० ब० व०=वृष्णियों के वंश में। यादवों के वंश में ['यदु' देवयानी से उत्पन्न महाराज ययाति का बड़ा पुत्र था और राजा वृष्णि उसी के वंश में उत्पन्न हुआ था जो बड़ा बलवान् और प्रभावशाली राजा था। इस वंश में भगवान् श्रीकृष्ण जी का अवतार हुआ था। इस वंश को यादव और वृष्णि दोनों नामों से पुकारा जाता है।]

वासुदेवः=(पुं०) वसुदेवस्यापत्यम्, वसुदेव+अण्=वसुदेव का पुत्र। (मैं स्वयं) श्रीकृष्ण।

अस्मि=√अस्+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ।

पाण्डवानाम्=(पुं०) पाण्डोः अपत्यम्, पाण्डु+अण्=पाण्डव+षष्ठी० ब० व०=पाँडु के पुत्र युधिष्ठिर, भीम अर्जुन नकुल, सहदेव तथा उनके वंशियों में।

धनञ्जयः=(पुं०) धनं जयति सम्पादयति। धन√जि+खच्, मुम्=धनञ्जय+प्र० ए० व०=अर्जुन। [अर्जुन ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिए अनेक राजाओं को जीत कर बहुत सा धन इकट्ठा किया था। इससे उसका नाम 'धनञ्जय' प्रसिद्ध हुआ]

मुनीनाम्=(पुं०) मनुते जानाति यः,√मन्+इन् उत्व=मुनि+षष्ठी० ब० व०=मुनियों में। ईश्वर, धर्म और सत्यासत्य प्रभृति सूक्ष्म विषयों के विचार करने वाले महापुरुषों में। मननशील महात्माओं में।

अपि=(अव्यय) भी।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)=प्र० ए० व०=मैं (हूँ)।

व्यासः=(पुं०) वि√अस्+घञ्=व्यास+प्र० ए० व०=महर्षि व्यास। सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न पराशर मुनि का औरस पुत्र। जिस ने वेद-विभाग किया। महाभारत, श्रीमद्भागवत और पुराणों आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। और ये महर्षि आज कल के महा विज्ञानियों की भान्ति महा विज्ञानी थे और ऐसे यन्त्रों का आविष्कार करने वाले थे जिन के द्वारा सब मनुष्यों के मनोगत भावों का भी पता लगाया जाता था और घर बैठे ही दूर की बातें सुनी जा सकती थीं। तथा इन्होंने सन्तानोत्पत्ति के वैज्ञानिक ढंगों का आविष्कार किया था। उदाहरणार्थ संजय को दिव्यनेत्र प्रदान करना, धृतराष्ट्र, पण्डु और विदुर को जन्म देना तथा दुर्योधन आदि कौरवों की उत्पत्ति उन के पूर्ण विज्ञानवेत्ता होने के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

कवीनाम्=(पुं०)√कव् (भ्वा० आत्म० सक०=प्रशंसा करना+इन्=कवि+षष्ठी० ब० व०=कवियों में। सर्वज्ञों में। त्रिकालदर्शियों में। पण्डित और बुद्धिमानों में।

उशना=(पुं०)√वश् (अदा० पर० सक०=चाहना। अक०=चमकना)+कनस्=उशनस्+प्र० ए० व०=उशनाः। [कविः के साथ समास होने से—"उशना" रूप रह गया है]=शुक्र। शुक्राचार्य।

कविः=(पुं०) कवि+प्र० ए० व०=वैदिक साहित्य में शुक्राचार्य को "कवि" की उपाधि प्राप्त है। इन के नाम से एक स्मृति भी है॥ भृगुसंहिता के रचयिता होने के कारण इन्हें त्रिकाल दर्शी या कवि कहा गया है।

अर्थ—वृष्णिवंशियों में मैं वसुदेव का पुत्र वासुदेव (श्री कृष्ण) हूँ। पाण्डवों में मैं धनञ्जय (अर्जुन) हूँ। मुनियों में वेदव्यास भी मैं हूँ और कवियों (त्रिकाल दर्शियों) में मैं उशना कवि (त्रिकालदर्शी शुक्राचार्य) हूँ॥ ३७॥

व्याख्या—वृष्णि वंश, यादव वंश की एक शाखा है जिस का पूर्वज, राजा वृष्णि बड़ा प्रतापी और यशस्वी हुआ है। उसी वंश में वसुदेव जी के घर में माता देवकी से मेरा जन्म हुआ है। इन दोनों ने पूर्व जन्म में भगवान् की आराधना करके भगवान् को पुत्र रूप में जन्म देने के लिए वरदान प्राप्त किया था जिस से मैंने इस कृष्ण रूप में इन के घर में जन्म ग्रहण किया है। यद्यपि मैं किसी के गर्भ में नहीं आता हूँ तो भी भक्तों की इच्छा की पूर्ति के लिये उनको उन के उदर से जन्म लेता हुआ प्रतीत होता हूँ। और उन का

पुत्र बन कर उन की इच्छा की पूर्ति करता हूँ। मेरा यह शरीर जो तुम्हें दिखाई दे रहा है। इस में वास्तविकता कुछ भी नहीं है। यह तो तेरे जैसे के मन की वासना पूरी करने के लिए एक स्वांग मात्र ही है। मैं तो निर्विकार, निराकार अनादि अनन्त, अजन्मा, शुद्ध परब्रह्म एक रस रहने वाला बिना किसी साथी के केवल अकेला ही हूँ। मेरा यह कृष्ण रूप तो वृष्णि वंशियों में मेरी विभूति मात्र ही है। पाण्डवों में तू अर्जुन ही मेरी सब से उत्कृष्ट विभूति है। मैं ने स्वयं "महा० वन०। ४६-४७॥" में तुम से पहले भी कहा है—

नरस्त्वमसि दुर्द्धर्ष ! हरिर्नारायणो ह्यहम्।
काले लोकामिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी॥ ४६॥
अनन्यः पार्थ ! मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ !॥ ४७॥

[अर्थ—हे तिरस्कार किये जाने और दबाए जाने अयोग्य अर्जुन ! तू नर (रूप भगवान्) है। और मैं स्वयं हरि नारायण हूँ। हम दोनों एक बार पूर्व काल में नर और नारायण ऋषि होकर इस लोक में आए थे। इस लिए हे पार्थ ! तू मुझ से अनन्य है (अर्थात् तू मुझ से अलग नहीं है)। और वैसे ही मैं तुझ से अलग नहीं हूँ। हे भारतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! हम दोनों में अन्तर जानने के लिए कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है]।

जो लोग भगवान् के स्वरूप और वेदादि शास्त्रों का मनन करने वाले हैं। तथा महा विज्ञानी और तत्त्व वेत्ता हैं। ईश्वर, धर्म और सत्यासत्य प्रभृति विषयों के विचार करने वाले हैं। ऐसे सर्वतोमुखी महात्माओं को 'मुनि' कहा जाता है। ऐसे सब मुनियों में वेदव्यास सर्वश्रेष्ठ मुनि हैं जिन्होंने वेदों का सम्पादन किया। महाभारत की रचना की। अठारह पुराण लिखे। वेदान्त सूत्रों और श्रीमद्भागवत जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थ बनाए। वह वेदव्यास मुनि भी मैं ही हूँ। सर्वज्ञ, त्रिकालदर्शी, बुद्धिमान्, पण्डित तथा काव्य रचने वाले पुरुषों को 'कवि' कहा जाता है। ऐसे सब कवियों में उशना कवि सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। जिन को वैदिक साहित्य में कवि की उपाधि से विभूषित किया गया है। इनका नाम शुक्राचार्य भी है। इन्हें 'भृगु' भी कहा जाता है इसी नाम से इन्होंने भृगुसंहिता नामक एक बृहद्ग्रन्थ लिखा है जिस में मनुष्य की जन्म कुण्डलियां देकर उन के भूत भविष्वत् और वर्तमान कालिक जन्मों का वृत्तान्त लिखा गया है। इस लिए सब त्रिकाल दर्शियों या कवियों में उशना कवि सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। और वह भी मैं ही हूँ॥ ३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

दण्डः+दमयताम्+अस्मि नीतिः+अस्मि जगीषताम्। मौनम्+च+एव+अस्मि गुह्यानाम्+ज्ञानम्+ज्ञानवताम्+अहम्॥

दण्डः=(पुं०, नपुं०)√दण्ड् (चुरा० पर० सक०=दण्ड देना)+घञ् वा अच् =दण्ड+प्र० ए० व०=डण्डा। दण्ड। सज़ा। दमन करने की शक्ति।

दमयताम्=(पुं०, वि०)√दम् (दिव० पर० सक०=वशवर्ती करना)+णिच् +शतृ=दमयत्+षष्ठी० ब० व०=दमन करने वालों का। वशवर्ती करने वालों का। दण्ड देने वालों का। (दमयितॄणाम्)

अस्मि=(मैं) हूँ।

नीतिः=(स्त्री०)√नी+भावे क्तिन्=नीति+प्र० ए० व०=राजनीति। राजसी चाल। नीति।

अस्मि=(मैं) हूँ।

जिगीषताम्=(वि० पुं०)√जि+सन्+शतृ=जिगीषत्+षष्ठी० ब० व०= जीतने की इच्छा करने वालों की। (जेतुम् इच्छताम्)।

मौनम्=(नपुं०) मुनेः भावः, मुनि+(भावे) अण्=मौन+प्र० ए० व०= खामोशी। चुप्पी। मौन। चुप रहना।

च=और।

एव=ही।

अस्मि=(मैं) हूँ।

गुह्यानाम्=(नपुं०)√गुह् (भ्वादि० उभ० सक०=छिपाना)+क्यप्=गुह्य+ षष्ठी० ब० व०=छिपाने योग्य भावों में (गोप्यानाम्)।

ज्ञानम्=(नपुं०)√ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान+प्र० ए० व०। आत्म-साक्षात्कार बोध। जानकारी। ज्ञान।

ज्ञानवताम्=(वि० पुं०) ज्ञान+मतुप्=ज्ञानवत्+प्र० ए० व०=ज्ञानवानों का। ज्ञानियों का।

अर्थ—मैं दमन करने वालों का दण्ड (डण्डा या दमन करने की शक्ति) हूँ। मैं जीतने की इच्छा करने वालों की नीति (जीतने की चाल या ढंग) हूँ। मैं छिपाने योग्य भावों (या ढंगों) में मौन (खामोशी या चुप्पी) हूँ। और ज्ञानवानों में मैं ज्ञान ही हूँ॥ ३८॥

व्याख्या—एक पंजाबी प्रसिद्ध लोकोक्ति इस प्रकार है—"डंडा पीर है, बिगड़ियां तिगड़यां दा" अर्थात् पापी, अपराधी पुरुष दण्ड देने से सीधे मार्ग पर चलने लगते हैं। मनु महाराज जी ने भी कहा है "दण्ड के डर से पाप से छुटकारा होता है क्योंकि दण्ड स्वयं साक्षात् धर्मराज का स्वरूप है। यदि दण्ड व्यवस्था संसार में न होती तो भयानक उथल-पुथल मच जाती और दैत्य तथा असुर वृत्ति क्रूर और निर्दयी लोग देव-बुद्धि और धर्मात्मा पुरुषों का सर्वथा नाश कर देते। इन दुष्टों का दमन करने के लिए दमन करने वाले पुरुष में दण्ड या दमन करने की शक्ति भी मैं परमेश्वर ही हूँ। महा पुरुष जिस दमन रूप दण्ड से अपनी इन्द्रियों और मन का दमन करते हैं वह दण्ड या

दमन करने की शक्ति भी मैं ही हूँ। मैं ने सृष्टि का प्रबन्ध ऐसा किया हुआ है कि मेरे सृष्टि-स्थिति के नियमों को भंग करने वाले लोग अपने आप ही दण्ड पा लेते हैं, वे पहले जीवन काल में ही रोग, शोक और दुःखों को भोगते हैं और फिर मरने पर नरक तथा दुःख रूप अधम योनियों को प्राप्त होते हैं। यह सब कुछ मेरे स्वरूप दण्ड के कारण ही होता है। हे अर्जुन! मैं तेरे जैसे जीत की इच्छा करने वाले वीर पुरुषों की नीति अर्थात् जीतने वाली चाल या ढंग हूँ और सदा स्व विजय चाहने वाले सम्राटों की राजनीति हूँ। क्योंकि मेरी सहायता के बिना किसी की विजय पाने की इच्छा पूरी नहीं हो सकती है तथा राजाओं की न्याय रूप नीति भी मैं ही हूँ तथा उन का विजय सम्बन्धी किया हुआ उपाय भी मैं ही हूँ।

सब प्रकार के गुप्त भावों को छिपा कर रखने के लिए वाक्-इन्द्रिय का निग्रह या मौन धारण करना सब से उत्तम उपाय है अर्थात् जो पुरुष अपनी वाक्-इन्द्रिय पर निग्रह करके तूष्णी भांव से स्थित होता है। उस के अन्तर के अभिप्राय को कोई समझ नहीं सकता है। जिस प्रकार बन्द पुष्प की सुगन्धि उसके भीतर ही बन्द रहती है इसी प्रकार मौनधारी पुरुष के भाव दूसरों पर प्रकट नहीं होते हैं परन्तु वाचाल पुरुषों के भीतरी भाव अन्य पुरुषों को इसी प्रकार विदित हो जातेहैं जिस प्रकार किसी विकसित पुष्प की खुशबू उससे निकल कर सब ओर उड़ जाती है। इसलिए मैं गुह्य भावों को छिपा कर रखने में मौन हूँ और तत्त्व वेत्ता या ज्ञानी पुरुषों का किया हुआ आत्मा साक्षात्कारस्वरूप ज्ञान भी मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतांना बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

यत्+च+अपि सर्व—भूतानाम्+बीजम्+तत्+अहम्+अर्जुन!। न तत्+अस्ति विना। यत्+स्यात्+मया भूतम्+चर+अचरम्।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

च=(अव्यय) और।

अपि=(अव्यय) भी।

सर्व-भूतानाम्=(नपुं०) सर्वेषां भूतानाम् (षष्ठी० तत्पु०) षष्ठी० ब० व०=सब भूतों का।

बीजम्=(नपुं०) विशेषेण कार्यरूपेण अपत्यतया च जायते, वि√जन्+ड, उपसर्गस्य दीर्घः अथवा विशेषेण ईजते कुक्षि शरीरं वा गच्छति, वि√ईज्+अच्=बीज+प्र० ए० व०=प्ररोह कारणम्। उत्पत्ति का कारण। बीज। मूल कारण।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं (हूँ)।

अर्जुन ! =(पुं०) हे अर्जुन ! (सम्बो० ए० व०)।
न=(अव्यय) नहीं।
तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह। ऐसा।
अस्ति=√अस्+(लट्०) प्र० पु०, ए० व०=है।
विना=(अव्यय) रहित। अतिरिक्त। विना।
स्यात्=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+विधि० प्र० पु०, ए० व०= हो। होवे। हो सकता है।
मया=अस्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=मुझ से। मेरे से। ['विना' के योग में द्वितीया, तृतीया और पंचमी विभक्ति विकल्प से होती हैं। यहां 'तृतीया' हुई है।]
भूतम्=(नपुं०)√भू+क्त=भूत+प्र० ए० व०। कोई भी वस्तु, चाहे वह मानवी हो, चाहे दैवी, चाहे निर्जीव हो चाहे जीवधारी हो।
चर+अचरम्=(नपुं०) चरम् अचरम् च। (समाहार द्वन्द्व समास)=चर और अचर। चल फिर सकने वाला और एक स्थल पर स्थिर रहने वाला।

अर्थ—और हे अर्जुन! जो (कोई) भी सब भूतों की उत्पत्ति का मूल कारण है। वह मैं हूँ। (क्योंकि) ऐसा चर और अचर (कोई भी) भूत नहीं है। जो मुझ से बिना हो सकता है॥ ३९॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! आकाश के तारे भले ही गिने जा सकते हैं। जिन परमाणुओं से मिलकर यह पृथिवी बनी हुई है शायद उन सब की संख्या भी जानी जा सकती हो। भेड़ के शरीर के रोमों की गिनती भी हो सकती है। वर्षा की धाराओं की संख्या मालूम की जा सकती है इस प्रकार बहुत कुछ जानना या गिना जाना सम्भव हो सकता है। परन्तु मेरी सब प्रधान विभूतियाँ गिनी और समझी नहीं जा सकतीं। छोटी बड़ी सब विभूतियों की अनन्त संख्या का तो कथन ही व्यर्थ है। ऊपर जिन ७५ मुख्य विभूतियों का वर्णन किया गया है। वह केवल तेरा साधारण ज्ञान या परिचय कराने के लिये ही है। अपनी सब विभूतियों को केवल मैं ही जानता हूँ। दूसरा और कोई भी उनको जानने में समर्थ नहीं है। इसलिये तुम से अब मैं एक रहस्य की बात कहता हूँ। तुम ध्यानपूर्वक उसे सुनो। सब भूतों की उत्पत्ति जिस बीज से होती है वह मैं ही हूँ। शिशु पिता के वीर्य से उत्पन्न होता हुआ भासमान होता है परन्तु वह वीर्य एक गन्दी और असार वस्तु है। मैं ही उस में प्रविष्ट होकर शिशु की उत्पत्ति का कारण होता हूँ। इस चराचर संसार में कोई भी जीव या वस्तु ऐसा नहीं है जो मुझ से रहित हो सकती है। मैं ही सब में व्यापक हूँ। मैं ही सब के प्रकट होने का मूल कारण हूँ और मेरी सत्ता से ही सब की स्थिति होती है॥ ३९॥

मुख्य विभूतियों की सूची —

श्लोक	21—4	श्लोक	29—4	श्लोक	36—4
,,	22—4	,,	30—4	,,	37—4
,,	23—4	,,	31—4	,,	38—4
,,	24—3	,,	32—3	जोड़	18—75
,,	25—4	,,	33—4		
,,	26—4	,,	34—10		
,,	27—3	,,	35—4		
,,	28—4				

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां रो परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तमया ॥ ४० ॥

न+अन्तः+अस्ति मम दिव्यानाम्+बिभूतीनाम्+परंतप ।
एषः+तु+उद्देशतः प्रोक्तः+विभूतेः+विस्तरः+मया ॥

न=(अव्यय) नहीं ।

अन्तः=(वि०, पुं०)√अम्+तन्=अन्त+प्र० ए० व०=अखीर । छोर । किनारा । अन्त ।

अस्ति=√अस्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=है ।

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मेरी ।

दिव्यानाम्=(वि०, स्त्री०)√दिव्+यत्=दिव्य+टाप्=दिव्या+षष्ठी० ब० व०=दिव्यों का ।

विभूतीनाम्=(स्त्री) वि√भू+क्तिन्=विभूति+षष्ठी० ब० व०=विभूतियों का । विस्तारोंका ।

परंतप !=(वि०, पुं०) हे शत्रुओं को तपाने वाले ! हे महातप करने वाले । हे अर्जुन !

एषः=एतद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=यह ।

तु=(अव्यय) परन्तु । तो ।

उद्देशतः=(नपुं०) उद्√दिश् (तुदा० उभ० सक०)+घञ्=उद्देश+तसिल्=उद्देशतः=एकदेशेन=एक देश से ['सर्वतः' नहीं ।] संक्षेप से ।

प्रोक्तः=प्र√वच्+क्त=प्रोक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है ।

विभूतेः=(स्त्री०) विभूति+षष्ठी० ए० व०=विभूति (वर्ग) का । (विभूतियों का) ।

विस्तरः=(पुं०) वि√स्तॄ (स्वा० उभ० सक०=फैलाना)+(भावे) अप्=विस्तर+प्र० ए० व०=विस्तार । विस्तृत विवरण ।

मया=अस्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा ।

अर्थ—हे परंतप (अर्जुन) ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है । परन्तु वह विभूति वर्ग मेरे द्वारा (तेरे लिये) संक्षेप से कहा गया है ॥ ४० ॥

व्याख्या—हे काम, क्रोधादि शत्रुओं को तपाकर परम तप करने वाले अर्जुन ! मैं अनादि हूँ। अनन्त हूँ। सर्वव्यापक हूँ। सम्पूर्ण जगत् की वस्तु मात्र और प्राणी मात्र मेरी विभूतियाँ हैं क्योंकि मैं सब में जलवागर हूँ। अर्थात् अपने स्वरूप की झलक दिखा रहा हूँ। इस ब्रह्माण्ड के न समझ में आने वाले विस्तार को कोई भी नहीं जान सकता। क्योंकि मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ इस विषय को समझने में असमर्थ हैं और इस ब्रह्माण्ड में अनन्त आकाशी पिण्ड हैं जिन में प्रकाशमान सूर्यों और जीवधारण की हुई वसुन्धराओं का अन्त नहीं है। प्रत्येक पृथिवी मेरी अनन्त विभूतियों से भरी हुई है। इसलिये कोई प्राणी मेरी सम्पूर्ण तो क्या ? अल्प से अल्प अंश-मात्र विभूतियों को भी जान नहीं सकता है फिर इन में से मेरी जो उत्कृष्ट और दिव्य विभूतियां हैं। उनका भी कोई अन्त नहीं है। इसलिये मैं ने तुझे अपनी विभूतियों का स्वरूप और रहस्य दर्शाने के लिये बानगी के रूप में या दिग्दर्शनार्थ मुख्य मुख्य ७५ विभूतियों का वर्णन संक्षेप से किया है। जिससे तू मुझ को सब में देखने के लिये समर्थ हो सकेगा ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

यत्+यत्+विभूतिमत्+सत्त्वम्+श्रीमत्+ऊर्जितम्+एव वा । तत्+तत्+एक+अवगच्छत्वम्+मम तेजः+अंश-सम्भवम् ।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो ।

यत्=जो ।

विभूतिमत्=(वि०, नपुं०) विभूति+मतुप्=विभूतिमत्+प्र० ए० व०= विभूति वाला । विभूति युक्त । ऐश्वर्य युक्त । [वि√भू+क्तिन्= विभूति ।]

सत्त्वम्=(नपुं०) सतो भावः, सत्+त्व=सत्त्व+प्र० ए० व०=होने का भाव । पदार्थ । वस्तु (है) ।

श्रीमत्+(वि० नपुं०) श्री+मतुप्=श्रीमत्+प्र० ए० व०=लक्ष्मी युक्त या कान्ति वाली (है) ।

ऊर्जितम्=√ऊर्ज्+णिच्+(कर्मणि) क्त+ऊर्जित+(नपुं०) प्र० ए० व०= ऊर्जा (शक्ति) वाली (है) ।

एव=(अव्यय) ही । भी ।

वा=(अव्यय) वा । या ।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्वती० ए० व०=उसको ।

तत्=उसको ।

एव=(अव्यय) ही ।

अवगच्छ=अव√गम्+लोट्० म० पु०, ए० व० (तू) जान ।
त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=तू ।
मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मेरे ।
तेज:+अंश-सम्भवम्=(वि० नपुं०) तेजस: अंश: (एक देश:) सम्भवो यस्य तत् (बहुव्रीहि समास)=तेज के अंश से उत्पन्न हुई (द्विती० ए० व०) को ।

अर्थ—जो जो भी विभूतिमत् (ऐश्वर्य वाली), श्रीमत् (लक्ष्मी या कान्ति वाली) अथवा ऊर्जा (शक्ति) वाली वस्तु है। उस-उस को ही तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई जान ॥ ४१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस अध्याय में मैं ने जिन अपनी विभूतियों का वर्णन किया है। उनमें चराचार दोनों प्रकार की विभूतियाँ सम्मिलित हैं। उन में कुछ सजीव और कुछ निर्जीव हैं। परन्तु एक बात सब में अवश्य ही पाई जाती है वह यह कि उन चेतन तथा अचेतन पदार्थों में अपने अन्य साथियों की अपेक्षा कुछ तो अधिक विभूति युक्त या ऐश्वर्य वाले हैं और कुछ अधिक लक्ष्मी, सम्पत्ति, शोभा और कान्ति वाले हैं तथा कुछ ऊर्जायुक्त या शक्तिशाली हैं। इनके अतिरिक्त कई एक में और भी विशेष गुण हैं जो उनको दूसरों से अधिक प्रभावशाली बनाए हुए हैं। इसी प्रकार इन पूर्व कथित विभूतियों के अतिरिक्त और भी मेरी अनेक विभूतियाँ विश्व में जहाँ तहाँ फैली हुई हैं। उनकी परख उन में विद्यमान विभूति, श्री, ऊर्जा आदि अनेक गुणों से प्रकट होने वाले बल, तेज, पराक्रम तथा अन्य किसी प्रकार के विशेष कार्य के द्वारा की जा सकती है। जैसे श्यामवर्ण घने मेघ से सारा आकाश आच्छादित हो जाने के कारण घोर अन्धकार दशों दशाओं में फैल जाता है। तब यह प्रभावशाली मेघ ही मेरी विभूति हो जाता है। मेघों के भीतर जो बिजली चमकती दमकती और गर्जती है। वह भी मेरी एक विभूति है। भूमण्डल पर जिस विद्युत् शक्ति द्वारा प्रकाश होता है। पंखे चलते हैं। रेडियो स्टेशन से छोड़ी हुई ध्वनि पच्चीस हज़ार मील परिधि वाली पृथिवी के चारों ओर एक सैकण्ड में सात बार घूम जाती है तथा जिस महान् शक्ति द्वारा ट्रेनें, मोटरें आदि तीव्र गति से पृथिवी पर दौड़ती हैं तथा शीघ्रगामी वायुयान आकाश में उड़ते हैं एवं अनेक कारखाने चलते हैं वह विद्युत् शक्ति मेरी विभूति नहीं तो और क्या है ? यह अलग बात है कि जब वह अपने से अधिक बुद्धिमान् वैज्ञानी पुरुष के वशीभूत हो जाती है तो उसकी इच्छा के अनुसार नाचने और कार्य करने लगती है। जब वह वैज्ञानी पुरुष धन और ऋण ध्रुव वाली तारों को जोड़ देता है तो बिजली की धारा रूपी देवी वल्व में लगी हुई टंगस्टन की तार में प्रविष्ट हो कर क्रोध से लाल पीली हो जाती है वहाँ वल्ब में उसकी सहायक कोई वस्तु नहीं होती जिस से अशक्त होकर उस का चेहरा श्वेत और प्रकाशमान हो जाता है।

परन्तु जब यह विद्युत देवी, नियन्त्रण से बाहर होकर बे काबू हो जाती है तो झटके से तार को तोड़ डालती है। छू जाने वाले व्यक्ति को धक्का देकर परे फैंक देती है अथवा पकड़ कर प्राण निकाल लेती है। आण्विक शक्ति भी मेरी एक महान् विभूति है, जिस के द्वारा मनुष्य अढ़ाई लाख मील दूर चन्द्रमा पर जा पहुँचा है और करोड़ों मील दूर मंगल, शुक्र और वृहस्पति आदि में पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है। इसी प्रकार बाष्प शक्ति रेलों के रूप में दूर-दूर तक यात्रियों और भारी बोझ को ले जाती है। जलशक्ति भी मेरी विभूति है। यान्त्रिक शक्ति का तो कहना ही क्या है ? जिसने इस भूमण्डल को स्वर्ग बना रखा है। महात्मा गाँधी भी मेरी एक महान् विभूति थे जिन्होंने उस ब्रिटिश साम्राज्य से भारत और अन्य अनेक देशों को अपनी शान्ति, सत्य और अहिंसा के बल से मुक्त करा दिया है जो भूमण्डल के पाँचवें भाग पर फैला हुआ था और जिस में कभी सूर्य अस्त न होता था अर्थात् साम्राज्य के किसी न किसी भाग में सदा निकला ही रहता था। भारतवासियों में इन्दिरा देवी मेरी महान् विभूति है जिस की बुद्धिमत्ता से भारत देश एक महान् देश बन गया है जिसने नौ मास तक एक करोड़ बंगाली शरणार्थियों की अन्न, धन, वस्त्र और शरण देकर सहायता की है तथा दुर्दन्त, महापापी, बूचड़ पाकिस्तान को हरा कर बंगला देश को मुक्त करवाया है तथा उस पापी देश के पक्षपाती चीन और अमेरिका को निर्लज कर दिया था। इस प्रकार और भी जब किसी वस्तु या जीव में तुम ऐश्वर्य, कान्ति, श्री, लक्ष्मी, प्रकाश, तेज, ऊर्जा, शक्ति या और कोई गुण दूसरों से अधिक देखो तो उसको मेरी विभूति समझ लो ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अथवा बहुना+एतेन किम्+ज्ञातेन तव=अर्जुन ! ।
विष्टभ्य+अहम्+इदम्+कृत्स्नम्+एक+अंशेन स्थितः+जगत् ॥

अथवा=(अव्यय) अथ√वा+क्विप्। पक्षान्तर—बोधक अव्यय। या। वा। किंवा। अथवा।

बहुना=(वि०)√बंह्+कु, न लोप=बहु+(पुं०, नपुं०) तृती० ए० व०= बहुत से [यह "बहुना" और "एतेन" दोनों पद "ज्ञातेन" के विशेषण हैं।]

एतेन=एतद् (सर्व०)+(पुं० नपुं०) तृती० ए० व०=इस से।

किम्=किम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=क्या ? (प्रयोजन है)।

ज्ञातेन=√ज्ञा+क्त=ज्ञात+(पुं० नपुं० तृ(ती० ए० व०=जानने से।

तव=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तेरा। तुझ को। तेरे। तुझे।

विष्टभ्य=विशेषतः स्तम्भनं (=दृढ़) कृत्वा, वि√स्तम्भ् (भ्वा० आत्म० सक०, क्र्या० पर० सक०=दृढ़ करना, धारण करना, दृढ़ता पूर्वक धारण करना)+ल्यप्, 'म्' लोप=विशेष रूप से दृढ़तापूर्वक धारण करके।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इसको।

कृत्स्नम्=(वि०)√कृत्+क्स्न=कृत्सन+(नपुं०) द्विती० ए० व०=सम्पूर्ण को।

एक-अंशेन=एकेन अंशेन (पादेन)=एक अंश से, एक पाद से [वेद में भगवान् को सहस्रपाद कहा गया है।]

स्थितः=√स्था (भ्वा० पर० अक०=ठहरना, स्थित होना)+क्त=स्थित+(पुं०) प्र० ए० व०=स्थित हूँ।

जगत्=(नपुं०)√गम्+क्विप्, निपा० द्वित्व, तुगागम्=जगत्+द्विती० ए० व०=चलने वाले को। नाश होने वाले को। जगत् को॥

अर्थ—अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत (विभूति विभ्तार को) जानने से तेरा क्या (लाभ या प्रयोजन हो सकता) है ? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को (अपने) एक अंश से धारण करके स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि इस अध्याय से पूर्व अध्यायों में भी मैं ने अपनी विभूतियों का कुछ वर्णन किया था, जिस से आप की जिज्ञासा मेरी और विभूतियों को जानने के लिए और अधिक जाग उठी थी। जिस से तुमने इसी अध्याय के श्लोक अठारह में मेरी और विभूतियों को जानने की उत्कण्ठा व्यक्त करते हुए कहा था—

"विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन !।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥"

और मैं ने तेरी इच्छा की पूर्ति के लिए इस अध्याय में अपनी ७५ मुख्य मुख्य विभूतियों का वर्णन किया है। परन्तु तुम्हें इन विभूतियों के बहुत या अधिक जानने से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता है। क्योंकि इन पृथक्-पृथक् विभूतियों का ध्यान करने से तुम मुझे प्राप्त नहीं हो सकते हो और मेरा असीम स्वरूप इन विभूतियों द्वारा नापा या पूरी तरह समझा नहीं जा सकता है। इसलिए मुझे जानने के लिए तुम इस प्रकार का प्रयत्न अपर्याप्त जान कर रहने दो। इन विभूतियों का मेरे द्वारा वर्णन किया जाना आपकी जानकारी मात्र के लिए ही था। न कि मुझ तक पहुँचने के साधन के रूप में। दूसरी बात यह है कि मेरी सारी विभूतियाँ न पूर्णरूप से कही जा सकती हैं और न चर्मचक्षुओं से देखी ही जा सकती हैं। इस लिए जन्म मरण के जाल से छुटकारा पाने के लिए मेरे स्वरूप को ही जानने का प्राणी मात्र को प्रयत्न

करना चाहिए। जिस से मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपनी योग माया के एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूँ। अर्थात् यह जीव मात्र मेरा ही अंश है और मैं ही एक अंश से सारे जगत् में स्थित हूँ। आप को यह रहस्य भली-भान्ति समझ लेना चाहिए कि यद्यपि मैं सर्वव्यापी हूँ। तथापि निरवयव और नामरूप रहित हूँ। इसलिए कोई न मुझे काट कर विभाजित कर सकता है और न ही विकारी बना सकता है। मैं अकेला ही सब में और सब ओर व्यापक हूँ। मेरा और जीवों के शरीर में निवास करने वाले आत्मा का भेद वतलाने के लिये यद्यपि ऐसा कहना पड़ता है कि शरीर के भीतर रहने वाला आत्मा मुझ परब्रह्म का ही अंश है। परन्तु 'अंश' या भाग शब्द का अर्थ काट कर पृथक किया हुआ टुकड़ा नहीं है या अनार से निकाले हुए एक दाने की भान्ति मुझ से पृथक् सत्ता वाली कोई वस्तु नहीं है। इस का अर्थ तो केवल इतना ही है कि जिस प्रकार घर के भीतर का आकाश घर के बाहर के आकाश तथा घड़े आदि के भीतरी आकाश से भिन्न नहीं होता है इसी प्रकार मैं परब्रह्म और शरीर के भीतर का आत्मा एक ही हैं। परन्तु साधारण बोल चाल में उसे मेरा अंश ही कहा जाता है। सूर्य चन्द्र तारागण और पृथिवी आदि सभी नाम रूप धारी पदार्थ नाशवान् हैं जो दिक् काल आदि नियमों की कैद में बँधे हुए हैं इसलिए इन सब का समावेश 'जगत्' में होता है। मैं परब्रह्म परमेश्वर इन सब में रह कर भी इन सब से निराला हूँ। और इस जगत् जाल से स्वतन्त्र हूँ। यह जगत् मर्यादित है परन्तु मैं असीम हूँ। यह जगत् विनाश शील है। परन्तु मैं अविनाशी हूँ। अविकारी और अमृत तत्त्व हूँ। छान्दोग्य उप० ३।१२।६॥ में जो ऐसा लिखा है कि—"पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" अर्थात् इस परब्रह्म परमात्मा का यह सारा जगत् एक पाद है और शेष तीन पाद तो इसके अपने निर्गुण स्वयं ज्योति स्वरूप में स्थित हैं। [ऋग्वेदे १०।९०।३॥ में भी यह ऋचा "सर्वा" के स्थान पर 'विश्व' पाठान्तर के साथ लिखी हुई है] इस ऋचा में गीता के 'अंश' शब्द के स्थान पर "पाद" शब्द प्रयोग हुआ है परन्तु यहाँ पर इस का यह भाव कदापि नहीं है कि मैं परब्रह्म चार पाँवों वाला हूँ। जिस का एक चरण विश्व है और तीन चरण विश्व से बाहर हैं श्वेताश्वतर उप० ३।१४ में तो लिखा है—

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्"

अर्थात् परब्रह्म परमपुरुष हज़ारों सिरों वाला है हज़ारों आँखों वाला और हज़ारों पाँवों वाला है यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद तीनों में इसी रूप में है। परन्तु निराकार के सिर पाँव और आँखें होती नहीं हैं। इस लिए इस मन्त्र का भाव तो केवल इतना ही है कि मैं परब्रह्म परमेश्वर सब कुछ जानता और देखता हूँ और सर्वत्र व्यापक हूँ और इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से धारण करके स्थित हूँ।

अर्थात् मेरी तुलना में यह जगत् कुछ भी नहीं है। केवल एक मैं ही यहाँ स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे विभूति योगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

[इस प्रकार श्री भगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषदों में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत, योगशास्त्र सम्बन्धी श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में "विभूतियोग" नामक दसवां अध्याय कथित हुआ है।]

ॐ तत्सत्।

शुभमस्तु। मंगलमस्तु।

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

॥ अथ एकादशोऽध्यायः ॥

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

मत्+अनुग्रहाय परमम्+गुह्यम्+अध्यात्म-संज्ञितम् । यत्+त्वया +उक्तम्+वचः+तेन मोहः+अयम्+विगतः+मम् ॥

मत्=अस्मद् (सर्वं०)+पंच० ए० व०=मेरे। मुझ पर । (मम=षष्ठी ए० व० के स्थान पर)।

अनुग्रहाय=(पुं०) अनु√ग्रह्,+अप्=अनुग्रह+चतुर्थी० ए० व०=अनुग्रह के लिये। अनुकम्पा के लिये। कृपा करने के लिए।

परमम्=(बि०) परम् उत्कृष्टं माति,√मा+क=परम+(नपुं)+प्र० ए० =सर्वोत्कृष्ट। परम (उत्कृष्ट)। निरतिशय।

गुह्यम्=(वि० नपुं०)√गुह्+क्यप्+प्र० ए० व०=छिपाने के योग्य। गोप्य गोपनीय।

अध्यात्म-संज्ञितम्=(वि०) अध्यात्म-संज्ञा+इतच्+(नपुं०) प्र० ए० व० अध्यात्म नाम वाला (बहुव्री०)।

यत्=यद् (सर्वं०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

त्वया=युष्मद् (सर्वं०)+तृती० ए० व०=तेरे द्वारा। आप के द्वारा।

उक्तम्=√ ब्रू, √वच्+कर्मणि क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है।

वचः=(नपुं०)√वच्+असुन्+प्र० ए० व०=वचन। उपदेश।

तेन=तद् (सर्वं०)+(नपुं०) तृती० ए० व०=उस से।

मोहः=(पुं०)√मुह्+(भावे) घञ्=मोह+प्र० ए० व०=मोह। अज्ञान।

अयम्=इदम् (सर्वं०)+(पुं०) प्र० ए० व०=यह।

विगतः=वि√गम्+(कर्तरि) क्त=विगत+(पुं०)+प्र० ए० व०=दूर हो गया है। नष्ट हो गया है।

मम=अस्मद् (सर्वं०)+षष्ठी० ए० व०=मेरा।

अर्थ—अर्जुन बोला—मेरे अनुग्रह के लिए परम गुह्य अध्यात्म नाम वाला जो वचन (उपदेश) आप के द्वारा (मेरे लिए) कहा गया है। उस से मेरा यह (मद्गत) मोह (अज्ञान) दूर या नष्ट हो गया है ॥ १ ॥

व्याख्या—पिछले अध्याय में भगवान् ने जब अपनी विभूतियों का वर्णन किया तो अर्जुन असमंजस में पड़ गया और सोचने लगा कि इन असंख्य विभूतियों में से किस को अंगीकार करना चाहिए और किस को छोड़ना चाहिए साथ ही उस के अन्त:करण में परमेश्वर के विराट् या विश्वरूप देखने की इच्छा भी उत्पन्न हो गई। अन्तिम श्लोक में भगवान् ने कहा—

"विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।"

अर्थात् "मैं इस सारे संसार को अपने एक अंश से धारण करके स्थित हूँ।" यह सुन कर अर्जुन के अन्त:करण में उल्लास भर गया और परमात्मा का ठीक स्वरूप स्थिर हो गया जिस से दुर्योधनादि कौरवों से द्वेष तथा निज बन्धुओं का मोह नष्ट हो गया और भगवान् से कहने लगा कि हे भगवन्! आप ने मुझ पर अपार अनुग्रह और कृपा की है, जो परम गोपनीय उक्त (विष्टम्य०) वाक्य कहा है। जो कि अध्यात्म विषय से सम्बन्धित है। जिस को सुन कर मेरे मन का सम्पूर्ण मोह, अन्धकार और अज्ञान नष्ट हो गया है॥ १॥

[**नोट**—इस श्लोक के प्रमम पाद में आठ के स्थान पर नौ अक्षर हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी यहाँ कोई दोष नहीं है क्योंकि ऋषिप्रणीत होने से यह आर्ष-प्रयोग माना जाता है और सब स्थलों पर ऐसे आर्ष-प्रयोग निर्दोष समझे जाते हैं॥ अमृत॥]

हो सकता है पहले "परमं" के स्थान पर "परम् ही लिखा गया हो॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

भव+अप्ययौ हि भूतानाम्+श्रुतौ विस्तरश:+मया। त्वत्त: कमल-पत्राक्ष! महात्म्यम्+अपि च+अव्ययम्।

भव+अप्ययौ=(पुं०) भव: च अप्यय: च तौ (इतरेतर द्वन्द्व०) प्र० द्वि० व०। उत्पत्ति और प्रलय।

[भव=(पुं०)√भू+अप्=उत्पत्ति। अप्यय=(पुं०) अपि√इण्+अच्=नाश। प्रलय]

हि=(अव्यय) क्योंकि। निस्सन्देह।

भूतानाम्—√भु+क्त=भूत+(नपुं०) षष्ठी० ब० व०=भूतों की।

श्रुतौ=√श्रु+(कर्मणि) क्त=श्रुत+(पुं०) प्र० द्वि० व० (दोनों) सुने गये हैं।

विस्तरश:=(पुं०) वि√स्तृ+अप्=विस्तर+श: (शस्) (पंचम्यर्थे)=बिस्तार से। विस्तार पूर्वक।

मया=अस्मद् (सर्वनाम)+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा।

त्वत्त:-युष्मद् (सर्वं०)+पंच० ए० ब०=त्वत्+(तस्) त:=तुझ से। आप से।

कमल-पत्र+अक्ष !=(वि० पुं०) कमलस्य पत्रम्=कमल-पत्रं तद्वद् अक्षिणी यस्य (षष्ठी० तत्पु०, बहुव्री०) सम्बोधन ए० व० । हे कमल की पंखड़ियों के सदृश (कोमल और सुन्दर) नेत्रों वाले कृष्ण ! ।

माहात्म्यम्=(नपुं०) महात्मन्+(भावे) ष्यञ्+प्र० ए० व०=माहात्म्य । महिमा । प्रभाव । गौरव । महानता ।

अपि=(अव्यय) भी ।

च=(अव्यय) और ।

अव्ययम्=(वि०) वि√इण्+अच् (नञ् बहुव्री०)=अक्षय । अपरिवर्तन शील । सदा एक रस रहने वाला । (नपुं०) प्र० ए० व० ।

अर्थ—हे कमलपत्राक्ष ! मेरे द्वारा आप से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति, प्रलय (नाश) और (आप) का अक्षय (अविनाशी) माहात्म्मय भी निस्सन्देह विस्तार से सुने गये हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आप के नेत्र कमल को पंखड़ियों के समान सुन्दर विशाल, स्निग्ध और किंचित लाल हैं जिनमें मनोहर नील वर्ण गोलक हैं जो भक्त-हृदय को अपने स्नेह से आनन्द-विभोर कर देते हैं । कमल लाल भी होते हैं और नीले भी । उन में श्वेतता भी होती है । इस लिए आप के सुन्दर नेत्र कविवर बिहारी के शब्दों में—

अमी "हलाहल मदभरे श्वेत श्याम रत्नार ।
जियत मरत झुकि झुकि परत जिहि चितवत इक बार ॥

अर्थात् इन में श्वेत वर्ण तो अमृत है । श्याम रंग हलाहल है । और रक्त वर्ण मद्यरूप है । आप अपनी अमृत वर्षिणी दृष्टि से भक्तों को जीवित करते हैं । हलाहल वर्षिणी दृष्टि से दुष्टों को मृत्यु का ग्रास बनाते हैं । और मद्य वर्षिणी दृष्टि से गोप गोपियों को प्रेम मुग्ध करने वाले हो जाते हैं । हे आत्म ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने वाले शुद्ध ब्रह्म ! आप से मैंने सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति और विनाश को सुना । जैसा कि आप ने कहा—"अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्य तथा" । ७।६ ॥"

"प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुन: पुन ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ९।८ ॥"
"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते ॥१०।८॥"
"मत्त: परतरं नान्यत्किंचित्सदस्ति धनंजय ! ॥७।७॥"

इत्यादि वचनों से भूतों की उत्पत्ति, प्रलय और अपनी महा महिमा का विस्तार पूर्वक वर्णम जो आप के द्वारा किया गया है । उसे सुन कर मेरी आँखें खुल गई हैं । और "यह मेरा है" यह पराया है ।" मैं दूसरों को मारता या बचाता हूँ" इत्यादि मेरा सारा मोह नष्ट हो गया है । हे कृष्ण ! जो पुरुष संसार में कर्त्ता होता है, वह विकारी होता है परन्तु आप सम्पूर्ण संसार के कर्त्ता

होते भी विकार रहित हो। इस लोक में जो पुरुष दूसरों को प्रेरणा करके शुभाशुभ कर्म करवाता है वह विषमता दोष युक्त होता है। परन्तु आप तो जीवों को प्रेरणा करके शुभाशुभ कर्म करवाते हुए भी इस दोष से रहित हैं। इस लोक में जो पुरुष विचित्र फल का प्रदाता होता है वह संगति रहित और उदासीन नहीं हो सकता। परन्तु आप तो बन्ध मोक्ष आदि विचित्र फल के दाता होकर भी असंग और उदासीन ही हो। इस प्रकार और भी आप की महिमा को आप के मुखारविन्द से मैं ने सुना है। इस प्रकार आपका सोपाधिक माहात्म्य भी मैंने सुना और निरुपाधिक माहात्म्य भी सुना ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

एवम्+एतत्+यथा+आत्थ त्वम्+आत्मानम्+परम+ईश्वर !।
द्रष्टुम्+इच्छामि ते रूपम्+ऐश्वरम्+पुरुष+उत्तम ! ॥

एवम्=(अव्यय)√इ+वम् (बा०)=इस प्रकार। ऐसा ही (है)।

एतत्=एतद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह।

यथा=(अव्यय) यद्=थाल्=जैसा। जिस प्रकार।

आत्थ=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लट्० म० पु०, ए० व० =ब्रवीषि, पक्षे आत्थ=कथयसि। कहते हो।

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=तू। आप।

आत्मानम्=(पुं०)√अत्+मनिण्=आत्मन्+द्वितीया० ए० व०=अपने को।

परम+ईश्वर !=(पुं०) सम्बोधन ए० व०। ईश्वराणां परमो यः सः (बहुव्री०) हे ईश्वरों में सर्वश्रेष्ठ !

द्रष्टुम्√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+तुमुन्=देखने के लिये। देखना।

इच्छामि=√इष् (तुदा० पर० सक०=चाहना)+लट्० उ० पु० ए० व० =(मैं) चाहता हूँ।

ते=युष्मद् (सर्व)+षष्ठी० ए० व०=तेरे। आप के।

रूपम्=(नपुं०)√रूप् (चुरा० पर० सक०=बनाना, घड़ना)+अच्=रूप +द्विती० ए० व०=रूप को। शक्ल को। सूरत को। स्वरूप को। आकृति को

ऐश्वरम्=(वि०) ईश्वर+अण्=ऐश्वर+(नपुं०) द्विती० ए० व०=सर्व व्यापकता की शक्ति वाले को। ईश्वरीय सम्पूर्ण सत्ता वाले को। "ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः संपन्नम्"=ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से युक्त को।

पुरुष+उत्तम !=(पुं०) सम्बोधन ए० व०=पुरुषेषु उत्तमः (बहुव्री) (कर्मधारय० वा)=हे पुरुषों में उत्तम !। हे पुरुषोत्तम !।

अर्थ—हे परमेश्वर ! आप अपने को जैसा कहते हो, यह ऐसा ही है। हे पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ ! मैं आप के ईश्वरी (ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से युक्त) रूप को देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे कृष्ण ! आप ईश्वरों के भी महान् ईश्वर हैं और सर्वसमर्थ हैं। इसलिए आप ने अपने सम्बन्ध में मुझे जो उपदेश किया है। यह सब बिल्कुल ठीक है। अत्यन्त उचित है और यथार्थ है, उस से मुझे बहुत समाधान प्राप्त हुआ है। परन्तु "शुनीदा के बवद मानिन्दे दीदा" इस फारसी लोकोक्ति के अनुसार सुनी हुई बातें देखे हुए रूप के तुल्य सन्तोषजनक नहीं होती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय से नेत्रेन्द्रिय ज्ञान को अधिक परिपक्व करती है। विज्ञान की चाहे कितनी भी पुस्तकें पढ़ ली जाएँ और वैज्ञानियों के बहुत से भाषण क्यों न सुन लिए जाएँ असली विषय तब तक हृदयंगम नहीं होता जब तक प्रयोग द्वारा उसे नेत्रों से देख न लिया जाए। हे भगवन् ! आप वे हैं जिनके आद्य संकल्प से इस सम्पूर्ण विश्व की रचना होती है और फिर यह जगत् यथासमय लय को भी प्राप्त होता है आप के उस आदि स्वरूप का सब वेद और उपनिषद् गायन करते हैं जिस प्रकार रंगमंच पर अनेक पात्र अभिनय करते हुए दृष्टिगोचर होते रहते हैं। ठीक इसी प्रकार आप भी राम, कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु और शंकर आदि का रूप धारण करके निर्गुण से सगुण रूप में अभिनय करते रहते हो। योगी लोग अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करके जिस रूप को हृदय में देखते हैं उसको मेरे ये चर्मचक्षु देखने में असमर्थ और अशक्त हैं। हे पुरुषोत्तम ! आज मैं आप के उस रूप को देखना चाहता हूँ। जिस को इस से पहले किसी ने भी नहीं देखा है। मैं तेरे सर्वव्यापकता की शक्ति वाले रूप को देखना चाहता हूँ। मैं तेरे ईश्वरी संपूर्ण सत्ता वाले रूप को देखने की इच्छा करता हूँ। हे भगवन् ! तेरे ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, ऊर्जा, बल, वीर्य और तेज से युक्त रूप को देखना चाहता हूँ। मैं तेरे अधिक से अधिक सर्वशक्ति संपन्न विराट् रूप को देखने की अभिलाषा करता हूँ। जिस को इस से पूर्व न किसी ने देखा हो और न आने वाले किसी समय में कोई देख सके अन्त में ॥ ३ ॥

टिप्पणी—इस्लाम की धर्म-पुस्तक "कुरान शरीफ" में लिखा है कि एक बार 'हजरत मूसा' के मन में यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि मैं ईश्वर के विराट् रूप को देखूँ। इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह कोहे तूर पर गया। पहले भी वह इस पर्वत पर चढ़ कर परोक्ष प्रभु के साथ बातें किया करता था। तब उसने अपने प्रभु को ऊँचे स्वर से पुकार कर उस देश की भाषा में कहा—"रब्बे अरनी उनजर अलैके" अर्थात् "हे मेरे परमेश्वर ! तू अपने तई मुझे दिखा।" तब उधर से उत्तर मिला—'लनतुरानी' अर्थात् हे मूसा ! तू मुझे बिल्कुल नहीं देख सकेगा। दूसरी और तीसरी बार मूसा के प्रार्थना करने पर उसे फिर यही उत्तर मिला। परन्तु मूसा ने फिर भी परमेश्वर को देखने का हठ किया।

तब भगवान् ने कहा बहुत अच्छा मेरे स्वरूप को तू देख इतना कहते ही करोड़ों सूर्यों का प्रकाश पर्वत की ओट से उदय होने लगा तो मूसा उसकी पहली हीं झलक से बेहोश हो कर पर्वत से नीचे गिर पड़ा और सारा पर्वत जल कर काला हो गया ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

मन्यसे यदि तत्+शक्यम्+मया+द्रष्टुम्+इति प्रभोः ! योग+ईश्वरः ! ततः+मे त्वम्+दर्शय+आत्मानम्+अव्ययम् ॥

मन्यसे=√मन् (दिवा० आत्म० सक०=मानना, जानना)+लट्० म० पु०, ए० व०=(आप) मानते हो ।
यदि=(अव्यय) यद्+णिच्+इन्, णिलोप=जो । अगर । यदि ।
तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=वह (आप का ऐश्वर्य रूप) ।
शक्यम्=(वि०)√शक्+यत्=शक्य+(नपुं०) प्र० ए० व०=देखने योग्य । सम्भव ।
मया=अस्मद् (सर्व०) तृती० ए० व०=मेरे द्वारा ।
द्रष्टुम्=√दृश्+तुमुन् । देखने के लिए । देखना ।
इति=(अव्यय)√इ=क्तिन्=यह । ऐसा ।
प्रभो !=(वि० पुं०) प्र√भू+डु=प्रभु+संबोधन ए० व०=हे प्रभो ! [उत्पत्ति स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामी रूप से शासन करने वाला होने से भगवान् का नाम प्रभु है ।]
योग+ईश्वर !=(पुं०) योगस्य ईश्वरः यः (बहुव्री०) सम्बोधन ए० व०=हे योग (अव्यक्त से व्यक्त सृष्टि निर्माण की सामर्थ्य अथवा युक्ति) के स्वामी !
[इस सम्बोधन से यहाँ तात्पर्य यह है कि अर्जुन भगवान् के इसी सामर्थ्य द्वारा प्रकट किए गए विराट् या विश्व रूप को देखने का इच्छुक है ।
ततः=ततस् (अव्यय—तद्+तसिल)=तब । फिर । तो ।
मे=अस्मद् (सर्वं०)+चतुर्थी ए० व०=मह्यम्, मे=मेरे लिए । मदर्थम् ।
त्वम्=युष्मद् (सर्वं०)+प्र० ए० व०=तू । आप ।
दर्शय=√दृश्+लोट्० म० पु०, ए० व०=दिखलाइए । दर्शाइए ।
आत्मानम्=(पुं०)√अत्+मनिन्=आत्मन्+द्विती० ए० व०=अपने को ।
अव्ययम्=(वि०) वि√इण्+अच् (नञ् बहुव्री०)+(नपुं०) द्विती० ए० व० =अविनाशी को ।

अर्थ—हे प्रभो ! यदि आप ऐसा मानते हो कि वह आपका ऐश्वरी रूप) मेरे द्वारा देखना संभव है, तो हे योगेश्वर ! (अव्यक्त से व्यक्त सृष्टि निर्माण

करने की सामर्थ्य वाले स्वामी !) आप मेरे लिए अपने अविनाशी विश्व रूप को दर्शाइए ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आप उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, प्रशासन करने के लिए पूरी तरह से समर्थ हो, इसलिए आप को प्रभु कहा जाता है। हे प्रभो ! आप सब के स्वामी हो। हे योगियों में सर्व श्रेष्ठ ! हे सब से महान् ऐन्द्रजालक ! हे सम्पूर्ण योगों के जानने वाले ! हे बल, तेज प्रताप के निधि ! हे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ! आप सब कुछ कर सकने में समर्थ हैं। यद्यपि इस समय आप के विश्व रूप को देखने के लिए मेरे मन में प्रबल इच्छा उत्पन्न हो चुकी है परन्तु मैं इसके लिए हठ करना नहीं चाहता हूँ क्योंकि कदाचित् मेरी आँखों में आप के उस अविनाशी विश्व रूप को देखने का सामर्थ्य ही न हो और जिस से मैं भी दूसरों की भान्ति उस की पहली ही झलक से बेहोश होकर मुँह के बल आँखें बन्द करके गिर जाऊँ तथा संसार में हँसी का कारण बन जाऊँ। इसलिए यदि आप यह समझते हैं, कि मेरी आँखों में आपका विश्वरूप देखने का सामर्थ्य है तो आप मेरी यह कामना अवश्य पूरी करें। हे भगवन् ! संसार में जो पुरुष अणिमादिक अष्ट सिद्धियों और नव निद्धियों से युक्त होता है वह योगी कहलाता है। उसकी फैलाई हुई माया ही बड़ी अद्भुत और विचित्र होती है। आप तो सब योगियों के भी महेश्वर हो और सब योग आप के सहज स्वभाव ही वशी भूत हैं तो फिर मेरी आँखों को, अपनी विश्वमूर्त्ति को देखने के लिए सामर्थ्य कर देना तो आप के बाएँ हाथ का खेल है, इसलिए हे योगेश्वर ! मुझे अपने विश्वरूप दिखाने की कृपा अवश्य कीजिए ॥ ४ ॥

श्री भगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशः+अथ सहस्रशः । नाना-विधानि दिव्यानि नाना-वर्ण+आकृतीनि च ॥

पश्य=√दृश्+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) देख ।
मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे ।=मेरे ।
पार्थ !=(पुं०) हे पृथा-(कुन्ती-) पुत्र अर्जुन ! (सम्बो० ए० व०) ।
रूपाणि=(नपुं०) रूप+द्विती० ब० व०=रूपों को ।
शतशः=(अव्यय) [दश दशतः परिमाणम् अस्य, दशन्+त 'श' आदेश नि० साधुः=) शत+शस्=शतशस्=शतशः=सैंकड़ों ।
अथ=(अव्यय)√अर्थ+ड, पृषो० र लोपः=और ।
सहस्रशः=(अव्यय) [समानं हसति,√हस्+र, समानस्य सादेशः=] सहस्र+शस् सहस्रशस्=सहस्रशः=हजारों ।

नाना-विधानि=(वि०) अनेकप्रकाराणि [नाना (अव्यय)=व+नाव्=अनेक। √विध्+क=विध+(नपुं०) द्विती० ब० व०=प्रकार वालों को]=अनेक प्रकार वालों को।

दिव्यानि=(वि०) दिवि भवानि, √दिव्+यत्=दिव्य+(नपुं०) द्विती० ब० व०=दिव्यां को। देव लोक में होने वालों को। अलौकिकों को।

नाना-वर्ण-आकृतीनि च=(वि०) नाना (विलक्षणाः) नीलपीतादि प्रकाराः) वर्णाः तथा आकृतयों (अव्यवसंस्थान विशेषाः) येषां (रूपानां) तानि च (बहुव्री०) =अनेक प्रकार के (नीले, पीले, लाल आदि) रंगों और अनेक प्रकार की आकृति वालों को।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—हे पार्थ! (तू) मेरे सैंकड़ों और हजारों (अर्थात् असंख्य) अनेक प्रकार के, अनेक रंगों के और अनेक आकृतियों वाले अलौकिक रूपों को देख। (अर्थात् देखने के लिए तैयार हो जा) ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस प्रकार अर्जुन के प्रार्थना करने पर श्री कृष्ण भगवान् ने कहा—

हे अर्जुन! मैं नारायण अर्थात् ब्रह्म हूँ तुम नर भगवान् हो और मेरे फुफी (भूआ) पृथा के पुत्र होकर उत्पन्न हुए हो तथा मेरे अनन्य भक्त और श्रद्धालु हो। हे सखा! मैं तेरी इच्छा अवश्य ही पूरी करूँगा। तुम सावधान हो जाओ क्योंकि तुम जल्दी ही मेरे उस दिव्य और अलौकिक रूप को देखोगे। जिस में सारा विश्व तुम्हें मुझ विश्वपति का शरीर ही दृष्टिगोचर होगा और संपूर्ण चर-अचर जीव उस से निकलते हुए और उस में प्रविष्ट होते हुए दिखाई देंगे। सारे विश्व की सम्पूर्ण घटनाएँ उसी में हो रही होंगी। जिस प्रकार मनुष्य का जीता जागता शरीर होता है। उसी प्रकार मेरा यह विश्व रूपी शरीर मुझ परमात्मा से जीवन्त और जाग्रत है। इसी कारण से मुझ विराट् को वेदों और उपनिषदों में पुरुष कहा गया है और मेरे इस स्वरूप का वर्णन यजुर्वेद के अध्याय ३१ के पहले कई मन्त्रों में किया गया है एवं ऋग्वेद १०।९० में भी मेरे स्वरूप का यशोगान किया गया है। जो विश्व रूप में आप को दिखाने वाला हूँ उसमें कितने ही नाना प्रकार के आकार और रूप होंगे। कोई बहुत ही विशाल कोई अत्यन्त लघु, कोई अति स्थूल तो कोई अति दुबला पतला रूप तुम देखोगे। संपूर्ण रंगों के रूप तुम्हें दिखाई देंगे जिनमें सूर्य की तरह देदीप्यमान रूप भी होंगे जो नेत्रों में चकाचौंध उत्पन्न करने वाले होंगे जिन कोदेख सकने में प्राकृत नर समर्थ नहीं हो सकता है। उस विश्व रूप में मेरी उत्पत्ति स्थिति और संहार करने वाली शक्ति को भी तुम देख सकोगे। ब्रह्माण्ड का संपूर्ण कलेवर मुझ से परिपूर्ण होगा। सोने, चाँदी, ताँबे लोहे आदि धातुओं तथा हीरे, मोती, लाल पन्ने आदि बहुमूल्य जवाहेरात को विपुलता से धारण किए हुए मेरे शरीर को देख सकोगे मेरी असंख्य टाँगें और पैरों के दर्शन

करोगे। मेरी अगिनित भुजाओं और हाथों को देख सकोगे जिन में सब प्रकार के आयुध होंगे और अनन्त देदीप्यमान मुकुटधारी सिरों के दर्शन करोगे। परन्तु मेरे इस विश्व शरीर का आदि अन्त तुम्हें कहीं भी दिखाई न देगा ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

पश्य+आदित्यान्+वसून्+रुद्रान्+अश्विनौ मरुत:+तथा। बहूनि+अदृष्ट-पूर्वाणि पश्य+आश्चर्याणि भारत! ॥

पश्य=√दृश्+लोट्० म० पु० ए० व०=(तू) देख।

आदित्यान्=(पुं०) अदिति+(अपत्ये) ण्य=आदित्य+द्विती० ब० व० =अदिति के पुत्रों को।

[अदिति के पुत्र द्वादश माने जाते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं— धाता, मित्र, अर्यमा, रुद्र वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु ।]

साधारणत: सूर्य को "आदित्य" कहा जाता है। और यहाँ यह शब्द बहुवचनान्त है जिस का अर्थ है "सूर्यों को"। भगवान् के विश्वरूप में असंख्य सूर्य हैं ॥

वसून्=(पुं०)√वस्+उ=वसु+द्विती० ब० व०=वसुओं को।

[ये वसु एक प्रकार के देवता हैं जिन की संख्या आठ मानी जाती है उनके नाम इस प्रकार हैं—

अह या आप, ध्रुव, सोम, धर या धव, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास। 'वसु' नाम धन का भी है इसलिए सम्पूर्ण धनों को धारण करने वाली हाने के कारण पृथिवी को "वसुन्धरा" कहा जाता है।]

रुद्रान्=(पुं०)√रुद्+णिच्+रक्=रुद्र+द्विती० ब० व०=रुद्रों को।

['रुद्र' शिव जी के एकादश अपकृष्ट रूप हैं जिन में शिवजी मुख्य हैं।]

अश्विनौ=(पुं०) [अश्व इव उत्तमाङ्गाकारोऽस्त्यस्य इत्यर्थे अश्व+इनि, ङीष् =अश्विनी (स्त्री०) एक अप्सरा जो सूर्य की पत्नी मानी जाती है और जिस ने घोड़ी बन कर सूर्य के साथ संभोग किया था। उस से दो युगल पुत्र उत्पन्न हुए थे जो अश्विनी कुमार कहलाते हैं और इन्द्रपुरी स्वर्ग के वैद्य माने जाते हैं।]

दोनों अश्विनी कुमारों को! [द्विती० द्वि० व० "अश्विन्" शब्द का]

मरुत:=(पुं०) म्रियते प्राणी यस्याभावात्,√मृ+उत्=मरुत्+द्विती० ब० व०=मरुतों को। सम्पूर्ण उंचास मरुत् देवताओं को।

तथा=(अव्यय) तद्+थाल्=तथा। और ।

बहूनि=(वि०)√वह्+कु, नलोप=बहु+(नपुं०) द्विती० ब० व०=बहुत को। बहुत ।

अदृष्ट-पूर्वाणि=(वि०) न दृष्टानि पूर्वाणि यानि (नञ् बहुव्री०)=जो इस से पहले तेरे द्वारा अथवा किसी अन्य के द्वारा कभी नहीं देखी गई हैं इन को [(नपुं०) द्वितीo ब० व०]

पश्य=√दृश्+लोट्० म० पु० ए० व०=तू देख।

आश्चर्याणि=(वि०) आ√चर्+ण्यत्, सुट्=आश्चर्य+(नपुं०)+द्वितीo ब० व०=आश्चर्य मय रूपों को।

भारत!=हे भारत (अर्जुन)!

अर्थ—हे भरत वंशी अर्जुन! (जो अपना विराट्रूप तुम को मैं दिखाने वाला हूँ तू उसमें) सब आदित्यों, सम्पूर्ण वसुओं समस्त रुद्रों, अश्विनी कुमारों और सकल मरुद्गणों को देख। तथा बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देखा॥ ६॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तू उस भरत वंश में उत्पन्न हुआ है जो दो पक्षों में बँट कर लड़ने के लिए उद्यत है। जिस प्रकार तुम्हारे इस युद्ध में कर्ण जैसे सूर्य-पुत्र, भीष्म जैसे वसु-अवतार को तुम धराशायी होते देखोगे और रुद्र रूप मरुतपुत्र भीम, अश्विनी कुमारों के पुत्रों नकुल सहदेव को शत्रुओं को संहार करते हुए देखोगे पवन पुत्र हनुमान को भी देख लोगे जो तुम्हारे रथ के ध्वज को सम्भाले बैठे हैं। इन के अतिरिक्त घटोतकच, अभिमन्यु, द्रौपदी पुत्रों तथा दोनों पक्षों के आश्चर्य मय मृत्यु के दृश्यों को भी देखोगे। जिसको इस से पूर्व न तुम ने देखा है न किसी और ने देखा है यह सब कुछ तो जब देखोगे तभी देखोगे। परन्तु इस से भी अद्भुत और आश्चर्यमय दृश्य तुम अभी अभी मेरे विश्व रूप में देखने वाले हो। इस में ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण सूर्य होंगे। सारे वसु होंगे। कुल रुद्र होंगे। दोनों अश्विनी कुमारों को देखोगे समस्त मरुद्गणों के दर्शन करोगे। भीष्म, कर्ण, द्रोण, दुर्योधन आदि विपक्षियों तथा अपनी सेना के योद्धाओं को मेरे विकराल मुखों में प्रविष्ट होते हुए देखोगे। जिन को मैं भयंकर दाढ़ों से चबाता हुआ निगलता हूँगा। इन के अतिरिक्त और भी ऐसे दृश्य देखोगे जो अत्यन्त आश्चर्यमय होंगे। जिन्हें देख कर तुम भयभीत भी हो जाओगे और अपने शरीर में कंप का अनुभव भी करोगे। परन्तु पहले से ही तुम उनका कोई अनुमान नहीं कर सकते हो॥ ६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

इह+एकस्थम्+जगत्+कृत्स्नम्+पश्य+अद्य स-चर+अचरम्। मम देहे गुडाका+ईश! यत्+च+अन्यत् द्रष्टुम्+इच्छसि॥

इह=(अव्यय) इदम्+ह, इ आदेश=यहाँ। (मेरे इस शरीर में)।

एक-स्थम्=(वि०) एकस्मिन् स्थितम्=एक ही स्थान में स्थित हुए को [(नपुं०) द्वितीo ए० व०)]

जगत्=(नपुं०)√गम्+क्विप, नि० द्वित्व, तुगागम==जगत् को। संसार को।

कृत्स्नम्=(वि०)√कृत्+क्स्न=कृत्स्न+(नपुं०) द्विती० ए० व०=समस्तम्। समस्त को। सम्पूर्ण को।

पश्य=√दृश्+लोट्० म० पु० ए० व०=(तू) देख।

अद्य=(अव्यय) "अस्मिन् अहनि" इत्यर्थे इदम् शब्दस्य निपातः सप्तम्यर्थे= आज। अब।

स-चर+अचरम्=सह चरेण अचरेण च (इतरेतर द्वन्द्व०)=चराचर सहित को (द्विती० ए० व०)।

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मेरी। मेरे।

देहे=(पुं० नपुं०) देग्धि प्रतिदिनं√दिह (अदा० उभ० सक०=लेप करना, अपवित्र करना)+घञ्=देह=सप्त० ए० व०=देह में। शरीर में।

गुडाका+ईश! (पुं०) गुडाकायाः ईशः। निद्रा के स्वामी। निद्रा को जीतने वाला। (सम्बोधन ए०व०) हे निद्रा को वश में करने वाले अर्जुन! अथवा हे सुन्दर घने बालों वाले अर्जुन!॥

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिसको। जो।

च=(अव्यय) और।

अन्यत्=(नपुं०) अन्यत्+द्विती० ए० व०=और भी दूसरे को।

[यत् च अन्यद्=जयपराज्यादि यत् शङ्कसे "यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः" इति यद् अवोचः=और भी जय-पराजय आदि दृश्यों को जिन के लिए तू "हम उन को जीतेंगे या वे हम को जीतेंगे ? (गी० २।६) इस प्रकार शंका करता है।]

द्रष्टुम्=√दृश्+तुमुन्=देखने के लिए। देखना।

इच्छसि=√इष्+लट्० म० पु०, ए० व०—(तू) चाहता है॥

अर्थ—हे गुडाकेश अर्जुन! तू यहाँ आज मेरी (विराट रूप) देह में एक ही स्थान पर स्थित हुए चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् को तथा और भी जो दूसरे (जय-पराजय आदि) को देखना चाहता है, देख॥ ७॥

व्याख्या—हे अर्जुन! तुम तो गुडाकेश या गुड़ाकाईश हो अर्थात् निद्रा तुम्हारे अपने वशी-भूत है। इसलिए मेरे इस अद्भुत और अलौकिक विश्वरूप को देखने पर तुम्हें मोह-निद्रा भी वशी-भूत न कर सकेगी। अतः अपने पर विश्वास करके सावधानता से तुम मेरे (दिखाए जाने वाले) इस रूप को देखो। सारा संसार इस मेरे स्वरूप में स्थित हुआ तुम्हें एक साथ ही दृष्टिगोचर होगा। इसमें सब प्रकार के पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, देव, दनुज, यक्ष, पितर, गन्धर्व, किन्नर, दैत्य, राक्षस और सब जातियों के मनुष्य चलते हुए अपना "चर" नाम सार्थक करते दिखाई देंगे एवं सब पर्वत, वृक्ष, उद्यान, उपवन, जड़ी

बूटियाँ आदि अचर नाम धारी सब कुछ दीखेगा और तू जो इस बात की चिन्ता करता है कि क्या जीत हमारी होगी या विपक्षियों की ? उस सब को मूर्तिमान् रूप में अपनी आँखों से देख सकेगा और भी जिस बात को जानने या देखने की इच्छा करेगा, उसको भी भली भान्ति निज-नेत्रों से देख पाएगा। इसलिए अब अच्छी तरह सावधान हो जाओ क्योंकि अतिशीघ्र मेरे विराट् रूप का विश्व भर में तुम्हारे सामने विस्तार होने वाला है ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

न=(अव्यय) नहीं ।

तु=(अव्यय) परन्तु ।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को ।

शक्यसे=√शक् (दिव० उभ० अक०=समर्थ होना)+म० पु० ए० व०=(तू) समर्थ है ।

द्रष्टुम्=दृश् (भ्वा० प० सक०=देखना)+तुमुन्=देखने के लिए ।

अनेन=इदम् (सर्व०)+(नपु०) तृती० ए० व०=इससे ।

एव=(अव्यय) ही । निःसन्देह ।

स्व-चक्षुषा=स्वेन चक्षुषा अथवा स्वकीयेन चक्षुषा (तृतीय० तत्पु०) ।

[स्व=(वि०, सर्व०)=अपने । चक्षुषा=(नपुं०)√चक्ष्=उसि=चक्षुस्+तृती० ए० व०=चुक्षु से । दृष्टि से । देखने की शक्ति से ।] अपने चक्षु । अपनी आँखों से । अपनी दृष्टि से । प्राकृत दृष्टि से ।

[यद्यपि आँखें दो होती हैं । परन्तु इस स्थल पर 'चक्षुषा' शब्द तृतीया एक वचनान्त है । इस का विशेष कारण यह है कि देखने वाली शक्ति केवल एक ही होती है जो बड़े मस्तिष्क (प्रमस्तिष्क या (CEREBRUM) के पिछले भाग में केन्द्रित होती है । वह शक्ति ही दोनों या एक आँख द्वारा उन सब वस्तुओं को देखती है जिन पर किसी प्रकार का प्रकाश पड़ रहा हो आँखें तो उस शक्ति को देखने की क्रिया का केवल एक साधन मात्र होती हैं । हमें चीजें किस प्रकार दिखाई देती हैं ? इसको समझने के लिए आँख की रचना का ज्ञान होना जरूरी है । प्रत्येक आँख पारदर्शी कार्निया (CORNEA) के पीछे एक उत्तल लैन्स होता है जो जैली जैसे पदार्थ से बना होता है । इस लैन्स को नियन्त्रण करने वाली रोमक पेशियाँ उस की फोकस दूरी को बदलने के लिए सहायता करती हैं जिस से दूरस्थ अथवा समीपस्थ वस्तुएँ साफ़ साफ़ नजर आती हैं । आँख के इस लैन्स के सामने आईरिस (IRIS) होता है । यह सिकुड़ने वाली एक झिल्ली होती है । आईरिस के द्वार को पुतली या काकी कहते हैं जब प्रकाश अत्यधिक होता है तो पुतली सिकुड़ जाती है और प्रकाश के कम

होने पर फैल जाती है। जिस वस्तु को दृष्टिगोचर देखती है उस का प्रतिविम्ब नेत्र-गोलिका के पीछे स्थित एक पर्दे पर पड़ता है, जिसे रेटिना (RETINA) कहते हैं। लैन्स और रेटिना के बीच में नेत्र गोलिका एक पारदर्शी द्रव से भरी रहती है। रेटिना पर बना प्रतिबिम्ब उल्टा होता है। परन्तु मस्तिष्क उस को सीधा करके देखता है। क्योंकि मस्तिष्क का सम्बन्ध कुछ स्नायुओं द्वारा रेटिना से होता है। इस लिए यहाँ "चक्षुषा" एक वचन में प्रयुक्त हुआ है। और यहां अर्थ है— "अपनी देखने की शक्ति से"]

दिव्यम्=(वि०, नपुं०(√दिव्+यत्=दिव्य+द्वितीο एο वο=अलौकिक, दिव्य।

ददामि=√दा (जुहो० उभ० सक०=देना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) देता हूँ।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिए। तुझ को ['देना' अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है।]

चक्षुः=(नपुं०) चक्षुस्+द्विती० ए० व०=चक्षुः=आँख। देखने की शक्ति को। दृष्टि को।

पश्य=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लोट्० म० पुं०, ए० व० (तू) देख।

मे=(सर्व) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरी। मेरे।

योगम्=(पुं०) योग+द्विती० ए० व०=योग को। योग शक्ति को॥

ऐश्वरम्=(वि० पुं०) ईश्वर+(तस्येदम्) अण्। ईश्वरीय को॥

अर्थ—परन्तु तू अपनी इस ही दृष्टि से मुझ को देखने के लिए समर्थ नहीं है। (इसलिए) मैं तेरे लिए (अर्थात् तुझ को) दिव्यदृष्टि देता हूँ। (जिस से अब) तू मेरी ईश्वरीय योग शक्ति को देख॥ ८॥

व्याख्या—हे अर्जुन! विज्ञान का यह एक प्रसिद्ध नियम है। कि जिन वस्तुओं पर सूर्य, चन्द्र, अग्नि विद्युत या अन्य किन्ही प्रकाशमान् वस्तुओं का प्रकाश पड़ता है वही नेत्रों से दिखाई देती हैं। परन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जो किसी भी प्रकाश द्वारा देखी नहीं जा सकतीं जैसे वायु को चक्षु इन्द्रिय देखने में समर्थ नहीं है परन्तु तो भी वायु की विद्यमानता त्वचा और घ्रानेन्द्रिय से जानी जाती है परन्तु परब्रह्म तो किसी भी इन्द्रिय द्वारा नहीं जाना जा सकता है। मुण्डक० ३।१।८। में कहा है—

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैः।"

[वह परमात्मा न तो नेत्रों से, न वाणी से, और न दूसरी इन्द्रियों से जाना जा सकता है।]

जाना भी कैसे जाये ? जबकि "न तद्भासते सूर्यो न शशांको न पावक:" न उस को सूर्य प्रकाशता है । न चन्द्रमा और न अग्नि ॥

कठ०, मुण्डक और श्वेताश्वतर ये तीनों उपनिषदें मिलकर इस एक ही बात को कहती हैं कि

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युती भान्ति कुतोऽयमग्नि: ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥"
[कठ० २।३।१५॥ मुण्डक० २।२।१० और श्वे० ६।१४]

[अर्थ—उस स्व प्रकाश परमानन्द स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर के समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता । जिस प्रकार सूर्य के प्रकट होने पर खद्योत का प्रकाश लुप्त हो जाता है, वैसे ही सूर्य का तेज भी उस असीम तेज के सामने लुप्त हो जाता है, चन्द्रमा तारा गण और बिजली भी उस तेज के सामने शून्य हो जाते हैं । फिर इस लौकिक अग्नि की तो बात ही क्या है ? क्योंकि प्राकृत जगत् में जो कुछ भी तत्त्व प्रकाशशील है सब उस परब्रह्म परमेश्वर की प्रकाश-शक्ति के अंश को पाकर ही प्रकाशित है ।] तो फिर ये सब सूर्यादि अपना प्रकाश, उस स्वयं-प्रकाश-परमात्मा पर कैसे डाल सकते हैं ? ऐसा होने पर ही हे अर्जुन ! तू इस चर्म-चक्षु या मस्तिष्क में स्थित स्व दृष्टि से मुझे देखने में समर्थ नहीं है । इसलिए मैं तुझ को दिव्य-दृष्टि प्रदान करता हूँ । इस के द्वारा अब तू मेरे उस विश्वस्वरूप को सहज ही देखेगा जो मैंने केवल तेरे देखने के लिए ही तेरे सम्मुख अपनी योग युक्ति से उपस्थित किया है ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

एवम्+उक्त्वा ततः+राजन् !+महा+योग+ईश्वरः+हरिः । दर्शयामास पार्थाय परमम्+रूपम्+ऐश्वरम् ॥

एवम्=(अव्यय)√इ+वमु (वा०) । इस प्रकार ।

उक्त्वा=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+क्त्वा=कह कर ।

ततः=(अव्यय) ततस्=तद्+तसिल्=फिर ।

राजन् !=(पुं०) राजन्+सम्बोधन ए० व०=हे राजन् ! हे धृतराष्ट्र !

महा+योग+ईश्वरः=(वि०) महान् च असौ योगेश्वरः च (कर्मधारय०) =योगों के महा ईश्वर ने । महा योगेश्वर ने ।

हरिः=(पुं०)√हृ+इन्+प्र० ए० व०=हरि ने । भगवान् ने । श्री कृष्ण ने । सब पापों के नाश करने वाले ने ।

दर्शयामास=√दृश् (भ्वा० पर० सक०)+णिच्+लिट्० प्र० ए० व०
दिखाया। दर्शाया। दर्शितवान् (क्तवतु)।
पार्थाय=(पुं०) पार्थ+चतु० ए० व०=पृथा-पुत्र अर्जुन के लिए।
परमम्=(वि०) परम् उत्कृष्टं माति,√मा=क=परम+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उत्कृष्ट को। परम को।
रूपम्=(नपुं)√रूप्+अच्=रूप+द्विती० ए० व०=रूप को।
ऐश्वरम्=(वि०) ईश्वर+(तस्येदम्) अण्=ईश्वरीय को।

अर्थ—सञ्जय बोला—

हे राजा धृतराष्ट्र! इस प्रकार कह कर फिर योगों के महा ईश्वर, भक्तों के पाप नाशक श्री कृष्ण भगवान् ने पृथा के पुत्र अर्जुन के लिए (अपने) परम ईश्वरीय रूप को दिखाया॥ ९॥

व्याख्या—राजा धृतराष्ट्र को अचेतन अवस्था से सावधान करते हुए संजय ने कहा—हे राजन्! आपने अच्छा न किया, जो अपने पुत्रों के अन्याय करने पर भी उनका पक्षपात किया। जिसके कारण धर्मात्मा पाण्डवों ने अनेक कष्ट सहन किए। आनन्द कन्द भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र ने सदा उनकी सहायता की और अपने हरि नाम को सार्थक किया। जो प्रभु अपने भक्तों के संकटों को हरण करता है उस को हरि कहते हैं। योगेश्वरों में जो महान् है उसे 'महा-योगेश्वर' कहते हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण ही 'हरि' और 'महायोगेश्वर' हैं। क्योंकि वे सर्वशक्ति सम्पन्न और सब कुछ करने में समर्थ हैं। जब सांसारिक योगी और विज्ञान-वेत्ता लोग भी आश्चर्यजनक और अद्भुत क्रियाएँ करके दिखला सकते हैं तो फिर उस परमेश्वर को विश्व-रूप रच कर अर्जुन को दिखा देना कौन-सी बड़ी बात है? जिस के रोम-रोम में अनेक ब्रह्माण्ड स्थित हैं तथा जिस के स्फुरण मात्र से संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होते हैं। जिस के बिना, वास्तव में और कुछ है ही नहीं। उस भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा "मैं तुम्हें दिव्य-दृष्टि अर्थात् अपना ईश्वरी नेत्र देता हूँ। इसकी सहायता से तुम मेरा विश्व रूप देख सकोगे।" अभी यह बात श्री कृष्ण भगवान् के मुख से पूरी तरह से निकलने भी न पाई थी कि भगवान् का विश्व रूप अर्जुन को दीख पड़ा जिस में अर्जुन स्वयं एक तुच्छ व्यक्ति के रूप में अपने आप को भी देखने लगा। एक बार यह रूप भगवान् कृष्ण ने अपनी बाल्यावस्था में माता यशोदा को भी अपने मुख के भीतर दिखाया था। जब माता ने मिट्टी खाने पर डाँटते हुए उन्हें मुँह खोल कर दिखाने के लिए कहा था। हे राजन्! इसी प्रकार भगवान् ने अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखा कर आश्चर्य चकित कर दिया। उस समय सारा विस्तृत आकाश लुप्त प्रायः सा हो गया। दिशाएँ अपना रूप खो बैठीं। ऊपर और नीचे की कल्पना मिट गई। स्थावर और जंगम का भेद जाता रहा। जिस प्रकार मनुष्य कोई अद्भुत और विचित्र

स्वप्न देखता है। उस समय वही दशा अर्जुन की हो गई। प्रभु के तेज ने सारे विश्व को इस प्रकार ढक लिया जिस प्रकार दिन के समय सूर्य का प्रकाश नभ-मण्डल के सम्पूर्ण तारा-गणों को ढक लेता है। तब भगवान् ने सृष्टि को निकाल कर एक विचित्र रचना उपस्थित कर दी। अर्जुन की बुद्धि अपने आप को सम्भाल न सकी और इन्द्रियों की वृत्तियाँ मन सहित दुम दबाकर भाग खड़ी हुईं। उस समय अर्जुन की स्तब्धता और एकाग्रता की परम अवधि हो गई। जिस प्रकार वर्षा काल में घने मेघों के समूह बढ़ते जाते हैं अथवा महाप्रलय काल में अनेक सूर्यों के तेज प्रसारित होते ही चले जाते हैं। उसी प्रकार उस प्रभु के विश्व रूप ने अपने अतिरिक्त और भी शेष नहीं रहने दिया। इस प्रकार अर्जुन ने जो ज्ञान भगवान् से श्रवण किया हुआ था। उसको मूर्तिमान् हुआ अपने निज नेत्रों से देखा ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अनेक-वक्त्र-नयनम् + अनेक + अद्भुत-दर्शनम् । अनेक-दिव्य + आभरणम् + दिव्य + अनेक + उद्यत + आयुधम् ॥ १० ॥

दिव्य-माल्य + अम्बर-धरम् + दिव्य-गन्ध + अनुलेपनम् । सर्व + आश्चर्य-मयम् + देवम् + अनन्तम् + विश्वतः + मुखम् ॥ ११ ॥

अनेक-वक्त्र + नयनम् = (वि) अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन् रूपे तद् रूपम् बहुव्री०, (नपुं०) द्विती० ए० व०] = अनेक मुखों और नेत्रों वाले (रूप) को।

अनेक + अद्भुत-दर्शनम् = (वि०) अनेकानि अद्भूतानि (विस्मापकानि) दर्शनानि यस्मिन् रूप तद् रूपम् [बहुव्री० (नपुं०) द्विती० ए० व०] = अनेक अद्भुत दर्शनों वाले (रूप) को।

अनेक-दिव्य + आभरणम् = (वि०) अनेकानि दिव्यानि आभरणानि यस्मिन् तद् रूपम् [बहुव्री० (नपुं०) द्विती० ए० व०] अनेक दिव्य भूषणों वाले (रूप) को।

दिव्य + अनेक + उद्यत + आयुधम् = (वि०) दिव्यानि अनेकानि उद्यतानि आयुधानि यस्मिन् तद् रूपम् = [बहुव्री० (नपुं०) द्विती० ए० व०] = अनेक शास्त्रों को उठाए हुए (रूप) को।

[दर्शयामास इति पूर्वेण श्लोकेन सम्बन्धः = इस श्लोक का पूर्व श्लोक के "दर्शयामास" (दिखाया या दर्शाया) से सम्बन्ध है।] ॥ १० ॥

दिव्य-माल्य+अम्बर-धरम्=(वि०) दिव्यानि माल्यानि (पुष्पाणि) अम्बराणि (वस्त्राणि) च ध्रियन्ते येन देवेन तम् [बहुव्री०, (पुं०) द्विती० ए० व०] =दिव्य पुष्पमाला और दिव्य वस्त्रों को धारण करने वाले देव (या ईश्वरीय रूप) को।

दिव्य-गन्ध+अनुलेपनम्=(वि०) दिव्यं गन्धस्य अनुलेपनं यस्य तम्। [बहुव्री० (पुं०) द्विती० ए० व०] दिव्य गन्ध का लेपन किए हुए देव को।

सर्व+आश्चर्य-मयम्=(वि०) सर्वाणि आश्चर्याणि मयम् (युक्तं देवम्)=सम्पूर्ण आश्चर्यों से भरे हुए (देव) को।

[आश्चर्य+मयट्+(पुं०) द्विती० ए० व०]

देवम्=(पुं०)+द्विती० ए० व०=देव को।

अनन्तम्=(वि०) न अस्य अन्तः अस्ति तम् (बहुव्री० द्विती० ए० व०) अनन्त को।

विश्वतः+मुखम्=(वि०) सर्वतोमुखम्=सब ओर मुख वाले को। (पुं० द्विती० ए० व० ददर्श इति अध्याहृते=देखा शब्द जोड़ लेना चाहिए॥ ११॥

अर्थ—(तब भगवान् ने अर्जुन को) अपने अनेक मुखों और नेत्रों वाले, अनेक अद्भुत दर्शनों वाले, अनेक दिव्य आभरणों या भूषणों वाले तथा हाथों में अनेक आयुधों (शास्त्रों-अस्त्रों) को उठाये हुए रूप को दिखाया॥ १०॥

दिव्यरत्न और पुष्प—मालाओं तथा दिव्यवस्त्रों को धारण किए हुए, दिव्य गन्धों का लेपन किये हुए, सम्पूर्ण आश्चर्यों से भरे हुए, सब ओर मुखों वाले अनन्त (सीमा रहित) देव को अर्जुन ने देखा॥ ११॥

व्याख्या—तब अर्जुन ने देखा कि उस विश्वरूप परमात्मा के अनेक मुख हैं जिन में से कुछ देवताओं जैसे हैं बहुत से मनुष्यों जैसे हैं अनेक दैत्यों और असुरों के समान हैं कुछ पशु-पक्षियों के सदृश हैं अनेक ऐसे भी हैं जिन को संसार में पहले कभी किसी ने न देखा था न सुना था उन में विविध भान्ति के असंख्य नेत्र लगे हुए हैं। कुछ मुख युगुल के रूप में हैं कुछ त्रिमूर्ति हैं कुछ चतुर्मुख ब्रह्मा के समान हैं। कुछ पंचमुखी शंकर के तुल्य हैं तथा अनेक षडानन के सदृश हैं। इसी प्रकार अनेक दशानन की भान्ति दस दस जुड़े हुए हैं। इन विचित्र मुखों की न तो गणना की जा सकती है न उनके विविध प्रकार ही गिने जा सकते हैं। न उन में जुड़े हुए नेत्रों की संख्या ही जानी जा सकती। काले, नीले, पीले, लाल, हरे, श्वेत, बैंगनी आदि नाना रंगों की आभा वाले ये नेत्र हैं किन्हीं से शान्ति बरसती है। किन्हीं से अग्नि की ज्वालाएँ निकलती हैं। किन्हीं की मारकता मोहित करती है। कुछ क्रोध से रक्त वर्ण हैं। अनेकों दयाभाव से पूर्ण हैं। अनेक मुखों पर मुस्कान और हँसी झलकती है। अनेकों पर क्रोध के लक्षण प्रकट हो रहे हैं भगवान् के उन रूपों का वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि अनेक रूप ऐसे हैं जिन को पहले किसी ने भी कभी किसी

स्थान पर नहीं देखा है न सुना है न उनकी कल्पना ही की है ये सब रूप आश्चर्य जनक और अद्भुत दर्शन वाले हैं। जिन की पहली झलक से ही अर्जुन चकित रह गया। और कुछ भी न बोल सका। भगवान् के सब स्वरूपों ने अनेक भूषण धारण किए हुए थे। ये सब भूषण दिव्य थे अर्थात् अलौकिक थे। उनमें सोने, चाँदी, हीरे, मोती, लाल, जवाहर ही केवल जड़े हुए नहीं थे अपितु ऐसे धातु और महर्घ माणिक भी लगे हुए थे जो इस पृथिवी पर होते ही नहीं हैं और जिन की चमक दमक शोभा और सुन्दरता तथा कान्ति केवल देखे से ही बनती थी परन्तु वह वाणी से कहने का विषय नहीं है। जिन नेत्रों ने उन को देखा है वे वाणी रहित हैं और वाणी के साथ नेत्र जुड़े हुए नहीं हैं अर्थात् "गिरा अनयन, नयन बिनु वाणी"। इस लिए भगवान् के स्वरूपों में धारण किए हुए आभरणों की शोभा अकथनीय है। मनुष्य दो हाथों वाले होते हैं विष्णु चतुर्भुज है। ब्रह्मा के आठ हाथ हैं। सिंह वाहिन महा माई भगवती श्री दुर्गा जी की सोलह भुजाएँ हैं तथा रावण ने बीस बाहु बना रखे थे परन्तु उस विराट् भगवान की तो असंख्य भुजाएँ थीं जिन में शंख, चक्र, गदा, पद्म के अतिरिक्त अनेक दिव्य अस्त्र शस्त्र थे। लौकिक आयुध तीर, तलवार, नेजा, बरछी, भाला, पिस्तौल, रीवालवर, स्टेनगन, ब्रेनगन, मशीनगन, राईफल, तोप, बम, ऐटमबम और राकेट तो उन की तुलना में मिल कर भी तुच्छ हैं उन की मार का तो कोई ठिकाना ही नहीं है। भगवान् के करों में वे इसी तरह उठे हुए थे मानों अभी चलने के लिए तैयार हैं अर्जुन इस सब अद्भुत दृश्य को देख कर अवाक् रह गया और कुछ न बोल सका ॥ १० ॥

व्याख्या—भगवान् की प्रत्येक मूर्ति के गले में अनेक मालाएँ थीं जिन में से कुछ तो नाना भान्ति के सदा विहार-सुगन्धित पुष्पों से बनी हुई थीं। अनेक पीले गज मुक्तावलि से निर्मित थीं। अनेक मोतियों से बनी हुई थीं अनेकों में हीरे, लाल, जमुर्रद, पन्ने आदि जवाहरात परोए हुए थे। परन्तु इन मालाओं में लगा हुआ कोई पदार्थ पृथिवी पर उत्पन्न हुआ नहीं था। सब वस्तुएँ स्वर्ग और वैकुण्ठ में होने वाली वस्तुओं के सदृश थीं। इसी प्रकार विराट् स्वरूप पर धारण किए हुए सब वस्त्र दिव्य और अलौकिक थे। उस विश्व मूर्ति प्रभु के शरीर पर दिव्य सुगन्धित द्रव्यों का लेपन किया हुआ था जिनकी तुलना न गुलाब का शुद्ध और बहुमूल्य इतर कर सकता है। न चन्दन, चमेली, जूही, क्योड़े और रात की रानी आदि की सुगन्धियाँ उस की तुलना में तुल सकती हैं। न किसी प्रकार का सैंट ही उसकी बराबरी कर सकता है न कोई तेल फलेल ही उसके तुल्य हो सकता है। वह देव या विराट् भगवान् सब प्रकार से आश्चर्यमय और अत्यन्त अद्भुत था। अनन्त था उसका कहीं भी छोर या किनारा नजर नहीं आता था। उसके अनेक पांव थे जिन का कोई पता नहीं चलता था, न चोटी का छोर दिखाई देता था न विस्तार की

कोई सीमा भासमान होती थी। सब ओर दसों दिशाओं में केवल एक वही परब्रह्म परमेश्वर मूर्तिमान् होकर अर्जुन को दिखाई दे रहा था। इस प्रकार अर्जुन ने उस समय उस सर्वतोमुख विराट् भगवान् को देखा ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

दिवि सूर्य-सहस्रस्य भवेत्+युगपत्+उत्थिता । यदि भाः सदृशी सा स्यात ?+भासः+तस्य महात्मनः ।

दिवि=(स्त्री०)√दिव् (दिवा० पर० सक०=चमकना)+डिव्=दिव्+सप्त० ए० व०—आकाश में ।

सूर्य-सहस्रस्य=(पुं०) सूर्याणां सहस्रं, सूर्यसहस्रं तस्य=हजारों सूर्यों का। हजारों सूर्यों के समूह की ।

भवेत्=(पुं०) षष्ठी० ए० व० ।√भू+विधि० प्र० पु०, ए० व०=हो। हो सकती हो ।

युगपत्-द्=(अव्यय) युगमिव पद्यते, युग√पद्+क्विप्=एक साथ ।

उत्थिता=(स्त्री०) उत्√स्था (भ्वा० पर० सक०)+क्त+आ+प्र० ए० व० =उठी हुई (हो) ।

यदि=(अव्यय) यद्+णिच्+इन्, णिलोप्=जो। यदि। कदाचित् ।

भाः=(स्त्री०)√भास् (भ्वा० आत्म० अक०=चमकना)+(भावे) क्विप्=भास् +प्र० ए० व०=भाः=प्रभा। प्रकाश। आभा।

सदृशी=(वि०, स्त्री०) समानं दर्शनम् अस्य, समान√दृश्+क्विन्, समानस्य सादेशः ।=सदृश्+ई=सदृशी=समानता वाली ।

सा=तद् (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ए० व०=वह ।

स्यात् ?=√अस्+विधि० प्र० पु०, ए० व०=हो। हो सकती है ?

भासः=(स्त्री०)√भास्+(भावे) क्विप्=भास्+षष्ठी० ए० व०=भासः= प्रभा के। तस्य=तद् (सर्व)+पुं०) षष्ठी० ए० व०=उसकी ।

महात्मनः=(पुं०) महात्मन्+षष्ठी० ए० व०=महात्मा की। विश्वरूप की। विराट् रूप की। परमात्मा की ॥

अर्थ—आकाश में हजारों सूर्यों के समूह की प्रभा यदि एक साथ उठी (फैली) हुई हो, (तो) वह (भी) उस महात्मा (विश्वरूप विराट भगवान्) की प्रभा की (क्या) समानता वाली हो सकती है ? कदापि नहीं ॥ १२ ॥

व्याख्या—हमारा यह सूर्य जिस आकाश गंगा में विराजमान है। उस में छोटे बड़े छः अर्ब सूर्य विद्यमान हैं और हमारी इस आकाश गंगा जैसी अनेकों आकाश गंगाएँ इस विस्तृत गगन मण्डल में फैली हुई हैं। प्रत्येक आकाश गंगा के परिवार में अर्बों सूर्य भासमान् हैं। जो परब्रह्म परमात्मा के अंशमात्र प्रकाश

से प्रकाशमान हैं और अंशमात्र तेज से प्रज्वलित हो रहे हैं। यदि ये सम्पूर्ण सूर्य भी आकाश में एक स्थल पर एकत्रित हो कर चमकने लगें तो क्या उस विश्वरूप परमात्मा की प्रभा के तुल्य प्रभा उत्पन्न कर सकते हैं? कदापि नहीं। ऐसा हो सकना किसी काल में भी सम्भव नहीं है क्योंकि मोर की पूँछ समूचे मोर से कभी बड़ी नहीं हो सकती है। किसी वस्तु का अंश मात्र सम्पूर्ण वस्तु के समान कैसे हो सकता है? जुज्व (खण्ड) कुल (संपूर्ण) से बड़ा कदापि नहीं हो सकता है परमात्मा महान् और असीम है उसकी रची हुई सारी सृष्टि अर्जुन को दर्शाये गए विराट् रूप के एक लोम के बराबर भी नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

तत्र + एक-स्थम् + जगत् + कृत्स्नम् + प्रविभक्तम् + अनेक-धा । अपश्यत् + देव-देवस्य शरीरे पाण्डवः + तदा ॥

तत्र = (अव्यय) तद् + त्रल् = वहाँ। उस स्थान पर। उसमें।

एक-स्थम् = (वि०) एकस्मिन् स्थम् (स्थितम्) = एक स्थान में स्थित को [स्थ = = (वि०) √स्था + क। प्रायः समास में ही इसका व्यवहार होता है— जैसे "एकस्थम्" में यहाँ हुआ है।] (नपुं०) द्विती० ए० व०।

जगत् = (नपुं०) √गम् + क्विप्, नि० द्वित्व, तुगागम = जगत् + द्विती० ए० व० = जगत् को।

कृत्स्नम् = (वि०) √कृत् + क्स्न = कृत्स्न + द्विती० ए० व० = सम्पूर्ण को। समूचे को। सारे को।

प्रविभक्तम् = (वि०) प्र — वि √भज् + क्त = प्रविभक्त + (नपुं०) द्विती० ए० व० = विभक्त हुए को। विभाजित हुए को। बँटे हुए को। पृथक-पृथक हुए को।

अनेक-धा = (अव्यय) [न एकः (नञ् तत्पुरुष) — अनेक] अनेक + धा (बार या प्रकार अर्थ में तद्धित प्रत्यय) = अनेक प्रकार से। (देवपितृमनुष्यादि भेदैः)।

अपश्यत् = √दृश् + लङ्० प्र० पु०, ए० व० = देखा।

देव-देवस्य = (पुं०) देवानां देवस्य (षष्ठी० तत्पु०) (षष्ठी० ए० व०) देवों के देव (विराट रूप परमात्मा) के।

शरीरे = (नपुं०) √शॄ + ईरन् = शरीर [प्राणियों के सब अंगों का समूह] + सप्त० ए० व० = शरीर में।

पाण्डवः = (पुं०) पाण्डोः अपत्यम्, पाण्डु + अण् = पाण्डव + प्र० ए० व० = पाण्डव = पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने।

तदा = (अव्यय) तस्मिन् काले, तद् + दा = तब। उस समय।

अर्थ—तब अर्जुन ने वहाँ देवों के देव (विराट् रूप परमात्मा) के शरीर में अनेक प्रकार के (देव, पितृ, मनुष्यादि) भेदों में प्रविभक्त हुए समूचे जगत् को एक स्थान में स्थित हुआ देखा ॥ १३ ॥

व्याख्या—हे राजन् ! उस समय फिर अर्जुन ने उस विश्व रूप के एक छोटे से भाग में सारा जगत् अपने विस्तार के साथ इकट्ठा हुआ देखा। जिस प्रकार किसी व्यक्ति ने महासागर में सब बदुबदों को एक स्थान पर इकट्ठे हुए देखा हो अथवा पृथिवी के एक छोटे से स्थान में किसी पिपीलिका नगरी के दर्शन किए हों। किंवा शहद की मक्खियों का छत्ता देख लिया हो। उस ने सारे संसार की सब जीव सृष्टि को पृथक-पृथक रूप में एक ही स्थान पर कीड़े मकोड़ों की भान्ति एकत्रित हुए देखा तथा भगवान् के इस कथन के मूर्तिमान् दर्शन किए जिस में उन्होंने कहा है कि—

"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नोमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ १०।४२ ॥"

अर्थात्—मैं अपने एक अंश मात्र से इस समूचे जगत् को धारण कर के विद्यमान हूँ।" भगवान् तो सम्पूर्ण देवों के देव हैं। सब के मूल कारण हैं। सब के स्वामी हैं और सम्पूर्ण सामर्थ्यवान् है। संसार में सब की शक्ति उन्हीं की शक्ति के प्रकाश का अणुमात्र है ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

ततः सः+विस्मय+आविष्टः हृष्ट-रोमा धनंजयः। प्रणम्य शिरसा देवम्+कृत+अंजलिः+अभाषत ॥

ततः=(अव्यय) ततस् (तद्+तसिल्)=फिर।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

विस्मय-आविष्टः=(वि०) विस्मयेन आविष्टः (तृती० तत्पु०)=आश्चर्य से युक्त हुआ। [(पुं०) प्र० ए० व०]

[विस्मय=(पुं०) वि√स्मि+अच्=आश्चर्य। आविष्टः=आ√विष्+क्त+(पुं०) प्र० ए० व०=प्रविष्ट हुआ। घुसा हुआ। घिरा हुआ। ग्रस्त हुआ। युक्त हुआ।]

हृष्ट-रोमा=(वि०) हृष्टानि रोमाणि यस्य सः (बहुव्री०)=खिले हुए रोमों वाला।

[हृष्ट=(वि०)√हृष् (भ्वा० दिवा० पर० अक०=प्रसन्न होना)+क्त =प्रसन्न हुए। ऊपर को उठे हुए॥ रोमा=(नपुं०)√रु+मनिन् =रोमिन्+प्र० ए० व०=रोमों वाला। बालों वाला। रोंगटों वाला।]

धनंजयः=(वि०) धनं जयति सः (बहुव्री०) धन को अनेक राजाओं से जीतने वाला अर्जुन।

प्रणम्य=प्र√नम्+ल्यप् (क्त्वा के स्थान पर)=प्रकर्षेण नमनं कृत्वा (प्रह्वी भूत: सन्)=प्रणाम करके।

शिरसा=(नपुं०)√श्रि+असुन्, स च किल्, धातो: शिरादेश:=शिरस्+तृती० ए० व०=शिर से।

देवम्=(पुं०) देव+द्विती० ए० व०=देव को। विश्वरूप धरे देव को।

कृत+अञ्जलि:=नमस्कारार्थं संपुटी कृत हस्त: सन्=(पुन:) नमस्कार के लिए हाथ जोड़कर।

[कृत=(वि०)√कृ+क्त=किए हुए। अञ्जलि=(पुं०)√अञ्ज् (रुधा० पर० सक०=मिलाना)+अलि+प्र० ए० व०=जुड़े हुए दोनों हाथ।]

जुड़े हुए दोनों हाथ किए हुए।

अभाषत=√भाष् (भ्वा० आत्मा० द्विकर्मक=बोलना)+लङ्० प्र० पु०, ए० व०=बोला॥

अर्थ—तब वह आश्चर्य युक्त हुआ, और प्रफुल्लित रामों वाला (संसार में शूरवीर कहलाने वाला) अर्जुन शिर से (विश्वरूप धरे) देव को प्रणाम करके (भयभीत हो नम्रता दर्शाता हुआ) जुड़े हुए दोनों हाथ करके बोला॥ १४॥

व्याख्या—अर्जुन को धनंजय कहकर संजय ने व्यंग्य किया है और अर्जुन पर फबती उड़ाते हुए कटाक्ष किया है कि क्या यह वही अर्जुन है जिस ने अनेक राजाओं को जीत कर उन से बहुत सा धन वरजोरी प्राप्त किया था और संसार में महाशूरवीर कहलाता है। अब भगवान् के विराट् रूप को देख कर भीगी बिल्ली बना हुआ है। आश्चर्य से युक्त है। डर के मारे रोंगटे खड़े हो गये हैं। विश्वदेव को बार बार प्रणाम कर रहा है और विनम्र हो हाथ जोड़ कर कहने लगा है। सच है तगड़े से सब डरते हैं जबकि वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है तो कमजोर के सब कस बल निकल जाते हैं तथा मनुष्य विनम्र होकर प्रणाम और चापलूसी करने लगता है। यह तो साधारण शक्ति वालों की बात है। भगवान् तो सर्व शक्तिमान् हैं और अर्जुन की प्रार्थना पर उस के सामने अपने विराट् रूप का प्रदर्शन कर रहे हैं। इस लिए अर्जुन का विस्मयान्वित होकर रोमांचित होना स्वाभाविक ही है। तथा प्रणाम करना और हाथ जोड़ कर स्तुति करना उचित ही है॥ १४॥

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे,
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ—
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

पश्यामि देवान्+तव देव! देहे सर्वान्+तथा भूत-विशेष-संघान्। ब्रह्माणम्+ईशम्+कमल+आसन—स्थम्+ऋषीन्+च सर्वान्+उरगान्+च दिव्यान्॥

पश्यामि=√दृश्+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) देखता हूँ ।
देवान्=(पुं०) देव+द्विती० ब० व०=देवों को। देवताओं को।
तव=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तेरी आप की।
देव !=(पुं०)+सम्बोधन ए० व०=हे देव !
देहे=(नपुं० पुं०) देग्धि प्रतिदिनं√दिह+घञ्=देह+सप्त० ए० व० =देह में। शरीर में।
सर्वान्=सर्व (सर्व० वि०)+(पुं०) द्विती० ब० व०=सभों को। सारे। सब को।
तथा=(अव्यय) तद्+थाल्। और। तथा।
भूत-विशेष-संघान्=(पुं०) विशेष भूतों के समूहों को। अनेक भूतों के विशेष समूहों को।
[भूतानां विशेषाणां (स्थावरजङ्गमानां—नाना संस्थानविशेषाणां सङ्घान् =स्थावर-जंगम रूप नाना प्रकार की विभक्ति आकृति वाले समूचे भूत विशेषों के समूहों को]
ब्रह्माणम्=(नपुं०) ब्रह्मन्+द्विती० ए० व०=ब्रह्मा को।
ईशम्=(पुं०)√ईश्+क+द्विती० ए० व०=ईश को। महादेव को।
कमल+आसन+स्थम्=कमलस्य आसने स्थितम् द्विती० ए० व०=१. कमल के आसन पर स्थित। २. पृथिवी पर धरे हुए श्वेत कमल वत् कैलाश पर्वत पर स्थित।
ऋषीन्=पुं०) ऋषि+द्विती० ब० व०=ऋषियों को।
च=(अव्यय) और।
सर्वान्=सर्व (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ब० व०=सारे।
उरगान्=(पुं०) उरस्√गम्+उ, सलोप=उरग+द्विती० ब० व०=सर्पों को। (वासुकि आदि) सर्पों को।
च=और।
दिव्यान्=(पुं०) दिवि भवान्=देवलोक में होने वालों को। दिव्य+द्विती० ब० व०=दिव्यों को। अलौकिकों को।

अर्थ—अर्जुन बोला—

हे देव ! आप की देह में (मैं) सारे देवताओं को अनेक भूतों के विशेष समूहों को, कमल के आसन पर स्थित ब्रह्मा को, (कैलाश रूपी श्वेत कमलासन पर स्थित) महादेव को और ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूँ ॥ १५ ॥

व्याख्या—कुछ काल चुप रहने के बाद हैरान हुआ अर्जुन बोला—हे विराट् रूप धारी भगवान् कृष्ण ! आप के इस विराट् स्वरूप में मुझे इन्द्रादि सारे देवता दिखाई दे रहे हैं। स्थावर-जंगम रूप नाना प्रकार की विभक्त

आकृति वाले समूचे भूत विशेषों के समूहों को मैं देख रहा हूँ। भगवान् विष्णु की नाभि से निकले हुए कमल के आसन पर स्थित चतुर्मुख ब्रह्मा को, विष्णु, लक्ष्मी देवताओं, गरुड़ और शेष नाग सहित देख रहा हूँ। मुझे श्वेत कमल रूप धारी कैलाश पर्वत पर आसन जमाए] भोले नाथ भण्डारी श्री महादेव जी पार्वती और नन्दी समेत दिखाई दे रहे हैं। तथा ब्रह्मा के पुत्र और तपोनिधि कश्यप नारद सनकादि महर्षि विश्वामित्र वसिष्ठादि सम्पूर्ण ऋषि-मुनियों और महर्षियों के दर्शन कर रहा हूँ। एवं पेट के बल चलने वाले वासुकि आदि दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

अनेक-बाहु+उदर-वक्त्र-नेत्रम् पश्यामि त्वाम्+सर्वतः+अनन्त-रूपम् । न+अन्तम्+न मध्यम्+न पुनः+तव+आदिम्+पश्यामि विश्व+ईश्वर! विश्व-रूप! ॥

अनेक-बाहु+उदर-वक्त्र-नेत्रम्=(वि०) अनेके बाहव उदराणि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्य [समाहार द्वन्द्व-गर्भित बहुव्री० स०] (द्वितीया ए० व०) =अनेक भुजाओं, उदरों, मुखों और नेत्रों वाले को।

पश्यामि=√दृश्+लट्० उ० पु० ए० व०=(मैं) देखता हूँ।

त्वाम्=युष्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=तुझ को। आप को।

सर्वतः=(अव्यय) सर्व+तसिल्=सर्वतस्=सब ओर से।

अनन्त-रूपम्=(वि०) अनन्तानि रूपाणि यस्य तम् (बहुव्री०)=अनन्त रूपों वाले को।

न=(अव्यय) न।

अन्तम्=(पुं० नपुं०)√अम्+तन्=अन्त+द्विती० ए० व०=अन्त को। अवसान को। समाप्ति को।

न=न।

मध्यम्=(पुं० नपुं०)√मन्+यक्, नि० ह्रस्य धः=मध्य+द्विती० ए० व० =मध्य को। आदि और अन्त के बीच की अवस्था को।

न=न।

पुनः=(अव्यय) पुनर्=(और) फिर।

तव=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तेरे। आप के।

आदिम्=(पुं० नपुं०) आ√दा+कि=आदि+द्विती० ए० व०=आदि को। प्रारम्भ को।

पश्यामि=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लट्० उ० पु०, ए० व० (मैं) देखता हूँ।

विश्व-ईश्वर !=(पुं०) हे विश्वस्य ईश्वर !=हे सम्पूर्ण विश्व के सर्व-श्रेष्ठ स्वामिन् ! [विश्व=(नपुं०) विशति स्वकारणम्,√विश्+क्विन् =चौदह भुवनों का समूह। समस्त ब्रह्माण्ड। संसार। जगत्।]

विश्व-रूप !=(पुं०) [विश्वः रूपः यस्य (बहुव्री०)] हे विश्वरूप परमेश्वर ! हे सर्व व्यापी प्रभु ! हे सर्वत्र विद्यमान परमात्मान् !

अर्थ—हे समूचे विश्व के स्वामिन् ! (इस समय) अनेक भुजाओं वाले, उदरों वाले, मुखों वाले, नेत्रों वाले तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाले आप को देखता हूँ। परन्तु हे विश्वरूप ! मैं न आप के अन्त को, न मध्य को और न फिर आदि को देखता हूँ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! मैं सदा आप को दो भुजाओं और एक मुख वाला ही देखा करता था और वासुदेव तथा अपना सखा ही समझा करता था। परन्तु इस समय मैं, अनेक भुजाओं वाले, अनेक पेटों वाले, अनेक मुखों वाले, अनेक नेत्रों और सब ओर से अनेक रूपों वाले आप को देख रहा हूँ फिर न तेरे किसी अन्त को देखता हूँ न आदि और मध्य को ही देखता हूँ। इस से तेरे सम्बन्ध में मेरा पहला सब विचार गलत या मिथ्या हो गया है तेरे इस विश्व रूप को देखकर मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि तू न तो किसी वसुदेव, देवकी आदि का पुत्र है और न मुझ अर्जुन जैसे किसी व्यक्ति का सखा है। तू तो साक्षात् पर-ब्रह्म परमेश्वर है एक पक्ष में—जिस का न कोई रंग है न रूप है न आकार है तथा तू अचिन्त है निर्विकार, निराकार और एक रस है। दूसरे सगुण पक्ष में—तेरी असंख्य भुजाएँ हैं। असंख्य उदर हैं, अनन्त मुख और नेत्र हैं और तू सम्पूर्ण विश्व में अनन्त रूप धारण करके व्यापक है। तेरे निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपों का न आदि है न मध्य है और न अन्त है। आप सकल विश्व के स्वामी हो। विश्व रूप हो। सर्वव्यापी और सर्वत्र विद्यमान हो। मैं आप की कृपा से आप के स्वरूप को कुछ-कुछ समझ गया हूँ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

किरीटिम्+गदिनम्+चक्रिनम्+च तेजः+राशिम्+सर्वतः+दीप्ति-मन्तम्। पश्यामि त्वाम्+दुर्+निरीक्ष्यम्+समन्तात्+दीप्त+अनल+अर्क-द्युतिम्+अप्रमेयम्॥

किरीटिनम्=(वि०) करीट [(पुं० नपुं०)√कृ+कीटन्]+इनि=किरीटिन्+ (पुं०) द्विती० ए० व०=मुकुटधारी को।

[किरीटं नाम शिरोभूषणविशेषः तद् यस्य अस्ति, स किरीटी तम् ।]

गदिनम्=(वि०) गदा [(स्त्री०)√गद्+अच्-टाप्]+इनि=गदिन्+(पुं०) द्वितीo एo वo=गदाधारी को । गदा युक्त को ।

[गदा यस्य विद्यते इति गदी तम्]

चक्रिणम्=(वि०) चक्र [(पुं०)√कृ+क, नि० द्वित्व]+इनि+चक्रिन्+(पुं०) द्वितीo एo वo=चक्रधारी को । चक्र युक्त को । [चक्रम् अस्य अस्ति इति चक्री तम् ।]

च=(अव्यय) और ।

तेजस्+राशिम्=(वि०) तेजसः राशिम्=तेज के पुंज को । तेज पुंज को ।

[तेजस्=(नपुं०)√तिज्+असुन् ।]

सर्वतः=(अव्यय) सर्व+तसिल्=सर्वतस्=सब ओर से ।

दीप्तिमन्तम्=(वि०) दीप्ति (√दीप्+क्तिन्)+मतुप्=दीप्तिमत्+(पुं०) द्वितीo एo वo=दीप्तिमान् को । प्रकाश वाले को । चमक वाले को । जगमगाती ज्योति वाले को ।

पश्यामि=√दृश्+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) देखता हूँ । मैं देख रहा हूँ ।

त्वाम्=युष्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=तुझ को । आप को ।

दुर्+निरीक्ष्यम्=(वि०) दुःखेन निरीक्ष्योयः=दुर्निरीक्ष्यः, तम्=कठिनता से देखे जाने वाले को ।

[दुर् निर्√ईश्+(कर्मणि) खल् अथवा दुर् निर्√ईक्ष्+ण्यत्+(पुं०) द्विती० ए० व०] ।

समन्तात्=(वि०) सम्यक् अन्तो यत्र (बहुव्री०)=समन्त+(पुं०) पंच० ए० व० =सब ओर से ।

दीप्त+अनल+अर्क-द्युतिम्=(वि०) अनलः च अर्क च=अनलार्कौ । दीप्तौ अनिलार्कौ=दीप्तानलार्कौ, तयोः दीप्तानलार्कयोः द्युति इव द्युतिः (=तेजो) यस्य तम्=दीप्तानलार्कद्युतिम्=प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योति युक्त को । (देदीप्यमान को) ।

अप्रमेयम्=(वि०) न प्रमेयम् (नञ् तत्पुरुष०) । न नापे जाने वाले को । असीम को । असली स्वरूप न जानने योग्य को । [प्रमेयम्=(वि०)=(प्र√मा +यत्=द्विती० ए० व०) जो प्रमा या यथार्थ ज्ञान का विषय हो सकता हो । जिस का मान बताया जा सके ।]

अर्थ—मुकुटधारी, गदायुक्त, चक्रयुक्त, तेज पुंज, सब ओर जगमगाती ज्योति वाले, (साथ ही) कठिनता से देखे जाने वाले, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश्य देदीप्यमान तथा अप्रमेय आप को (मैं) देख रहा हूँ ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! इस समय आप मुझे असीम स्वरूपधारी दृष्टि-गोचर हो रहे हो। मध्य में आप का कृष्णरूप अप्रमेय या अत्यन्त विशाल हो गया है। जिस के सिर पर बहुमूल्य लाखों मणियों और हीरों से जटिल स्वर्ण का मुकुट धारण किया हुआ है। दाहने हाथ में बहुत विशाल गदा पकड़े हुए हो और बाम हाथ में तर्जनी अंगुली पर चक्र धारण किए हुए हो। अत्यन्त तेज के समूह बने हुए हो जिस से दशो दिशाओं में सब ओर जगमगाती ज्योति फैली हुई है। जिसकी अत्यन्त तीक्ष्ण चकाचौंध से दिव्यनेत्र प्राप्त होने के बावजूद भी मुझे बड़ी कठिनता से दिखाई दे रहे हो प्रकाश की तेजी से आँखें चौंधिया रही हैं। ढेरों जलती हुई अग्नि और प्रकाशमान प्रचण्ड सूर्य के सदृश आप देदीप्यमान हो रहे हो। इस समय आप के स्वरूप का कोई निश्चय नहीं किया जा सकता कि आप किस के समान हैं क्योंकि इस समय आप के रूप के समान दूसरा कोई प्रमाण सूझता नहीं है ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्यः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

त्वम्+अक्षरम्+परमम्+वेदितव्यम्+त्वम्+अस्य विश्वस्य परम्+निधानम्। त्वम्+अव्ययः शाश्वत-धर्मगोप्ता सनातनः+त्वम्+पुरुषः+मतः+मम ॥

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)=प्र० ए० व०=तू (आप ही)।

अक्षरम्=(वि०)√क्षर्+अच्, न क्षरति इति (नञ् तत्पु०)=अक्षर+(नपुं०) प्र० ए० व०=ब्रह्म। अक्षर। (हैं)

परमम्=(वि०) परम् उत्कृष्टं माति,√मा+क=परम+(नपुं०) प्र० ए० व०=सर्वश्रेष्ठ। सर्वोत्कृष्ट। पर।

वेदितव्यम्=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना)=(कर्मणि) तव्यत्=वेदितव्य+(नपुं०) प्र० ए० व०=जानने योग्य। ज्ञातव्य।

त्वम्=तू। आप (ही)।

अस्य=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) षष्ठी० ए० व०=इसके। विश्वस्य=(नपुं०) विशति स्वकारणम्,√विश्+क्वन्=विश्व+षष्ठी० ए० व०=विश्व के।

परम्=(वि०)√पृ+अप्=पर+(नपुं०) प्र० ए० व०=प्रकृष्ट। सर्वोच्च। सर्वोत्कृष्ट।

निधानम्=(नपुं०) नि√धा (जुहो० उभ० सक०=रखना)+[अधिकरणे ल्युट्]=निधान+प्र० ए० व०=भण्डार। खज़ाना। आश्रय।

त्वम्=तू। आप।
अव्ययः=(वि०) न व्ययो विद्यते यस्य नञ् (बहुव्री०) अविनाशी। अव्यय।
शाश्वत-धर्म-गोप्ता=(वि०) शश्वद् भवः=शश्वतो (नित्यः) धर्मः तस्य गोप्ता (बहुव्री०)=शाश्वत धर्म के रक्षक (हैं)।
[शाश्वत=(वि०)√शश्+वत् (बा०)= शाश्वत् (अव्यय)+अण्=शाश्वत्= सदा रहने वाला। सनातन।
धर्म=(पुं० नपुं०)√धरति लोकान्, ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा, धृ+मन्= धर्म। गोप्ता=(वि०)√गुप्+तृच्=गोप्तृ+(पुं०) प्र० ए० व०=गोप्ता =छिपाने वाला। रक्षा करने वाला।
सनातनः=(वि०) सदा+ट्युल,तुट् नि० दस्य नः=सनातन+(पुं०) प्र० ए० व०=सनातन। पुरातन। प्राचीन।
त्वम्=तू। आप (ही)।
पुरुषः=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति√पुर्+कुषण्=पुरुष+प्र० ए० व०=ब्रह्म। पुरुष।
मतः=(वि०)√मन्+क्त=मत+(पुं०) ए० व०=सोचा हुआ!। विश्वास किया हुआ। मत है। अनुमान किया हुआ। विचार किया हुआ।
मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे।=मेरा।

अर्थ—आप (ही) जानने योग्य परम अक्षर (पर ब्रह्म) हैं। आप (ही) इस विश्व के सर्वोत्कृष्ट निधान (भण्डार या आश्रय) हैं। आप अविनाशी हैं। सदा एक रस रहने वाले अनादि धर्म के रक्षक हैं और आप ही सनातन पुरुष हैं। यह मेरा विश्वास किया हुआ मत है ॥ १८ ॥

व्याख्या—जब शिशु जन्म धारण करता है तो उसे रोने और स्तन-पान के अतिरिक्त दूसरा और कोई ज्ञान नहीं होता, ज्यों ज्यों बड़ा होता जाता है उसकी आँखें खुलती जाती हैं और उसके सांसारिक ज्ञान में वृद्धि होती जाती है वह पढ़ना लिखना सीख लेता है और कमाई करने के ढंगों से परिचित हो जाता है। परन्तु वह जब तक आप परब्रह्म परमेश्वर को नहीं जान लेता उस समय तक संसार-जंजाल से उस का छुटकारा नहीं हो सकता। इसलिये हे भगवन्! इस असार संसार में जानने योग्य केवल आप ही एक मात्र अक्षर या परम तत्त्व स्वरूप, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वर हैं जिन के शुद्ध स्वरूप को जान लेने से जन्म-मरण के सब सम्बन्ध कट जाते हैं तथा परम-पद प्राप्त हो जाता है। एवं हे भगवन्! आप ही "एतद् वै तदक्षरम्" (बृहद० ३।८।८।।) अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं के कथन के अनुसार—

अविनाशी या अक्षर हैं। अर्थात् आप सदा एक रस और पूर्ण रहते हैं जिस में कोई कमी-वेशी या परिवर्तन नहीं होता है। जब महा प्रलयकाल में

सम्पूर्ण विश्व का लोप हो जाता है तो उस समय सब कुछ आप में समा जाता है और पीछे केवल आप एक परब्रह्म परमेश्वर ही रह जाते हो और पुनः सृष्टि के आरम्भ काल में सब कुछ आप में से बाहर निकल आता है। यह बात ठीक इसी प्रकार से होती है जिस प्रकार किसी सरकारी कोश में करों, अनुदानों आदियों द्वारा आया हुआ धन एकत्रित हो जाता है और फिर वेतन आदियों के रूप में बाहर निकल जाता है यह सब कोश छोटे छोटे और अनेक होते हैं परन्तु आप तो परम-कोश या अत्युत्कृष्ट अद्वितीय निधान हो जिन से जीवों की उत्पत्ति होती है और अन्त में फिर सब भूत आप में ही विलीन हो जाते हैं। हे भगवन् ! भूतों की रचना और स्थिति का समय हमारे दिन की भान्ति है और उनके प्रलय का समय हमारी रात्रि के समान है। जिस प्रकार दिन चढ़ने पर सारे पक्षी और पतंगादि किसी महान् वट वृक्ष पर बने हुए अपने घौंसलों और दराड़ों से निकल कर दशों दिशाओं में सब ओर फैल जाते हैं और सूर्य के अस्त हो जाने पर रात के समय फिर उसी वट वृक्ष पर विश्राम करने के लिये आकर छिप जाते हैं ठीक इसी प्रकार आप भी जगत् के परम आश्रय-स्थान हैं। जब कोई जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ भाग्यवश आप की कृपा का पात्र बन जाता है तो वह आप को पाकर सदा के लिये आप के स्वरूप में लीन हो जाता है। इसलिए भी आप परम निधान परमधर या परम आश्रय हो। आप अव्यय या अविनाशी हो। क्योंकि आप का कभी नाश नहीं होता। सदा निर्विकार और नित्य हो। आप उस सनातन या अनादि धर्म के रक्षक हो जो शाश्वत या सदैव रहने वाला है। अग्नि का शाश्वत या सनातन धर्म सब को जलाना है। सूर्य का धर्म सब को तापित और प्रकाशित करना है। वायु का धर्म सुखाना है। जल का धर्म गीला करना और जीवन प्रदान करना है। मेघों का धर्म वर्षा बरसाना है, बिजली चमकती और गर्जती है। मानव का धर्म स्वयं जीना और दूसरों को जीने देना है तथा संसार से रहते हुए भी अन्त में आप में मिल जाना है जिसके लिये वह वेद शास्त्रों से प्रकाश प्राप्त करता है। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता जब कि अग्नि, सूर्य, वायु, जल, मेघ, बिजली आदि अपने सनातन धर्मों को त्याग कर उसके विपरीत आचरण करना प्रारम्भ कर दें क्योंकि आप उन सब के सनातन या शाश्वप धर्म की रक्षा करते हैं। मानव सृष्टि भी जब अपने सनातन धर्म से विपरीत चलने लगती है तो आप शाश्वत धर्म की रक्षा के लिये अवतार धारण करते हैं। इसलिए आप ही शाश्वत धर्म गोप्ता हैं तथा आप ही अविनाशी सनातन पुरुष है। श्रुति में कहा है—"अव्यक्तात्पुरुषः परः," अर्थात् आप ही सब से परे हैं और परम पुरुष हैं। ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय और पक्का विश्वास हो चुका है ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

अन्+आदि-मध्य+अन्त [+अनन्त-वीर्यम्+अनन्त-बाहुम्+शशि-सूर्य-नेत्रम् । पश्यामि त्वाम्+दीप्त-हुताश-वक्त्रम्+स्व-तेजसा विश्वम्+इदम्+तपन्तम् ।

अन्+आदि-मध्य-अन्तम्=(वि०) आदि: च मध्यं च अन्त: च न विद्यते यस्य स: अयम् अनादिमध्यान्त: तम् (बहुव्री०)=आदि मध्य और अन्त से रहित को । (द्विती० ए० व०) ।

अनन्त-वीर्यम्=(वि०) न यस्य वीर्यस्य अन्त: अस्ति तम् (बहुव्री०)=अनन्त वीर्य को । अनन्त शक्तिशाली को (द्विती० ए० व०) ।

अनन्त-बाहुम्=(वि०) अनन्ता बाहवो यस्य तम् (बहुव्री०) अनन्त भुजाओं वाले को । (द्वि० ए० व०) ।

शशि-सूर्य-नेत्रम्=(वि०) शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य तम्=चाँद और सूर्य रूप नेत्रों वाले को । (बहुव्री०) द्विती० ए० व० ।

पश्यामि=√दृश्+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) देखता हूँ । (मैं) देख रहा हूँ ।

त्वाम्+युष्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०+तुझ को । आप को ।

दीप्त-हुताश-वक्त्रम्=(वि०) दीप्त: च असौ हुताश: च स वक्त्रं यस्य तम् (बहुव्री०)=जलती हुई अग्नि रूप मुख वाले को । (द्विती० ए० व०) ।

स्व-तेजसा=(नपुं०) स्वस्य तेजसा (षष्ठी० तत्पु०)=स्वतेजस्+तृती० ए० व० =अपने तेज से । स्व तेज से ।

विश्वम्=(नपुं०) विश्व+द्विती० ए० व०=विश्व को ।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इसको ।

तपन्तम्=(वि०)√तप्+शतृ=तपत्+(पुं०) द्वि० ए० व० तपाते हुए को ।

अर्थ—आदि, मध्य, अन्त रहित, अनन्तवीर्य, अनन्त भुजाओं वाले, चाँद और सूर्य रूप नेत्रों वाले, जलती हुई अग्नि रूप मुख वाले, अपने तेज से इस विश्व को तपाते हुए आप को मैं (इस समय) देख रहा हूँ ॥ १९ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आप ने इस समय अपने विश्वरूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त और परिपूर्ण किया हुआ है जिस से मैं आप के न प्रारम्भ को देखता हूँ न मध्य को देखता हूँ और न अन्त को देखता हूँ । इसलिये इस विषय में मेरा विश्वास और दृढ़ और परिपक्व हो चुका है कि आप आदि, मध्य और अन्त से नितान्त रहित हो । आप उत्पत्ति से रहित हो । विनाश

से भी रहित हो तथा इन दोनों के मध्य होने वाले शैशव, किशोरावस्था, यौवन, प्रौढ़ता और वृद्धावस्था, क्षीनता, स्थूलता, रोग, शोक आदि से रहित हो। इस प्रकार आप उत्पत्ति, स्थिति और विनाश से रहित और सदा एक रस हैं। आप अनन्त वीर्य हो। आप में अनन्त सामर्थ्य, अनन्त बल, अनन्त तेज और अनन्त शक्ति है। आप के अनन्त नेत्र हैं जिन में ब्रह्माण्ड के समूचे चाँद और सूर्य लगे हुए हैं। जो शीतलता, प्रकाश और ताप विकीर्ण कर रहे हैं। आप के अनन्त मुख हैं जो अग्नि की भान्ति देदीप्यमान हैं और उन के भीतर से अग्नि की लपलपाती हुई ज्वालायें बाहर निकल रही हैं। आप सम्पूर्ण विश्व को अपने तेज से तपायमान कर रहे हैं। इस समय आप का यह सब खेल मैं आप के द्वारा दिये हुए दिव्य नेत्रों से देख रहा हूँ ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

द्यावा-पृथिव्योः+इदम्+हि व्याप्तम्+त्वया+एकेन दिशः+च+सर्वाः । दृष्ट्वा+अद्भुतम्+रूपम्+उग्रम्+तव+इदम्+लोक-त्रयम्+प्रव्यथितम्+महात्मन् ! ॥

द्यावा-पृथिव्योः=(स्त्री०) द्यौश्च पृथिवी च, 'द्यावा' आदेशः=द्यावापृथिवी +षष्ठी० द्वि० व०=आकाश और पृथिवी का।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=यह।

अन्तरम्=(नपुं०)√अन्+अरन्, तुडागम=अन्तर+द्विती० ए० व०= अन्तरम्=मधवर्ती भाग। बीच का भाग।

हि=(अव्यय) क्योंकि। ही।

व्याप्तम्=वि√आप्+(कर्मणि) क्त=व्याप्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=व्याप्त है। भरा हुआ है।

त्वया=युष्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=तेरे द्वारा। तुझ से। आप से। आप के द्वारा।

एकेन=(सर्व० वि०)√इ+कन्=एक+(पुं०) तृती० ए० व०=एक से। अकेले से। एक मात्र से।

दिशः=(स्त्री०) (दिशति अवकाशं ददाति)। √दिश्+क्विन्=दिश्+प्र० ब० व०=दिशः=दिशायें।

च=(अव्यय) और।

सर्वाः=सर्व (सर्व०)+(स्त्री०) प्र० ब० व०=सारी। सब। सम्पूर्ण।

दृष्ट्वा=√दृश (भ्वा० पर० सक०=देखना)+क्त्वा=देख कर।

अद्भुतम्=(वि०) अतति इति अत् भान्ति इति√भा+डुतच्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=अद्भुत को। आश्चर्यजनक को। अलौकिक को।

रूपम्=(नपुं०)√रूप्+अच्=रूप+द्विती० ए० व०=रूप को।

उग्रम्=(वि०)√उच्+रक्, 'ग' आदेश=उग्र+(नपुं०) द्विती० ए० व०= भयंकर को। उग्र को। क्रूर को।

तव=युष्मद् (सर्व०) षष्ठी० ए० व०=तेरे। आप के।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इसको।

लोक-त्रयम्=(नपुं०) लोकां त्रयं [त्रि+अयच्+प्र० एक० व०=तीन का समूह] समाहारः (द्विगु०)=तीनों लोक। तीनों लोकों का समूह। (जीव समूह)।

प्रव्यथितम्=(वि०) प्र√व्यथ् (भ्वा० आत्म० अक० दुःखी होना, भयभीत होना। कांपना)+क्त+(नपुं०) प्र० ए० व०=अतिव्यथा को प्राप्त हो रहा है। भय से काँप रहा है।

महात्मन्!=हे महात्मन्!। हे अक्षुद्रस्वभाव (कृष्ण)!

अर्थ—हे महात्मन्! आकाश और पृथिवी का यह मध्यवर्ती भाग तथा सारी दिशाएँ एक आप (के विश्वरूप) से ही व्याप्त (भरी हुई) हैं। आप के इस अद्भुत भयंकर रूप को देख कर तीनों लोकों का जीव समूह भय से काँप रहा है॥ २०॥

व्याख्या—हे महात्मन्! आप परमात्मा हो। अक्षुद्र-स्वभाव हो। हमारी पृथिवी के चारों ओर जो नीला आकाश दिखाई दे रहा है यह शून्य स्थान है कोई नहीं जानता कि इसका अन्त कहाँ पर जाकर होता है। भूगोल के सारे तल पर प्राणधारी विचर रहे हैं जिनके पाँव धरती पर हैं और धड़ तथा सिर आकाश की ओर हैं। हे भगवन्! आज हम धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र की पुण्य भूमि पर स्थित हैं यहाँ भी हमारे सिर पर ऊँधे प्याले के रूप में क्षितिज से मिला हुआ जो नीला आकाश दिखाई देता था वह मुझे अब खाली दिखाई नहीं देता है और न चारों ओर की दिशाओं में कोई स्थान शून्य या रिक्त दिखाई देता है। इस सारे विश्व में आप का विराट् रूप ही भरा हुआ दिखाई दे रहा है। आकाश में जहाँ तक दृष्टि जाती है। वहाँ तक आप का विराट् रूप ही दिखाई दे रहा है। आप का यह रूप अत्यन्त अद्भुत और भयंकर है। जिस को देख कर ऊपर के लोकों में रहने वाले, नीचे के लोकों में रहने वाले तथा पृथिवी के सारे निवासी भयभीत होकर काँपते हुए दिखाई दे रहे हैं।

मैं ने श्रुति में सुना था—"ब्रह्मैवेदंसर्वम्" अर्थात् यह सारा जगत् ब्रह्मरूप ही है। अब आप के इस विश्व रूप को देख कर मुझे इस श्रुति की सत्यता का साक्षात्कार हो गया है ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्ध संघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

[पाठान्तर—त्वा+सुर या असुर—]

अमी हि त्वाम्+सुर-संघाः+विशन्ति केचित्+भीताः प्राञ्जलयः+गृणन्ति। "स्वस्ति"+इति+उक्त्वा महर्षि-सिद्ध-संघाः स्तुवन्ति त्वाम्+स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।

अमी=अदस् (सर्व० यह)+(पुं०) प्र० ब० व०=ये (सब)।

हि=(अव्यय) निःसन्देह। ही।

त्वाम्=युष्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=तुझ को। आप को। आप में।

["गमन करना" अर्थ में सप्तमी के स्थान पर द्वितीया विभक्ति होती है।]

सुर-संघाः=(पुं०) (असुर-संघाः=असुर-समूह) सुराणां संघाः (षष्ठी० तत्पु०) =(सारे) देवताओं के समूह। दैत्यों के समूह।

विशन्ति=√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=प्रवेश करते हैं। प्रवेश कर रहे हैं।

केचित्=किम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=के+चित् कुछ। कोई एक। कई एक।

भीताः=(वि०)√भी (जुहो० पर० अक०=डरना)+क्त=भीत+(पुं०) प्र० ब० व०=भयभीत हुए। डरे हुए।

प्राञ्जलयः=(वि०) प्रसृतौ अञ्जली येन स प्राञ्जलिः। [प्र—अञ्जलि (पुं० √अञ्ज्+अलि)] प्राञ्जलि+(पुं०) प्र० ब० व०=प्राञ्जलयः= हाथ जोड़े हुए।

गृणन्ति=√गॄ (क्र्या० पर० अक०=उच्चारण करना। स्तुति करना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=उच्चारण करते हैं। स्तुति कर रहे हैं।

स्वस्ति=(अव्यय) सु√अस्+क्तिच् वा "अस्ति" इति विभक्ति प्रतिरूपकम् अव्ययम्, प्रा० स०=(सु०+अस्ति)=कल्याण हो।

इति=(अव्यय)√इ+क्तिन्=इस प्रकार। ऐसा।

उक्त्वा=√वच्+क्त्वा=कह कर।

महर्षि-सिद्ध-संघाः=(पुं०) महर्षीणां च सिद्धानां च संघाः (द्वन्द्व० युक्त षष्ठी० तत्पु०) प्र० ब० व०=महार्षियों और सिद्धों के समूह।

स्तुवन्ति=√स्तु (अदा० उभ० सक०=प्रशंसा या स्तुति करना। प्रशंसा का गीत गाना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=स्तुति कर रहे हैं। प्रशंसा के गीत गा रहे हैं।। सराह रहे हैं।

त्वाम्=युष्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=तुझ को। आप को। आप की।

स्तुतिभिः=(स्त्री०)√स्तु+क्तिन्=स्तुति+तृती० ब० व०=स्तुतियों से। स्तोत्रों से। स्तुति के मन्त्रों या श्लोकों द्वारा।

पुष्कलाभिः=(वि०) पुष्कं पुष्टिम् अर्हति वा पुष्कम् अस्ति अस्य, पुष्क+लच् =पुष्कल+तृती० ब० व०=अनेकों।

अर्थ—ये सब देवताओं के समूह और असुरों के समुदाय निःसन्देह आप में ही प्रवेश कर रहे हैं। कोई एक भयभीत या डरे हुए तथा हाथ जोड़े हुए आप के स्वरूप की स्तुति कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धों के समूह "जगत् का कल्याण हो" इस प्रकार कह कर अनेकों स्तोत्रों द्वारा आप की प्रशंसा के गीत गा रहे हैं ।। २१ ।।

व्याख्या—हे भगवन्! ये सब देवता लोग जो इस समय मुझे दिखाई दे रहे हैं। अपने शुभ कर्मों के बीज नष्ट करके आप के स्वरूप में लीन होते हुए दृष्टि-गोचर हो रहे हैं [किसी-किसी पुस्तक में "त्वां सुरसंघाः" के स्थान पर "त्वा सुरसंघाः" पाठ लिखा हुआ है जो अत्यन्त सुन्दर और ठीक मालूम होता है उसके अनुसार सन्धिच्छेद करने पर सुर और असुर दोनों से तात्पर्य है] तथा असुरों का समुदाय आपके साथ युद्ध में शरीर त्याग कर आप में प्रवेश कर रहा है अथवा आप का यह विश्वरूप प्रलय काल के दृश्य को भी दिखा रहा है जिस के कारण सुर और असुर भी अन्य सम्पूर्ण भूतों की भान्ति आप के शरीर में प्रविष्ट हो कर लुप्त होते जा रहे हैं। इन में से कुछ ऐसे भी हैं जो भागने में असमर्थ है तथा उन पंक्तियों में पीछे खड़े हैं जिन में आगे वाले सुर और असुर आप में अग्नि में पतंगवत् प्रवेश कर रहे हैं ये बेचारे उन को देख कर अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं और बचे रहने की सम्भावना न जान कर डरके मारे हाथ जोड़ कर दीनता दिखाते हुए आप की स्तुति कर रहे हैं। सारे महर्षि और सिद्धों के समूह आप के इस भयंकर रूप को देख कर यह अनुमान कर रहे हैं कि इस महाभारत के युद्ध में सर्वनाश होने वाला है इसलिये बार-बार "स्वस्ति" शब्द कह कर संसार के कल्याण की कामना कर रहे हैं और अपनी इस शुभ कामना की पूर्ति के लिये अनेकों वेदोक्त और स्वरचित स्तोत्रों द्वारा आप की स्तुति के गीत गा रहे हैं। और कह रहे हैं हे भगवन्! इन सब जीवों की रक्षा करो जो माया-सागर

में डूब रहे हैं। विषयों के जाल में फँसे हुए हैं। पापों के कीचड़ में लथड़े हुए हैं। दुर्योधनादि कुलकलंक न केवल भारत देश का ही बल्कि सारे संसार का विध्वंस करने पर तुले हुए हैं। इस विनाशकारी आण्विक आयुधों के चल जाने से संसार के सारे बच्चे अनाथ हो जायेंगे और स्त्रियाँ विधवा होकर दर दर की ठोकरें खाएँगी। सारे विद्वान्, योधा, शिल्पी, कृषक और विज्ञान-वेत्ता लोग मारे जायेंगे जिससे संसार के सारे सुख और सुविधा-साधन नष्ट हो जाएँगे और सारा संसार फिर से प्रारम्भिक अवस्था में वापस लौट जायेगा। इसलिये हे भगवन्! दया करो जिस से मनुष्य मात्र का कल्याण हो ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रुद्र-आदित्याः+वसवः+ये च साध्याः+विश्वे+अश्विनौ मरुतः+च +उष्मपाः+च । गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्ध-संघाः वीक्षन्ते त्वाम्+विस्मिताः+च +एव सर्वे ॥ २२ ॥

रुद्र-आदिया:=(पुं०) रुद्राः च आदित्याः च (इतरेतर द्वन्द्व०)=एकादश रुद्रदेवता और द्वादश आदित्य देवता (प्र० ब० व०)।

वसवः=(पुं०)√वस्+ड=वसु+प्र० ब० व०=आठ वसु देवता।

ये=यद् (सर्व०)+प्र० ब० व०=जो।

च=(अव्यय) और।

साध्याः=(पुं०)√सिध्+णिच्, साधादेशः=साध्+यत्=साध्य+प्र० ब० व०=साध्याः। धर्म की पत्नी दक्ष-कन्या, साध्या ने मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, अपान, भक्ति, भय, अनघ, हंस, नारायण, विभु और प्रभु इन बारह साध्य देवताओं को जन्म दिया था।

विश्वे=(पुं०) विश्+क्विन्=विश्व। धर्म की दूसरी पत्नी दक्ष-कन्या विश्वा से विश्वेदेवों की उत्पत्ति हुई थी। [यह देवताओं का एक गण है, जिस में वसु, सत्य, क्रतु, दक्ष, काल, काम, धृति, कुरु, पुरुखा और माद्रवा ये दस नामों वाले देवता गिने जाते हैं।] इस शब्द का उच्चारण सार्वनामिक विशेषण शब्दों के समान होता है।

विश्व+प्र० ब० व०=विश्वे=श्राद्ध में पूजे गये दस विश्वे देव (अलुक स०)।

अश्विनौ=(पुं०) अश्व+इनि=अश्विन्+प्र० द्वि० व०=अश्विनौ=स्वर्ग में

रहने वाले दो वैद्य भ्राता। जिन के मुख घोड़ों जैसे तथा धड़ नरों जैसे हैं। ये दोनों अश्विनी कुमार कहलाते हैं। इनका जन्म अश्विनी नाम वाली स्त्री से हुआ था जो सूर्य की पत्नी थी जिस के साथ सूर्य ने घोड़ा बन कर संग किया था। अर्थात् घोड़े के वीर्य का टीका कर देने से ये अपनी माता को जन्मे थे। [इसी प्रकार हरिणी में नर-वीर्य का टीका करने से शृंगी ऋषि की उत्पत्ति हुई थी।

मरुत:=(पुं०)√मृ+उत=मरुत+प्र० ए० व०=उन्चास मरुद्गण।

च=(अव्यय) और।

ऊष्मपा:=(पुं०)√ऊष् (भ्वा० पर० अक०)+मनिन्=उष्मन्+प=उष्मप +प्र० ब० व०=ऊष्मपा:। [ऊष्मन्नं पिबन्ति भक्षयन्ति वा ये ते (बहुव्री०)। गर्म अन्न पीने खाने वाले।] पितर लोग। भगवान् मनु ने कहा है—"पितर लोग गर्म अन्न खाते हैं।" श्रुति में कहा है—"उष्म-भागा हि पितर:।" अर्थात् श्राद्ध में पितर तभी तक अन्न को ग्रहण करते हैं, जब तक वह गर्म रहता है।

शिव पुराण में पितरों के नाम इस प्रकार लिखे हैं—

कव्यवाहोऽनल: सोमो यमश्चवार्यमा तथा।
अग्निष्वात्ता वर्हिषदस्त्रयश्चान्त्या ह्यमर्तय:॥
(शिव० धर्म ६३।२॥)

भगवान् मनु ने इन पितरों के सात गण कहे हैं—

सोमसद्। अग्निष्पात्त। वर्हिषद्। सोमपा। हविष्मान्। आज्यपा और सुकालिन्॥

च=(अव्यय) और।

गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्ध-संघा:=(पुं०) गन्धर्वाणां (हाहा-हूहू-प्रभतीनां), यक्षाणां (कुबेर-प्रभतीनां), असुराणां (विरोचन प्रभृतीनां), सिद्धानां (कपलादीनां), च संघा:। [इतरेतर द्वन्द्व समास षष्ठी तत्पु०] प्र० ब० व०=हाहा हूहू आदि गन्धर्वों के समूह, कुबेर आदि यक्षों के समुदाय, विरोचन प्रभृति असुरों के संघ और कपलादि सिद्धों के गण॥

[१. गन्धर्व=(पुं०) गन्ध√अर्व्+अच् वा गो√धृ+व, पृषो० साधु: =गन्धर्व। ये देवताओं के गवैये है। इन के मुँह गधों से मिलते जुलते हैं क्योंकि इन की उत्पत्ति गधे के वीर्य के टीके द्वारा की गई थी। इनकी माताएँ कश्यप की तीन पत्नियाँ 'मुनि', प्राधा और अरिष्टा मानी जाती हैं॥

२. यक्ष=(पुं०) यक्ष्यते पूज्यते,√यक्ष्+घञ्=यक्ष। यक्षों की उत्पत्ति

महर्षि कश्यप की पत्नी "खसा" से हुई थी। भगवान् शंकर के गण में भी यक्ष लोग हैं। यक्ष लोग अपने राजा कुबेर के धनागारों की रक्षा करते हैं।

३. असुर=(पुं०) न सुरः, नञ् तत्पु० तथा √अस्+उर=दैत्य, दानव, राक्षस। ये तीनों प्रकार के लोग देवताओं के विरोधी हैं। कश्यप की स्त्री दिति से दैत्यों का जन्म हुआ था। उस की दनु नाम की स्त्री से उत्पन्न हुए लोग दनुज या दानव कहलाए। राक्षसों की उत्पत्ति तो कई प्रकार से हुई थी ये लोग काले कलूटे, मांस-मदिरा भक्षी और बहुत निर्दयी तथा क्रूर थे मनुष्य का मांस भी खा लेते थे। अनेक प्रकार की माया करना जानते थे। प्लास्टिक सर्जरी द्वारा इन के राजा रावण ने अपने दस सिर और बीस भुजाओं की रचना कर रखी थी। इस तरह उसने द्विमुखी इन्द्र, त्रिमूर्ति भगवान् ॐकार, चतुर्मुख ब्रह्मा, पंचमुखी शंकर और षडानन् श्री कार्त्तिकेय आदि देवताओं से अधिक श्रेष्ठ, शक्तिशाली और बड़ा बनने का प्रयत्न किया था।

४. सिद्ध=(पुं०)√सिध्+क्त=सिद्धि प्राप्त किए हुए कपल आदि लोग एक देव योनि विशेष के लोग। अलौकिक शक्ति सम्पन्न साधु सन्तों और महात्माओं का नाम भी सिद्ध है।]

वीक्षन्ते=वि√ईक्ष् (भ्वा० आत्म० सक०=देखना)+लट्० प्र० पु०, ब० व० =देखते हैं। देख रहे हैं। (पश्यन्ति)।

त्वाम्=युष्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=तुझ को। आप को।

विस्मिताः=(वि०) वि√स्मि+क्त=विस्मित+(पुं०) प्र० ब० व०=विस्मित हुए। हैरान हुए। चकित हुए। आश्चर्य में डूबे हुए। [विस्मयम् आपन्नः सन्तः]

अर्थ—एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु, द्वादश साध्य, दस विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, उनचास मरुद्गण, सात ऊष्मपा (पितरों के गण), गन्धर्वों के सब समूह, यक्षों के सारे समुदाय, तीनों (दैत्य, दानव, राक्षस) असुरों के संघ और सब प्रकार के सिद्ध लोगों के समुदाय आदि जो (भी यहाँ उपस्थित) हैं वे सब आश्चर्य में डूबे हुए आप को देख रहे हैं॥ २२ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! आप के द्वारा दिए हुए दिव्य नेत्र से मुझे सब कुछ हथेली पर रक्खे हुए आमले की भान्ति स्पष्टतया दिखाई दे रहा है। सारे रुद्र खड़े दिखाई दे रहे हैं। द्वादश आदित्य भी दिव्य देह धारी सामने विराजमान हैं। आठों वसु भी अच्छी तरह दृष्टि-गोचर हो रहे हैं। साध्य नाम के सब देवता भी सामने खड़े हैं। दोनों अश्विनी कुमार भी आ उपस्थित हुए हैं। उनचास मरुद्गण भी यथास्थान विराजमान हैं। गर्म भोजन करने वाले पितर गण भी इन सब

में सम्मिलित हैं। हाहा हूहू आदि गन्धर्व गण भी मुँह उठाए चुप चाप खड़े हैं। कुबेर के साथी यक्ष तथा महादेव के गणों में रहने वाले यक्ष भी हाज़र है। असुरों में गिने जाने वाले सारे दैत्य, दानव और राक्षस भी इस समूह में सम्मिलित हैं। देवलोक तथा पृथिवी में रहने वाले सब सिद्ध मूक बने हुए खड़े हैं। परन्तु इन सब प्रकार के समूहों में बोलता कोई नहीं है। सभी आश्चर्य में डूबे हुए हैं। बहुत हैरान हैं और एक टक आप को देख रहे हैं॥ ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

रूपम्+महत्+ते बहु-वक्त्र-नेत्रम्-महा-बाहो ! बाहु-बाहु+उरु-पादम्। बहु+उदरम्+बहु-दंष्ट्रा-करालम्+दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः+तथा+अहम् ॥

रूपम्=(नपुं०) √रूप् (चुरा० पर० सक०)=बनाना+अच्=रूप+द्विती० ए० व०=रूप को। स्वरूप को। बनावट को।

महत्=(वि०)√मह्+अति=महत्+(नपुं)+द्विती० ए० व०=महान् को। बहुत बड़े को। अत्यन्त विशाल को।

ते=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तव, ते=तेरे। आप के।

बहु-वक्त्र-नेत्रम्=(वि० नपुं०) बहूनि वक्त्राणि (मुखानि) नेत्राणि (चक्षूंषि) च यस्मिन् तद् (रूपम्) [बहुव्री०] द्विती० ए० व०=बहुत से मुखों और नेत्रों वाले को।

महा-बाहो !=महान् बाहुः यस्य (बहुव्री०)। महाबाहु+सम्बोधन ए० व०=हे बड़ी बाहु वाले ! हे महाशक्तिमान् ! हे सब कुछ कर सकने में समर्थ ! हे कृष्ण !

बहु-बाहू+उरु-पादम्=(वि० नपुं०) बहवो बाहवो उरवः पादाः च यस्मिन् (रूपे) तद् [बहुव्री०] द्विती० ए० व०=बहुत सी भुजाओं, जंघाओं और पावों वाले को।

बहु+उदरम्—(वि० नपुं०) बहूनि उदराणि यस्मिन् तद् (रूपम्) द्विती० ए० व० =बहुत उदरों (पेटों) वाले को।

बहु-दंष्ट्रा-करालम्=(वि० नपुं) बह्वीभिः दंष्ट्राभिः करालं (विकृतं) तद् (रूपम्) [बहुव्री०] द्विती० ए० व०+बहुत डाढ़ों से विकराल बने हुए को। बहुत भयंकर डाढ़ों वाले को।

दृष्ट्वा=√दृश+क्त्वा=देख कर।

लोका:=(पु०)√लोक्+घञ्=लोक+प्र० ब० व०=सम्पूर्ण लोक। लौकिका: प्राणिन:। संसार के सारे प्राणी।

प्रव्यथिता:=(वि० पुं) प्र√व्यथ् (भ्वा० आत्म० अक०=दु:खी होना। अशान्त होना। विकल होना। कांपना। भयभीत होना। (सूख जाना)+क्त+प्र० ब० व०=भयभीत हो रहे हैं। कांप रहे हैं। व्याकुल हो रहे हैं।

तथा=(अव्यय) तद्+थाल्=वैसे ही। और वैसे ही।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०।=मैं (भी)।

अर्थ—हे महावाहो (सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण)! बहुत मुखों और नेत्रों वाले, बहुत भुजाओं, जंघाओं और पावों वाले, बहुत उदरों वाले और बहुत भयंकर डाढ़ों वाले आपके महान् रूप को देख कर संसार के सारे प्राणी भयभीत और व्याकुल हो रहे हैं और वैसे ही मैं भी भयभीत और व्याकुल हो रहा हूँ॥ २३॥

व्याख्या—हे महावाहो! आप सर्वशाक्तिमान् हो। इस से आप को यह विश्वरूप दिखाना क्या कठिन काम है। जिस प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड और इस के बीच की सारी रचना कल्पारम्भ में आप के स्फुरण मात्र से ही प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार यह आप का भयंकर रूप भी आप की इच्छा मात्र से मेरे सामने आ उपस्थित हुआ है। इस में सब ओर इतने मुख लगे हुए हैं जिनका कोई अन्त नहीं है तथा उन में अनन्त आंखें लगी हुई हैं। आप के इस स्वरूप में चारों ओर अनन्त भुजाएँ जुड़ी हुई हैं और अगिनत जंघाएं (रानें) जुड़ी हुई हैं। आप के मुखों में डरावनी डाढ़ों का कोई अन्त नहीं है। जिन से बच जाना अति कठिन मालूम हो रहा है। बड़े आश्चर्य की बात यह है कि यह रूप आप ने केवल मेरे दिखाने के लिए ही प्रकट किया है परन्तु मैं यह देख रहा हूँ कि त्रिलोकी के सारे प्राणी आप के इस भयानक रूप को देख रहे हैं और थर थर कांप रहे हैं। चिर काल तक मैं आप को अपना सखा और साथी समझता रहा और मैंने संसार के संहार करने वाले शंकर से भी डट कर युद्ध किया था। तथा स्वयं यम भी मुझ से डर कर छिपा रहता है। एवं संसार भर के योद्धा लोग शौर्य क्षेत्र में मेरा लोहा मान चुके हैं। परन्तु आज तो मेरी यह दशा हो रही है कि में स्वयं आप के इस भयानक स्वरूप को देख कर थर थर कांप रहा हूँ तथा भयभीत होकर व्यथित हो रहा हूँ। दया करो॥ २३॥

नभ: स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

नभः-स्पृशम् + दीप्तम् + अनेक-वर्णम् + व्यात्त + आननम् = दीप्त-विशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वाम् + प्रव्यथित + अन्तर + आत्मा धृतिम् + न विन्दामि शमम् + च विष्णो ! ॥

नभः-स्पृशम् = (वि०) नभः स्पृति यः तं (बहुव्री०) (पुं०) द्विती० ए० व० = आकाश को छूने वाले को। आकाश के साथ स्पर्श किए हुए को। [नभस् = (नपुं०) √नह् + असुन्, 'भ' आदेश = आकाश । नीला आसमान, जिस की ऊँचाई का कोई अन्त नहीं है।

[स्पृश + (वि०) √ स्पृश् + घञ् + क्विप् = छूनेवाला] ।

दीप्तम् = (वि०) √दीप् + क्त = दीप्त + (पुं०) द्विती० ए० व० = देदीप्यमान् को । चमकते हुए को। प्रज्वलित को।

अनेक-वर्णम् (वि०) अनेके वर्णा यस्मिन् = (बहुव्री) अनेक रंगों वाले को (पुं०, द्विती० ए० व०)। अनेक रूपों से युक्त को।

[अनेक = (वि०) न एकः, नञ् तत्पु० । वर्ण = (वि०) √वर्ण + घञ् = वर्ण + क्विप् = अनेक रंगों वाला ।]

व्यात्त-आननम् = (वि०) व्यात्तानि (विवृतानि) आननानि (मुखानि) यस्य तं (त्वाम्) (बहुव्री०) = खोले या फैलाए हुए मुखों वाले को।

[व्यात्त = (वि०) वि-आ √दा + क्त = खोला हुआ। फैलाया हुआ (मुख)। आनन = (नपुं) आ √अन् + ल्युट् = मुँह । मुख ।] (पुं०) द्विती० ए० व० ।

दीप्त-विशाल-नेत्रम् = (वि०) दीप्तानि (प्रज्वलितानि) विशालानि (विस्तीर्णानि) नेत्राणि यस्य तम् (त्वाम्) [बहुव्री०] = चमकते हुए विशाल नेत्रों वाले को। प्रकाशमान विस्तीर्ण नेत्रों वाले को ।

दृष्ट्वा = √दृश् + क्त्वा = देख कर।

हि = (अव्यय) क्योंकि। निःसन्देह । ही।

त्वाम् = युष्मद् (सर्व०) + द्विती० ए० व० = तुझ को। आप को।

प्रव्यथित + अन्तर + आत्मा = (वि०) प्रव्यथितः (प्रभीतः) अन्तरात्मा (अन्तरस्यात्मा = मनः) यस्य मम सः अहम् । (बहुव्री०) = व्याकुल मन वाला हुआ (मैं)। (पुं०) प्र० ए० व० ।

धृतिम् = (स्त्री०) √धृ + क्तिन् = धृति + द्विती० ए० व० = धृति को । धैर्य को।

न = (अव्यय) नहीं। न ।

विन्दामि = √विन्द् (तुदा० पर० सक० = पाना) + लट्० उ० पु०, ए० व० प्राप्त करता हूँ। पाता हूँ। पा रहा हूँ।

शमम्=(पुं०)√शम्+घञ्+द्वितीο एο वο=शान्ति को।

च=(अव्यय) और।

विष्णो!=हे विष्णु! [सम्बोधन एο वο]

[विष्णु=(पुं०)√विष् (जुहो० उभ० अक०=व्याप्त होना)+नुक्।]

अर्थ—हे विष्णो! [हे जगत् को पालन करने वाले सर्वव्यापक भगवान्!] आकाश को छूने वाले, देदीप्यमान, अनेक रंगों से युक्त, खुले और फैलाए हुए मुखों वाले, तथा चमकते हुए विशाल नेत्रों वाले आपको देख कर ही व्याकुल मन वाला हुआ मैं धैर्य और शान्ति को नहीं पा रहा हूँ॥ २४॥

व्याख्या—हे विष्णो! आप तो सब को पालन करने वाले हो क्योंकि आप के नाम में ही यह अर्थ निहित है। तो फिर यह विपरीत बात क्यों कर रहे हो। कि गगन चुम्बी देह वाले बन गये हो। अत्यन्त देदीप्यमान अनेक रंगों से युक्त अपना शरीर बना लिया है। बहुत भयानक दानवशरटों जैसे हाथियों को सहज ही निगल जाने वाले मुँह खोल रखे हैं। महा अजगरों की भान्ति चमकदार आकर्षण शक्ति से परिपूर्ण विशाल नेत्रों से चारों ओर टकर टकर देख रहे हो मानों सारे संसार को ग्रस लेना चाहते हो। आप के इस रूप को देखने मात्र से ही मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो गया है। सारा धैर्य जाता रहा है। शान्ति की प्राप्ति का कोई साधन ही दिखाई नहीं देता है। इसलिए आप खुश होकर मेरे धैर्य और शान्ति को स्थिर कीजिए और आप तो विष्णु होने से पहले ही सर्व व्यापक और सब से सुन्दर हो। तो फिर इस भयानक रूप को धारण करके मुझे भयभीत क्यों कर रहे हो? कृपा करो। दया करो। इस रूप को पूर्ववत् छिपा लो। क्योंकि अब यह मुझ से देखा नहीं जाता है॥ २४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

दंष्ट्रा-करालानि च ते मुखानि दृष्ट्वा+एव काल+अनल+सन्निभानि। दिशः+न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देव+ईश! जगत्+निवास!॥

दंष्ट्रा-करालानि=(वि०) (नपुं०) दंष्ट्राभिः करालानि (विकृतानि) (तृती० तत्पु०) डाढ़ों से विकराल।

[दंष्ट्रा=(स्त्री०) दश्यतेऽनया√दश्+ष्ट्रन्=डाढ़। कराल=(वि०) कर-आ√ला+क=कराल+(नपुं०) द्विती० ब० व० (मुखानि का विशेषण)]

च=(अव्यय) और।

ते=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तव, ते=तेरे। आप के।

मुखानि=(नपुं०) खनति विदारयति अन्नादिकम् अनेन वा खन्यते विधात्रा सुखम् अनेन, √खन्+अच्, डित्, मुडागम=मुख+द्विती० ब० व० =मुखों को।

दृष्ट्वा=√दृश्+क्त्वा=देख कर।

एव=(अव्यय) ही।

काल+अनल-सन्निभानि=(वि०) प्रलयकाले लोकानां दाहकोऽनल:=कालानल: तत् सन्निभानि (सदृशानि) [कर्मधारय०]=प्रलय काल की अग्नि के समानों (सदृशों प्रज्वलितो) (मुखों) को।

[काल=(पुं०) कलयति आयु:√कल्+णिच्+अच्+अण् वा कलयति सर्वाणि भूतानि=समय। मृत्यु देवता। महाकाल।

अनल=(पुं०) नास्ति अलम्=पर्याप्ति: यस्य बहुदाह्यदहनेऽपि तृप्तेरभावात्, (नञ् बहुव्री०)=अग्नि।

सन्निभानि=(वि०) सम्-नि+भा+क=सन्निभ+(नपुं०) द्विती० ब० व०=सदृशों को]

दिश:=(स्त्री०) दिशति अवकाशं ददाति, √दिश् (तुदा० उभ० सक०)+क्विन् =दिश्+द्विती० ब० व०=दिशाओं को।

न=(अव्यय) न। नहीं।

जाने=ज्ञा (क्र्या० उभ० सक०=जानना, पहचानना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=जानता हूँ। पहचानता हूँ। (दिङ्मूढो जात: अस्मि)।

न=(अव्यय) न। नहीं।

लभे=√लभ् (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना, पाना)+लट्० उ० पु०, ए० व०+प्राप्त होता हूँ। पाता हूँ।

च=(अव्यय) और।

शर्म=(नपुं०)√शृ+मनिन्=शर्मन्+द्विती० ए० व०=शर्म को। शान्ति को। विश्रांति को। रक्षास्थान को। विश्राम को। सुख को।

प्रसीद=प्र√सद्+लोट्० म० पु० ए० व०=(तू) प्रसन्न हो जा। आप खुश हो जाओ।

देव+ईश !=(वि०) देवानाम् ईश: (षष्ठी० तत्पु०)=देवेश: ! (सम्बो०) (पुं०) ए० व०=हे देवेश ! हे देवताओं के स्वामी !

जगत्+निवास !=(वि० पुं०) जगत: निवास: य:। (सम्बो० ए० व०) हे जगन्निवास ! हे जगत् के निवास स्थान ! हे सब के आश्रय-दाता।

अर्थ—हे देवेश ! आप के दाढ़ों से विकराल और प्रलयकाल की अग्नि के सदृश प्रज्वलित मुखों को देख कर ही मैं दिशाओं को भूल गया हूँ। (अर्थात् मुझे पता ही नहीं रहा कि मैं कहां खड़ा हूँ ?) हे जगन्निवास ! मैं शान्ति या विश्राम को प्राप्त नहीं हो रहा हूँ। आप प्रसन्न हो जाइये ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे भगवान् ! आप तो इन्द्रादि देवताओं के स्वामी हैं। राजा तो प्रजा से अत्यन्त सुन्दर होता हैं। आप को छोड़ कर देवता लोग शेष सारी जीव सृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और सौम्य रूप होते हैं। फिर आप की सुन्दरता का तो कोई ठिकाना ही नहीं है। तो फिर आप ने अपने असली स्वरूप के विपरीत आज यह विकराल रूप क्यों धारण कर रखा है। जिसके सब मुख अत्यन्त भयंकर और विकृत बने हुए हैं और दूसरों को भक्षण करने के लिए आवश्यकता से अधिक खुले हुए हैं उन में बड़ी बड़ी विकराल दाढ़े बाहर बढ़ी हुई दिखाई दे रही हैं उन के भीतर जो भयानक लाल लाल जीभें दिखाई दे रही हैं। वे वास्तव में जीभें नहीं हैं वे तो प्रलय काल की अग्नि की घोर ज्वालाएँ हैं जो लपलपाती हुई बाहर निकल रही हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जला कर राख कर देना चाहती हैं आप तो जगत् के निवास स्थान हैं अर्थात् जगत् के अधिष्ठान या आश्रयदाता हैं। तो फिर आप अपने इस गुण को भूल कर यह क्या महा अनर्थ करने वाले बने हुए हो मैं तो इस समय अत्यन्त भयभीत हो गया हूँ अपना आप तक भूल गया हूँ। अब तो यह भी नहीं सूझ रहा है कि पूर्व किधर है ? पश्चिम किधर है ? तथा शेष दिशाएँ कहां लुप्त हो गई हैं ? मेरे अन्त:करण से तो अब अध:, ऊर्ध्व का भेद भाव भी मिट चुका है। अब मुझे न शान्ति मिल रही है। न मैं किसी तरह विश्राम पा रहा हूँ। और न ही कोई समाधान हो रहा है मैं तो इस समय थरथर काँप रहा हूँ। आप मुझ पर प्रसन्न हो जाइए और इस रूप को त्याग कर पुन: मेरे सखा कृष्ण बन जाइए ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्रा:
सर्वे सहैवावनिपालसंघै: ।
भीष्मो द्रोण: सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यै: ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति ।
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गै: ॥ २७ ॥

अमी च त्वाम् + धृतराष्ट्रस्य पुत्रा: सर्वे सह + एव अवनि-पाल-संघै: ।

भीष्मः+द्रोणः सूत-पुत्रः+तथा+असौ सह+अस्मदीयैः+अपि योध-मुख्यैः ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणाः+विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि । केचित्+विलग्नाः+दशन+अन्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैः+उत्तम+अङ्गैः ॥ २७ ॥

अमी=अदस् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=ये (सब) ।

च=(अव्यय) और ।

त्वाम्=युष्मद्(सर्व०)+द्विती० ए० व०=तुझ को । आप को । आप में । (द्विती० सप्तम्यर्थे) ।

धृतराष्ट्रस्य=(पुं०)√धृ+क्त+धृत । राष्ट्र=राजते,√राज्+ष्ट्रन्,, षत्व । धृतं राष्ट्रं येन सः=धृतराष्ट्र+षष्ठी० ए० व०=धृतराष्ट्र के ।

पुत्राः=(पुं०) पुतः त्रायते, पुत्√त्रै+क, वा पुनाति पित्रादीन्,√पू+क्त, ह्रस्वता=पुत्र+प्र०, ब० व०=पुत्राः=बेटे, लड़के, पुत्र (समूह) ।

सर्वे=सर्व (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=सारे ।

सह=(अव्यय)=साथ । सहित ।

एव=(अव्यय) ही ।

अवनि-पाल-संघैः=(पुं०) अवनिं (पृथ्वीं) पालयन्ति इति अवनिपालाः तेषां संघैः ।

[√अव्+अनि=अवनि (स्त्री०) । √पाल्+अण्=पाल । सम्√हन्+अप्, टिलोप घत्व=संघ (पुं०)+तृती० ब० व० ।]

राजाओं के समूह के (सहित) [इस शब्द में 'सह' का योग होने से तृतीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है ।]

भीष्मः=(पुं०) बिभेति अस्मात्, √भी+मक्+षुक्=भीष्म+प्र० ए० व०=भयङ्कर । शान्तनु-पुत्र भीष्म पितामह, जिनका जन्म श्री गंगादेवी के गर्भ से हुआ था ।

द्रोणः=(पुं०) द्रुण+अच् वा द्रु+न=द्रोण=प्र० ए० व०=कौरवों और पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य ।

सूत-पुत्रः=(पुं०) सूतस्य पुत्रः (षष्ठी० तत्पु०)=सूत का पुत्र (कर्ण) ।

[सूत=√सू(=उत्पन्न होना, चलाना, प्रेरित करना ऐश्वर्य वाला होना)+क्त=सूत=सारथि, रथ हाँकने वाला । क्षत्रिय का वह पुत्र जो ब्राह्मणी माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ हो । बढ़ई । स्तुति पाठ पढ़ने वाला अर्थात् बन्दी या भाट । सूर्य देवता । कर्ण वास्तव में सूर्य का कुन्ती-गर्भ से उत्पन्न पुत्र था । इसलिए उसे सूर्यपुत्र या सूतपुत्र कहते थे । परन्तु इस का पालन पोषण एक सूत और उसकी स्त्री 'राधा' ने किया था । इस कारण से भी कर्ण का नाम सूत पुत्र है । राधापुत्र भी कर्ण का नाम था ।]

तथा=(अव्यय) तद्+पाल्=वैसे ही। तथा। और।

असौ=अदस् (सर्व०)+(पुं०) प्र०, ए० व०=यह।

सह+(अव्यय) साथ। सहित।

अस्मदीयैः=(वि०) अस्मद्+छ-ईय=अस्मदीय+(पुं०) तृती० ब० व०=हमारी ओर के। हमारे पक्ष के। हमारे। (धृष्टद्युम्नादि)। [यहाँ 'सह' के योग में तृतीया वि० हुई है।]

अपि=(अव्यय) भी।

योध-मुख्यैः=(वि०) योधानां मुख्यैः (प्रधानैः)। [षष्ठी० तत्पु०] [√युध्+अच्=योध=युद्ध करने वाला, योद्धा। मुख+यत्=मुख्य (पुं०)=नेता, अगुआ, तृती० ब० व०] प्रधान योधाओं के॥ २६॥

वक्त्राणि=(नपुं०) वक्ति अनेन,√वच्+त्र=वक्त्र+द्विती० बहु० व०=मुखों में [सप्तम्यर्थे द्वितीया]।

ते=युष्मद्(सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तव, ते=तेरे। आप के।

त्वरमाणाः=(वि०)√त्वर् (भ्वा० आत्म० अक०=जल्दी करना। शीघ्रता करना)+शानच्=त्वर्माण+(पुं०) प्र० ब० व०=शीघ्रता करते हुए। जल्दी करते हुए। वेग युक्त होते हुए।

विशन्ति=√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना)+लट्० प्र० पु० ब० व०=प्रवेश करते है। प्रवेश कर रहे हैं। घुस रहे हैं। दाखल हो रहे हैं।

दंष्ट्रा-करालानि=(वि० नपुं०) दंष्ट्राभिः करालानि (विकृतानि) तृती० तत्पु०=डाढ़ों से विकराल में। विकराल डाढ़ों वाले में। (द्विती० ब० व)। भयानकानि=बिभेति अस्मात्,√भी+आनक=भयानक+(नपुं०) (द्विती० ब० व०=भयानकों में।

केचित्=किम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=के+चित्=कई एक।

विलग्नाः=(वि०) वि√लग् (भ्वा० पर० अक०=लगना। चिपकना।)+क्त=विलग्न+(पुं) प्र० ब० व०=अच्छी तरह से चिपके हुए। भली भान्ति लगे हुए।

दशन+अन्तरेषु=(पुं०) दशनानाम् अन्तरेषु (षष्ठी० तत्पु०)=दाँतों के बीच में। [दशन=(नपुं०) दश्यतेऽनेन√दंश्+ल्युट्-अन=दशन। अन्तरेषु=अन्तर+सप्त० ब० व०=बीच में। अन्तरों में।]

संदृश्यन्ते=सम्√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+लट्०+प्र० पु०, ब० व०=दीख रहे हैं। दिखाई देते हैं।

चूर्णितैः=(पु० नपुं०)√चूर्ण् (चुरा० पर० सक०=पीसना या काट कर आटे

जैसा बारीक करना)+क्त=चूर्णित+तृती० ब० व०=चूर्णित:=चूर्ण हुए। चूर्ण किए हुए। पिसे हुए।

उत्तम+अङ्गै:=उत्तमै: अङ्गै:=उत्तम अङ्गों सहित=सिरों सहित (पु ०,तृती० (ब० व०)।

अर्थ—और ये सारे ही धृतराष्ट्र के पुत्र (स्वपक्षी) राजाओं के समूहों सहित तथा भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और यह सूत-पुत्र कर्ण भी हमारे पक्ष के प्रधान योधाओं समेत (सब के सब) शीघ्रता प्रकट करते हुए आप में और आप के विकराल और भयानक मुखों में घुसते चले जा रहे हैं। (इन में से) कई एक तो पिसे हुए सिरों सहित डाढ़ों के बीच में (फँसे हुए) दिखाई दे रहे हैं। ॥ २६, २७ ॥

व्याख्या—श्लोक २६ में द्विती० प्रत्यान्त जो "त्वाम्" शब्द आया है। उस का अर्थ कई टीकाकार तो वैसे ही छोड़ गये हैं सम्भवत: उन्होंने इसे पाद-पूरक शब्द ही समझा है। और बाकी टीकाकारों ने इस पद का आश्रय लेकर इन दोनों श्लोक की टीका अपने अपने विचार के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। उन में से कुछ एक मत इस प्रकार हैं—

१.—"अमी धृतराष्ट्रस्य पुत्रा: त्वां विशंति, भीष्म द्रोणादय: ते वक्त्राणि विशन्ति।"

अर्थात् दुर्योधनादि जो धृतराष्ट्र के अत्यन्त पापी पुत्र हैं। वे सब तो पापी होने के कारण तुझ भगवान् के पायु स्थान में स्थित नरकों को प्राप्त हो रहे हैं। और ये भीष्म द्रोणादि जो आप के परम भक्त हैं वे आप के उन मुखों में प्रवेश कर रहे हैं जिन से परम पवित्र अग्नि और ब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार दुर्योधनादि और भीष्मादि की गति की विलक्षणता प्रकट करने के लिए इस 'त्वां' पद का प्रयोग किया गया है।

२—"अमी सर्वे एव धृतराष्ट्रस्य पुत्रा: अवनि-पालसंघै: सह त्वां (विशन्ति) च भीष्म द्रोण: तथा असौ सूतपुत्र अपि अस्मदीयै: योधमुख्यै सह त्वरणाणा: ते वक्त्राणि वशन्ति॥"

अर्थात्—"ये सब ही धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं के समूहों सहित आप में प्रवेश करते हैं और भीष्म, द्रोण तथा यह सूतपुत्र (कर्ण) भी हमारे प्रधान योधाओं समेत शीघ्रता करते हुए आप के मुखों में दाखल हो रहे हैं॥" इत्यादि।

हमारी व्याख्या इस प्रकार है—

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के प्रति यह बात स्पष्ट करने के लिए शीघ्र भविष्य काल में होने वाला दृश्य अपने इस स्वरूप द्वारा उसे दिखा दिया है

और उस के मन में यह बात बिठा दी है कि जिन को मारने के पाप से तुम डरते हो वे सब तो मेरे द्वारा खा लिए जाएँगे। भक्त लोग वैसे ही मेरे शरीर में मिलकर मद्रूप हो जाएँगे और दुष्टों को मैं कच्चे ही चबा और निगल जाऊँगा तुम डरो नहीं। अर्जुन की समझ में अभी तक यह बात सम्भवतः न आई हो। इस लिये वह इस भयानक दृश्य को देख कर उसका ब्योरा भगवान् से कह रहा है कि हे भगवन्! धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि बड़े अभिमानी और अत्याचारी हैं उन्हें इस बात का कोई विचार ही नहीं है कि हमें काल खा जाएगा। इसी से यहाँ सदा रहना चाहते हैं और पाप-कर्म से राज्यादिक सम्पत्ति एकत्रित कर रहे हैं। परन्तु अब वे सब पापी पुरुष अपने सहायक और साथी राजाओं सहित जल्दी-जल्दी आपकी डाढ़ों से विकराल और भयानक बने हुए मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। उन के साथ हमारे पक्ष के योधा लोग भी आप के इन भयंकर डरावने मुखों में घुसते चले जा रहे हैं। किन्हीं को आप वैसे ही निगल रहे हो और किन्हीं को डाढ़ों से चबा रहे हो जिन के चूर्णित हुए सिर मुझे स्पष्टतया आप की डाढ़ों में चिपके हुए दिखाई दे रहे हैं। वसू का अवतार भीष्म जो मृत्यु को अपने वशीभूत मानता है और धरती पर एक अद्वितीय योधा है। द्रोणाचार्य जो समस्त कौरव तथा पांडव वंश का गुरु है और धनुर्विद्या का महा ज्ञाता तथा चालक है तथा सूर्य का पुत्र कर्ण जो युद्ध-विद्या में अति निपुण है ये तीनों तथा इन जैसे और भी आपके भक्त और श्रद्धालु योधा वैसे ही आप के शरीर में प्रविष्ट होकर लुप्त होते जा रहे हैं। यह कर्ण जो शूर वीरता के दर्प से सब को तुच्छ समझता था। आज दूसरों की तरह भीगी बिल्ली बना हुआ आप की देह में घुस कर छिप गया है। हे भगवन्! प्रसन्न हो जाओ और अब इस भयानक स्वरूप को संवृत कर लो ॥ २६-२७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा नदीनाम्+बहवः+अम्बु-वेगाः समुद्रम्+एव+अभिमुखाः+द्रवन्ति। तथा तव+अमी नर-लोक-वीराः+विशन्ति वक्त्राणि+अभिविज्वलन्ति ॥

यथा=(अव्यय) यद्+थाल्=जिस प्रकार। जैसे।

नदीनाम्=(स्त्री०)√नद् (भ्वा० पर० अक०=शब्द करना)+अच्+ङीप्=नदी+षष्ठी० ब० व०=नदियों के।

बहवः=(वि०) बहु+(पुं०) प्र० ब० व०=बहुत से।

अम्बु-वेगाः = (पुं०) अम्बूना वेगाः (षष्ठी० तत्पु०)=जल के वेग। जल के प्रवाह।

[अम्बु=(नपुं०)√अम्ब् (भ्वा० आत्म० अक०=शब्द करना)+उण् =जल।

वेगाः=(पुं०)√विज्+घञ्=वेग+प्र० ब० व०=प्रवाह। बहाव।

समुद्रम्=(पुं०) सम्√उन्द्+रक् व सम्-उद्√रा+क=समुद्र+द्वितीं० ए० व०=समुद्र को। समुद्र के ['दौड़ना' अर्थ के योग में द्वितीया० हुई है]=समुद्र की।

एव=(अव्यय) ही।

अभिमुखाः=वि०) अभिगतो मुखम् (तत्पु०)। अभि+मुख+(पुं०) प्र० ब० व०=समुद्र के सामने मुख किए हुए। समुद्र की ओर मुख किए हुए। संमुख हुए। अभिमुख हुए। सामने हुए।

द्रवन्ति=√द्रु (भ्वा० पर० अक०=भागना। दौड़ना)+लट्० प्र० पु० ब० व०=दौड़ते हैं।

तथा=(अव्यय)तद्+थाल्। वैसे (ही)। उसी प्रकार।

तव=युष्मद् (सर्वं०) षष्ठी० ए० व०=ते, तव=तेरे। आपके।

अमी=अदस् (सर्वं०)+(पुं०) प्र० ब० व०=ये। नर-लोक-वीराः=(पुं०) नराणां लोकस्य वीराः (षष्ठी० तत्पु०)=मनुष्यों के लोक के वीर (दुर्योधनादि। प्र० ब० व०।

विशन्ति=√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना)+लट्० प्र० पु० ब० व० =प्रवेश कर रहे है।

वक्त्राणि=(नपुं०) वक्ति अनेन, √वच्+त्र=वक्त्र+द्वितीं० ब० व०=मुखों में (सप्तम्यर्थे द्वितीया)।

अभिविज्वलन्ति—अभि-वि, √ज्वल् (भ्वा० पर० अक०=जलना)+शतृ= अभिविज्वल्+(नपुं०) द्वितीं० ब० व०=सब ओर से अच्छी तरह प्रज्वलित हुए॥

अर्थ—जिस प्रकाद नदियों के बहुत से जलप्रवाह समुद्र की ही ओर मुख किये हुए दौड़ते हैं। उसी प्रकार मनुष्य-लोक के (दुर्योधनादि) वीर आपके अच्छी तरह सब ओर से प्रज्वलित हुए (अत्यन्त भयानक अग्नि ज्वालाएं उगलते हुए) मुखों में प्रवेश कर रहे हैं॥ २८॥

व्याख्या—जो वस्तु जहां से उत्पन्न होती है, वह अन्त में अपने उसी मूल स्थान में मिल जाती है। सब प्राणी जो जड़ और चेतन कहलाते हैं उन के शरीर

पृथिवी में उपजी हुई वस्तुओं को खाकर बढ़ते और जीवित रहते हैं। परन्तु अन्त में मर कर वे फिर पृथिवी में ही मिल जाते हैं। इसी प्रकार समुद्रों का जल सूर्य के ताप से वाष्प बन कर निरन्तर उड़ता रहता है और आकाश के शीतल खण्डों में जाकर मेघों का रूप धारण कर लेता है। फिर ये मेघ वायु के वेग से उड़कर शीतल पर्वतों से जा टकराते हैं। जिस से वे वर्षा बन कर पर्वतों और मैदानों में बरस जाते हैं और भारत में उनका बहुत सा जल, सिन्धु, सतलुज, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, ताप्ती, महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों में बह कर समुद्र की ओर बहने लगता है यद्यपि जल एक जड़ पदार्थ है जिस की इच्छा अनिच्छा का कोई प्रश्न ही नहीं है फिर भी सृष्टि के नियमानुसार वह समुद्र की ओर वेग से बहता है और अपने उद्गम स्थान समुद्र में जाकर अपना रंग, रूप और नाम निशान आदि सब कुछ त्याग कर तद्रूप हो जाता है इसी प्रकार धर्म-युद्ध में मरने वाले योधा लोग भी शरीर त्याग कर ब्रह्म ज्योति में मिल कर तद्रूप हो जाते हैं अथवा मर कर श्मशान की ज्वाला में मिल कर स्वर्ग लोक प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार ये सब योधा लोग जो अच्छी तरह से मेरे जाने पहिचाने हैं। निरन्तर आप के उन मुखों में प्रवेश कर रहे हैं जो सब ओर से प्रकाशमान् हैं और जिन से लपलपाती हुई प्रलयकाल की अग्नि की भयंकर ज्वालाएं बाहर निकल रही हैं । ये योधा लोग अपनी इच्छा से तो आप के अभिविज्वलन्त मुखों में प्रविष्ट नहीं हो रहे हैं अपितु नदियों के वेगों से समुद्र की ओर बरवस बहने की तरह मजबूर हुए तथा बेख़बरी में ही आप के मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका—
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

यथा प्रदीप्तम्+ज्वलनम्+पतङ्गाः+विशन्ति नाशाय समृद्ध-वेगाः ।
तथा+एव नाशाय विशन्ति लोकाः+तव+अपि वक्त्राणि समृद्ध-वेगाः ॥

यथा=(अव्यय) जिस प्रकार। जैसे।

प्रदीप्तम्=(वि०) प्र√दीप्+(कर्मणि) क्त=जलती हुई। जगमगाती हुई।

ज्वलनम्=(पुं०) ज्वलति इति,√ज्वल्+ल्यु (अन) या (युच ?)=ज्वलन+द्विती० ए० व०=अग्नि को। अग्नि में (सप्तम्यर्थे द्वितीया)।

पतङ्गाः=(पुं०)√पत्+अङ्गच्=पतङ्ग+प्र० ब० व०=पतङ्गे। शलभ। परदार कीड़े, जो आग की ज्योति देखते ही उस पर गिर कर जलने लगते हैं।

विशन्ति=√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=प्रवेश करते हैं।
नाशाय=(पुं०)√नश्+घञ्=नाश+चतु० ए० व० (अपने) नाश के लिये।
समृद्ध—वेगाः=(वि० पुं०) समृद्धः (उद्भूतः) वेगः (गतिः) येषां ते (बहुव्री०)= अत्यन्त बढ़े हुए वेग वाले (होकर)। अति वेग से युक्त हुए।
तथा=(अव्यय) वैसे। उसी प्रकार।
एव=(अव्यय) ही।
नाशाय=(पुं०)√नश्+चतु० ए० व०=(अपने) नाश के लिये।
विशन्ति=√विश्+लट्० प्र० पु०, ब० व०=प्रवेश करते हैं।
लोकाः=(पुं०)√लोक्+घञ्=लोक+प्र० ब० व०=लोग। ये सब लोग।
तव=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तव, ते=तेरे। आप के।
अपि=(अव्यय) भी।
वक्त्राणि=(नपुं०) वक्ति अनेन, √वच्+त्र=वक्त्र+द्विती० ब० व०= मुखों में।
समृद्ध-वेगाः=(वि० पुं०)=बढ़े हुए वेग वाले।

अर्थ—जिस प्रकार पतङ्गे (अपने) नाश के लिये अति बढ़े हुए वेग वाले होकर जलती हुई अग्नि में प्रवेश करते हैं। वैसे ही ये योधा लोग भी अति बढ़े हुए वेग से स्व-नाश के लिये आप के मुखों में प्रवेश कर रहे हैं॥ २९॥

व्याख्या—ग्रीष्म या वर्षा ऋतु में रात्रि के समय जब कहीं आग लगाई जाती है, तो उसके प्रकाश को देख कर पतंग नाम के पंखों वाले परवाने या कीड़े बहुत दूर दूर से भाग कर वहां पहुंचने लगते हैं और ताप सन्ताप तथा दाह की कुछ परवाह न करके उस अग्नि में प्रवेश करके भस्म होते जाते हैं। पहले जलने वालों की भस्म के ढेरों को देख कर भी, नये आने वाले अपने बचने का प्रयास नहीं करते जान बूझ कर परवश हुए से पागलों की भान्ति उस प्रज्वलित अग्नि में गिर कर दग्ध होते जाते हैं। इसी प्रकार ये योद्धा लोग भी अपना भला बुरा न सोचते हुए निरन्तर आप के प्रज्वलित मुखों में अपने नाश के लिए प्रविष्ट हो रहे हैं। यह पंक्तियाँ इतनी अधिक लम्बी हैं कि जिनका अन्तिम छोर कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा है॥ २९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्
लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्+लोकान्+समग्रान्+वदनैः+ज्वलद्भिः। तेजोभिः+आपूर्य जगत्+समग्रम्+भासः+तव+उग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥

लेलिह्यसे=√लिह् (अदा० उभ० सक०=चाटना)+यङ्+लट्० म० पु० ए० व०=बार बार चाट रहे हो। (आस्वादयसि) स्वाद ले रहे हो। चटखारे लगा रहे हो।

टिप्पणी—कोई काम बार बार करने के अर्थ में—२—एकाच् हलादिधातु से 'यङ्' प्रत्यय होता है। २-यङन्त धातु से आत्मनेपद होता है। ३—यङ् प्रत्यय करने पर धातु को द्वित्व हो जाता है। ४—अभ्यास के 'इ' को 'ए' और 'उ' को 'ओ' हो जाता है।

ग्रसमान:=(वि०)√ ग्रस् (भ्वा० आत्म० सक०=निगलना)+ग्रस्+शानच्=ग्रसमान+(पुं०) प्र० ए० व०=ग्रसन करते हुए।

समन्तात्=(वि०) सम्यक् अन्तो यत्र (प्रा० बहुव्री०) अथवा सम्यक् अन्त: (प्रा० स०)=समन्त+पंच० ए० व०=समन्तात्=सब ओर से। अथवा (अव्यय) समन्त+आति=समन्तात्=सब ओर से।

लोकान्=(पुं)√लोक्+घञ्=लोक्+द्वितीo ब० व०=लोगों को। लोकों को।

समग्रान्=(वि०) समं (सकलं) यथा स्यात् तथा गृह्यते, सम√ग्रह+ड=समग्र+(पुं०) द्विती० ब० व०=समूचों को। सम्पूर्णों को। समस्तों को।

वदनै:=(नपुं०) उद्यतेऽनेन,√वद+(करणे) ल्युट्=वदन+तृती० ब० व० मुखों द्वारा। मुखों से। (वक्त्रै:)।

ज्वलद्‌भि:=(वि०) √ज्वल् (भ्वा० पर० अक० =जलना, दहकना। धधकना) +शतृ=ज्वलत्+(नपुं०)+तृती० ब० व०=जलते हुओं से। धधकते हुओं से। दहकते हुओं से। प्रज्वलितों से। (दीप्यमानै:)

तेजोभि:=(नपुं०)√ तिज्+असुन्=तेजस्+तृती० बहु० व०=तेजों से। सर्वोत्कृष्ट आभाओं से।

आपूर्य=आ√पूर (दिवा० आत्म० सक०=भरना, पूर्ण करना)+ल्यप्=भर कर। परिपूर्ण करके। (संव्याप्य)।

जगत्=(नपुं०)√गम्+क्विप्, नि० द्वित्व, तुगागम=जगत्+द्विती० ए० व० जगत् को। संसार को।

समग्रम्=(वि०) (सह अग्रेण=समग्रम्। समग्र+(नपुं०) द्विती० ए० व० =समस्त को। सारे को।

भास:=(स्त्री०)√भास्+क्विप्=भास्+प्र० ब० व०=भास:। दीप्तय:। प्रभायें। कान्तियाँ। प्रकाश।

तव=युष्मद्(सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तव, ते=तेरा, तेरे, तेरी।

उग्रा:=(वि०)√उच्+रक्, ग आदेश=उग्र+(स्त्री०) प्र० ए० व०= क्रूरा। उग्रा।

प्रतपन्ति=प्र√तप् (भ्वा० पर० अक०=तपना)+लट० प्र० पु०, ब० व०= तप रहीं हैं (तेज फैला रही हैं।)।

विष्णो !=हे विष्णो ! [(पुं०)√विष् (व्याप्त होना) नुक्=विष्णु+सम्बो० ए० व०]

अर्थ—हे विष्णो ! (हे मेरे सामने उपस्थित विराट् भगवान् !) समग्र लोगों को (लोकों को) प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रसन करते हुए सब ओर से बार बार चाट रहे हो (स्वाद ले रहे हो) और आप की उग्र प्रभाएं समस्त जगत् को तेजों से भर कर तपा रही हैं ॥ ३० ॥

व्याख्या—डरते हुए अर्जुन ने हाथ जोड़कर कहा—हे भगवन् ! आप तो विष्णु हो अर्थात् सर्व व्यापक हो और सब का पालन पोषण करने वाले हो तथा आप को न किसी प्रकार की क्षुधा हो सकती है न तृषा ही हो सकती हैं सर्वान्तर्यामी, न्याय कारी और दयालु होने से न किसी पर क्रोध करने वाले हो परन्तु मुझे आज तो आप के उक्त गुणों के विपरीत यह विचित्र दृश्य दिखाई दे रहा है। जिस से न केवल क्रोध से आप के सारे मुख क्रोधी मनुष्यों की भान्ति लाल ही हो रहे हैं अपितु उन से भयंकर अग्नि की ज्वालाएं भी निकल रही हैं और लोगों को पालने के स्थान पर मुख में डाल कर मरड़ मरड़ चबाते जा रहे हो और निगल कर बड़े मज़े से चटखारे भी लगा रहे हो। केवल यहीं पर बस नहीं है। अपनी जीभों से होंठो पर लगे हुए लहू और मांस कणों को इधर उधर सब ओर से चाट भी रहे हो, जैसे कोई सात जन्म का भूखा व्यक्ति अपनी अत्यन्त बढ़ी हुई क्षुधा का बड़े चाव और उत्सुकता से प्रदर्शन कर रहा हो यहीं पर बस नहीं इस समय मुझे तो कोई वस्तु ऐसी दिखाई नहीं देती। जो इस काल में आप के इन प्रज्वलित मुखों के लिये खाद्य पदार्थ न बनी हुई हो। हे विष्णो ! आप की यह भूख सब को चकित करने वाली और विलक्षण है मैं तो आप की इस महत्ती क्षुधा को देख कर भयभीत हो गया हूँ। आप अपने विष्णु नाम की विरद को सम्भालो इस जगन्नाशक उग्र रूप को त्याग कर फिर से जगन्ननाथ और जगत्पालक बन जाओ। इस समय आप के शरीर से निकल रही उग्र प्रभाएं सारे संसार को अपने जलाने वाले तेजों से परिपूर्ण कर रही हैं। जिस से भयंकर महाप्रलय काल आकर उपस्थित हो गया है और सारा ब्रह्माण्ड सब ओर से लोहे के लाल तवे की तरह तपने लगा है ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

आख्याहि मे कः+भवान्+उग्र-रूपः+नमः+अस्तु ते देव-वर ! प्रसीद। विज्ञातुम्+इच्छामि भवन्तम्+आद्यम्+न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

आख्याहि=आ√ख्या (अदा० पर० सक०=कहना।)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) कह। (आप कहो। कहिए। (कथय)।

मे=अस्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=मह्यम्, मे=मेरे लिए। मेरे प्रति। मुझ को। मुझे।

कः=किम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=कौन।

भवान्=(सर्व०) भवत्+(पुं०) प्र० ए० व०=आप।

उग्र-रूपः=(वि०) उग्रः रूपः यस्य सः (बहुव्री०)=उग्र रूप वाले। हिंसक भयानक रूपधारी। उग्र (वि०)=√उच्+रक्, +ग आदेश। क्रूर आकार॥

नमः=(अव्यय)√नम्+असुन्=नमस्।=नमस्कार।

अस्तु=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लोट्०, प्र० पु०, ए० व०=हो [भवत्' के योग में प्रथम पुरुष होता है।]

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिए। तुझ को। आप को।

देव-वर=(वि०) देवानां वरः (श्रेष्ठः; प्रधानः) यः स देववरः। (बहुव्री०)। सम्बोधन ए० व० (हे देववर!। हे देवों में श्रेष्ठ!।

प्रसीद=प्र√सद्(भ्वा० तुदा० पर० अक०=प्रसन्न होना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=प्रसन्न हो जाइए। प्रसाद या कृपा कीजिए।

विज्ञातुम्=वि√ज्ञा+तुमुन्=जानने के लिए। तत्त्व से जानना। विशेषेण ज्ञातुम्—भली प्रकार जानना।

इच्छामि=√इष् (तुदा० पर० सक०=चाहना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) चाहता हूँ॥

भवन्तम्=भवत् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=आप को।

आद्यम्=(वि०) आदौ भवः इत्यर्थे, आदि+यत्=आद्य+(पुं०) द्विती० ए० व०=आद्य को। सृष्टि के आदि में होने वाले को।

न=(अव्यय) न। नहीं।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

प्रजानामि=प्र√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+लट्० उ० पु०, ए० व० =(मैं) जानता हूँ।

तव=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तव, ते=तेरी।

प्रवृत्तिम्=प्र√वृत् (भ्वा० आत्म० अक०=विद्यमान होना)+(भावे) क्तिन= प्रवृत्ति (स्त्री०)+द्विती० ए० व०=प्रवृत्ति को। चेष्टा को॥

अर्थ—मेरे प्रति कहिए, कि आप इस उग्र रूप वाले कौन हैं? मेरा आप

को नमस्कार हो। हे देव-वर! प्रसन्न हो जाइए। मैं आप आदि स्वरूप को जानना चाहता हूँ। क्योंकि आप की प्रवृत्ति को मैं नहीं जानता हूँ॥ ३१॥

व्याख्या—हे भगवन्! मैं तो आप को अपना सखा केवल कृष्ण ही समझता था परन्तु आप तो कुछ और ही निकले जो मुझ अर्जुन के मन और बुद्धि की शक्ति से अत्यन्त परे हैं और जिसका वर्णन करने में मेरी वाणी असमर्थ है। आप के इस रूप को देख कर मैं तो अत्यन्त चकित और भयभीत हो गया हूँ। इस समय मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है और मेरी समझ में यह बिल्कुल नहीं आ रहा है कि वास्तव में आप कौन हैं? कृपया मुझे अपना अता पता बता दीजिए और बतलाइए कि आप हैं कौन? आप के इस रूप को देख कर मैं तो अपना आप भी भूल गया हूँ, यह भी पता नहीं लग रहा है, कि मैं अब कहाँ पर स्थित हूँ और मेरा सखा कृष्ण मुझे छोड़ कर कहाँ चला गया है। हे सर्व देवताओं में अत्यन्त श्रेष्ठ परब्रह्म परमेश्वर! आप को नमस्कार हो। पुनः पुनः नमस्कार हो। प्रतिपल नमस्कार हो। आप प्रसन्न हो जाइए। मुझ पर कृपा कीजिए। मैं तो आप का सेवक और अनुचर हूँ। तो फिर आप ने यह उग्र रुद्र तुल्य क्रूर और भयंकर रूप किस के लिए धारण किया हुआ है? मैं आप की प्रवृत्ति को तनिक भी नहीं जानता हूँ, न आप की इस चेष्टा के मर्म या रहस्य को ही समझता हूँ। परन्तु मैं आप आद्य को जानना अवश्य चाहता हूँ और आप इस के लिए समर्थ भी हैं। इसलिए मेरा सन्देह और भय नाश करके मेरी तुष्टि कीजिए॥ ३१॥

श्री भगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२॥

कालः+अस्मि लोक-क्षय-कृत्+प्रवृद्धः+लोकाम्+समाहर्तुम्+इह प्रवृत्तः। ऋते+अपि त्वाम्+न भविष्यन्ति सर्वे ये+अवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥

कालः=(पुं०) कु√ला+क, कोः कादेशः अथवा कु√अल्+अच्, कोः कादेशः =काल+प्र० ए० व०=काल भगवान्। महाकाल। मृत्युदेव।

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ।

लोक—क्षय-कृत+(वि० पुं०) लोकानां क्षयं करोति इति लोक-क्षय-कृत=लोकों (लोगों) का नाश करने वाला॥ [बहुव्री०]

[लोक=(पुं०)√लोक्+घञ्=संसार। प्राणी। लोग॥ क्षय=(पुं०) √क्षि+अच्=नाश। प्रलय॥ कृत्√कृ+त्=करने वाला।]

प्रवृद्धः=वृद्धि गतः। (वि० पुं०) प्र√वृध्+क्त+प्रवृध्=प्र० ए० व०=बढ़ा हुआ।

लोकान्=(पुं०) लोक+द्विती० ब० व०=लोकों को। लोगों को।

समाहर्तुम्=(अव्यय) सम्-आ√हृ=तुमुन्=संहार करने के लिए। नाश करने के लिए।

इह=(अव्यय) इदम्+ह, इ आदेशः=अस्मिन् काले=इस समय में। यहाँ।

प्रवृत्तः=प्र√वृत्+क्त=प्रवृत्त+(पुं०) प्र०, ए० व०=प्रवृत्त हुआ हूँ। प्रकट हुआ हूँ।

ऋते=(अव्यय) बिना।

अपि=(अव्यय) भी।

त्वाम्=युष्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=तुझ को=तेरे। तेरे (युद्ध न करने के)।

[यहाँ 'ऋते' का योग होने से षष्ठी० के स्थान पर द्वितीया हुई]

न=(अव्यय) न। नहीं।

भविष्यन्ति=√भू+लृट्० प्र० पु०, ब० व०=होंगे। रहेंगे।

सर्वे=सर्व (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=सारे। (भीष्म, द्रोण, करणादि)।

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=जो।

अवस्थिताः=(वि० पुं०) अव√स्था+क्त=अवस्थित+प्र० ब० व०=स्थित हुए।

प्रत्यनीकेषु=(वि०, पुं०, नपुं०) अनिति अनेन इति,√अन्+ईकन्=अनीक +सप्त० ब० व०=अनीकेषु। प्रतिपक्षभूतेषु अनीकेषु=प्रत्यनीकेषु= शत्रुओं की सेनाओं में। प्रतिपक्षियों की सेनाओं में।

योधाः=(पुं०)√युध्+अच्=योध+प्र० ब० व०=योधाः=लड़ने वाले। सैनिक लोग॥

अर्थ—श्री भगवान् ने कहा—मैं सम्पूर्ण लोकों ब्रह्माण्ड में प्रस्तुत पिण्डों अथवा लोगों) का नाश करने वाला बढ़ा हुआ काल भगवान् हूँ। (जो) यहाँ इस समय (इन) सब लोगों को नाश करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। जो योधा प्रतिपक्षियों की सेनाओं में स्थित हुए हैं। वे सारे तेरे (मारे) बिना भी (जीवित) नहीं रहेंगे॥ ३२॥

व्याख्या—श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन! तुम पूछ रहे हो कि मैं कौन

हूँ ? सो ध्यानपूर्वक सुनो—यद्यपि इस सारी दृश्य और अदृश्य रचना के रचने वाला एक मात्र केवल मैं ही हूँ और इन सब रचनाओं का पालन पोषण करने वाला भी एक मात्र मैं ही हूँ । परन्तु इस समय मैं इस जगत् में बढ़े हुए महाकाल के रूप में तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हुआ हूँ । सो मेरे इस विराट् रूप द्वारा भक्षण किए जा रहे प्राणियों को तुम भली भान्ति देख रहे हो । फिर तुम मेरी प्रवृत्ति या चेष्टा को भी जानना चाहते हो ? सो इस प्रकार जान लो कि भूमि पर ये जो दुर्योधनादि भार रूप प्राणी हैं । मैं उनका शीघ्र ही नाश करने वाला हूँ । यद्यपि तेरे जैसे योधा युद्ध में लड़ते हैं और विपक्षियों को मारते हुए दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु वास्तव में वे केवल निमित्त मात्र ही होते हैं । तुम जो गुरु, दादे, तायें, चाचे मामूं, भाई भतीजे आदि सम्बन्धियों को देख कर युद्ध न करने का निश्चय कर रहे हो । सो भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि तुम युद्ध करके इन को न भी मारोगे तो भी ये लोग मरने से बचे नहीं रहेंगे और यह बात भी सोच लो कि तुम्हारी सेनाओं में जो योधा लोग लड़ने के लिये एकत्रित हुए हैं । इनको मारने का तो तुम कभी विचार भी नहीं कर सकते हो तो भी ये सब तेरे विपक्षियों के साथ ही मेरे द्वारा खा लिए जाएँगे । जब मैं ही स्वयं इन सब योद्धाओं का नाश करने के लिए प्रवृत्त हूँ तो इन की रक्षा का उपाय ही क्या हो सकता है ? इस लिये तुम को युद्ध से हटना नहीं चाहिए । मेरी आज्ञा का पालन करते हुए युद्ध में जुट जाना चाहिए । जिस से तुम्हें यश और ख्याति की प्राप्ति होगी ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

तस्मात्+त्वम्+उत्तिष्ठ, यशः+लभस्व, जित्वा शत्रून्+भुङ्क्ष्व राज्यम्+समृद्धम् । मया+एव+एते निहताः पूर्वम्+एव निमित्त-मात्रम्+भव सव्य—साचिन् ! ॥

तस्मात्=तद् (सर्व०)+(पुं०) पंच० ए० व०=इस से । इसलिये ।

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=तू ।

उत्तिष्ठ=उत्√स्था+लोट्० म० पु० ए० व०=उठ खड़ा हो । (युद्ध के लिए) उद्यत हो जा । शत्रुओं से युद्ध कर ।

यशः=यशस् (नपुं०) अश्नुते व्याप्नोति, अश्+असुन्, युट् । द्विती० ए० व० =यशः=यश को । कीर्ति को । सुख्याति को ।

लभस्व—√लभ (भ्वा० आत्म० सक०=प्राप्त करना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=प्राप्त कर।

जित्वा=√जि+क्त्वा=जीत कर।

शत्रून्=(पुं०)√शद्+क्रुन्=शत्रु+द्वितो० ब० व०=शत्रुओं को। विपक्षियों को। दुश्मनों को।

भुङ्क्ष्व=√भुज् (रुधा० उभ० सक०=खाना। उपभोग करना)+लोट्० म० पु० ए० व०=(तू) भोग। उपभोग कर।

राज्यम्=(नपुं०) राज्ञो भावः कर्म वा, राजन्+यक्=राज्य+द्वितो० ए० व०=राज्य को। राज्याधिकार को।

समृद्धम्=(वि०) सम्√ऋध्+क्त=समृद्ध+(नपुं०) द्वितो० ए० व०= समृद्ध को। फलते फूलते हुए को। सम्पत्तिशाली को। धन धान्य से सम्पन्न को।

मया=अस्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा। मुझ से।

एव=(अव्यय) ही।

एते=एतद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=ये सब। ये सारे (योद्धा)।

निहताः=(वि०) नि√हन्+क्त=निहत+(पुं०) प्र० ब० व०=निश्चयेन हताः=प्राणैः वियोजिताः=निःसन्देह मारे हुए (हैं)।

पूर्वम्=(अव्यय)√पूर्व+अच्=पूर्व+(नपुं०) प्र० ए० व०=पहले। पेश्तर। पूर्व।

एव=(अव्यय) ही।

निमित्त-मात्रम्=[निमित्त (नपुं०) नि√मिद्+क्त=हेतु। कारण। चिह्न। फल की ओर लक्ष्य। मात्रम्=(अव्यय)√मा+त्रम्=मात्र+ (नपुं०) ए० व०=केवल। सिर्फ़।

भव=√भू+लोट्० म० पु० ए० व=हो। हो जा।

सव्य-साचिन्! =(पुं० सम्बोधन) सव्येन (वामेन) अपि हस्तेन सचति; √सच् (भ्वा० पर० सक०=छोड़ना, फेंकना, जोड़ना)+णिनि= साचिन्। [सव्य=√सू+यत्=सव्य=वाम। बायाँ। प्रतिकूल। विरुद्ध।]

बायें हाथ से भी वाण चलाने का अभ्यास होने के कारण अर्जुन 'सव्यसाची' कहलाता है अथवा शत्रुओं को बलपूर्वक अपने साथ मिलाने वाला होने से अर्जुन सव्यसाची माना जाता है॥

अर्थ—इसलिए हे सव्यसाचिन् (अर्जुन)! तू (युद्ध में लड़ने के लिए) उठ

खड़ा हो। शत्रुओं को जीत कर यश को प्राप्त कर। धनधान्य से सम्पन्न राज्य को भोग। ये सब (योद्धा शत्रु) मेरे द्वारा पूर्व ही मारे हुए हैं। तू तो उन को मारने का केवल निमित्त ही हो ॥ ३३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन, तू सव्यसाची नाम से प्रसिद्ध है अर्थात् बलपूर्वक शत्रुओं को वशीभूत करने वाला है अथवा इन सब शत्रुओं को मार डालना तो तेरे बाएँ हाथ का खेल है। अपनी इस शक्ति से अनभिज्ञ होकर तू जो रथोपस्थ स्थित हो गया है। इस समय यह तेरे लिए उचित नहीं है। तू अतिशीघ्रता से युद्ध करने के लिए उठ कर खड़ा हो जा और शत्रुओं के छक्के छुड़ा दे। उनको मार कर जगत् में अपना यश फैला दे। इस फलते फूलते हुए सम्पत्तिशाली धनधान्य सम्पन्न समृद्ध कुरुराज्य का उपभोग कर। हे भोले अर्जुन! ये सब योधा लोग जो तुम्हें सामने खड़े लड़नें के लिये उद्यत दिखाई दे रहे हैं। सब के सब मेरे द्वारा मारने का निश्चय किए हुए हैं परन्तु तू इन लोगों को मारने के निमित्त वाला होकर दिखाई देगा। वास्तव में इन को मारने वाला तो मैं ही हूँ। तुम्हें तो इन के मारने का यश और श्रेय मुफ्त में ही मिल जायेगा ॥ इसलिये इस बात को समझ कर अब तू युद्ध कर ॥ याद रख। सब पापी स्वयं अपने पाप द्वारा ही मारे जाते हैं परन्तु मेरी कृपा से यश उन को प्राप्त हो जाता है जो उन को मारते हुए दिखाई देते हैं ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोणम्+च भीष्मम्+च जयद्रथम्+च कर्णम्+तथा+अन्यान्+अपि योध-वीरान्। मया हतान्+त्वम् जहि मा व्यथिष्ठाः+युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

द्रोणम्=(पुं०)√द्रुण्+अच् वा√द्रु+न=द्रोण+द्विती० ए० व० =द्रोणाचार्य को। कौरवों और पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य को।

[द्रोणाचार्य गुरुग्राम (वर्तमान गुड़गांवां) के रहने वाले थे। ये धनुर्वेद (ऐटमी शक्ति से सम्बन्ध रखने वाली शस्त्र-विद्या) में अत्यन्त निपुण और पारंगत थे। जब तक उनके हाथ में शस्त्र होता था। तब तक उन को कोई भी मार नहीं सकता था। उन्होंने इन आण्विक शस्त्रों की गुप्त विद्या कौरवों और पाण्डवों को भी सिखा दी थी। अर्जुन पर तो उन की विशेष कृपा थी। इस से अर्जुन उन से युद्ध करने से अत्यन्त हिच-

कचाता था। एक तो उन्हें अजेय समझता था। दूसरे गरु-भक्ति की श्रद्धा उसे उन से युद्ध करने से रोकती थी।]

च=(अव्यय) और।

भीष्मम्=(पुं० वि०) विभेति अस्मात्, √भी+मुक्+षुक्=भीष्म+द्विती० ए० व०=भीष्म को। भयंकर को। भीष्म पितामह को।

[बाल ब्रह्मचारी भीष्म-पितामह माता गंगा के गर्भ से उत्पन्न राजा शान्तनु के पुत्र और दुर्योधनादि कौरवों तथा युधिष्ठिरादि पाण्डवों के दादा थे। इन की शूरता जगद्विख्यात थी। इन्हों ने परशुराम से लड़कर अपनी वीरता का पक्का प्रमाण दिया था। इन के पिता ने इन्हें वरदान दिया था कि हे पुत्र! तेरी मृत्यु तेरी इच्छा पर निर्भर होगी इन सब कारणों से अर्जुन उन्हें अजेय समझते थे और उनके जीवित होते हुए अपनी विजय को असम्भव मानते थे। इसी बात को लक्ष्य करके अर्जुन ने "२।६॥" में कहा था—

"यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयु:"

अर्थात् हम यह नहीं जानते कि भीष्म आदि हमें जीतेंगे या हम उन को जीतेंगे।"

परन्तु भीष्म जी को इस बात का भली-भान्ति पता था कि कौरवों का नाश शीघ्र ही होने वाला है। भगवान् कृष्ण जब सन्धि के लिए कौरव सभा में हस्तिना पुर गए थे। तब दुर्योधन को मेल की कोई भी बात सुनते न देख कर भीष्म ने श्री कृष्ण जी से कहा था कि "काल-पक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन!" अर्थात् हे जनार्दन! सब क्षत्रिय काल-पक्व हो गए हैं।]

च=(अव्यय) और

जयद्रथम्=(पुं०) जयत् रथो यस्य (बहुव्री०) द्विती० ए० व०=जयद्रथ को।

[जयद्रथ सिन्धुदेश का राजा था दुर्योधन का बहनोई था। कौरवों की केवल एक ही बहन थी जिस का नाम दु:शाला था। यह उसी का पति था। पांडवों के वनवास के समय एक बार इस ने द्रौपदी को उठाने का प्रयत्न किया था जिस से पाँडवों ने इसे पकड़ लिया था। और सिर मूँड कर छोड़ दिया था। जयद्रथ और इसके साथियों के षडयन्त्र से अभिमन्यु की चक्रव्यूह में मृत्यु हुई थी। जयद्रथ को वरदान मिला हुआ था कि "जो तुम्हारा कटा हुआ सिर पृथिवी पर गिरावेगा। उस के सिर के उसी क्षण सौ टुकड़े हो जाएँगे" इस वरदान के कारण अर्जुन उस को मारने से भी महा भयभीत था।]

च=(अव्यय) और।

कर्णम्=(पुं०) कीर्यंते क्षिप्यते वायुना शब्दो यत्र,√कृ+न वा कर्ण्यते आकर्ण्यते अनेन,√कर्ण+अप् । कर्ण+द्विती० ए० व०=कर्ण को ।

[कर्ण सूर्य का पुत्र था । जो कुमारी कन्या कुन्ती को उत्पन्न हुआ था । इसी से कानीन (कन्यायाः जातः, कन्या+अण्, कानीन आदेशः) भी कहलाता था । महादानी या दानवीर था । उस के शरीर पर जन्म से ही कुण्डल तथा कवच धारण किए हुए थे । जो उसे अपने पिता सूर्य से मिले हुए थे । और जिन के कारण अर्जुन उसे अजेय समझता था और अपनी जीत के विषय में सन्देह युक्त हो रहा था । दूसरे उस कर्ण ने परशुराम से शस्त्रविद्या सीखी थी जिस ने इक्कीस बार वीरों के दांत खट्टे किये थे ।]

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल्=उसी प्रकार । वैसे ही ।

अन्यान्=(वि० पुं०)√अन्+य=अन्य+द्विती० ब० व०=दूसरों को । औरों को । अन्यों को ।

अपि=(अव्यय) भी ।

योध-वीरान्=(पुं०) योधेषु वीरान् (सप्त० तत्पु०) अथवा योधान् वीरान् (कर्मधारय०) द्विती० ब० व० । योधाओं में वीरों को । वीर योधाओं को ।

मया=अस्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा ।

हतान्=(वि०)√हन् (क्त)=हत+(पुं०) द्विती० ब० व०=मारे हुओं को ।

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=तू ।

जहि=√हन् (अदा० पर० सक०=मारना, वध करना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=मार ।

मा=(अव्यय)√मा+क्विप्=मत ।

व्यथिष्ठाः=√व्यथ् (भ्वा० आत्म० अक०=काँपना, भयभीत होना)+विधि म० पु० ए० व०=भयभीत होना चाहिए । डरना चाहिए । डरो । डर । (भयं मा कार्षीः)

युध्यस्व=√युध् (दिवा० आत्मा० अक०=लड़ना)+लोट्० म० पु० ए० व० =(तू) युद्ध कर ।

जेतासि=√जि (भ्वा० पर० सक०=जीतना)+लुट्० (सामान्य भविष्य) +म० पु० ए० व०=जीतेगा । जीत जायेगा ।

रणे=(पुं० नपुं०) रणन्ति शब्दायन्ते अत्र,√रण्+अप्=रण+सप्त० ए० व० =रण में । युद्ध में ।

सपत्नान्=(पुं०) सह एकार्थे पतति, √पत्+न, सहित्वं सः=सपत्न+द्विती० ब० व०=शत्रुओं को। वैरियों को।

अर्थ—(हे अर्जुन!) मेरे द्वारा मारे हुए—द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, जयद्रथ और कर्ण तथा दूसरे और भी वीर योधाओं को (तू) मार। (तुम्हें) डरना नहीं चाहिए। तू रण में शत्रुओं को (अवश्य) जीतेगा॥ ३४॥

व्याख्या—अर्जुन ने दूसरे अध्याय में भगवान् से कहा था—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्थात्, "हे मधुसूदन! [आपने जो मधु दैत्य को मारा, सो तो ठीक ही था क्योंकि वह तो पापी और दैत्य था] मैं रणभूमि में अपने दादा भीष्म और गुरु द्रोणाचार्य के प्रति किस प्रकार बाणों द्वारा युद्ध करूंगा क्योंकि हे शत्रु-नाशक! (वे दोनों तो मेरे शत्रु नहीं हैं) वे तो मेरे पूज्यनीय हैं। भगवान् ने उक्त इस श्लोक का उत्तर यहाँ एक दो श्लोकों में दिया है कि दुर्योधन और उसके सब अनुयायी या उसकी हाँ में हाँ मिलाने वाले पापी हैं। पापी का अन्न खाने वाले भी पापी होते हैं इसलिए दुर्योधन का अन्न खाने वाले तथा उसकी ओर से आप लोगों के साथ लड़ने के लिए उद्यत हुए तथा आप धर्मात्माओं को मारने की इच्छा करने वाले भीष्म और द्रोण भी कहाँ के धर्मात्मा हैं? और आप के साथ यह शत्रुओं सरीखा व्यवहार करने से अब दादा और गुरु न रह कर शत्रु और पापी बन चुके हैं तथा पापियों का पाप उनके मारने में महाबली होता है इसलिए जब पापियों की मृत्यु निकटतम होती है, तो मैं किसी को उनके मारने का निमित्त बना देता हूँ। वास्तव में वे पहले ही मेरे द्वारा मारे हुए होते हैं, अथवा मरने के निकटतम ले जाए हुए होते हैं और जो तूने कहा था कि—

"यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयु"

अर्थात् 'हमारे जीतने में भी सन्देह है।' सो मैं तेरे मन के इस संशय को भी जानता हूँ। सो भी भली भान्ति सुन—जो तू भीष्म को इसलिए अजेय समझता है कि उसने परशुराम जैसे जगत्प्रसिद्ध शूरवीर से लोहा लिया था तथा वरदान के बल से उसकी मृत्यु उसके अपने वशीभूत है, अथवा उसकी मृत्यु का होना उसकी इच्छा पर निर्भर है सो भी कोई बात नहीं है, मेरी योजना द्वारा तू उसको मरा हुआ जान ले शिखण्डी को आगे करके उसका शरीर तेरे बाणों द्वारा इतना जरजर कर दिया जाएगा कि जिस से फिर वह उठ भी न सकेगा और फिर जब उसकी मरजी हो, मरता रहे।

द्रोणाचार्य को तू अजेय इसलिये मान रहा है कि जब तक दिव्य शस्त्र

उसके हाथ में है वह किसी से भी मर नहीं सकता है। परन्तु उसके दिव्यशस्त्र उसके पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु की मिथ्या सूचना सुना कर पृथिवी पर गिरवा दिये जायेंगे जिस से तू फिर सहज ही उसको मार सकेगा। जयद्रथ को मारने से तू इस लिये डरता है कि उसके सिर के पृथिवी पर गिरते ही तेरे सिर के भी टुकड़े हो सकते हैं क्योंकि उसे इस प्रकार का वरदान प्राप्त हो चुका है। परन्तु तू उसका सिर काट कर तप कर रहे उसके पिता वृद्धक्षत्र की अंजुली में डाल सकेगा जिस से उसके पिता के हाथ से उसका सिर पृथिवी पर पतित हो जायेगा और साथ ही उसके पिता का सिर भी टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा।

तू कर्ण को भी अजेय समझता है जिसने ब्राह्मण बन कर परशुराम से दिव्य-शस्त्रों की विद्या प्राप्त की है और जिसके पास इन्द्र प्रदत्त अमोघ शक्ति है। परन्तु तुम्हें पता होना चाहिए कि परशुराम के शाप से समय पड़ने पर उसकी वह विद्या निष्फल हो जायेगी, और तेरे पिता इन्द्र ने कर्ण के कवच और कुण्डल दान द्वारा लेकर उसे जो अमोघ शक्ति दी है वह तेरे मारने के लिये नहीं है वह तो हिडिम्बासुत घटोत्कच की मृत्यु का कारण बनेगी।

इस लिये उक्त ये चारों शूरवीर तो मेरे द्वारा पहले ही मारे हुए समझ लो। इनके अतिरिक्त दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन, भगदत्त, भूरिश्रवा और शल्यादि जो वीर योधा तुम अजेय समझते हो। वे सब महा पापी और अत्याचारी हैं वे तो अपने पापों के कारण मेरे द्वारा इतने शक्तिहीन कर दिये गये हैं कि उनमें तुम से लड़ने की जान ही नहीं रही है। फिर भी तुम डरते हो और अपनी विजय को संदिग्ध समझते हो। यह बड़ी निकम्मी बात है। इस लिए तुम डरो नहीं मेरे द्वारा इन पहले से ही मारे हुए भीष्म, द्रोणादि तथा अन्य शत्रु शूर योधाओं को मारो। उनसे डट कर युद्ध करो। निःसन्देह तुम अपने शत्रुओं को युद्धक्षेत्र में जीत जाओगे ॥ ३४ ॥

संजय उवाच—[संजयः+उवाच]

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

एतत्+श्रुत्वा वचनम्+केशवस्य कृत+अञ्जलिः+वेपमानः किरीटी। नमः+कृत्वा भूयः+एव+आह कृष्णम्+स-गद्गदम्+भीतभीतः प्रणम्य ॥

एतत्=एतद् (सर्व०)+नपुं०) द्विती० ए० व०=इस को।

श्रुत्वा=√श्रु (स्वा० पर० सक०=सुनना)+क्त्वा=सुन कर।

वचनम्=(नपुं०)√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+ल्युट्=वचन+द्विती० ए० व०=वचन को। कथन को।

केशवस्य=क=ब्रह्मा। अ=विष्णु। ईश=शिव। व=वपु, हैं जिस के वह है केशव। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली सब से महान् शक्ति का नाम केशव (पुं०)+षष्ठी ए० व०=केशव के।

कृत+अञ्जलिः=कृतः अञ्जलिः [√कृ+क्त=कृत किए हुए।√अञ्ज्+अलि=अञ्जलि (पुं०)=जुड़े हुए दोनों हाथ]=जुड़े हुए दोनों हाथ किए हुए। [यह शब्द प्र० ए० व० और 'करीटी' का विशेषण है।] दोनों हाथ जोड़े हुए।

वेपमानः=√वेप् (भ्व० आत्म० सक०=कांपना)+शानच्=वेपमान (पुं०)+प्र० ए० व०=कांपता हुआ।

किरीटी=(वि०)√कृ+कीटन्=किरीट (पुं०)+इनि=किरीटिन्+प्र० ए० व०=किरीटी (मुकुट धारी) यह अर्जुन का नाम है।

"महा० विराट्० ४४।१७॥" में स्वयं अर्जुन ने विराट्-पुत्र उत्तर कुमार से कहा था—

"पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः।
किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम्॥"

अर्थात् मेरे द्वारा पूर्व काल में भारी वीर दानवों से युद्ध करने से (प्रसन्न हुए) इन्द्र द्वारा मेरे सिर पर सूर्य के समान आभा वाला किरीट (मुकुट) रक्खा गया था। जिस से मैं "किरीट" कहलाता हूँ॥

नमः=(अव्यय)√नम्+असुन्=नमस्=नमस्कार।

कृत्वा=√कृ+क्त्वा=करके। झुक कर।

भूयः=(अव्यय) भुवे भावाय यस्यति यतते, भू√यस्+क्विप्=पुनः। फिर।

एव=(अव्य) ही। भी।

आह=√ब्रू (अदा० उभ० सक०=कहना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=ब्रवीति; पक्षे आह=कहता है। कहा।

कृष्णम्=(पुं०)√कृष् (तुदा० उभ०, भ्वा० पर० सक०=खींचना, वशवर्ती करना)+न (क्)=कृष्ण+द्विती० ए० व०=कृष्ण को। सब को वशवर्ती करने वाले भगवान् को। विराट् रूपधारी कृष्ण को।

स-गद्गदम्=गद्गदं सहितेन। भयाविष्टस्य दुःखाभिघातात् स्नेहाविष्टस्य च हर्षोद्भवाद् अश्रुपूर्णनेत्रत्वे सति श्लेष्मणा कण्ठावरोधः ततः च वाचः अपाटवं मन्दशब्दत्वं यत् सः गद्गदः तेन सह वर्तते इति 'सगद्गदम्' अर्थात् जब दुःख प्राप्त होने के कारण भयभीत पुरुष के और हर्षोत्पत्ति के कारण स्नेह युक्त पुरुषों के नेत्र आँसुओं से भर जाते हैं, उस समय वाणी में जो अपटुता और शब्द में मन्दता हो जाती है, उसका नाम

'गद्गद' है और उस से युक्त को "सगद्गद" कहते हैं [श्री स्वामी शंकराचार्य जी की व्याख्या से]=गद्गद वाणी से ।

भीत-भीत:=(वि०) भीतेन भीत: य: स: (बहुव्री०) डर से डरा हुआ । भयभीत हुआ । (पुं०) प्र० ए० व० ।

प्रणम्य=प्र√नम्+ल्यप्=प्रणाम करके ।।

अर्थ—संजय (धृतराष्ट्र को घोर मोहनिद्रा से प्रबोधित करता हुआ) बोला—केशव (संसार की उत्पत्ति, स्थिति और नाश करने वाले भगवान्) के इस (उपर्युक्त) वचन को सुन कर करीटी (शूरता से प्रसन्न हुए इन्द्र देवता द्वारा मुकुटधारी अर्जुन) हाथ जोड़े हुए, कांपता हुआ, नमस्कार करके फिर भी भयभीत हुआ (सब को वशीभूत करने वाले) श्री कृष्ण भगवान् से गद्गद वाणी से बोला ।। ३५ ।।

व्याख्या—यद्यपि भगवान् कृष्ण ने युद्ध के आरम्भ होने से पूर्व ही अर्जुन के प्रति गीता का उपदेश किया था, परन्तु संजय युद्ध के दसवें दिन राजा धृतराष्ट्र को यह उपदेश सुना रहा है । जबकि महावीर भीष्मपितामह क्षत-विक्षत होकर धराशायी हो चुका है । जिस की यह दशा सुन कर धृतराष्ट्र के पावों तले से भूमि खिसकती जा रही है और वह अपने पुत्रों की भावी दुर्दशा को देखकर अचेत सा हो गया है । ऐसा मालूम होता है कि वह अपने विचारों की दुनियां में खो चुका था और संजय की बातों पर तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा था तो भी संजय ने अपनी तीक्ष्ण सूक्ष्म व्यंग्य उक्तियों द्वारा उसे समझाने का भरसक प्रयत्न किया है ताकि अब भी किसी प्रकार धृतराष्ट्र अपने पुत्रों को कह कर युद्ध रोकने का प्रयत्न करे और सर्व नाश को रोक ले । परन्तु होनहार बड़ी बलवान् होती है और वह किसी के भी रोकने से रुकती नहीं है । यह ३५वां श्लोक भी संजय ने व्यंग्य से धृतराष्ट्र को समझाने के सम्बन्ध में ही कहा है । संजय बोला—हे राजन् ! ध्यान पूर्वक सुनो । श्री कृष्ण जो पाण्डवों के पक्षपाती हैं । वे कोई साधारण या प्राकृत नर नहीं हैं वे तो केशव हैं । अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के एक मात्र करण कारण हैं तेरे दुर्योधनादि पुत्र उस महा काल के चुंगल से बचकर कहां जायेंगे ? जिन्होंने उन सब की मृत्यु का दृश्य अर्जुन को युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व ही दिखा दिया है । आप तो प्रज्ञाचक्षु हो आप के हृदय में यह बात अभी तक भी क्यों नहीं बैठती है जबकि भीष्मपितामह और उसके साथ ही अनेक योधाओं का संहार हो चुका है । अर्जुन भी श्री कृष्ण भगवान् के साथ अवतरित हुआ है जो महाबली और इन्द्र का पुत्र है जिस ने आज तक अनेक दैत्य दानवों का नाश कर दिया है । जिस से उसकी वीरता पर प्रसन्न होकर इन्द्र ने अपना वह मुकुट उस के सिर पर रख दिया है । जो सूर्य की तरह देदीप्यमान है और जिस से उस का नाम किरीटी

पड़ गया है। देखो—भगवान् श्री कृष्ण जी ने उसे होने वाला भावी संपूर्ण दृश्य दिखला दिया था और सब प्रकार से आश्वासन भी दे दिया था तो भी वह भयभीत होकर कांप रहा था और हाथ जोड़ कर बार बार प्रणाम कर रहा था। भगवान् श्री कृष्ण तो सब को वश में करने वाले हैं। तेरे मूर्ख पुत्र तो किसी प्रकार भी उन से बच न सकेंगे (जब कि उस की शक्ति की थोड़ी सी झांकी देख कर जगद्विख्यात योधा अर्जुन भयभीत हुआ थरथर कांप रहा था। वह भय-स्नेह हर्ष से युक्त हुआ नेत्रों में पानी भर गले के जल-पूरित हो जाने से बोलने में भी असमर्थ हो गया था। हे राजन्! इस विचित्र दशा को प्राप्त हुआ अर्जुन श्री कृष्ण भगवान् प्रति गद्गद वाणी से तब इस प्रकार बोला ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में 'नमस्कृत्वा' शब्द अपाणिनीय है। इसलिये आर्ष प्रयोग है (तिलक महाराज)।

अर्जुन उवाच—[अर्जुनः + उवाच]।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

स्थाने हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या जगत् + प्रहृष्यति + अनुरज्यते च। रक्षांसि भीतानि दिशः + द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्ध-संघाः।

स्थाने = (अव्यय) √स्था + ने = योग्य (ही है)। युक्त (ही है)। ठीक (ही है)।

अथवा = √स्था + ल्युट् = स्थान (नपुं०) + सप्त० ए० व० = स्थान पर। स्थान में। उपयुक्त। ठीक। मुनासिब ही।

हृषीकेश: = (पुं०) (सम्बोधन) हृषी + केश। [हृषी = आनन्दव्यापक, केश = किरण] भगवान् अपनी सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा विद्युत् आदि विभूतियों की किरणों से समस्त जगत् को हर्षित करते हैं। इस लिए इन को हृषी-केश कहते हैं।

अथवा हृषीकाणाम् ईशः (षष्ठी तत्पु०) हृषीक + ईशः + इन्द्रियों का स्वामी। अन्तर्यामी। √ हृष् (प्रसन्न होना) + ईकक् = हृषीक = इन्द्रिय। √ईश् (शासन करना) + क = ईश = स्वामी। इन्द्रियों का शासक।

अथवा—हृषी + केशः = आनन्ददायक सुन्दर केशों वाला।

हे हृषीकेश! हे अन्तर्यामी!

तव = युष्मद् (सर्व०) + षष्ठी० ए० व० = तव, ते = तेरी। आप की।

प्रकीर्त्या=(स्त्री०) प्र√ कृत (चुरा० पर० सक०=उल्लेख करना। उच्चारण करना)+इन्, इरादिश्च=प्रकीर्ति।
अथवा प्र√कृ+(भावे) क्तिन्=प्रकीर्ति+तृती० ए० व०=कीर्ति से। यश से। नाम और प्रभाव के कीर्तन से। प्रकीर्ति से।

जगत्=(नपुं०)√गम्+क्विप्, नि० द्वित्व, तुगागम=जगत्+प्र० ए० व०= जगत्। संसार।

प्रहृष्यति=प्र√हृष् (भ्वा०, दिवा०, पर० अक०=प्रसन्न होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०=अति हर्षित हो रहा है। अति प्रसन्न होता है।

अनुरज्यते=अनु√रञ्ज् (दिवा० भ्वा० उभ० अक०=खुशी से लाल होना। प्रेम से लाल होना, अनुरक्त होना। प्रेम में फंसना)+लट्० प्र० पु० ए० व०=अनुराग को प्राप्त हो रहा है। अनुरक्त होता है।

च=(अव्यय) और।

रक्षांसि=रक्षस् (पुं०) [रक्षति अस्मात्,√रक्ष्+असुन्]+प्र० ब० व०=राक्षस लोग।

भीतानि=(वि०)√भी (जुहो० पर० अक०=डरना+क्त=भीत+(नपुं०) प्र० ब० व०=डरे हुए। भयभीत हुए।

दिशः =(स्त्री०)√दिश् (तुदा० उभ० सक०=अवकाश देना) क्विन्=दिश्+ द्वितीo ब० व०=दिशाओं को। दिशाओं में। [दिशति अवकाशं ददाति] (द्रवन्ति क्रिया के योग से यहां सप्त० के स्थान पर द्वितीo प्रयुक्त हुई है।)

द्रवन्ति=द्रु (भ्वा० पर० अक०=भागना।)+लट्० प्र० पु०, ब० व० =भाग रहे हैं। दौड़ते हैं। छिपने के लिए दौड़ रहे हैं।

सर्वे=सर्व (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=सारे।

नमस्यन्ति=√नमस् (नाम धातु इच्छा के स्थान में क्यच् प्रत्यय हुआ है) +लट्० प्र० पु०, ब० व०=नमस्कार कर रहे हैं। प्रणाम करते हैं।

च=(अव्यय) और।

सिद्ध-संघाः=(पुं०) [कपिलादीनां] सिद्धानां संघाः (समुदायाः) [षष्ठी० तत्पु०]। प्र० ब० व०=सिद्धों के समूह।

अर्थ—हे हृषीकेश (कृष्ण)! यह सब ठीक ही है, जो आप की प्रकीर्ति (यशोगायन) से (सारा) संसार अति हर्षित हो रहा है तथा अनुराग को प्राप्त हो रहा है। डरे हुए राक्षस लोग (छिपने के लिए) दिशाओं में भाग रहे हैं। और सारे सिद्धों के समूह आपको नमस्कार कर रहे हैं॥ ३६॥

व्याख्या—मन्त्र-शास्त्र में यह श्लोक "रक्षोघ्न" मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध

है। इस मन्त्र के अनुष्ठान से राक्षसों का हनन होता है। इस के पढ़ने से भूत प्रेत, पिशाच, चुडेल, डाकिनी, शाकिनी आदि सब भाग जाते हैं। इस मन्त्र के जप तथा हवन और दान पुण्य करने से कोई भय शेष नहीं रहता। यह मन्त्र सर्वार्थ सिद्धि भी कहलाता है। बच्चों के गले में लिख कर डालने से उन के रोग दूर हो जाते हैं। लेखक को इस मन्त्र पर पूर्ण श्रद्धा और आस्था है। क्योंकि इस का प्रयोग सदा सफल हुआ है। अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! आप इन्द्रियों के स्वामी और सर्वान्तर्यामी हैं। अपनी सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा विद्युत आदि विभूतियों की किरणों से समस्त चराचर जगत् को हर्षित करते हो। क्योंकि इन किरणों द्वारा ही चीनी निशास्ते तेलों, जीवन तत्त्वों (विटामिनों) आदि की उत्पत्ति होती है। आप के बाल या केश अत्यन्त सुन्दर हैं, जिन में सारे संसार का मन अटका हुआ है। आप के रूप, नाम और यश का उच्च स्वरों द्वारा जो कीर्तन हो रहा हैं यह सर्वथा उचित ही है क्योंकि इस से संसार का प्राणी मात्र प्रहर्ष को प्राप्त हो रहा है। और आप के प्रेम में लीन और अनुरक्त हो रहा है। आपके भयानक दैत्यादि स्वरूप को देख कर दुष्ट राक्षस भयभीत हुए छिपने के लिए सारी दिशाओं की ओर भाग रहे हैं। एक उर्दू कवि ने ठीक ही कहा है—

जब घेर लेते हैं तेरी कुद्रत के जुहूर।
सुनकर भी पुकार उठते हैं तुझ को मजबूर।
खफ्फ़ाश को जुलमित में न सूझी कोई राह।
खुर्शीद का शश जहत में फैला जब नूर॥

अर्थात्—हे भगवन्! जब भी तेरा ईश्वरी प्रकाश प्रकट होता है तो दैत्य राक्षस आदि नास्तिक लोग भी उस को देखकर तेरे अस्तित्व का शोर मचाने लगते हैं। और उनको दशों दिशाओं में छिपने के लिए कोई स्थान नहीं मिलता है। ठीक इसी प्रकार कि जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सब ओर फैल जाने से चमगादड़ को छिपने के लिए कहीं अन्धकार नहीं मिलता है आप को देख कर कपिल आदि सिद्धों के सब समूह शीश झुका कर दोनों हाथ जोड़े हुए नमस्कार कर रहे हैं॥ ३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास,
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

कस्मात्+च न नमेरन्+महात्मन्! गरीयसे ब्रह्मणः+अपि+आदि-कर्त्रे अनन्त! देवेश! जगत्+निवास! त्वम्+अक्षरम्+सत्+असत्+तत्+परम्+यत्॥

कस्मात्=किम् (सर्व०)+(पुं० नपुं०)+पंच० ए० व०=किस कारण से। कैसे। क्यों।

च=(अव्यय) और।

न=(अव्यय) न। नहीं।

ते=१—युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिए। आप के लिए। और २—तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे (सिद्ध) लोग।

नमेरन्=√नम् (भ्वा० पर० सक०=प्रणाम करना, अक० झुकना)+आशी० प्र० ब० व०=नमस्कार करें।

महात्मन्!+(सम्बोधन) हे महात्मन्!। हे उदार चित्त! हे महान् चित्त वाले! हे परमात्मन्!

गरीयसे=(वि०) गुरु+ईयसुन् गर् आदेश=गरीयस्+(पुं०) चतु० ए० व०। गरीयस् के लिए। सब से बड़े के लिए। बहुत बड़े के लिए।

ब्रह्मणः=ब्रह्मन् (नपुं०)+पं० ए० व०=ब्रह्मा से।

आदि-कर्त्रे=आदि कर्तृ+(पुं०) चतु० ए० व०=आदि कर्ता के लिये।

अनन्त!=(सम्बोधन) नास्ति अन्तो यस्य (नञ् बहुव्री०)। हे अनन्त!।

देवेश!=(सम्बोधन) देवानां ईशः=देव+ईशः। हे देवेश! हे देवताओं के स्वामी! हे देवों के नियन्ता और शासक!

जगत्+निवास!=(सम्बोधन) हे जगति निवास आश्रय! (सप्त० तत्पु०)। हे सारे जगत् के निवास या (आश्रय) स्थान!

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=तू। आप।

अक्षरम्=(नपुं०) न क्षरम् (नञ् तत्पु०, नञ् बहुव्री०) अच्युत। स्थिर। नित्य। अविनाशी।

सत्=(वि०)√अस्+शतृ अकार लोप=सत्+(नपुं०) प्र० ए० व०=सत्। विद्यमान। व्यक्त। मूर्तिमान्। मूर्त।

असत्=(वि०) न सत् (नञ् तत्पु०, नञ् बहुव्री०) अविद्यमान्। जिस का अस्तित्व किसी को भी भासमान् या प्रत्यक्ष नहीं। मन वचन इन्द्रियादि सब से अगोचर। अमूर्त। जिस का किसी को भी कोई पता नहीं है। उस को "असत्" कहा जाता है। असत्+(नपुं०) प्र० ए० व०=असत्।

तत्+परम्=(नपुं०) तेभ्यः परम्=उन सब से परे।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।

अर्थ—हे महात्मन्! अर्थात् हे परमात्मन्! वे सिद्ध लोग (और देवता ऋषि मुनि आदि सब) ब्रह्म या ब्रह्मा से भी बहुत बड़े आदि कर्ता आप के लिए

नमस्कार क्यों न करें ? । हे अनन्त ! हे देवेश ! हे सम्पूर्ण जगत् के निवास स्थान ! आप अविनाशी, मूर्तिमान और अमूर्त हैं और जो इन सब से परे है वह (भी) हैं ।। ३७ ।।

व्याख्या—हे परमात्मन् । आप ही वह महा-आत्मा हैं । जिस में अलग अलग दिखाई देने वाली सब आत्माएँ महा प्रलय काल में समा जाती हैं और सृष्टि के आरम्भ काल में पुन: जीव बनकर प्रकट हो जाती हैं। अथवा सब प्राणियों के शरीरों में जो चैतन्यता, सजीवता और प्रकाश दृष्टि गोचर होते हैं । वे सब आप के उस प्रकाश के कारण ही नज़र आते हैं । जो आप में से निकल कर सब ओर सारे ब्रह्माण्ड में फैला हुआ हैं । और फिर आप अनन्त हैं । देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न हैं ! ब्रह्मा जो संसार का रचयिता कहा जाता है आप उसके रचने वाले हैं । इसलिए आप ब्रह्म तथा ब्रह्मा से भी महान्तम बड़े और सब के आदिकर्ता हैं । सब देवताओं के आदि कारण नियन्ता शासक और स्वामी भी आप ही हैं । इस के साथ ही सम्पूर्ण जगत् के निवास स्थान भी आप ही हैं । आप अक्षर हैं । सदा से रह रहे हैं सदा एक रस हैं और नित्य तथा अविनाशी हैं । आप की उत्पत्ति या नाश का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता आप सत् हैं । सब में मूर्तिमान् हैं । प्रत्येक जीव और पत्ते पत्ते में व्यक्त हैं । सूर्य चाँद और नक्षत्रों में चमक रहे हैं । अग्नि और विद्युत् में प्रकाशमान् हैं । जल में रस रूप होकर भासमान् हो रहे हैं वायु में सुख और शीतलता होकर अनुभव गोचर हो रहे हैं । कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ पर आप दिखाई नहीं देते हैं । परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आप अलख रूप हैं अर्थात् आप का कोई भी निश्चित रूप नहीं, रंग नहीं, रेख नहीं, वेष नहीं । मन, वाणी बुद्धि से परे हैं । और इन्द्रियों से अगोचर हैं । जिस आप को वास्तव रूप में आज तक कोई भी न देख सका है और न किसी प्रकार अनुभव कर सका है उस अमूर्त और अज्ञेय को असत् न कहा जाए तो और क्या कहा जाए ? हे भगवन् ! इस अक्षर, सत् तथा असत् से जो कुछ परे भी है । वह भी आप ही हैं ।। ३७ ।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण—
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।। ३८ ।।

त्वम्+आदि-देव: पुरुष: पुराण:+त्वम्+अस्य विश्वस्य परम्+निधानम् । वेत्ता+असि वेद्यम्+च परम्+च धाम त्वया ततम्+विश्वम्+अनन्त-रूप ! ।।

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=तू। आप।

आदि-देवः=(पुं०) आदौ दीव्यति, स्वयं राजते, (√दिव्+अच्) प्र० ए० व० =जो प्रथम ही क्रीड़ा करता है आप ही चमकता है। सब का आदि कारण है। आदि देवता। परब्रह्म।

पुरुषः=(पुं०) पुरति अग्रे गच्छति, पुर+कुषण्=पुरुष+प्र० ए० व०=पुरुषः =शरीर रूपी पुरों में रहने के कारण परमात्मा का नाम "पुरुष" है।

पुराणः=(वि०—"पुरुषः" का) पुरा भवः, पुरा+टचू नि० वा पुर नीयते, पुरा√नी+उ=पुराण+(पुं०) प्र० ए० व०=पुरातन। सनातन।

त्वम्=तू। आप। (प्र० ए० व० युष्मद् का)।

अस्य=इदम् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=इसके।

विश्वस्य=(नपुं०) विशति स्वकारणम्,√विश्+क्विन्=विश्व+षष्ठी० ए० व०=विश्व के। ब्रह्माण्ड में व्यापक सारे पिण्डों के समूह के।

परम्=(वि०—'निधानम्' का)√पॄ+अप्+पर+(नपुं०) प्र० ए० व०= परम्+बहुत बड़े। अन्तिम। मुख्य। प्रधान। परम।

निधानम्=(नपुं०) नि√धा+ल्युट्=निधान+प्र० ए० व०=खजाना। कोष। आश्रय। निधीयते अस्मिन् जगत् सर्वं महाप्रलयादौ अर्थात् महा प्रलय आदि में सारा संसार जिस में स्थित होता है उस का नाम 'परम निधान' है॥

वेत्ता=(पुं०)√ विद्+तृच्=वेत्तृ+प्र० ए० व०=वेत्ता=जानने वाला (जानने वाले)।

असि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० म० पु०, ए० व०=(आप) हो। (आप) हैं।

वेद्यम्=(वि०)√विद्+ण्यत्+द्विती० ए० व०=जानने योग्य।

च=और।

परम्=(वि—'धाम' का) (नपुं०) प्र० द्विती० ए० व०=परम।

च=और।

धाम=(नपुं०) दधाति गृहस्थादिकम्,√धा+मणिन्=धामन्+प्र० द्विती० ए० व०=धाम। परम वैष्णव पद।

त्वया=युष्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=तेरे द्वारा। आप के द्वारा। आप से।

ततम्=(वि०)√तन्+क्त=तत+(नपुं०) प्र० ए० व०=फैला हुआ। व्याप्त। परिपूर्ण। भरा हुआ।

विश्वम्=(नपुं०) विश्व+प्र० ए० व०=सारा संसार।

अनन्त-रूप ! =(सम्बोधन) हे अनन्त रूप परमात्मा !

अर्थ—हे अनन्त रूप परमात्मन् ! आप आदि देव (जगत् का आदि कारण) हैं। पुरातन पुरुष हैं। इस विश्व के परम निधान (सब से बड़ा कोष) हैं आप सब कुछ जानने वाले हैं और सबके जानने योग्य हैं। परमधाम (परम वैष्णव पद) हैं। आप से सम्पूर्ण संसार भरा हुआ है। आप से ही यह संसार व्यापकता को प्राप्त हुआ है ॥ ३८ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आप अनन्त रूप हैं। देश, काल और वस्तु की सीमा से आप रहित हैं। इन्द्रादि सब देवता तो आप से उत्पन्न किए हुए हैं। केवल एक आप ही ऐसे देव हैं जिन के उत्पन्न करने वाला कोई नहीं है। आप अनादि और अजन्मा होने से आदि देव कहलाते हैं। जगत् के उत्पन्न करने वाले होने के कारण संसार का आदि कारण कहे जाते हैं। आप से पहले का कोई नहीं है, केवल आप ही सनातन या पुरातन पुरुष हैं। आप का निवास सब प्राणियों के शरीरों में है। इसलिए आप को पुरुष कहा जाता है और परम पुरुष भी आप ही कहलाते हैं। महा प्रलयादि में सारा संसार आप में स्थित होकर समा जाता है। इसलिए आप का नाम परम निधान है अर्थात् आप सारे संसार का स्टोर, कोष, खज़ाना तथा आश्रय-स्थान हैं। आप कण-कण में और प्रत्येक परमाणु में सज़ग होकर रम रहे हैं इसलिए सब कुछ जानने वाले हैं। संसार में अनेक विद्याएँ और जानने योग्य पदार्थ और कार्य हैं परन्तु सब से बढ़ कर जानने योग्य केवल एक आप ही हैं। क्योंकि आपके जाने बिना संसार से छुटकारा नहीं होता। केवल आप को जान लेने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और यह जीव जन्म मरण के कष्टों से रहित होकर आपके शुद्ध सच्चिदानन्दघन स्वरूप में मिल जाता है जैसे सरोवर में डाला हुआ जल सरोवर के जल से मिल कर एक रूपिता को प्राप्त हो जाता है। आप परमधाम या परमवैष्णव-पद हैं। क्योंकि आप को प्राप्त हो जाने के बाद फिर और किसी को प्राप्त होना शेष नहीं रहता। यह सारा संसार आप के प्रकाश या आप की सत्ता से परिपूर्ण है और आप के कारण ही इतने बड़े विस्तार को प्राप्त हुआ है, आप अनन्त हैं। आप की महिमा का कोई पारावार नहीं है ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

वायुः+यमः+अग्निः+वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिः+त्वम्+प्रपितामहः +च। नमः+नमः+ते+अस्तु सहस्र-कृत्वः पुनः+च भूयः+अपि नमः+नमः +ते ॥

वायु:=(पुं०)√वा+उण्, युक् आगम=वायु+प्र० ए० व०=पवन देव ।

यम:=(पुं०)√यम्+घञ् वा अच्=यम+प्र० ए० व०=यमराज ।

अग्नि:=(पुं०)√अङ्ग्+नि, न लोप=अग्नि+प्र० ए० व०=अग्नि देवता ।

शशाङ्क:=(पुं०) शशमाङ्कं धारयति य: (बहुव्री०) । काले शशक सा चिह्न जिस में दिखाई देता है । चन्द्र मण्डल का देवता ।

प्रजापति:=(पुं०) [प्र√जन्+ड-टाप्=प्रजा (स्त्री०) । पाति रक्षति,√पा+उति=पति (पुं०)] प्रजानां पति: (बहुव्री०) । प्रजाओं की रचना करने वाला स्वामी । ब्रह्मा । दादा ब्रह्मा । [ब्रह्मा से मरीचि आदि सात मानस-पुत्र उत्पन्न हुए थे । मरीचि से कश्यप और कश्यप से सारी प्रजा उत्पन्न हुई । इसलिए ब्रह्मा जी कश्यप के दादा हुए । सारी प्रजा भी उन्हें सम्मानार्थक दादा (पितामह) ब्रह्मा ही कहती है ।]

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=तू । आप ।

प्रपितामह:=प्र[पाति रक्षति अपत्यम्,√पा+तृच्=पितृ+डामहच्=पितामह =पिता का पिता अर्थात् बाबा या दादा]+पितामह+(पुं०) प्र० ए० व०=प्रपितामह:=परदादा । ब्रह्मा का भी पिता ।

च=(अव्यय) और ।

नम: नम:=(अव्यय नमस्) नमस्कार । नमस्कार ।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिए । आप के लिए । आप को ।

अस्तु=√अस्+(लोट्०) प्र० पु०, ए० व०=हो ।

सहस्र-कृत्व:=समानं हसति,√हस्+र, समानस्य सादेश:=सहस्र (नपुं०)] सहस्र+कृत्वसुच् (कृत्वस्)=सहस्र-कृत्व: (अव्यय)=हजारों बार ।

पुन:=पुनर् (अव्यय) [√पन्+अर्, उत्व]+फिर । दुबारा ।

च=और ।

भूय:=(अव्यय) भुवे भावाय यस्यति यतते, भू√यस्+क्विप्=भूयस्=फिर ।

अपि=(अव्यय) भी ।

नम: नम:=नमस्कार (हो) । नमस्कार (हो) ।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिए । आप के लिए । आप को ॥

अर्थ—आप पवनदेव, यमराज, अग्निदेवता, जलदेवता, चन्द्रमण्डल के देवता, प्रजा की उत्पत्ति करने वाले दादा ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता अर्थात्

हमारे प्रपितामह हैं। आप को हजारों बार नमस्कार हो। आप को पुनः नमस्कार हो। फिर भी नमस्कार हो। (बार बार) नमस्कार हो ॥ ३९ ॥

व्याख्या—हे भगवन्! संसार में सब कुछ केवल आप का ही स्वरूप है। सब देवताओं में भी आप का ही निवास है, जो भक्त इन देवताओं की पूजा करते हैं। वे वास्तव में आप की ही पूजा करते हैं। पवन-देव आप हो। यमराज आप हो अर्थात् सब जीवों में प्राणों का संचार आप के कारण ही होता है और मृत्यु भी आप के द्वारा ही होती है। अग्नि देवता का रूप धारण करके आप ही सब प्रकार के अन्नों का पाचन करते हो और स्वस्थ रखने के लिए शरीर का तापमान स्थिर रखते हो। सब प्राणियों के शरीरों में चमक-दमक, स्वास्थ्य, सौन्दर्य और कान्ति आप के कारण ही है। आप ही नाड़ियों में रुधिर-प्रवाह निरन्तर करते रहते हो, वर्षा के रूप में बरसते हो, समुद्रों और सरोवरों आदिकों में आप का द्रवमय स्वरूप सदा भरा रहता है। चन्द्र देवता का रूप धारण करके सब के हृदयों में ठण्डक पहुँचा रहे हो तथा अन्धकारमय रातों को प्रकाश प्रदान करते हो। चाँद बन कर निरन्तर भूमण्डल का चक्र लगा रहे हो। आप की ज्योत्स्ना भक्तों के हृदयों के अन्धकार को हर लेती है। आप प्रजा की उत्पत्ति के कारण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा हैं प्रजापति हैं। सब के दादा हैं ब्रह्मा के भी पिता अर्थात् हम सब के परदादा हैं। प्रपितामह हैं आप सब प्रकार से हमारे पूज्य हैं। इसलिए आप को मेरा हजारों बार प्रणाम है। नमस्कार है। नमस्कार है। पुनः नवस्कार है। फिर भी नमस्कार है। हे भगवन्! मेरा मन तो यह चाहता है कि सदा सामने विद्यमान आप को एकटक देखता रहूँ और निरन्तर नमस्कार करता रहूँ ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

नमः पुरस्तात्+अथ पृष्ठतः+ते नमः+अस्तु ते सर्वतः+एव सर्व! अनन्त-वीर्य!। +अमित-विक्रमः+त्वम्+सर्वम्+समाप्नोषि ततः+असि सर्वः ॥

नमः=(अव्यय)√नम्+असुन्=नमस्=नमस्कार है।

पुरस्तात्=(अव्यय) पूर्व+अस्ताति, 'पुर्'+आदेशः=अग्रतः। आगे से। सामने से।

अथ=(अव्यय)√अर्थ+उ पृषो० 'र' लोपः=और। पहले।

पृष्ठतः=√पृष्+थक्, नि० साधुः=पृष्ठ+तस् पृष्ठतस्=पृष्टतः (अव्य०) पीठ की ओर से। पीछे से।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तेरे लिए । आप के लिए। आप को ।

नमः=नमस् (अव्यय) नमस्कार ।

अस्तु=√अस्+लोट०, प्र० पु०, ए० व०=हो ।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तेरे लिए। आप के लिए। आप को।

सर्वतः =(अव्यय) सर्व+तसिल्=सर्वतस्=सब ओर से । [सर्वासु दिक्षु सर्वत्र स्थिताय=सर्वत्र स्थित हुए, को सब दिशाओं में] ।

एव=(अव्यय) ही ।

सर्व!=[सर्वनाम वि०]√सृ+व=सर्व+सम्बो० ए० व०=हे सर्व ! हे सम्पूर्ण ! हे सर्वात्मक ! हे सर्वात्मन् !

अनन्त-वीर्य !=(वि०) न अन्तम् अनन्तम् (नञ् तत्पु०) वीर्य सामर्थ्य । (विक्रमः पराक्रमः ।) वीर्य 'सामर्थ्य' को कहते हैं । विक्रम 'पराक्रम' का नाम है)। अनन्तं वीर्यं यस्मिन् सो ऽनन्त वीर्यः । सम्बोधन=हे अनन्त वीर्य ! । हे अनन्त सामर्थ्यवान् ! ।

अमित-विक्रमः=वि०) न मितः (न नापा हुआ, असीम) विक्रमः यस्मिन् (नञ् तत्पु०, बहुव्री)=अनन्त पराक्रमशाली ।

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र०ए०व०=तू आप ।

सर्वम्=सर्व (सर्व०)+द्विती० ए० व०=सब को। सारे जगत् को ।

समाप्नोषि=सम्√आप् (स्वा० पर० सक०=व्याप्त करना)+लट्० म० पु०, ए० व०=व्याप्त करते हो। व्याप्त कर रहे हो ।

ततः=ततस् (तद्+तसिल्, अव्यय)=तो फिर । इस से। इसलिए। अतः ।

सर्वः=(सर्व०) सर्व+(पुं०) प्र० ए० व०=सर्व रूप ।

असि=√अस्+लट्०, म० पु०, ए० व०=(आप) हो ॥

नोट—"अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वम्" इस तृतीय-पाद का अर्थ टीकाकारों ने दो प्रकार से किया है—

१—हे अनंतवीर्य ! आप अमित विक्रम वाले हो ।

२—आप अनन्तवीर्य और अमित विक्रव वाले हैं पहले अर्थ में 'अनन्त-वीर्य' पद सम्बोधन एक वचन माना गया है और दूसरे अर्थ में 'अनन्तवीर्य' पद द्वन्द्व समास का पहला खण्ड समझा गया है। दोनों अर्थ ठीक हैं ॥

पहला अर्थ—हे अनन्त वीर्य ! [अनन्त सामर्थ्य वाले प्रभो !] आप के लिए पहले सामने से नमस्कार हो । फिर पीठ की ओर से (नमस्कार हो) । हे सर्व ! (हे सर्वात्मन् !) आप के लिये सब ओर से ही नमस्कार हो । आप अनन्त या

असीम पराक्रम वाले हैं। (जब) आप सारे संसार को व्याप्त कर रहे हो तो फिर आप ही सर्वरूप हैं ।। ४०

दूसरा अर्थ—हे सर्व ! आप को आगे, पीछे और सब ओर से नमस्कार हो। आप का वीर्य (बल, शक्ति का सामर्थ्य) अनन्त है आप का विक्रम (पराक्रम) अपार है । आप सारे संसार को फैला कर उस में रम रहे हो। इसलिये सर्वरूप हो ।। ४० ।।

व्याख्या—इस समय अर्जुन को विराट् भगवान् के अतिरिक्त किसी ओर भी और कुछ दिखाई नहीं दे रहा था सामने, पीठ पीछे, दोनों पार्श्वों में नीचे ऊपर दशों दिशाओं में सब ओर उसी अनन्त के दर्शन हो रहे थे। जिस से उसे और तो कुछ सूझता नहीं था। भगवान् के अमित प्रभाव और अपार शक्ति और अनन्त पराक्रम को देख कर बार बार नमस्कार कर रहा था। सामने दिखाई दे रहे प्रभु को अपने मुख की ओर से नमस्कार करता था। पीठ पीछे के प्रभु को अपनी पीठ द्वारा नमस्कार करता था दोनों पार्श्वों और अध: ऊर्ध्व की ओर दिखाई दे रहे परमेश्वर को अपने शरीर की सब तरफों से नमस्कार कहता था और साथ ही यह भी कहता था, कि हे सर्वरूप परमेश्मर ! मैं आप के मुख की ओर को नमस्कार करता हूँ। आप की पीठ को नमस्कार करता हूँ। आप की सब ओर को नमस्कार करता हूं। क्योंकि आप सर्वरूप हैं। सब में आत्मा रूप होकर स्थित हो । वास्तव में जगत् में विद्यमान सारे स्वरूप आप के ही विविध रूप हैं आप का बल अनन्त है और पराक्रम अमित है। आप सारे संसार में सब ओर व्याप्त हैं जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है :—

"ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।"

(मुण्डक २।२।११, छां० ७।२५।।

[अर्थ—यह अमृत स्वरूप ब्रह्म ही सामने है । ब्रह्म ही पीछे है। ब्रह्म ही दायें और बायें है। ब्रह्म ही नीचे और ऊपर फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण विश्व है। यह सर्व श्रेष्ठ ब्रह्म ही है ।।] ।। ४० ।।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ।। ४१ ।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।। ४२ ।।

सखा+इति मत्वा प्रसभम्+यत्+उक्तम्+हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !+(इ) ति । अजानता महिमानम्+तव+इदम्+मया प्रमादात्+प्रणयेण वा+अपि ॥ ४१ ॥

यत्+च+अवहास+अर्थम्+असत्कृतः+असि विहार-शय्या+आसन-भोजनेषु । एकः+अथवा+अपि+अच्युत ! तत्+समक्षम्+तत्+क्षामये त्वाम्+अहम्+अप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

सखा=(पुं०) सखि (सह समानं ख्यायते√ख्या+डिन्=समान-वया)+प्र० ए० व०=सखा । सहचर । मित्र । साथी ।

इति=(अव्यय)√इ+क्तिन=इस प्रकार । ऐसा ।

मत्वा=√मन्+क्त्वा=मान कर ।

प्रसभम्=(अव्यय) प्रगता सभा समानाधिकारोऽस्मात्, (प्रा० बहुव्री०) बलपूर्वक । हठ से । अविनय करके ।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो ।

उक्तम्=√वच् (अदा० पर० सक०=कहना)+क्त=उक्त=(नपुं०) प्र० ए० व०=कहा गया है ।

हे कृष्ण ! =(सम्बोधन ए० व०) हे कृष्ण !

हे यादव=(सम्बो० ए० व०) हे यादव ! हे यदुवंश में उत्पन्न !

हे सखे ! +(इ) ति=हे सखे ! इस प्रकार । ["हे सखेति" शब्द का सन्धिच्छेद हे सखा+इति होता है । परन्तु हे सखे ! सम्बोधन ए० व० होता है । हे सखा ! नहीं । लेकिन अधिक टीकाकारों ने "हे सखा" ही लिखा है । जब कि स्वामी शंकराचार्य ने हे सखे+इति लिखा है जिस को मिलाने से हे सखयिति शब्द बनता है । हमारी समझ में हे सखे+(इ) ति ही ठीक है यहाँ आर्ष प्रयोग होने से 'इ' ने पूर्व ए का रूप धारण कर लिया है और अपना अलग अस्तित्व खो दिया है ।]

अजानता=√ज्ञा (क्रया० उभ० सक०=जानना)+शतृ=जानत्+(पुं०) तृती० ए० व०=जानता (नञ् तत्पु०) न जानता=अजानता=न जानते हुए द्वारा ।

महिमानम्=(पुं०) महतो भावः, महत्+इमनिच्=महिमन्+द्विती० ए० व० =महिमा को । महत्त्व को । महात्म्य को । बड़प्पन को । प्रभाव को । प्रताप को ।

तव=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तव, ते=तेरी ।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=इमम्=इस को [यहाँ इमम् शब्द के स्थान पर इदम् (नपुं०) द्विती० ए० व० आर्ष प्रयोग है ।]

मया=अस्मद् (सर्व०)+तृतीया ए० व०=मेरे द्वारा।

प्रमादात्=(पुं०) प्र√मद्+घञ्=प्रमाद+पंच० ए० व०=असावधानी से। लापरवाही से। प्रमाद से। ग़फ़लत से। भूल से।

प्रणयेन=(पुं०) प्र√नी+अच्=प्रणय+तृती० ए० व०=प्रेम से। प्यार से। अनुराग से। स्नेह से। (स्नेह निमित्तक विश्वास का नाम प्रणय है।)

वा=(अव्यय) अथवा। या।

अपि=(अव्यय) भी। ही।

टिप्पणी—*स्वामी शंकराचार्य जी लिखते हैं—

"तव इदं महिमानम् अजानता" इति वैयधिकरण्येन सम्बन्धः। तव इमम् इति पाठो यदि अस्ति तदा समानधिकरण्यम् एव।

अर्थात् "तव इदं महिमानम् अजानता" इस पाठ में 'इदं' शब्द नपुंसकलिङ्ग है और 'महिमानम्' शब्द पुंल्लिङ्ग है। अतः इनका आपस में वैयधिकरण्य से विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध है यदि 'इदम्' के स्थान पर 'इमम्' पाठ हो तो सामानाधिकरण्य से सम्बन्ध हो सकता है॥ ४१॥

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए० व०=जो।
च=(अव्यय) और।

अवहास+अर्थम्=[अव√हास्+घञ्=अवहास (पुं०)] अवहासस्य अर्थम्=परिहास के लिये। हँसी के लिये। हँसी-दिल्लगी के लिये। मज़ाक़ या ठट्ठा करने के लिये।

असत्कृतः=[असत् (वि०)=√अस्+शतृ (नञ् तत्पु०)] झूठे। [√कृ+क्त+(पुं०) ए० व०=कृतः] किए हुए। झूठे कह कर अपमानित किए हुए। अनादर या अपमानित किए गये।

असि=√अस्+लट्० म० पु०, ए० व०=हो।

विहार-शय्या+आसन-भोजनेषु=[विहरणं=विहारः, । (पाद-व्यायामः)। शयनम्=शय्या। आसनम्=आस्थापिका, भोजनम्=अदनम्। अर्थात् पैरों से चलने फिरने का नाम विहार है। शयन का नाम शय्या है। बैठने का नाम आसन है और भक्षण करने का नाम भोजन है।]

विहारे च शय्यायां च आसने भोजने च [इतरेतर द्वन्द्व समास]। विहार, शय्या, आसन और भोजन करने में। मिलकर खेलने, सैर करने, सोने, बैठने और भोजन करने में।

एकः=(संख्या०, सर्व०) एक+(पुं०) प्र० ए० व०=(मैं) एक ने। अकेले ने। जब और कोई पास नहीं था। उस समय में।

अथवा=अथ, वा (अव्यय) और या। अथवा।

अपि=(अव्यय) भी।

अच्युत! =(सम्बो० ए० व०) हे अच्युत! [√च्यु+क्त, नञ् तत्पु०। जो अपने स्वरूप, सामर्थ्य और स्थान से गिरा न हो, स्थिर, अविचल।]

तत्समक्षम्=(अव्यय) तेषां (सखीनां) समक्षम् (षष्ठी० तत्पु०)=उन (सखाओं या अन्य पुरुषों) के सामने।

तत्=तम् अपराधम्। उस अपराध को। उस अपराधों के समदाय को।

क्षामये=√क्षम् (क्षमा करना)+निच्+लट्० उ० पु० ए० व०=(मैं) क्षमा करवाता हूँ।

त्वाम्=युष्मद् (सर्व)+द्वितीo ए० व०=तुझ को। तुझ से। आप से।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

अप्रमेयम्=(वि०) [नञ् तत्पु०, नञ् बहुव्री०] (पुं०) द्विती० ए० व०=अप्रमेय को। अप्रमेय से। जो नापा न जा सके उस से। प्रमाणातीत परमेश्वर से॥ ४२॥

अर्थ—"(कृष्ण मेरा) सखा है" ऐसा मान कर तथा आपकी इस (देखी जा रही) महानता को (पूर्व) न जानता हुआ होने से 'हे कृष्ण!', 'हे यादव'!, हे सखे! इस प्रकार मेरे द्वारा प्रेम से या प्रमाद से भी जो हठपूर्वक (बार-बार) कहा गया है॥ ४१॥

और हे अच्युत! जो आप दिल्लगी या मजाक के लिये साथ खेलते, चलते फिरते, सोते, बैठते और भोजन करने में अकेले या उन (अन्य सखाओं) के सामने मेरे द्वारा अपमानित किये गये हो, मैं उस अपराध समूह को आप अप्रमेय (अनन्त) परमात्मा से क्षमा करवाता हूँ। [अर्थात् उस अपराध समूह के क्षमा करने के लिये अनन्त भगवन्! आप से याचना करता हूँ॥ ४२॥

व्याख्या—हे प्रभो! आप के इस विराट् रूप देखने से पहले मैं आप को केवल अपना सखा ही समझता रहा, कभी यह विचार न कर सका कि आप ही इस संसार के केवल सर्वासर्व हैं, इसी कारण से आप के महात्म्य या इस दृश्यमान विराट् रूप की महिमा को पहले न जान सका जिस से बार-बार जो मुँह में आया। आप को बकता और कहता रहा। मैं मूर्ख आप को कभी अवज्ञा से 'ओ! कृष्ण!' कह कह बुलाता था। कभी हठ से 'अरे यादव!' कहता रहा।—कभी मोहवश 'हे सखे! कह कर पुकारना था। यह मेरी बड़ी भूल थी। जिस का बड़ा कारण तो मेरा प्रमाद था, ग़फ़लत थी। गुस्ताख़ी थी। अज्ञानता थी अथवा असावधानता थी। जो निरन्तर आप के संग रहने पर भी आप के रहस्य को आप की पूर्ण कृपालुता होने पर भी समझ

न सका। दूसरे सम्बन्धी और सखा होने के नाते आपके स्नेह निमित्तक विश्वास के कारण मूढ़ बना रहा। जिस से आप की अप्रतिम और अपार महिमा को न जान कर आप की बराबरी करता रहा और बातचीत करते समय कभी आप के महान् गौरव और सत्कार का ध्यान न रख सका। हे प्रभो! मैं एक तुच्छ प्राणी हूँ और आप वह हैं जिन के बिना संसार में और कुछ है ही नहीं। कहाँ राजा भोज, कहाँ लंगड़ा तेली? अथवा कहाँ एक परमाणु और कहाँ किरणों वाला बड़ा सूर्य? कहाँ सर्षप बीज? कहाँ पच्चीस हज़ार परिधि वाला भूमण्डल! जिससे आपको मैं अपना सखा समझता रहा। उस महान् विराट् रूपधारी अव्यक्त पर-ब्रह्म से मुझ तुछ अर्जुन की बराबरी कैसे हो सकती है? यद्यपि कोई एक परमाणु अपने मूल तत्त्व का ही एक अत्यन्त सूक्ष्म भाग होता है परन्तु महानता के विचार से उन दोनों में महद् अन्तर होता है इस प्रकार मैं भी यद्यपि आप का ही अंश हूँ। परन्तु आप को सखा मानकर आप का अनादर करना यह मेरी एक महान् भूल थी। जो क्षमा की जानी चाहिए।

हे अच्युत! आप अडिग हैं। अर्थात् निर्विकार हैं। इसलिये मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप मेरे अपराधों को देख कर कभी विचलित न होंगे। सदा एक रस रहते हुए मुझ पर कृपा बनाए रहेंगे। मैं ने आपके साथ खेलते हुए, सैर करते हुए, सोते, जागते तथा बैठते हुए और भोजन करते समय एकान्त में अथवा दूसरे लोगों के सामने कई बार हँसी, मज़ाक और विनोद में आपको मख़ौल किए हैं। जिस से आप बार-बार अपमानित हुए हैं। क्योंकि कई बार बिना कारण ही आपको झूठा कह कर "झूठ बोलने वाला" बनाया है। यह सोच कर और आप का विराट् रूप देखकर अब मैं लज्जा से पानी पानी हो रहा हूँ और मुझे अपनी इस करतूत पर अत्यन्त खेद हो रहा है। अनजाने में मैं अपनी बाणी के मुँह में लगाम नहीं दे सका। हे भगवन्! आप तो अचिन्त रूप हैं। प्रमाणों से न जानने योग्य हैं। सीमा से रहित हैं। सब से परे हैं। इस लिये आप मेरे अपराध-पुंज को क्षमा कीजिए। पापगट्ठर को मेरे सिर से उतार कर मेरे उस भार को हटा दीजिए, जिस के तले मैं दबा जा रहा हूँ। आप मुझ पर सब प्रकार से दया करने के लिये योग्य हैं॥

जब यदुकुल का संहार हो गया और भगवान् श्री कृष्ण तिरोधान हो गए तो अर्जुन ने द्वारका से आकर यह समाचार पाँडवों को सुनाया और जो "श्रीमद्भागवत १।१५।१९॥" में यह वचन कहा गया है—

> "शय्यासनाटनविकथनभोजनादि—
> ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः।
> सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं
> सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे॥"

अर्थ—भगवान् के साथ सोने, बैठने, सैर करने, बोलने और भोजनादि करने में मेरा और उनका ऐसा स्वभाव हो गया था, मैं कभी-कभी 'हे वयस्य ! तुम ही बड़े सत्य बोलने वाले हो !' यह कह कर कटूक्ति द्वारा निरादर करता था। परन्तु वे भगवान् अपने अत्यन्त बड़प्पन के अनुसार मुझ कुमति के सब कुवचन वैसे ही सह लेते ते। जैसे मित्र अपने मित्र के और पिता अपने पुत्र के अपराधों को सह लेता है।] ४१।४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

पिता+असि लोकस्य चर+अचरस्य त्वम्+अस्य पूज्यः+च गुरुः+गरीयान्। न त्वत्+समः+अस्ति+अभ्यधिकः कुतः+अन्यः लोक-त्रये+अपि अप्रतिम-प्रभाव ! ॥

पिता=(पुं०) पाति रक्षति अपत्यम्, √पा+तृच्=पितृ+प्र० ए० व०= पिता। जनयिता। प्राणियों को उत्पन्न करने तथा पालने वाला।

असि=√अस्+लट्० म० पु०, ए० व०=हो।

लोकस्य=(पुं०)√लोक्+घञ्=लोक+षष्ठी० ए० व०=लोक के। जगत् के।

चर+अचरस्य=√चर्+अच्=चर=चलने फिरने वाले जीव। अचर (नञ् तत्पु०) न चलने फिरने वाले जीव। बूटियाँ पौदे, बेलें और वृक्ष आदि वनस्पतियाँ। स्थावर और जंगम।

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=तू। आप।

अस्य=इदम् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=इस के।

पूज्यः=(वि०)√पूज्+ण्यत्=पूज्य+(पुं०) प्र० ए० व०=पूजा करने योग्य। पूजनीय।

च=(अव्यय) और।

गुरुः=(वि०) गृणाति उपदिशति धर्मं गिरति अज्ञान वा ; यद्वा गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वाभिः, गृ+कु, उत्व=गुरु+(पुं०) प्र० ए० व०=गुरुः= अध्यापक। मन्त्रदाता। बड़ा बूढ़ा।

गरीयान्+(तुलनात्मक विशेषण) गुरु+ईयस्=गरीयस्+(पुं०) प्र० ए० व० =गरीयान्=गुरुतर (गरिष्ठः=गुरुतम्) गुरु से अत्यन्त बड़े। गुरुओं के गुरु।

न=(अव्यय) न। नहीं।

त्वत्=युष्मद् (सर्व०)+पंच० ए० व०=तेरे। आप के।

समः=(वि०)√सम्+अच्=सम्+(पुं०) प्र० ए० व०=समान। तुल्य। बराबर। (दूसरा कोई)।

अस्ति=√अस्+लट्० प्र० ए० व०=है।

अभ्यधिकः=(वि०) अभितः अधिकः इति प्र० समास (पुं० प्र० ए० व०= अत्यधिक। बढ़ कर।

कुतः=(अव्यय) किम्+तसिल्=कुतस्=कहाँ से। कहाँ। कैसे ?

अन्यः=(वि०)√अन्+यः=दूसरा। लोक-त्रये=(पुं०) सप्त० ए० व०) तीनों लोकों में।

अपि=(अव्यय) भी।

अप्रतिम-प्रभाव !=नास्ति प्रतिमा (तुलना) यस्य प्रभावस्य (नञ् बहुव्री०)= जिस के प्रभाव की तुलना नहीं हो सकती उस का नाम अप्रतिम प्रभाव है। सम्बोधन ए० व०=हे अतुल्य प्रभाव (कृष्ण)! हे अतिशय प्रभाव वाले !

अर्थ—आप इस चर और अचर लोक के पिता हो। पूजनीय हो, गुरु हो और गुरुओं के भी गुरु हो। हे अनुपम, अतुल प्रभावशल्ली परमात्मन् ! तीनों लोकों में भी आप के समान दूसरा (कोई) नहीं है। बढ़कर तो कैसे हो सकता है ? ॥ ४३ ॥

व्याख्या—हे भगवन् ! आप इस चर और अचर सारे संसार के पिता हो। श्रुति में भी कहा गया है—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।" अर्थात् आप वह पिता हैं जिन से ये सब चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। इस से आप मेरे भी पिता हैं। इसलिए मुझे पूर्ण आशा है कि आप मेरे सब अपराधों को अवश्य ही क्षमा कर देंगे। सब के पिता और स्वामी होने से आप पूजनीय हैं। आप ने सृष्टि में वेदामृत ज्ञान का उपदेश किया, जीवों के अन्तःकरण में स्थित होकर ब्रह्मविद्या का ज्ञान दिया। जगत् पर कृपा करने की दृष्टि से मुझ पर गीतामृत की वर्षा कर रहे हो। ब्रह्मा का रूप धारण करके आदिसृष्टिकाल में प्राणियों के हेतु वेदों की शिक्षा दी। इसलिए आप जगद्गुरु हैं और सब संसारी गुरुओं के भी गुरु हैं क्योंकि वे अन्तर्यामी रूप आप से प्रतिभा पाकर संसार के उपदेष्टा बनते हैं। हे उपमा से रहित प्रभावशाली परमेश्वर ! ऊपर, नीचे और मध्यवर्ती ब्रह्माण्ड में घूम रहे तीनों प्रकार के लोकों में आप के तुल्य या बड़ा कोई भी नहीं है। हो भी कैसे ? सारे लोक तो आप के एक रोम में रम रहे हैं तो फिर उन में स्थित जीवों की आप से समानता का तो कोई प्रश्न ही नहीं है और आप से बढ़कर किसी को बताना तो महान् कुफ़्र है। घोर पाप है। सफेद

झूठ है ॥ श्रुति भी कहती है—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।" अर्थात् उस (यानी आप) परमेश्वर के समान भी कोई पुरुष जब कहीं दिखाई नहीं देता, तो फिर (आप से) बढ़ कर कहाँ देखा जा सकता है ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

तस्मात्+प्रणम्य प्रणिधाय कायम्+प्रसादये त्वाम्+अहम्+ईशम् =ईड्यम् । पिता=इव पुत्रस्य सखा=इव सख्युः प्रियः प्रियाय+अर्हसि देव ! सोढुम् ॥

नोट—प्रायः अनेक टीकाकारों ने स्वामी शंकराचार्य का अनुसरण करते हुए 'प्रियायार्हसि' शब्द का सन्धिच्छेद 'प्रियाया+अर्हसि' किया है परन्तु यह संस्कृतव्याकरण-संगत नहीं है क्यों कि 'प्रियायाः' षष्ठयन्त शब्द की विसर्ग का लोप होने से 'प्रियाया' शब्द प्राप्त हुआ है । परन्तु फिर प्रियाया अर्हसि शब्द में दीर्घ सन्धि प्राप्त होने पर भी "पूर्वत्रासिद्धम्" से उस का निषेध हो जाता है । इस अड़चन को विचार कर श्री लोकमान्य तिलक जी ने इस पर अपने विचार इस प्रकार प्रदर्शित किए हैं :—

[कुछ लोग 'प्रियः प्रियायार्हसि' इन शब्दों का प्रिय पुरुष जिस प्रकार अपनी स्त्री के', ऐसा अर्थ करते हैं । परन्तु हमारे मत में यह ठीक नहीं है । क्योंकि व्याकरण की रीति से 'प्रियायार्हसि' के 'प्रियायाः+अर्हसि' अथवा प्रियायै+अर्हसि' ऐसे पद नहीं टूटते, और उपमा-द्योतक 'इव' शब्द भी इस श्लोक में दो बार ही आया है । अतः 'प्रियः प्रियायार्हसि को तीसरी उपमा न समझ कर 'उपमेय' मानना ही अधिक प्रशस्त है ।

'पुत्र के' (पुत्रस्य), 'सखा के' (सख्युः), इन दोनों उपमानात्मक षष्ठ्यन्त शब्दों के समान यदि उपमेय में भी 'प्रिया के' (प्रियस्य) यह षष्ठ्यन्त पद होता तो बहुत अच्छा होता । परन्तु अब 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इस न्याय के अनुसार यहाँ व्यवहार करना चाहिए । हमारी समझ में यह बात बिलकुल युक्ति संगत नहीं देख पड़ती कि 'प्रियस्य' इस षष्ठ्यन्त पुंलिङ्ग, पद के अभाव में, व्याकरण के विरुद्ध 'प्रियायाः' यह षष्ठ्यन्त स्त्रीलिङ्ग का पद किया जावे, और जब वह पद अर्जुन के लिए लागू न हो सके तब इस शब्द को अध्याहार मान कर 'प्रियः प्रियायाः'—प्रेमी अपनी प्यारी स्त्री के—ऐसी तीसरी उपमा मानी जावे, और वह भी शृंगारिक और अप्रासंगिक हो । इस के सिवा एक और बात है । कि 'पुत्रस्य', 'सख्युः', 'प्रियायाः', इन तीनों पदों से उपमान में चले जाने

से उपमेय में षष्ठ्यन्त पद पद बिलकुल ही नहीं रह जाता, और 'मे' या 'मम' पद का फिर भी अध्याहार करना पड़ता है। एवं इतनी माथा पच्ची करने पर उपमान और उपमेय में जैसे तैसे विभक्ति की समता हो गई तो दोनों में लिङ्ग की विषमता का नया दोष बना ही रहता है। दूसरे पक्ष में अर्थात् प्रियाय अर्हसि ऐसे व्याकरण की रीति से शुद्ध और सरल पद किये जायें, तो उपमेय में जहाँ षष्ठी होनी चाहिए वहां 'प्रियाय' यह चतुर्थी आती है। बस इतना ही दोष रहता है। और यह दोष कोई विशेष महत्त्व का नहीं है क्योंकि षष्ठी का अर्थ यहाँ चतुर्थी का सा है और अन्यत्र भी कई बार ऐसा होता है। इस श्लोक का अर्थ "परमार्थप्रपा" टीका में वैसा ही है। जैसा कि हम ने किया है।]

इस श्लोक की टीका श्री रामानुजाचार्य जी ने भी श्री तिलक महाराज के अनुसार ही की है।

श्री स्वामी चिद्घनानन्द जी गिरि इस तिलक महाराज के अर्थ से सहमत नहीं हैं वे लिखते हैं—

यहां 'प्रियायार्हसि' इस वचन में ,वत् (इव)' शब्द का लोप है, तथा विसर्ग के लोप हुए भी सन्धि, यह दोनों छान्दस हैं। कहने का भाव यह है कि ये दोनों आर्ष प्रयोग हैं। वेदों में बहुत से प्रयोग ऐसे हैं जो व्याकरणों की रचना होने से पूर्व प्रचलित थे परन्तु व्याकरण रचे जाने पर फिर वे संस्कृत में प्रयुक्त नहीं हुए। वे सब आर्ष प्रयोग शुद्ध और ईश्वरीय वाणी समझे जाते हैं॥

तस्मात्=तद् (सर्वनाम)+(नपुं० पुं०) पंच० ए० व०=उस से। इसलिए।

प्रणम्य=प्र√नम्+ल्यप्=प्रणाम करके।

प्रणिधाय=प्रकर्षेण नीचैः धृत्वा=प्र-नि√धा (जुहो० उभ० सक०=स्थापित करना)+ल्यप्=अच्छी तरह नीचे (दण्डवत्) स्थापित करके।

कायम्=(पुं०, नपुं०)√चि+घञ्, वि० साधुः=काय+द्विती० ए० व० =काय को। शरीर को।

[चीयतेऽन्नादिभः=जो अन्नादि से बढ़ता है॥]

प्रसादये=प्र√सद्+णिच्=प्रसादय+लट्० आत्मा० उ० पु०, ए० व० =प्रसन्न करता हूँ।

त्वाम्=युष्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=तुझ को। आप को।

अहम्=अस्मद् (सर्व०) प्र० ए० व०=मैं।

ईशम्=(पुं०)√ईश् (अदा० आत्म० अक०=ऐश्वर्यवान् होना। समर्थ होना) +क=ईश+द्विती० ए० व०=ईश को। ईश्वर को।

ईड्यम्=√ईड् (अदा० आत्म० सक०=स्तुति करना)+ण्यत्=ईड्य+द्विती० ए० व०=ईड्यम्=स्तुति करने योग्य को।

पिता=(पुं०) पितृ+प्र० ए० व०=पिता। जनक।

इव=(अव्यय)√इ+क्वन् (बा०)=जैसे। तरह। वत्।

पुत्रस्य=(पुं०) पुतः त्रायते, पुत् (नरक)√त्रै+क, वा पुनाति पित्रादीन्, √पू+क्त्र, ह्रस्वता=पुत्र+षष्ठी० ए० व०=पुत्र का। पुत्र के। पुत्र की।

सखा=(पुं०) सखि+प्र० ए० व०=सखा। सहचर। मित्र। प्रेमी।

इव=(अव्यय) जैसे। तरह। वत्।

सख्युः=(पुं०) सखि+षष्ठी० ए० व०=मित्र का। मित्र के। मित्र की।

प्रियः=(पुं०)√प्री (क्र्या० उभ० सक०=प्रसन्न करना, तृप्त करना)+क =प्रिय+प्र० ए० व०=प्रसन्न करने वाला। तृप्त करने वाला। प्रमी।

प्रियाय=(पुं०) प्रिय=चतु० ए० व०=प्यारे के लिए। (मुझ) प्रेमी के लिए।

[पक्ष में=प्रयायाः=(स्त्री०) प्रिय+टाप्=प्रिया+षष्ठी० ए० व० =प्रियायाः=प्यारी के। प्रेमिका के।]

अर्हसि=√अर्ह् (भ्वा० पर० सक०=योग्य होना)+लट्० म० पु०, ए० व० =योग्य है। समर्थ हो। योग्य हो।

देव=(पुं०, सम्बोधन) हे देव!

[√दिव्+अच्=पूज्य, परमेश्वर]

सोढुम्=√सह् (भ्वा० आत्मा० सक०=सहना। झेलना। बरदाश्त करना) +तुमन्=सोढुम्। सहने के लिए। सहन करने के लिए। बरदाश्त करने के लिए।

अर्थ (१) इसलिए हे देव! (पूज्य, परमेश्वर!) मैं शरीर को अच्छी तरह नीचे (दण्डवत्) स्थापित करके आप ईश्वर को प्रणाम करके प्रसन्न करता हूँ। जैसे पिता पुत्र की, जैसे सखा (मित्र), सखा (मित्र) की (भूल चूक या ग़लती को सह लेता है वैसे आप मेरे) प्रेमी, मुझ प्रेमी के लिए (सब कुछ) सहन करने योग्य हैं॥

(२) "देश पिता गाँधी जी का किया हुआ अर्थ—

इसलिए साष्टांग नमस्कार करके आप से, पूज्य ईश्वर से प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूँ। हे देव! जिस तरह पिता पुत्र को, सखा सखा को सहन

करता है, वैसे आप मेरे प्रिय होने के कारण मेरे कल्याण के लिए मुझे सहन करने योग्य हैं।''

(३) श्री शंकराचार्य, आनन्द गिरि, मधुसूदन, भारत धर्म—महामण्डल के दयानन्द स्वामी, स्वामी हंसस्वरूप, स्वामी चिद्घनानन्द गिरि और गीता प्रेस गोरखपुर आदि के विद्वानों के अनुसार अर्थ—

''इस लिये (हे प्रभो !) मैं शरीर को अच्छी तरह चरणों में रख कर और प्रणाम करके आप स्तुत्य ईश्वर को प्रसन्न होने के लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव ! पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के और प्रेमी जैसे प्रेमिका के अपराध सह लेता है, वैसे ही आप भी मेरे अपराधों को सहन करने के लिये योग्य हैं'' ॥ ४४ ॥

व्याख्या—ऊपर लिखे हुए सब अर्थ ठीक हैं। श्रद्धा के फूल हैं जो अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सब टीकाकारों ने प्रभु के अर्पण किये हैं। भक्त अर्जुन का अहोभाग्य था जो भगवान् का सखा बन कर उन के अंग संग रह कर जीवन का फल प्राप्त करता रहा तथा जिसने भगवान् के मुखारविन्द से गीतामृत श्रवण किया और उनका वह विराट् रूप देखा जो इससे पूर्व किसी से भी नहीं देखा था। पहले श्लोकों की तरह इस श्लोक में भी अर्जुन ने अपनी दीनता का प्रदर्शन किया है और भगवान् से अपने अपराध क्षमा कराने की प्रार्थना की है। अर्जुन ने कहा—हे भगवन् ! आप सारे संसार के पिता और शिरोमणि पूजनीय हैं। समस्त जगत् के गुरु और सम्पूर्ण गुरुओं के भी गुरु हैं। मुझ से प्रमाद, विनोद और प्रेमवश आप के विषय में अनेक भूल, चूक, गलतियाँ और अपराध हुए हैं। मुझे उन के क्षमा करवाने का कोई ठीक उपाय सूझता नहीं है। इसलिये मैं दण्डवत् पृथिवी पर गिर कर अपने आठों अंगों को धरती-तल से स्पर्श करता हुआ अपना सिर आप के चरणों पर रखता हूँ। क्योंकि आप सर्वेश्वर हैं जगत् का नियमन करने वाले हैं। इन्द्र, आदित्य, वरुण, कुबेर और यमराज आदि लोकनियन्ता देवताओं को भी अपने नियम या कण्ट्रोल में रखने वाले हैं और सबसे अधिक स्तुति करने योग्य हैं। जिस प्रकार शिशु प्रमाद के वश होकर अपने पिता की दाढ़ी पकड़ लेता है और अनजाने में अपमानजनक तोतले बोल बोल देता है परन्तु पिता उसके अपराध को ख़ातर में ही नहीं लाता है और सब के सामने हँस देता है तथा बालक कह कर प्रेम विभोर हो जाता है। इसी प्रकार मुझ से भी प्रमाद के वश होकर आप के सम्बन्ध में अनेक भूलें हुई हैं। अब तक आप की युद्ध करने की आज्ञा को टाल रहा हूँ। आप ने हमारे घर यज्ञ के समय जो जूठन उठाई थी। उस समय मैं ने आपको इस तुच्छ काम के करने से न रोका था न ही इस काम में आपकी कोई सहायता की थी। हे जगत्-पिता ! मेरी यह कितनी महानतम भूल थी।

कितना प्रमाद और लापरवाही थी। कृपया मेरे इस प्रकार के सब अपराधों को उसी प्रकार क्षमा कर दो जिस प्रकार दाढ़ी पकड़ने वाले शिशु पुत्र को पिता क्षमा कर देता है और कोई बात मन में न लाकर उसके सिर पर प्रसन्न होकर हाथ फेरता है तथा छाती से लगा कर मुंह चूम लेता है।

हे भगवन्! मैं सदा आपको सखा मानता रहा हूँ और विनोद के लिए सदा ठट्ठे मखौल करता रहा हूँ। संग विहार काल में चुटकी भरता रहा हूँ। भोजन काल में आप के हिलते हुए मुँह को देख कर हँसता रहा हूँ। खेल क्रीड़ा में आप को ठगने का प्रयास करता रहा हूँ। सोते समय आप को छकाने के लिये झूठ-मूठ आँखें बन्द करके पड़ा रहा हूँ। परन्तु आप सब कुछ जानते हुए भी कभी कुछ न बोले। हे देव! मुझे उन बड़े अपराधों का अब आपकी इस महिमा को देख कर बहुत पश्चात्ताप हो रहा है। संसार के साधारण सखा भी अपने मित्रों के अपराधों को क्षमा कर देते हैं तो फिर आप भी सखा की तरह मुझे सखा मान कर मेरे पूर्वकृत अपराधों को क्षमा कर दीजिए। हे देव! मुझ से तो प्रेमवश होकर बहुत सी भूलें और गलतियाँ हुई हैं। प्रेमी अपने प्रेमी के लिये तो सब कुछ कर लेते हैं तो फिर मुझ प्रेमी के अपराधों को आप भी प्रेमी बन कर क्षमा कर दीजिए। विषय वासना में रत प्रेमी जो तुच्छ व्यक्ति होता है। वह भी अपनी प्रेमिका के लिये डाके डालता है, चोरी करता है और उसके अपराधों को भूल कर सब कुछ उसे दे देता है। आप तो सर्वज्ञ और सर्व व्यापक हैं। मेरे उस अनन्य प्रेम को जानते हैं जो मेरे मन में आप के सम्बन्ध में है तो फिर मेरे अपराधों को अवश्य क्षमा कीजिए अथवा जब पति को कोई ऐसी पतिव्रता पत्नी मिलती है जो अपना तन, मन और आत्मा तीनों पति को पूरी तरह से अर्पण कर चुकी होती है तो उसका पति उससे कुछ भी छिपा कर नहीं रखता, उसकी भूल भी स्वादली अनुभव करता है और उसे प्यार से पगली कह कर क्षमा कर देता है। हे देव! ये सब बातें कहने से इसके सिवा मेरा और कोई अभिप्राय नहीं है कि मेरे सब अपराध क्षमा करके मुझे अपना बना लीजिए ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्टवा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अदृष्ट—पूर्वम्+हृषित:+अस्मि दृष्टवा भयेन च प्रव्यथितम्+मन:+मे। तत्+एव मे दर्शय देव! रूपम्+प्रसीद देवेश! जगत्+निवास! ॥

अदृष्ट-पूर्वम्—(वि०) न दृष्टं पूर्वम् (नञ् तत्पु०) पहले न देखे हुए को।
[दृष्ट=√दृश+क्त।]

[इदं विश्वरूपं तव, मया अन्यैः वा=आप के इस विराट् रूप को मेरे या किसी अन्य के द्वारा ।]

हृषितः=(वि०)√हृष् (भ्वा०, दिवा० पर० अक०=प्रसन्न होना)+णिच्+क्त=हृषित+(पुं०) प्र०, ए० व०=प्रसन्न हुआ । रोमाञ्चित हुआ । आश्चर्यान्वित हुआ । [√हृष्+क्त='हृष्ट' ऐसा होता है ।]

अस्मि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=हूँ (मैं) ।

दृष्टवा=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+क्त्वा=देख कर ।

भयेन=(नपुं०)√भी+अच्=भय+तृती० ए० व०=भय से ।

च=(अव्यय) और ।

प्रव्यथितम्=(वि०) प्र√व्यथ् (भ्वा० आत्म० अक०=दुःखी होना । अशान्त होना । विकल होना)+निच्+क्त=हृषित+(नपुं०)+प्र० ए० व०= व्याकुल हुआ है । व्याकुल हो रहा है ।

मनः=(नपुं०) मनस्+प्र० ए० व०=मन ।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मे, मम=मेरा ।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उस को । वह ।

एव=(अव्यय) ही ।

मे=अस्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=मह्यम्, मे=मेरे लिए ।

दर्शय=√दृश्+णिच्+लोट्० म० पु०, ए० व०=दर्शाइए । दिखाइए ।

देव ! =सम्बो० ए० व०=हे देव !

रूपम्=(नपुं०)√रूप् (चुरा पर० सक०=बनाना)+अच्=रूप+द्विती० ए० व०=रूप को । रूप ।

प्रसीद=प्र√सद्+लोट्० म० पु० ए० व०=प्रसन्न हूजिए ।

देव+ईश ! =(संबो० ए० व०) (देवानाम् ईशः+देवेशः) हे देवों के ईश्वर !

जगत्+निवास ! =(सम्बो० ए० व०) (जगतः निवासः)=हे जगत् के निवास स्थान ! ॥

अर्थ (१)—(मेरे या अन्य किसी के द्वारा) पहले न देखे हुए (आप के इस विराट् रूप) को देख कर (मैं) हर्षित हो रहा हूँ तथा मेरा मन भय से अति व्याकुल हो रहा है । (इसलिये) हे देव ! (अपने पहले) उस (सौम्य चतुर्भुज) रूप को ही मेरे लिये दिखाइए । हे देवों के ईश्वर ! हे जगत् के निवास स्थान (आप) प्रसन्न हूजिए ॥ ४५ ॥

अर्थ (२)—मैं इस अदृष्ट-पूर्व रूप को देख कर रोमाञ्चित और

आश्चर्यान्वित हो गया हूँ और भय से मेरा मन काँप रहा है। इसलिए हे देवेश! हे जगन्निवास! आप मेरे लिये उस ही (अगले श्लोक में कहे गये) देव-रूप (चतुर्भुज विष्णु रूप) को दिखाएए और प्रसन्न हो जाइए ॥ ४५ ॥

व्याख्या—हे देव (स्वप्रकाश रूप परमेश्वर)! मैं ने बहुत धृष्टतापूर्वक आप से आग्रह किया था कि आप मुझे विश्वरूप के दर्शन कराइए आप ने अपार कृपा की जो अपना विराट् रूप प्रकट किया और उस को देखने के लिए दिव्य चक्षु भी प्रदान किया। परन्तु मेरा तो स्पप्न में भी यह विचार कभी न था कि आप का यह विश्व रूप इतना भयंकर और आश्चर्यजनक होगा। यद्यपि मैं प्रसन्न हूँ कि आप ने अपना यह रूप दिखा कर मेरे हठ और बच्चों जैसे लाड़ को स्वीकार किया तथा अपनी योग माया के बल का उद्घाटन किया। परन्तु आपका यह विश्वरूप मेरे शरीर की अपेक्षा अमित ऊँचा है और अनेक विशाल भुजाओं और अनन्त भर्ताकार मुखों से युक्त हैं। इस स्वरूप को अगिनत टाँगें लगी हुई हैं। इस समय न मैं प्यार से आप की भुजा को छू सकता हूँ। न आप के शरीर का आलिंगन कर सकता हूँ। न आप के किसी मुख के समीप मुख करके बात चीत या प्रेमालाप कर सकता हूँ। इस समय भी आप सर्वज्ञ होने से मेरी बातों को सुन रहे है नहीं तो आप के कान तो मुझ से अत्यन्त शिखिर पर स्थित हैं और आवाज बहुत धीमी है। हे प्रभो! यदि आप सर्वज्ञ और साक्षी न होते तो इस नक्कारखाने में तूती का शब्द कौन सुनता। इस समय मैं तो घोर संकट में फँसा हुआ हूँ। हे प्रकाश रूप परमेश्वर! मैं आश्चर्यान्वित हूँ। रोमांचित हो रहा हूँ। मेरा हृदय मारे भय के धक धक कर रहा है और मन कम्पायमान हो रहा है। एक पल भी लाख वर्ष के सदृश व्यतीत हो रहा है। इसलिए हे देव! हे देवों के देव! हे देवताओं के भी नियन्ता! हे जगदाधार! आप प्रसन्न हो जाइए। यदि विश्वरूप दिखाने के मेरे हठ से आप अप्रसन्न भी हो गए हैं तो भी मेरे इस अपराध को भूल कर खुश हो जाइए और कृपा करके मुझे अब वही रूप दिखाइए। जिस के देखने के लिए में अगले श्लोक में प्रार्थना करता हूँ ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त—
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

किरीटिनम्+गदिनम्+चक्र-हस्तम्+इच्छामि त्वाम्+द्रष्टुम्+अहम्+तथा+एव। तेन+एव रूपेण चतुर्+भुजेन सहस्र-बाहो! भव विश्व-मूर्ते! ॥

किरीटिनम्=(वि०) [√कृ+कीटन्=किरीट (नपुं० पु०)] किरीट+इनि=

किरीटिन् +(पुं०) द्विती० ए० व०=मुकुटधारी को। एक सिर और उस पर मुकुट वाले को।

गदिनम्=(वि०) [√गद्+अच्-टाप्=गदा (स्त्री०)] गदा+इनि=गदिन्+(पुं०) द्विती० ए० व०=गदा लिए हुए को। गदाधारी को। एक हाथ में गदा लिए हुए को।

चक्र-हस्तम्=(वि०) [√कृ+क, नि० द्वित्व=चक्र (पुं०)] चक्रः हस्ते यस्य तम् (बहुव्री०)=जिस के दूसरे हाथ में चक्र है, उस को (पुं०, द्विती० ए० व०)। दूसरे हाथ में चक्रधारी को।

(चक्रिनम्)=चक्री को)।

इच्छामि=√इष् (तुदा० पर० सक०=इच्छा करना, चाहना)+लट्० उ० पु० ए० व०=इच्छा करता हूँ। चाहता हूँ।

त्वाम्=युष्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=तुझ को। आप को।

द्रष्टुम्=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+तुमुन्=देखने के लिए। देखने को। देखना।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल्=वैसा ही। वैसे।

एव=(अव्यय)√इ+वन्=ही।

तेन=तद् (सर्व०)+(नपुं०) तृती० ए० व०=उस से।

एव=(अव्यय) ही।

रूपेण=(नपुं०)√रूप्+अच्=रूप+तृती० ए० व०=रूप से।

चतुर+भुजेन=(वि०) चत्वारो भुजाः (हस्ताः) यस्य सः=चतुर्भुज+(पुं०) तृती० ए० व०=चतुर्भुज से।

सहस्र-बाहो !=(सम्बोधन ए० व०) (वि०) सहस्राणि बाहवः यस्य स सहस्रबाहुः =हे हजारों भुजाओं वाले! (विराट् रूप)।

भव=√भू+लोट० म० पु०, ए० व०=तू हो जा।

विश्व-मूर्ते !=(सम्बो० ए० व०) (पुं०) हे विश्वस्य मूर्ते ! हे विश्व की मूर्ति वाले! हे विश्वस्वरूप ! ॥

अर्थ—मैं आप को वैसे ही करीटी (एक सिर और उस पर मुकुट धारण किए हुए) को, गदाधारी (एक हाथ में गदा पकड़े हुए) को और (दूसरे हाथ में) चक्र-धारी को देखने के लिए इच्छा करता हूँ। (इसलिए) हे हजारों भुजाओं वाले! हे विश्वमूर्ते ! आप उस ही चतुर्भुज रूप से (प्रकट) हो जाइए ॥ ४६ ॥

व्याख्या—इस अध्याय के श्लोक १७ में अर्जुन ने भगवान् से कहा था

कि हे देव ! मैं आप को मुकुटधारी, गदाधारी और चक्रधारी देख रहा हूँ और अब अर्जुन इस श्लोक में कहता है कि मैं आप को मुकुटधारी, गदाधारी और चक्रधारी देखना चाहता हूँ। इस कथन में कोई रहस्य अवश्य है। मेरे विचार में विश्वरूप के प्रकट होने पर कुछ काल तक अर्जुन भगवान् का सौम्य रूप देखता रहा। जिसका मध्यवर्ती प्रधान रूप मुकुट, गदा और चक्रधारी श्री कृष्ण या भगवान् विष्णु का ही था जो अत्यन्त तेज का पुंज था और उसके साथ भगवान् के अन्य रूप मिले हुए थे। एक ही समय में अर्जुन भगवान् के सब रूप एक साथ तो देख ही नहीं सकता था, इसलिए उसके अनजाने में धीरे-धीरे लगातार पहले रूप फिलम परिवर्तन की तरह उसके सामने से हटते गये और नये रूप दृष्टिगोचर होते गये और जो कुछ वह देखता गया उसी का वर्णन करता गया। विष्णुरूप से यह विश्वरूप-दर्शन खेल प्रारम्भ हुआ था जो धीरे-धीरे कठिन से कठिनतर और भयानक से भयानकतम होता चला गया जिससे अर्जुन के पावों के तले से धरती खिसकने लगी, पसीना छूटने लगा। रौंगटे खड़े हो गये और अत्यन्त घबरा गया इसलिए उसने याचना की कि हे भगवन् ! अब इस भयंकर दृश्य को समाप्त कीजिए और अपना वही सौम्य वपु चतुर्भुज विष्णु रूप दिखाइए जो विराट् रूप के प्रारम्भ में दिखा रहे थे। जिसके सिर पर मुकुट धारण किया हुआ हो। हाथ में गदा पकड़ी हुई हो और दूसरे हाथ में सुदर्शन चक्र हो इस समय भयानक युद्ध का प्रारम्भ होने वाला है। शत्रु-सेना सामने डटी खड़ी है। हमें अपनी सहायता के लिए आपके हाथों में इन्हीं दो शस्त्र-अस्त्रों के होने की आवश्यकता है। हम आप को खाली हाथ होना देखना नहीं चाहते जैसा कि आपने प्रतिज्ञा कर रखी है। भले ही आपके दूसरे दो हाथों में शंख और पद्म न हों। अब इस विस्तृत विराट् रूप को संवृत कर लीजिए और अपने अवतारी कृष्ण रूप को धारण करके हमारी चारों दिशाओं से रक्षा कीजिए तथा हमारे शत्रुओं का क्षय कीजिए ॥ क्योंकि आप चतुर्भुज रूपधारी हैं ॥ ४६ ॥

श्री भगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

मया प्रसन्नेन तव+अर्जुन !+इदम्+रूपम्+परम्+दर्शितम्+आत्म-योगात् । तेजस्+मयम्+विश्वम्+अनन्तम्+आद्यम्+यत्+मे त्वत्+अन्येन न दृष्ट-पूर्वम् ॥

मया=अस्मद् (सर्व०)+तृती० ए० व०=मेरे द्वारा। मुझ से।

प्रसन्नेन=(वि०) प्र√सद्+क्त=प्रसन्न। प्रसन्न+(पु०) तृती० ए० व०= प्रसन्न हुए द्वारा। प्रसन्न हुए से।

तव=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तव, ते=तेरे प्रति। (तुझ को)।

अर्जुन !=(पु०) सम्बोधन ए० व०=हे अर्जुन !।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) प्र०, ए० व०=यह।

रूपम्=(नपुं०) √रूप्+अच्=रूप+प्र० ए० व०=रूप।

परम्=(वि०) √पॄ+अप्=पर+(नपुं०) प्र० ए० व०=परम। जिस से अधिक श्रेष्ठ और कोई नहीं, वह। अत्युत्कृष्ट।

दर्शितम्=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+णिच्+क्त=दर्शित+(नपुं०) प्र० ए० व०=दिखाया गया है।

आत्म-योगात्=(पु०) आत्मनः योगात् (योग बलेन, ऐश्वर्यस्य सामर्थ्यात्) (षष्ठी० तत्पु०) पंच० ए० व०=अपने योग-बल से। अपने ऐश्वर्य के प्रभाव से। अपनी योग-शक्ति के प्रभाव से।

तेजस्+मयम्=(वि०) √तिज् (चुरा० उभ० सक०=तेज होना)+असुन्= तेजस्+मयट्=तेजोमय+(नपुं०) प्र० ए० व०=तेजोमयम्। तेजों वाले को।

विश्वम्=(नपुं०) विशति स्वकारणम्, √विश्+क्वन्=विश्व+प्र० ए० व० =विश्व। विराट्। सम्पूर्ण को।

अनन्तम्=(वि०) अन्तं नास्ति यस्य तम् (बहुव्री०) जिस का अन्त नहीं वह। अनन्त। (नपुं०) प्र० ए० व०।

आद्यम्=(वि०) आदौ भवः इत्यर्थे, आदि+यत्=आद्य+प्र० ए० व० =आद्य।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) प्र० ए०=जो।

मे=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा (रूप)।

त्वत्+अन्येन=त्वत्तः अन्येन (पंच० तत्पु०) तुझ से अन्य द्वारा। (पुं०) तृती० ए० व०।

न=(अव्यय) न। नहीं।

दृष्ट-पूर्वम्=दृष्टः पूर्वम्=पहले देखा गया है।

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! मुझ प्रसन्न हुए द्वारा तेरे प्रति (तुझ को) अपने योग-बल से जो यह सम्पूर्ण तेजों से युक्त, अनन्त, आद्य और अत्युत्कृष्ट विश्व-रूप दिखाया गया है; यह मेरा रूप पहले तुझ से अन्य किसी द्वारा नहीं देखा गया है ॥ ४७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम मेरे इस विराट् रूप को देख कर मत डरो। तेरे कहने पर ही प्रसन्न होकर मैंने अपनी योग-शक्ति से यह विश्व रूप दिखाया है जिस में सौम्य दृश्य भी थे और महाविकराल और भयानक दृश्य भी हैं। मेरे इस विराट् रूप को तू तभी देख सका है। जब तुझे दिव्य चक्षु प्राप्त हुआ है इससे पूर्व इस रूप को अन्य किसी व्यक्ति ने नहीं देखा है। मैंने बचपन में मिट्टी खाई थी, जब माता यशोदा ने मेरे मुँह में लगी हुई मिट्टी देखने के लिए तमांचा उठाया था तब डरते-डरते मैंने मुँह खोला था तो मिट्टी के स्थान पर मुँह में माता जो विश्वरूप देख कर चकित हुई थी वह विश्वरूप इस तेरे दृष्टिगोचर विश्वरूप से सर्वथा भिन्न था। कौरव सभा में मूर्ख दुर्योधन ने जब मुझे पकड़ कर बाँध लेने की आज्ञा दी थी। तब भी मैंने भीष्मादि वीरों के सामने अपने एक विश्वरूप का प्रदर्शन किया था। वह रूप भी मेरे इस विश्वरूप से नितान्त भिन्न था। कहने का तात्पर्य यह है कि तुझे दिखाया गया वह विश्वरूप अदृष्टपूर्व है। सम्पूर्ण तेजों से युक्त है। अरबों सूर्यों के प्रकाश से अधिक प्रकाशमान है। इस विश्वरूप का स्वरूप आदि अन्त से रहित है और अत्युत्कृष्ट है; धृतराष्ट्र की सभा के लोग और माता यशोदा इस रूप को कदापि नहीं देख सकते थे। क्योंकि उन को मेरे दिए हुए किसी प्रकार के दिव्य नेत्र प्राप्त नहीं थे। अक्रूर ने जैसा जो विश्वरूप देखा था वह भी भिन्न प्रकार का था। इस जैसा नहीं था। तुम को दिखाया गया यह विश्वरूप सर्वश्रेष्ठ और विराट् रूप है। जब मैं सहज रूप से प्रसन्न होता हूँ तो केवल इस जड़ माया से रचित पदार्थ हीरे मोती, धन्य धान्य पुत्र-कलत्र और स्वर्ग सुख तुल्य भोग आदि ही देता हूँ। परन्तु जब मैं किसी भक्त पर विशेष रूप से प्रसन्न हो जाता हूँ तो उस पर अपने सम्पूर्ण रहस्यों का उद्घाटन कर देता हूँ। जिस से वह भोग-विलास में फँसे हुए व्यक्ति की भान्ति संसार रूपी पंक में फँसा नहीं रहता, बल्कि सब प्रकार से शुद्ध निर्मल और पवित्र होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है सो हे अर्जुन ! मैं तुझ पर अति प्रसन्न हूँ जिस से मैं ने तुम्हें यह अदृष्ट पूर्व विश्व रूप दिखा कर तुम्हें अपने ईश्वरी रहस्य से अवगत करा दिया है। तुम डरो नहीं। क्योंकि ये सब कुछ डराने के लिए नहीं किया है। तेरी मांग, अभिलाषा और इच्छा पूर्ति के लिए ही किया है ॥ ४८ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै—
न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

न वेद-यज्ञ + अध्ययनैः + न दानैः + न च क्रियाभिः + न तपोभिः + उग्रैः।

एवम्+रूपः शक्यः+अहम्+नृ-लोके द्रष्टुम्+त्वत्+अन्येन कुरुप्रवीर ! ॥

न=(अव्यय) न । नहीं ।

वेद-यज्ञ+अध्ययनैः=(नपुं०) (चतुर्णाम् अपि) वेदानाम् अध्ययनैः यज्ञानाम् अध्ययनैः च (षष्ठी० तत्पु०, इतरेतर द्वन्द्व), तृती० ब० व०=न चारों वेदों और सब यज्ञों के अध्ययन से ।

[अधि√इङ्+ल्युट्=अध्ययन+तृ० ए० व०=अध्ययन से । अर्थ सहित पढ़ने से । अनुष्ठान करने से ।]

न=(अव्यय) न । नहीं ।

दानैः=(नपुं०)√दा+ल्युट्=दान+तृती० ब० व०=दानों से ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

च=(अव्यय) और ।

क्रियाभिः=(स्त्री०)√कृ+श, रिङ् आदेश, इयङ्=क्रिया+तृती० ब० व०=क्रियाओं से ।

[अग्निहोत्रादिभिः श्रौत्रादिभिः क्रियाभिः=श्रौत-स्मार्तादि अग्निहोत्ररूप आदि क्रियाओं से ।]

न=(अव्यय) न । नहीं ।

तपोभिः=(नपुं०)√तप्+असुन्=तपस्+तृती० ब० व०=तपों से ।

उग्रैः=(वि०)√उच्+रक्, ग् आदेश=उग्र+(नपुं०) तृती० ब० व०=उग्रों से । घोरों से । प्रचण्डों से ।

[चान्द्रायणादिभिः उग्रैः घोरैः तपोभिः=चान्द्रायणादि घोर तपों से]

एवम् रूपः=(अव्यय)√इ+वमु (वा०)=ऐसे । इस प्रकार के । रूप वाला । (प्र० ए० व०)

शक्यः=(वि०)√शक् (दिवा० उभ० अक०=योग्य होना । सकना)+यत् =शक्य+(पुं०) प्र० ए० व०=योग्य हूँ । सकता हूँ । ['शक्यः' शब्द में विसर्ग का लोप आर्ष प्रयोग है ।]

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं ।

नृ-लोके=(पुं०) नृणां लोके (षष्ठी० तत्पु०) (सप्त० ए० व०)=मनुष्य-लोक में । नर-लोक में ।

द्रष्टुम्=√दृश्+तुमुन्=देखने के लिए ।

त्वत्-अन्येन=(वि० पुं०) त्वत्तः अन्येक (तृती० ए० व०)=तेरे बिना दूसरे से ।

कुरु-प्रवीर !=(सम्बोधन ए० व०, वि०)=हे कुरु-प्रवीर ! । हे कुरु वंश में

सर्व श्रेष्ठ वीर (अर्जुन) !

अर्थ—हे कुरु वंश में सर्व श्रेष्ठ वीर (अर्जुन) ! नर-लोक में इस प्रकार के रूप वाला मैं, तेरे बिना दूसरे से, न चारों वेदों के अर्थ सहित पढ़ने से, न यज्ञों के अध्ययन (विधि पूर्वक अनुष्ठान) से, न (मनुष्य के बराबर तोल कर स्वर्णादि या गौ आदि) दानों से, न (श्रौतस्मार्तादि अग्निहोत्र रूपादिक) क्रियाओं से, न (चान्द्रायणादि) घोर तपों से देखने के लिए योग्य हूँ ।। ४८ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम तो कुरु-वंश में वह सर्व श्रेष्ठ वीर पुरुष हो। जिस को मुझ परमेश्वर की कृपा और सहायता प्राप्त है। तो फिर मेरे इस भयानक रूप को देख कर डरते क्यों हो ? इस नर-लोक में मैंने अनुग्रह से तुम को जो यह विश्व रूप दिखलाया है। इस रूप को तेरे बिना न पहले कोई देख सका है न आगे आने वाले समय में देख पायेगा क्योंकि मेरा यह विश्व रूप न तो कोई षडङ्गों सहित चारों वेदों तथा उन से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रों को गुरु-मुख से श्रवण करके अथवा अध्ययन करने से देख सकता है और न यज्ञ क्रियाएँ करने में निपुण याज्ञिक पुरुषों की सेवा में रह कर तथा उनके द्वारा की जा रही क्रियाओं को देख कर मेरे इस विराट् रूप को देख सकता है। न इन श्रौत समार्त यज्ञों के अनुष्ठान करने से ही मेरे इस रूप के दर्शन हो सकते हैं न तुलादान, कन्या दान, गोदान, भूमि दान, स्वर्णदान, धन-धान्य तथा अन्नदान उचित काल, उचित स्थान और सुपात्र को देने से ही मेरा यह विराट् रूप देखा जा सकता है। न अग्निहोत्रादि श्रौत समार्त्त कियाएँ ही मेरा विश्वरूप दिखा सकने में समर्थ हो सकती है। न शरीर को घोर तपों द्वारा क्षीण कर लेने वाले तपस्वियों को ही मैं यह अपना विश्व रूप दिखला सकता हूँ। हे अर्जुन ! केवल तुम ही एक ऐसे भाग्यशाली पुरुष हो जो मेरे अनुग्रह से इस अदृष्ट पूर्व विराट् रूप के दर्शन कर सके हो। विराट् रूप के दर्शनों की बात तो अलग रही। मेरे सरल और सौम्य स्वरूप को पा सकना भी अत्यन्त कठिन है जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—
स्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनु ँ स्वाम्
(कठो० १।२।२३ और मुण्डको० ३।२।३।।)

[**अर्थ**—यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचन से ; न बुद्धि से, न बहुत (उपदेशादि) सुनने से, प्राप्त हो सकता है। जिस को यह (भगवान्) स्वीकार कर लेता है। उस के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि यह परमात्मा उस के लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है ।।] ।। ४८ ।।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्टवा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।। ४९ ।।

मा ते व्यथा मा च विमूढ-भावः+दृष्ट्वा रूपम्+घोरम्+ईदृक्+मम +इदम् । व्यपेत-भीः प्रीत-मनाः पुनः+त्वम्+तत्+एव मे रूपम् +इदम्+प्रपश्य ।।

मा=(अव्यय)√मा+क्विप्=मत । न होनी चाहिए । मत हो ।

ते=युष्मद् (सर्व०)+चतु० ए० व०=तुभ्यम्, ते=तेरे लिए । तुझ को ।

व्यथा=(स्त्री०)√व्यथ्+अङ्-टाप्=व्यथा+प्र० ए० व०=व्याकुकता । व्यथा । दुःख । चिन्ता ।

मा=(अव्यय)√मा+क्विप्=मत । होना चाहिए ।

च=(अव्यय) और ।

विमूढ-भावः=(पुं०) [(वि०) वि√मुह्+क्त=मोह प्राप्त, भ्रम में पड़ा हुआ, जड़ बुद्धि ।

भाव=(पुं०)√भू+घञ्, भावयति चिन्तयति=भाव+प्र० ए० व० =भावः=विचार, स्वाभाव, चित्तवृत्ति ।]

विमूढस्य भावः (षष्ठी० तत्पु०)=विमूढों सी चित्तवृत्ति । विमूढ चित्तता । चित्त की विमूढावस्था ।

दृष्ट्वा=√दृश्+क्त्वा+देख कर ।

रूपम्=(नपुं०)√रूप्+अच्=रूप+द्विती० ए० व०=रूप को ।

घोरम्=(वि०)√हन्+अक्, घुरादेशः अथवा √घुर्+अच्=घोर+(नपुं०) द्विती० ए० व०=घोर को । भयानक को ।

ईदृक्=(वि०) अस्येव दर्शनं अस्य, इदम्√दृश्+क्विन्, इशादेश, दीर्घ =ईदृश्+(नपुं०) प्र० ए० व०=ईदृक्=इस प्रकार के । ऐसे । एतादृश । यथादर्शित !

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मेरे ।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इस को ।

व्यपेत-भीः=(वि०) [व्यपेत=(वि०) वि, अप√इ+क्त=दूर हुए । रहित हुए] विगतं भयं यस्य सः (बहुव्री०)=दूर हुए भय वाला । (प्र० ए० व०) ।

प्रीत-मनाः=(वि०) प्रीतं मनः यस्य (बहुव्री०) प्र० ए० व०=प्रीतियुक्त मन वाला। प्रसन्न चित्त वाला। प्रसन्न मन हुआ।

पुनः=पुनर् (अव्यय)√पुन्+अर्, उत्व=फिर। दुबारा। पुनः।

त्वम्=युष्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=तू।

तत्=तद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=उसको।

एव=(अव्यय) ही।

मे=अस्मद् (सर्वं०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरे।

रूपम्=(नपुं०) रूप+द्विती० ए० व०=रूप को।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इसको।

प्रपश्य=प्र√दृश्+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) अच्छी तरह देख॥

अर्थ—मेरे इस ऐसे घोर रूप को देख कर तुझे न व्यथा (व्याकुलता) होनी चाहिए और न ही मूढ़भाव होना चाहिए। दूर किए हुए भय वाला तथा प्रसन्न चित्त हुआ तू फिर मेरे उसी इस चतुर्भुज रूप को भली भान्ति देख॥ ४९॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! तेरे कथनानुसार, मैंने तेरी इच्छा की पूर्ति के लिए अपना विराट् रूप तुम्हें दिखाया है जिसके अन्तिम भयंकर दृश्य को देख कर तू भयभीत और व्याकुल चित्त हो गया है। परन्तु तेरे लिए ये दोनों बातें उचित नहीं थीं। क्योंकि मैं तेरा मित्र ही यह रूप दिखा रहा हूँ। जो आप को डराने के लिए या मारने के लिए कदापि नहीं हो सकता है। मेरा उद्देश्य तो तुम को अपने ईश्वरीय रूप से अवगत कराना है, न कि डराना है। चूंकि तू अत्यन्त भयभीत हो रहा है और विमूढ भाव को प्राप्त हो गया है इसलिए अब मैं इस भयानक रूप को त्याग कर पुनः अपना पहला चतुर्भुज रूप शीघ्र ही धारण कर रहा हूँ जिसके चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म तू देख सकेगा, लो सावधान हो जाओ। भय को परे फैंक दो और प्रसन्नचित्त होकर मेरे सौम्य चतुर्भुज विष्णु रूप को देखो॥ ४९॥

संजय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

इति+अर्जुनम्+वासुदेवः+तथा+उक्त्वा स्वकम्+रूपम्+दर्शयामास

भूयः : आश्वासयामास च भीतम्+एनम्+भूत्वा पुनः सौम्य-वपुः महात्मा ॥

इति=(अव्यय) इस प्रकार।

अर्जुनम्=(पुं०) अर्जुन+द्विती० एक० व०=अर्जुन को।

वासुदेवः=[पुं०) वसुदेवस्यापत्यम्, वसुदेव+अण्=वासुदेव+प्र० ए० व०= वासुदेव ने। वसुदेव के पुत्र कृष्ण ने।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल=तथा। वैसे ही।

उक्त्वा=√वच्+क्त्वा=कह कर।

स्वकम्=स्व (सर्व० वि०—√स्वन्+उ)+क=स्वक+नपुं०) द्विती० ए० व०=अपने को। अपना।

रूपम्=(नपुं०) रूप+द्विती० ए० व०=रूप को। रूप।

दर्शयामास=√दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+णिच्+लिट्० प्र० ए० व०=दिखाया।

भूयः=(अव्यय)√भू+यस्+क्विप्=भूयस्=पुनः। फिर।

आश्वासयामास=आ√श्वस् (अदा० पर० अक०=जीना)+णिच्+लिट् प्र० ए० व०=आश्वासन दिया। दिलासा दिया। तसल्ली दी। धीरज दिया।

च=(अव्यय) और।

भीतम्=(वि०)√भी (जुहो० पर० अक०=डरना)+क्त=भीत+(पुं०) द्विती० ए० व०=भयभीत को। डरे हुए को।

एनम्=इदम् (सर्व०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=इसको।

भूत्वा=√भू+क्त्वा+होकर।

सौम्य-वपुः=(पुं०) सौम्यः वि० पुं०। प्रसन्न देह वाला। सौम्य-मूर्ति सौम्य शरीर। (प्र० ए० व०)।

[(वि०) सोम+ड्यण् अथवा सोम+य+अण्=सौम्य=कोमल। स्निग्ध। शान्त। सुन्दर। प्रसन्न। शुभ।

वपुः=(पुं०) [उप्यन्ते देहान्तर भोग साधन बीजीभूतानि कर्माणि अत्र√वप्+उसि=वपुस्+प्र० ए० व०=वपुः=देह। शरीर]।

महात्मा=(वि०) महा+आत्मन्+प्र० ए० व०=महात्मा ने। महान् आत्मा ने।

अर्थ—सञ्जय बोला—भगवान् वासुदेव ने अर्जुन को इस प्रकार कहकर अपना वैसा (पहला ही) रूप दिखाया और फिर (सबके मूल भूत) महा-आत्मा (श्री कृष्ण) ने सौम्य शरीर वाला होकर इस डरे हुए अर्जुन को अवशासन दिया॥ ५०॥

व्याख्या—भगवान् श्री कृष्ण ने वसुदेव जी के गृह में अवतार धारण किया था इसलिए वे वसुदेव जी के पुत्र समझे जाते हैं और वासुदेव कहलाते हैं। क्योंकि वे आत्मा रूप से सब में निवास करते हैं इस लिए भी उनका नाम वासुदेव है। संजय का यहाँ कृष्ण को बासुदेव कहने से विशेष अभिप्राय यह है कि वह धृतराष्ट्र को सूचित करना चाहता है कि धृतराष्ट्र ! जिस को आप और आप के पुत्र दुर्योधनादि वसुदेव के पुत्र के रूप में देख रहे हैं, वह कृष्ण तो वास्तव में सब में निवास करने वाला विश्व-आत्मा है। जिस ने अभी अभी अर्जुन को अपना विश्व रूप दिखाया है। जिस रूप में अर्जुन ने कौरव सेना के योधाओं को प्रविष्ट होते औरभगवान् द्वारा भक्षण किये जा रहे देखा है। दस दिन के युद्ध मेंभीष्म आदि अनेक कौरव शूरवीरों का संहार हो चुका हैथोड़े ही दिनों में कौरवों का सर्व नाश होने वाला है। भगवान् ने आप को देखने के लिए तो नेत्र पहले दिन से ही नहीं दिये। परन्तु प्रज्ञाचक्षु तो आप को प्राप्त हैं। उन्हें खोलो और दुर्योधन को समझाकर पाण्डवों से सन्धि कर लो ताकि भारत का भाग्य फूटने से बच जाए। इतना संकेत करने के बाद संजय ने कहा—कि भगवान् कृष्ण ने अपना विराट् रूप छिपा कर फिर अपना चतुर्भुज सौम्य विष्णु स्वरूप अर्जुन को दिखाया वह रूप ठीक वैसा ही था जैसा विराट् रूप के प्रारम्भ में दिखाया गया था इस प्रकार अर्जुन की इच्छा पूरी करके भगवान् ने पुनः वसुदेव के पुत्र कृष्ण का रूप धारण कर लिया। और उस भयभीत अर्जुन को आश्वासन और धीरज दिया। अर्जुन की अवस्था उस समय ऐसी हो रही थी। जिस प्रकार घोर स्वप्न देखने के बाद जागने पर किसी पुरुष की होती है और अर्जुन को पृथिवी आकाश और उन दोनों के मध्यवर्ती जीव जन्तु कौरव और पाण्डव सेना के लोग उसी प्रकार दिखाई देने लगे। जिस प्रकार प्रचण्ड रश्मि प्रकाशमान् अंशुमाली सूर्य नारायण के अस्त होने पर चमकते हुए तारों के समूह दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस प्रकार अर्जुन को फिर विराट् रूप देखने से पूर्व वाला वातावरण दिखाई देने लगा।

टिप्पणी—श्री तिलक महाराज लिखते हैं—"गीता के श्लोकों में आर्ष-वृत्त-रचना के उदाहरणों को स्वर्गीय तैलंग महोदय ने स्पस्ट करके नहीं बतलाया है। परन्तु हमें यह प्रतीत होता है कि ग्याहरवें अध्याय के १५ से ५० तक छत्तीस श्लोकों को लक्ष्य करके उन्होंने गीता की छन्द रचना को आर्ष कहा है। उन श्लोकों के प्रत्येक चरण में ११ अक्षर हैं परन्तु गणों का कोई नियम नहीं है। एक चरण इन्द्र ब्रज्रा है तो दूसरा उपेन्द्रवज्रा, तीसरा शालिनी है तो चौथा किसी अन्य प्रकार का। इस प्रकार इन उक्त छत्तीस श्लोकों में अर्थात् १४४ चरणों में भिन्न भिन्न जाति के कुल ११ चरण देख पड़ते हैं तथा तोभी यह नियम भी देख पड़ता है कि प्रत्येक चरण में ११ अक्षर हैं और उन में पहला, चौथा, आठवां और अन्तिम दो अक्षर गुरु हैं। तथा छठा अक्षर प्रायः

'लघु' ही है । इस से यह अनुमान किया जाता है कि ऋग्वेद तथा उपनिषदों के त्रिष्टुप छन्द के ढंग पर ही ये श्लोक रचे गये हैं। ऐसे ग्यारह अक्षरों के विषम-वृत्त कालिदास आदि के काव्यों में नहीं मिलते। हां, शुकन्तला नाटक का "अमी वेदिं परितः कलृप्ताधिष्ण्याः" यह श्लोक इसी छन्द में है। परन्तु कालिदास ही ने उसे 'ऋक् छन्द' अर्थात् ऋग्वेद का छन्द कहा है। इस से यह बात प्रकट होती है कि आर्ष वृत्तों के प्रचार समय में ही गीता ग्रन्थ की रचना हुई है ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

दृष्ट्वा+इदम्+मानुषम्+रूपम्+तव सौम्यम्+जनार्दन !। इदानीम् +अस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिम्+गतः

दृष्ट्वा=दृश् (भ्वा० पर० सक०=देखना)+क्त्वा=देखकर।

इदम्=इदम् (सर्व०)+(नपुं०) द्वितो० ए० व०=इस को।

मानुषम्=वि०) मनुष्य+अण्, वृद्धि ।

यलोप=मानुष+(नपुं०) द्वितो० ए० व०=मनुष्य सम्बन्धी को। मनुष्य देह धारी को।

रूपम्=(नपुं०)√ रूप्+अच्=रूप+द्वितो० ए० व०=रूप को।

तव=युष्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=तेरे। आप के।

सौम्यम्+(वि०) सोम+ड्यण् अथवा सोम+य+अण=सौम्य+(नपुं०)+ द्वितो० ए० व०=सौम्य को । कोमल को । स्निग्ध को। शान्त को। प्रसन्न को। प्रिय को। भोले भाले को। सुखदायक को।

जन+अर्दन !=(सम्बो० ए० व०) हे जनार्दन ! हे लोगों को दण्ड देने वाले ! हे दैत्यों या दुष्टों के नाशक ! हे भक्तों की इच्छा पूरी करने वाले।
[जनार्दन (पुं०) जनैः अर्द्यते याच्यते स्वाभीष्टं असौ, √अर्द् (मांगना)+ ल्युट्। लोग जिस से अपनी इच्छा पूरी किया चाहते हैं। जनम् अर्दयति वा √अर्द् (मारना)+ल्यु । जो (पापी)-जनों को मारता है ।]
इदानीम्=(अव्ययय) इदम्+दानीम्, इश् आदेश शकार लोप=सम्प्रत्ति। अब। इस समय।

अस्मि=√अस् (होना)+लट्० उ० पु०, ए० व०=(मैं) हूँ।

संवृत्तः=सम्√वृच्+(कर्तरि) क्त=संवृत्त+(पुं०) प्र० ए० व०=हुआ (हूँ)।

सचेता :=(वि०) सह चेतसा (बहुव्री०)=सचेतस्+(पुं०) प्र० ए० व०=

सचेता:=सावधान। सचेत। शान्त चित्त।

प्रकृतिम्=(स्त्री०) प्रक्रियते कार्यादिकम् अनया, प्र√कृ+क्तिन्=प्रकृति+ द्विती० ए० व०=प्रकृति को। स्वभाव को। पहली ठीक अवस्था को।

गत:=√गम्+क्त=गत+(पुं०) प्र० ए० व०=हो गया। प्राप्त हुआ।

अर्थ—[अर्जुन बोला—हे दुष्टजनों को दण्ड देने वाले भगवन्! हे (भक्त) जनों की इच्छा पूर्ण करने वाले कृष्ण! आप के इस सौम्य मनुष्य-रूप को देख कर अब मैं शान्तचित्त हो गया हूँ और अपनी प्रकृति (मन की स्वस्थ अवस्था) को प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५१ ॥

व्याख्या—मनुष्य का स्वरूप जितना अधिक से अधिक सुन्दर और सुडौल हो सकता है। भगवान् ने उस से भी अत्यन्त अधिक सुन्दर मनुष्य रूप धारण कर लिया था जिस को अर्जुन ने सौम्य मनुष्य रूप कहा है। अर्जुन भगवान् कृष्ण से दो लाभ प्राप्त करना चाहता है। १—दुष्ट पापी कौरवों को मरवाना २—अपने लिये मुक्ति लाभ पाना। इसलिए उसने भगवान् को 'जनार्दन' कहकर सम्बोधित किया है। जिस के दो अर्थ होते हैं १—दुष्ट जनों को मारने वाला २—अपने भक्त जनों की इच्छा की पूर्ति करने वाला। अर्जुन का इस प्रकार कृष्ण को सम्बोधित करने से उस का हार्दिक भाव यह है कि हे भगवान्! हमारे दुष्ट शत्रुओं को मार दो और अन्त में हमें मोक्ष प्रदान करो। विराट् रूप को देख कर अर्जुन अति भयभीत हो गया था। आश्चर्य से उस के मन की स्थिति कुछ और ही होगई थी। उसे अपने आप की सुधी भी भूल गई थी वह किसी और ही दुनियां में अपने को खड़ा देख रहा था। उस के सामने भगवान् के अनेक रूपों का पट-परिवर्तन हो रहा था। एक रूप सामने आता था और वह आगे निकल जाता था निरन्तर यही क्रम जारी था। अर्जुन ने सब से पहिले भगवान् के सौम्य रूप के दर्शन किए थे। परन्तु वह रूप शीघ्र ही आगे निकल गया था और उत्तरोत्तर भगवान् का भयानक से भयानकतर रूप सामने आने लगा था जिस से भय-भीत अर्जुन के रोंगटे खड़े हो गये थे। मारे डर के पसीना छूट रहा था। पावों तले से धरती खिसकी जा रही थी। उसका मन त्राहि मां, त्राहि मां कह रहा था। इतने में करुणा निधि, दया सागर भगवान् कृष्ण ने अपने भयानक विराट् रूप को समाप्त करके अपना प्रिय स्निग्ध, कोमल अत्यन्त सुन्दर और मोहक नर रूप प्रकट कर दिया जिसे देख कर अर्जुन की जान में जान आई और होश ठिकाने हुए। अपने मित्र कृष्ण को पुन: सामने देखकर प्रसन्न स्वस्थ तन और स्वस्थ मन हो गया तथा अपने आप को पुन: इस लोक में लौट कर आया हुआ समझने लगा तथा कृष्ण को कृष्ण रूप में देखने लगा। उसके शरीर में जो कम्प, रोमहर्षण और मन में भय, व्याकुलता तथा विस्मय आदि उत्पन्न हो गए थे, वे सब दूर हो गए और वह अपने आप को स्वस्थ तन और स्थिर मन समझने लगा।

श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने इस श्लोक की व्याख्या में इस प्रकार अपनी मधुर वाणी से अमृत-वर्षा की है—

"बलशाली अर्जुन ने श्री कृष्ण से जिस बात की प्रार्थना की, उनके उसे उसी प्रकार दर्शन हुए। तब अर्जुन ने कहा—अब मेरी जान में जान आई है। नहीं तो अब तक बुद्धि का ज्ञान नष्ट हो गया था और चारों ओर भय का भयावह कानन दिखाई दे रहा था। और मेरा मन अहंभाव के सहित दूर भाग खड़ा हुआ था। इन्द्रियां नितान्त निश्चल और स्तब्ध हो गई थीं। वाचा निष्प्राण होकर गूंगी बन गई थी। मेरे शरीर की दशा दुर्दशा में बदल गई थी। परन्तु अब वह सारी जीवनावस्था अपनी ठीक स्थिति में आ गई है। मानों फिर से मुझे जीवन प्राप्त हो गया है। हे कृष्ण ! तेरी इस मूर्ति के दर्शन से फिर मुझ में प्राण लौट कर आ गये हैं। हे देव ! अब फिर से मैंने आप का यह मानवी रूप देखा। इस को दिखा कर आप ने मुझ पर उसी प्रकार उपकार किया है। जिस प्रकार माता अपने अपराधी बालक को हृदय से लगाकर स्तन-पान कराने लगती है। मैं आप के उस विश्व रूप के दर्शन के सागर में डूबता हुआ दोनों हाथों से लहरों के साथ लड़ते हुए के समान बना हुआ था। पर अब आप की इस सौम्य सगुण मूर्ति रूप तट पर आ पहुँचा हूँ। हे द्वारका नाथ ! आप के ये दर्शन सूख रहे मुझ अर्जुन-वृक्ष पर अमृत-मेघ-वृष्टि हैं। मैं आपके कृष्ण रूप दर्शन की तृषा से व्याकुल हुआ छटपटा रहा था। ऐसे समय में यह आप का सौम्य कृष्ण रूप मिल गया है जिससे मैं पुनः जीवित और स्वस्थ तथा शान्तचित्त हो गया हूँ। मेरा अन्तःकरण हरी बेलों और सुगन्धित पुष्पों से सुषमा युक्त होकर लहरा उठा है। इस समय मुझे अत्यन्त सुख प्राप्त हो रहा है।

॥ ५१ ॥

श्री भगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

सु-दूर्+दर्शम्+इदम्+रूपम्+दृष्टवान्+असि यत्+मम। देवाः+अपि+अस्य रूपस्य नित्यम्+दर्शन—काङ्क्षिणः ॥

सु—दुर्+दर्शम्=(वि०) सुष्ठु दुःखेन दर्शनम् अस्य इति, सु दुर्√दृश्+(कर्मणि) खल्=सुदुर्दश+(नपुं०) द्वि० ए० व०=बहुत कठिनता से देखे जाने वाले को।

इदम्=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) द्विती०, ए० व०=इस को।

रूपम्=(नपुं०) रूप+द्विती० ए० व०=रूप को।

दृष्टवान्=√दृश्+क्तवतु (कर्तरि)=दृष्टवत्+(पुं०) प्र० ए० व०=दृष्टवान्=देखा।

असि=√अस्+लट्० म० पु०, ए० व०=(तूने) है।

यत्=यद् (सर्व०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=जिस को।

मम=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मेरे।

देवाः=(पुं०) प्र० ब० व०=देवता लोग।

अपि=(अव्यय) भी।

अस्य=इदम् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ए० व०=इसके।

रूपस्य=(नपुं०) रूप+षष्ठी० ए० व०=रूप के।

नित्यम्=(वि०) नियमेन भवः, नि+त्यप्=नित्य+(नपुं०)+प्र० ए०= सदा। प्रतिदिन। हर रोज़। सर्वदा। नित्य।

दर्शन-काङ्क्षणः=(वि०, पुं०) दर्शनानां काङ्क्षणः (षष्ठी० तत्पु०)= दर्शनों के अभिलाषी हैं। दर्शन करने की इच्छा करने वाले हैं।

[काङ्क्षणः=√काङ्क्ष (भ्वा० उभ० सक०=इच्छा करना)+णिनि= काङ्क्षन्+प्र०, ब० व०=काङ्क्षणः=इच्छा करने वाले हैं।]

अर्थ श्री भगवान् बोले—

जो मेरे इस बहुत कठिनता से देखे जाने वाले रूप को (तू ने) देखा है। देवता लोग भी सदा इस (विराट् या चतुर्भुज) रूप के दर्शन करने की इच्छा करने वाले हैं॥ ५२॥

व्याख्या—श्री भगवान् अर्जुन की बात सुनकर बोले—हे अर्जुन! मेरे जिस विश्व रूप को तूने अभी देखा है। उस में तुम्हें मेरे सौम्य और भयंकर सभी प्रकार के रूपों के दर्शन हुए हैं। जिस से तुझे प्रसन्नता, विस्मय और भय तीनों की प्राप्ति हुई है और मेरी महानता के दर्शन हुए हैं परन्तु यह मेरा विराट् रूप पहले किसी ने नहीं देखा है। अब भी किसी दूसरे के लिये इस का देखना अत्यन्त कठिन और दुर्लभ है। इन्द्रादि देवता लोग भी मेरे इस रूप को देखने के लिए अभिलाषी बने रहते हैं। परन्तु स्वामी शंकराचार्य के शब्दों में—

"परन्तु ते देवा दर्शनेप्सवः अपि न त्वम् इव दृष्टवन्तो न द्रक्ष्यन्ति च इति अभिप्रायः।"

अर्थात् किन्तु वे देवता लोग मेरे दर्शनों की इच्छा करते हुए भी तेरी तरह न पहले देख सके हैं और न भविष्यत् में देखेंगे। सो मेरे कहने का यही अभिप्राय है॥ ५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥

न+अहम्+वेदैः+न तपसा न दानेन न च+इज्यया। शक्यः+एवम्+विधः+द्रष्टुम्+दृष्टवान्+असि माम्+यथा ॥

न=(अव्यय) न। नहीं।

अहम्=अस्मद् (सर्व०)+प्र० ए० व०=मैं।

वेदैः=(पुं०)√विद्+घञ् वा अच्=वेद+तृती० ब० व०=वेदों के द्वारा। वेदों को पढ़ने से। [ऋग्यजुः सामाथर्ववेदैः चतुर्भिः]

न=न, नहीं।

तपसा=(नपुं०)√तप् (दिवा० आत्म० अक०=तपस्या करना)+असुन्=तपस्+तृती० ए० व०=तप से। तपस्या करने से। [उग्रेण चान्द्रायणादिना तपसा]

न=न, नहीं।

दानेन=(नपुं०)√दा+ल्युट्=दान+तृती० ए० व०=दान से। [गो-भू-हिरण्यादिना दानेन।]

न=न, नहीं।

च=(अव्यय) और।

इज्यया=(स्त्री०)√यज्+क्यप्=इज्य+टाप्=इज्या+तृती० ए० व०=यज्ञ से। यज्ञ करने से। [यज्ञेन पूजया वा]। यज्ञ या पूजा से।

शक्यः=(वि०)√शक् (दिवा० उभ० अक०=योग्य होना, शक्य होना)+यत्=शक्य+(पुं०) प्र० ए० व०=शक्य है। योग्य है।

एवम्=(अव्यय)√इ+वमु (वा०)=ऐसे। इस।

विधः=(पुं०)√विध्+क=विध+प्र० ए० व०=प्रकार।

द्रष्टुम्=√दृश्+तुमुन्=देखने के लिए।

दृष्टवान्=√दृश्+क्तवतु=दृष्टवत्+प्र० ए० व०=देखा।

असि=√अस्+लट्० म० पु०, ए० व०=(तूने) है।

माम्=अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझ को।

यथा=(अव्यय) जैसे। जिस प्रकार।

अर्थ—जिस प्रकार (तू ने) अब मुझ को देखा है। उस प्रकार मैं न वेदों (के अध्ययन) से, न तप (करने) से, न दान से और न यज्ञ या पूजा (करने) से देखने के लिए शक्य हूँ ॥ ५३ ॥

व्याख्या—यद्यपि वेदों का पढ़ना, तपस्या करना, शुभदेश काल में सुपात्र को कन्या, भूमि, भवन, क्षेत्र धन धान्य आदि का दान करना तथा प्रभु की पूजा करना और यज्ञ आदि करना सब शुभ कर्म हैं और निष्काम भाव से प्रभु-अर्पण

किए हुए मोक्ष प्रदाता होते हैं। परन्तु हे अर्जुन! इन सब कर्मों द्वारा भी मेरे उस रूप के दर्शन नहीं किए जा सकते तू ने दिव्य नेत्र से जिस मेरे रूप को अभी-अभी देखा है। परन्तु तेरे जैसी अनन्य भक्ति के द्वारा मेरे इस स्वरूप को देखना, जानना और प्राप्त करना संभव है। इसलिए मेरी अनन्य भक्ति एक ऐसा साधन है जिस से मेरे साथ मेल हो सकता है ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ॥ ५४ ॥

भक्त्या तु+अनन्यया शक्य:+अहम्+एवम्+विध:+अर्जुन! ज्ञातुम्+द्रष्टुम्+च तत्त्वेन प्रवेष्टुम्+च परम्+तप! ॥

भक्त्या=(स्त्री०)√भज्+क्तिन=भक्ति+तृती० ए० व०=भक्ति से।

तु=(अव्यय) तो। परन्तु। किन्तु।

अनन्यया=(स्त्री० वि०) [नञ् बहुव्री०, नञ् तत्पु०] अन् (न)+अन्या+तृती० ए० व०=अन्य से सम्बन्ध न रखने वाली से। एक निष्ठा से। अनन्या से। अनन्य से।

शक्य:=(वि०)√शक् (दिवा० उभ० अक०=शक्य होना)+(पुं०) प्र० ए० व०=शक्य है।

अहम्=अस्मद् (सर्व०) प्र० ए० व०=मैं।

एवम्=(अव्यय) ऐसे। ऐसा। इस तरह।

विध:=(पुं०) विध+प्र० ए० व०=प्रकार।

अर्जुन!=[सम्बोधन ए० व० (पुं०)] हे अर्जुन! [√अर्ज् (भ्वा० पर० सक०=उपार्जन करना)+उनन्=अर्जुन: स: अस्ति अस्येत्यर्थे अच्]=यश या धन उपार्जन करने वाला। सफेद। स्वच्छ। दिन के प्रकाश जैसा। चमकीला। यशवान्।]

ज्ञातुम्=√ज्ञा (क्र्या० पर० सक०=जानना)+तुमुन्=जानने के लिए।

द्रष्टुम्=√दृश् भ्वा० पर० सक०=देखना)+तुमुन्=देखने के लिए।

च=(अव्यय) और।

तत्त्वेन=(नपुं०)√तन्+क्विप्, तुक्, पृषो० साधु:, तस्य भाव:, तत्+त्व=तत्त्व+तृती० ए० व०=तत्त्व से। वास्तविक दर्शन या परिस्थिति से। यथार्थ रूप से।

प्रवेष्टुम्=प्र√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना)+तुमुन्=प्रवेश करने के लिए।

च=(अव्यय) और।

परम्+तप !=(पुं०, वि०, सम्बोधन ए० व०=परान् शत्रून तापयति, परं √तप्+णिच्+खच्, ह्रस्व, मुम=हे शत्रुओं को तपाने वाले ! (बहुव्री०) अथवा—हे (अज्ञान रूपी) शत्रु के नाशक ! किंवा-परम तप करने वाले ! हे अर्जुन !

अर्थ—हे परन्तप ! हे अर्जुन ! इस प्रकार अनन्य भक्ति से तो मैं तत्त्व से जानने के लिए, देखने के लिए और प्रवेश करने के लिए शक्य हूँ ॥ ५४ ॥

व्याख्या—भगवान् ने इस श्लोक में अर्जुन को जिन दो नामों से सम्बोधित किया है। उन के कहने से भगवान् का अभिप्राय यह है कि हे अर्जुन ! तुझ में वे सब गुण विद्यमान हैं जिन के कारण तू मेरे सब प्रकार के रूपों को देख सका है मुझ नारायण का संगी तू नर रूप अवतार है। तू अर्जुन है। अर्थात् मेरे प्रकाश का अंश है दिन या दिन-पति सूर्य की तरह श्वेत, स्वच्छ और चमकीला है। प्रकाशमान् है। यश उपार्जन करने वाला है। शत्रुओं को तपाने वाला है। अज्ञान का नाशक है और परम तप करने वाला है। मेरा अनन्य भक्त है और संसार में मेरा मित्र माना जाता है। इसी से मेरे अदृश्य पूर्व विराट् रूप और सौम्य चतुर्भुज रूप को देख सका है। इस प्रकार के दिव्य रूपों को धारण करने वाला मैं परमेश्वर इस प्रकार अनन्य भक्ति से जानने के लिये शक्य हूँ। अर्थात् सब विषय वासनाओं से रहित हुआ केवल मुझे परमेश्वर में ही अतिशय अनुरक्त रहने वाला पुरुष शास्त्र रूप प्रमाणों से और सद्गुरु के उपदेश से मेरे स्वरूप को तत्त्व से जानने के लिए समर्थ हो जाता है और इस अनन्य भक्ति की प्रौढ़ता परिपक्वता के बल से मैं फिर उस अपने परम भक्त के देखने के लिये सहज, सुलभ हो जाता हूँ। फिर मेरे बिना इस अनन्य भक्त को और कुछ न ज्ञात रहता है, न ही दिखाई देता है तो उस के प्रविष्ट होने के लिए शक्य हो जाता हूँ। जिस से अन्त में वह भक्त मुझ में प्रवेश करके मुझ से भिन्न नहीं रहता। जिस प्रकार समुद्र में प्रविष्ट हुआ नदियों का जल अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं रखता, बलकि समुद्र के जल में घुल मिल कर उसका रूप बन जाता है।

ज्यों ही किसी को मेरे स्वरूप का ज्ञान हो जाता है त्योंही उसे स्वाभाविक रूप से मेरे दर्शन भी हो जाते हैं। फिर जिस प्रकार लकड़ी में आग भड़क उठती है। तब वह लकड़ी अपना अस्तित्व खो कर अग्नि का रूप धारण कर लेती है अथवा जब तक प्रकाश का आविर्भाव नहीं होता, तब तक सारा आकाश अन्धकारमय बना रहता है। परन्तु जब एक बार सूर्योदय हो जाता है तब सब ओर तुरन्त प्रकाश फैल जाता है। उसी प्रकार मेरे स्वरूप का साक्षात्कार होते ही अहंभाव का अन्त हो जाता है और अहंभाव का अन्त होते ही द्वैत भाव भी आप से आप मिट जाता है। तब फिर 'मैं' और वह दोनों स्वभावतः मिल कर एक 'मैं' ही हो जाते हैं ॥

इस श्लोक में शक्य अहम् (शक्यः+अहम्) प्रयोग पाणिनी-व्याकरण बनने से पहले लिखी गई वेदों की भाषा के अनुसार है। पाणिनी व्याकरण के अनुसार "शक्योऽहम्" रूप बनता है। इससे गीता का बहुत प्राचीन काल में लिखा जाना सिद्ध है। क्योंकि इस में ऐसे बहुत से आर्ष या छान्दस् प्रयोग पाये जाते हैं। जिनका प्रयोग वर्तमान संस्कृत में होना बन्द हो चुका था ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

मत्+कर्म-कृत्+मत्+परमः+मत्+भक्तः सङ्ग-वर्जितः। निर्+वैरः सर्व-भूतेषु यः सः+माम्+एति पाण्डव ! ॥

मत्+कर्म-कृत=(वि० पुं०) मदर्थं कर्म=मत्कर्म, तत्करोति इति+मेरे लिए (सारे) कर्म करने वाला। (बहुव्री०) प्र० ए० व०।

मत्+परमः=वि० पुं०) अहं परमः (परागतिः) यस्य सः (बहुव्री०)=मैं ही जिस की परम गति हूँ वह। मुझ पर आश्रित। मत्परायण। (प्र० ए० व०) मुझ को परम (सब से बढ़ कर) मानने वाला।

मत्+भक्तः=(वि० पुं०) माम् एव सर्वप्रकारैः सर्वात्मना सर्वोत्साहेन भजते इति=जो सब प्रकार से सब इन्द्रियों द्वारा सम्पूर्ण उत्साह से मेरा ही भजन करता है। मेरा (अनन्य) भक्त। (प्र० ए० व०)।

सङ्ग-वर्जितः=(वि० पुं०) सङ्गः (प्रीतिः, स्नेहः) तद् वर्जितः (बहुव्री०, प्र० ए० व०)=सङ्ग रहित। स्नेह से रहित। प्रीति से रहित।

निर्+वैरः=(वि० पुं०, प्र० ए० व०) निर्गतः वैरः यस्मात् सः (बहुव्री०) जिस में से (सब तरह का) वैर विरोध दूर हो गया है। वैर रहित। वैर भाव से रहित। अपना अत्यन्त अनिष्ट करने की चेष्टा करने वालों में भी जो शत्रुभाव से रहित है।

सर्व-भूतेषु=(नपुं०) सर्वेषु भूतेषु=सब भूतों (जीवों) में। (सप्त० ब० व०)।

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

एति=√इ (प्राप्त होना)+लट् प्र० पु० ए० व०=प्राप्त होता है।

पाण्डव=(पुं० सम्बो० ए० व०) हे पाण्डव ! [पाण्डोः अपत्यम्, पाण्डु+अण्=पाण्डव।] । हे अर्जुन !

अर्थ—हे पाण्डु-पुत्र अर्जुन ! जो (व्यक्ति) मत्कर्मकृत (मेरे निमित्त

सारे कर्म करने वाला), मत्परम (मुझ को अपना परम पिता मानने वाला), संग-रहित (संसार की मोहमाया, स्नेह और प्रीति से रहित हो चुका), मद्भक्त (मेरा पूरा अनन्य भक्त हो चुका) और सब भूतों में निर्वैर है, वह मुझे प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम पाण्डु-पुत्र हो राजा के पुत्र हो अर्थात् उत्तम क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए हो तुम्हारी बुद्धि तीक्ष्ण और मेरे द्वारा किए जा रहे उपदेश को भली भान्ति ग्रहण करने में शक्य है । इस लिए मेरी भक्ति के मार्ग का वर्णन ध्यान पूर्वक सुनो । मैंने इस वक्ष्यमाण श्लोक में समस्त गीता शास्त्र का सारभूत अर्थ कल्याण प्राप्ति के लिए इकट्ठा करके संक्षेप से बतलाया है ।

जो व्यक्ति सारे कर्म मेरे ही निमित्त करता है । तथा अपने सब कर्मों को मुझ से ही किए जा रहे मानता है। उन कर्मों के होने में अपने को केवल निमित्त मात्र ही जानता है। शुभाशुभ कर्मों में से किसी का भी कर्ता अपने को नहीं समझता है, न ही इस को किसी पर प्रकट करके मूर्खतामयी डींगें मारता है । कहने सुनने से रहित हो कर इसी धारणा को सुदृढ़ रूप से पल्ले बांध लेता है । सारे कर्म मुझ परमेश्वरार्पण बुद्धि से ही करता है तथा इन कर्मों के करने में अपना कोई प्रयोजन नहीं देखता है । तो ऐसा व्यक्ति मत्कर्मकृत कहलाता है । जब वह व्यक्ति मेरे परायण होकर मुझ को ही अपना परम पिता अपना सर्वस्व और अपना आश्रय भी समझ लेता है तथा उस के मन में स्वर्गादि अन्य किसी सुख लालच या इच्छा की छाया मात्र भी नहीं रहती है । तथा इहलोक और परलोक सब कुछ मुझ पर ही वार देता है वह पुरुष सदा मत्कर्म बन जाता है ।

जो पुरुष सदा मेरे नाम गुण प्रभाव के श्रवण कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन पाठन का प्रेम सहित निष्काम भाव से निरन्तर अभ्यास करता है। कभी निकम्मा और आलसी बन कर बैठा नहीं रहता । सोते जागते, चलते फिरते सब प्रकार के कर्म करता हुआ मेरे दर्शन करता है वह मद्भक्त है । यही नहीं मेरा अनन्य भक्त है और वह मेरा बहुत प्रिय है और मैं उस का अत्यन्त प्रिय हूँ । जो मद्भक्त, पुत्र कलत्रादि में रहता हुआ भी सरोवर में उगे हुए कमल पत्रों की भान्ति पानी रूप सांसारिक मोह माया के बन्धनों से रहित हुआ आसक्ति और ममता से विगत हो जाता है वह सङ्ग वर्जित कहलाता है। वह स्त्री पुत्र धन-धान्य आदि के सन्बन्ध में अपने कर्त्तव्य का पालन तो अवश्य

करता है परन्तु उनके विनाश और प्राप्ति में किसी प्रकार के दु:ख और हर्ष को कदापि प्राप्त नहीं होता है संसार के सब दु:ख सुख उसके सामने से इसी प्रकार गुज़रते रहते हैं जिस प्रकार दिन-रात, पक्ष या मासादि सामने होकर चले जाते हैं वह तो इस जगत् को एक खेल तमाशा ही समझता है जिस में केवल एक परम ब्रह्म ही विविध रूप धारण किए सर्व ओर सर्वत्र अभिनय कर रहा है। वह इन सब रूपों को देख कर तनिक भी धोखा नहीं खाता है। और किसी भी भ्रम में नहीं पड़ता है। मैं उस को देख कर मुसकिरा देता हूँ। क्योंकि मैं उसको जानता हूँ और वह मुझ को पहिचानता है। दोनों की आँखों आँखों में ही बात हो जाती है, परन्तु मूर्ख और अनजान लोग कभी इस रहस्य को समझ नहीं पाते। मैं तो बहुत बड़ी शान वाला हूँ। मद्भक्त की शान भी निराली ही होती है। ऐसा मेरा भक्त सब भूतों में निर्वैर भी होता हैं। सदा सर्वत्र मुझ में बुद्धि जुड़ी रहने से उस व्यक्ति का अति अपराध करने वाले में भी बैरभाव नहीं होता। बैरभाव की बात तो वह तभी सोच सकता है जब उसकी बुद्धि मुझ भगवान् के ध्यान से हटे, परन्तु इस बात को मेरी कृपा दृष्टि असम्भव बना देती है। तो फिर एक म्यान में दो तलवारें कैसे समा सकती हैं ? हवा एक हलकी और सूक्ष्म वस्तु है परन्तु जब तक यह किसी पात्र से निकल नहीं जाती तब तक वह उस पात्र के भीतर जल या किसी अन्य वस्तु को प्रवेश करने नहीं देती इस बात की परीक्षा करने के लिए एक चौड़े पात्र में पानी भरो और फिर जल के तल पर एक कार्क तैराओ। काँच का खाली गलास लेकर उस पर उल्टा करके रखो। और हाथ के दबाव से गलास को पात्र के जल के तल तक ले जाओ तुम देखोगे कि कार्क पात्र के पेंदे में जाकर खाली स्थान में स्थित हो गया है। जिस का कारण यह है कि गलास के भीतर की हवा ने पानी को गलास में दाखिल नहीं होने दिया है इस प्रकार मेरी भक्ति भी मद्भक्त के अन्त:करण में किसी प्रकार के वैर विरोध को प्रवेश करने नहीं देती है। और मेरा भक्त सदा निवर बना रहता है। वह तो भूत शब्द को भी भूल जाता है क्योंकि उसकी दृष्टि में मैं ही सब जगह समाया हुआ जान पड़ता हूँ। "न कोई वैरी न ही बेगाना, सकल संग हम को बनि आई।" वह इस वाक्य का उच्चारण मुख से कदापि नहीं करता है क्योंकि वह 'वैरी' 'बेगाने' आदि शब्दों से ही अनभिज्ञ होता है। इसलिए उसे इस प्रकार के गिद्धे के प्रदर्शन करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। वह तो इन शब्दों को मूर्तिमान् करके अपने जीवन से ही चरितार्थ करता है।

हे पाण्डु पुत्र अर्जुन ! इस प्रकार जो पुरुष मत्कर्मकृत, मत्परम, संग-रहित, मद्भक्त और सब भूतों में निर्वैर है। वह मुझ को प्राप्त होता है। अर्थात् वह मुझ में मिलकर मद्रूप हो जाता है, और ज्योति स्वरूप होकर मुझ ज्योति स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर में लीन हो जाता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सम्बादे विश्वरूप दर्शन-योगो नामैकादशोऽध्याय: ।

शुभमस्तु । मंगलमस्तु ॥

इस प्रकार श्री भगवान् के गाये हुए (कहे हुए) उपनिषदों में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संबाद में "विश्वरूप-दर्शनयोग" नामक ग्यारहवां अध्याय कथित हुआ ।

हरि: ॐ तत्सत् । हरि: ॐ तत्सत् । हरी: ॐ तत्सत् ।

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

एवम्+सतत-युक्तः+ये भक्ताः+त्वाम्+पर्युपासते । ये च+अपि +अक्षरम्+अव्यक्तम्+तेषाम्+के योग-वित्तमाः ॥

एवम्=(अव्यय) ऐसे । इस प्रकार ।

सतत-युक्ताः=(वि० पुं०) सततं (नैरन्तर्येण) युक्ताः=सदा (लगातार) युक्त (तेरे ध्यान में जुड़े) हुए ॥

[सतत=(वि०) सम्√तन्+क्त, समः अन्त्य-लोपः=अविच्छिन्न । निरन्तर । (अव्यय) सदैव । हमेशा ।

युक्ताः=(वि०)√युज्+क्त=युक्त+(पुं०) प्र० ब० व०=जुड़े हुए । ध्यान में लगे हुए । प्रभु को पहुँचे या मिले हुए ।]

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=जो ।

भक्ताः=(वि०)√भज् (भ्वा० उभ० सक० अक०=अंगीकार करना । पूजा करना । अनुरक्त होना)+क्त=भक्त+(पुं०) प्र० ब० व०=अनुरक्त हुए । भक्त लोग ।

त्वाम्=युष्मद (सर्व०)+द्विती० ए० व०=तुझ को । आप को ।

पर्युपासते=परि-उप√आस् (अदा० आत्म० अक० सक०=बैठना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=अच्छी तरह उपासते हैं ।

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=जो ।

च=(अव्यय) और ।

अपि=(अव्यय) भी । ही ।

अक्षरम्=(वि०)√क्षर्+अच्, (नञ् तत्पु०)=अक्षर+(पुं०) द्विती० ए० व०=अक्षर को । अविनाशी को । सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमेश्वर को ।

अव्यक्तम्=(वि०) वि√अञ्ज्+क्त, (नञ् तत्पु०) अव्यक्त को। निराकार को।

तेषाम्=तद् (सर्व०)+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=उन का। उन में।

के=किम् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=कौन।

योग-वित्तमाः=(वि०) योगस्य वित्तमाः (षष्ठी० तत्पु०)=योग को सब से बढ़ कर जानने वाले।

[योग=(पुं०)√युज्+घञ्=योग (के)।

वित्तमाः=√विद् (अदा० पर० सक०=जानना।

क्विप्+तम=वित्तम+(पुं०) प्र० ब० व०=सब से बढ़कर जानने वाले।]

अर्थ - अर्जुन बोला—इस प्रकार (११।५५ में कहे हुए) जो सदैव (आप के स्वरूप में जुड़े या दत्त चित्त हुए) भक्त लोग आप को अच्छी तरह से उपासते हैं। और जो (ज्ञानी लोग दूसरे अध्याय से १० वें अध्याय तक वर्णित लोग) आप के अव्यक्त अक्षर (स्वरूप) को ही (उपासते हैं।) उन में योग (आप में लीन होने या मिल जाने की विधि) के सब से बढ़ कर जानने वाले कौन हैं? ॥ १ ॥

व्याख्या—अर्जुन ने दूसरे अध्याय से लेकर दसवें अध्याय तक भगवान् के मुखारविन्द से अधिकतर उपदेश निराकार अक्षर ब्रह्म की उपासना के सम्बन्ध में सुना है। फिर ग्यारहवें अध्याय में आदि अन्त में चतुर्भुज सौम्य भगवान् के दर्शन किए और मध्य में भयंकर रूपधारी विराट् भगवान् को देखा। ५५वें श्लोक में साकार परमेश्वर की उपासना का उपदेश ग्रहण किया। यद्यपि अर्जुन भली भान्ति समझ गया था कि परब्रह्म में मिल जाने के लिए दोनों मार्ग ठीक हैं और मोक्ष दिलाने वाले हैं परन्तु तो भी वह यह निर्णय भगवान् से कराना चाहता है कि इन दोनों मार्गों में कौनसा मार्ग सुगम है? और कौन सा दुर्गम है? इस प्रश्न को थोड़ा सा घुमा फिरा कर वह पूछता है कि हे भगवन्! इस प्रकार जो पुरुष आप के निमित्त कर्म करने वाला, आपको परम गति जानने वाला, संग रहित, अनन्य भक्त और सब भूतों में निर्वैर है। वह अवश्य ही आप में मिल कर आप का रूप हो जाता है।

इसी प्रकार सांख्ययोगी अव्यक्त ब्रह्म की उपासना द्वारा भी आप के स्वरूप में मिल जाता है। परन्तु मैं आप से पूछता हूँ, कि इन दोनों प्रकार के साधकों में से सब से बढ़ कर योग अर्थात् आप से मिल जाने की विधि को जानने वाला कौन है? अर्थात् इन दोनों में से सुगम और अचूक विधि कौन सी है? ॥ यह तो मैं अच्छी तरह से समझ गया हूँ कि आप संसार के आदि अन्त में केवल अव्यक्त, निर्गुण या शुद्ध रूप में ही होते हैं क्योंकि

उस समय आप के बिना और कुछ होता ही नहीं है संसार के स्थिति-काल में आप अव्यक्त और व्यक्त (शबल) दोनों रूपों में हो जाते हैं। क्योंकि उस समय संसार दृश्यमान् होता है। भक्ति से सगुण रूप का साधन होता हैं और ज्ञान योग से निर्गुण रूप का। ये दोनों मार्ग यद्यपि अलग-अलग हैं तो भी आप तक पहुँचाने वाले अवश्य हैं। एक मार्ग निर्गुण द्वार तक पहुँच जाता है, जो पूर्व में है और दूसरा मार्ग सगुण द्वार से जा मिलता है जो पश्चिम की ओर है। परन्तु भीतर जाकर दोनों साधक एक ही स्थान पर पहुँच जाते हैं। यह सब कुछ ठीक है। परन्तु मैं यह पूछता हूँ कि इन दोनों प्रकार के साधकों में से अधिक चतुर कौन से साधक हैं। जो परिश्रम भी कम करते हैं और जिन्हें पथ-भ्रष्ट होने का भी डर नहीं होता, तथा आप के स्वरूप में मिल भी जरूर जाते हैं। हे भगवन्! संसार के कल्याण के लिये और मेरे पथ-प्रदर्शनार्थ इस प्रश्न का उत्तर देने की कृपा कीजिए ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

मयि+आवेश्य मनः+ये माम्+नित्य-युक्ताः+उपासते।
श्रद्धया परया+उपेताः+ते मे युक्ततमाः+मताः ॥

मयि=अस्मद् (सर्व०)+सप्त० ए० व०=मुझ में।

आवेश्य=आ√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना)+ल्यप्=प्रवेश करके। अनुरक्त करके। (लगा कर)। (समाधाय=समाधिस्थ करके) एकाग्र करके।

मनः=(नपुं०) मनस्+द्वितीo ए० व०=मन को।

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=जो।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्वितीo ए० व०=मुझ को।

नित्य-युक्ताः=(वि०) नित्यं युक्ताः=सदा जुड़े हुए। नित्य युक्त हुए। सदा मुझ में लीन हुए।

उपासते=उप√आस् (अदा० आत्म० अक० सक०)+लट्०, प्र० पु०, ब० व० उपासते हैं।

श्रद्धया=(स्त्री०) श्रत्√धा+अङ्-टाप्=श्रद्धा+तृती० ए० व०=श्रद्धा से। [श्रद्धा=एक प्रकार की मनोवृत्ति, जिस में किसी पूज्य के प्रति भक्तिपूर्वक विश्वास और पूज्यभाव उत्पन्न होता है।]

परया=(वि०, स्त्री०)√पृ+अप्=पर+टाप्=परा+तृती० ए० व०= परया=परा से। परम से। अतिशय श्रेष्ठ से।

उपेताः=(वि०) उप√इ+क्त=उपेत+(पुं०) प्र० ब० व०=युक्त हुए।

ते=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरे।

युक्ततमाः=(वि०)√युज्+क्त=युक्त+तम्=युक्तम+(पुं०) प्र० ब० व० =युक्ततमाः=सब से बढ़ कर (मुझ में) जुड़े हुए। युक्ततम।

मताः=(वि०)√मन्+क्त=मत+(पुं०) प्र० ब० व०=माने हुए हैं। माने गये हैं। मान्य है॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले—

जो मुझ में मन समाधिस्थ या एकाग्र करके, सदा मुझ में युक्त हुए, अत्यन्त श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए, मुझ को उपासते हैं। वे मेरे युक्ततम (सर्व श्रेष्ठ योग युक्त) माने जाते हैं॥ २॥

व्याख्या—जब सूर्य अस्त हो जाता है तो उसकी किरणें बादलों को रंग देती हैं और हमें उन रंगे हुए बादलों के रूप में आकाश पर बड़े बड़े सोने चाँदी और तांबे आदि के सुनहरी, रोपहली तथा लाल मूंगे के रंग के पहाड़ दिखाई देने लगते हैं। फिर रात को इसी सूर्य की किरणें मंगल, शुक्र, चन्द्र आदि ग्रहों और उपग्रहों पर पड़ कर उन्हें हमारे दृष्टिगोचर करती हैं इसी प्रकार अव्यक्त ब्रह्म स्वयं पर्दे में रह कर भी अपना रूप दूसरों में प्रकाश करता है। परन्तु जब शबल रूपधारी होता है तो सूर्यवत् हमें इन चर्म चक्षुओं से वह दिखाई देने लगता है और हम उसे राम, कृष्ण आदि अवतार कहते हैं जब वह चतुर्भुज सौम्य रूप होता है तो विष्णु कहलाता है तथा जब विश्व रूप धारण करके अर्जुन के सम्मुख हुआ तो विराट् भगवान् कहलाया। ये सब दृश्यमान् रूप 'सगुण-ब्रह्म' कहलाते हैं और उसका अव्यक्त रूप, निर्गुण ब्रह्म कहलाता है। इसलिये सगुण-उपासना और निर्गुण-उपासना में से चाहे कोई भी की जाए सोते-जागते और काम करते सदा उसमें चित्त युक्त रहना चाहिए अर्थात् प्रत्येक उपासना में निरन्तर मन समाधिस्थ या एकाग्र होना चाहिए। गोपियों की तरह लीनता रहनी चाहिए। जो गौएँ दोहते समय, धान कूटते समय, दही मथनकाल में, आंगन लीपते हुए, पालना झुलाती हुई, रोते बच्चों को चुप कराती हुई, जल छिड़कन काल में और मार्जन आदि कर्मों को करते समय प्रेम पूर्ण चित्त से आनन्दाश्रुओं से नेत्र छलकाकर गद्गद्वाणी से श्रीकृष्ण-गान किया करती थीं। सदा भगवान् कृष्ण में मन समाधिस्थ करने वाली वे व्रजवासिनी गोप रमणियां धन्य थीं। जैसा कि श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध अध्याय ४४ के श्लोक १५ में श्री शुकदेव जी कहते हैं—

"या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप—
प्रेङ्खेङ्खनार्भ-रुदितेक्षण-मार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥"

इस प्रकार जो पुरुष विश्व रूप परमेश्वर में मन को समाधिस्थ करके सर्व योगेश्वरों के अधीश्वर परमेश्वर की निरन्तर तत्पर रहते हुए पूरी श्रद्धा से युक्त हुए उपासना करते हैं वे श्रेष्ठतम योगी होते हैं। ऐसा भगवान् मानते हैं क्योंकि ये लोग लगातार परमेश्वर में चित्त लगाकर रात दिन चौबीस घण्टे व्यतीत करते हैं। अतः उनको युक्ततम कहना उचित ही है। उसी को परम योगयुक्त या श्रेष्ठ योगी समझना चाहिए। भगवान् ने अर्जुन से जो कुछ कहा। उसका अभिप्राय यह है कि सगुण और निर्गुण दोनों ही मेरे स्वरूप हैं। इनमें से अच्छा किसे कहा जाये और कम अच्छा किसे कहा जाए। इस सम्बन्ध में एक कहानी है जिसमें घटिया बढ़िया का निर्णय नहीं किया जा सकता। दर्शाया गया है। एक बार घर से तीन मील के मार्ग पर एक बनिये को उसी ग्राम के दो धूर्त मिल गये जो उस से बिगाड़ उत्पन्न करके उसे लूटना चाहते थे। उन दोनों ने सलाह करके बनिये से पूछा कि हम दोनों में से सुन्दर कौन है? बनिया सारी बात को भाँप गया और बोला कि तुम दोनों तो सूर्य चन्द्रमा तुल्य हो। इसी प्रकार कहते-कहते एक मील मार्ग तै कर लिया। फिर उन दोनों ने खड़े हो कर स्पष्ट निर्णय करने के लिये कहा तो फिर बनिया बोला कि भाई तुम दोनों तो राम और कृष्ण हो। यह बात कहते-कहते घर का अन्तर एक मील रह गया। तीसरा मील बनिये ने उनको लाड़ा दूल्हा कहते-कहते समाप्त कर लिया जिस से वे दोनों धूर्त उस पर पक्षपात का दोषारोपण करके उसे लूट न सके।

इसी सम्बन्ध में एक दो कथाएँ और भी श्रवण कीजिए—एक बार सम्राट् अकबर ने श्री सूरदास जी से पूछा कि कविता आप की अच्छी है या तुलसी दास जी की? सूरदास जी ने कहा—मेरी। अकबर से फिर पूछा तो फिर तुलसीदास की कविता कैसी है? सूर ने उत्तर दिया कि तुलसी दास जी की कविता या (रचना) कविता नहीं है। मन्त्र हैं। आप का प्रश्न तो कविता के बारे में था मन्त्रों के विषय में नहीं था।

एक बार महाकवि कालिदास जी ने देवी से पूछा कि मैं कवि श्रेष्ठ हूँ या कविदण्डी? देवी ने उत्तर दिया—"कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः।" तब कालिदास ने देवी से पूछा कि हे देवी! क्या मैं कवि नहीं हूँ? देवी ने उत्तर दिया कि आप तो सरस्वती का स्वरूप हो। प्रश्न तो कवि के विषय में था। इसी प्रकार अर्जुन का प्रश्न उपासना की अनुष्ठानविधि के

सम्बन्ध में है। सांख्ययोगी ज्ञानी महात्मा क्रियावान् नहीं होते हैं। वे तो ब्रह्म को जानने वाले ब्रह्मरूप ही होते हैं। सगुण ब्रह्म के उपासक भी अपने इष्ट के स्वरूप में बदल जाते हैं। इनमें से जिसकी करनी उत्तम होती है। वही युक्ततम हो जाता है। ईश्वर की कृपा हो तो दोनों मार्ग एक जैसे ही सुगम हैं और इनमें से किसी एक का अनुष्ठान करने से योगी या भक्त परब्रह्म परमेश्वर में मिल कर तद्रूप हो जाता है ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

ये तु+अक्षरम्+अनिर्देश्यम्+अव्यक्तम्+पर्युपासते। सर्वत्र-गम्+अचिन्त्यम्+च कूटस्थम्+अचलम्+ध्रुवम् ॥ ३ ॥

सन्नियम्य+इन्द्रिय-ग्रामम् सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति माम्+एव सर्व-भूत-हिते रताः ॥ ४ ॥

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (पुरुष)।

तु=(अव्यय) और। परन्तु।

अक्षरम्=(वि०)√क्षर्+अच् (नञ् तत्पु० नञ् बहुव्री०)=अक्षर+(नपुं०) द्विती० ए० व०=अक्षर को। अविनाशी को। अविनाशी (सच्चिदानन्द घन परब्रह्म) को।

अनिर्देश्यम्=(वि०, नपुं०) निर्√दिश् (तुदा० उभ० सक०=बतलाना)+दिश्+ण्यत् (शक्यार्थे) न० तत्पु०=अनिर्देश्य+द्विती० ए० व०=अनिर्देश्य को। जिस की परिभाषा का वर्णन न हो सके, उसको। अकथनीय को। अवर्णनीय को।

[अव्यक्तत्वाद् अशब्दगोचरम् इति न निर्देष्टुं शक्यते अतः अनिर्देश्यम्=जो अव्यक्त होने के कारण शब्द का विषय न होने से किसी प्रकार भी बतलाने के लिये शक्य नहीं है, इसलिये अनिर्देश्य है।]

अव्यक्तम्=(वि०) वि√अञ्ज्+क्त (नञ् तत्पु०, नञ् बहुव्री०)+(नपुं०) द्विती० ए० व०=अप्रत्यक्ष को। अप्रकट को। अव्यक्त को। निराकार को।

[न केन अपि प्रमाणेन व्यज्यते इति अव्यक्तम्=जो किसी भी प्रमाण से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, वह अव्यक्त कहलाता है।]

पर्युपासते=परि-उप√आस् (अदा० आत्म० सक० अक०)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=निरन्तर एकीभाव से उपासते हैं। सब प्रकार से उपासते हैं।

सर्वत्र-गम्=(पुं०) सर्वत्र गच्छति, सर्वत्र+√गम्+ड=सर्वत्रग+द्विती० ए० व०=सब जगह पहुँचने वाले को। सर्वत्र पहुँचे हुए को। सर्वव्यापी को। सर्वव्यापक को। आकाशवत् सर्वव्यापी को।

अचिन्त्यम्=(वि० पुं०)√चिन्त्+यत् (नञ् तत्पु०, नञ् बहुव्री०)=अचिन्त्य+द्विती० ए० व०=अचिन्त्य को। मन और बुद्धि से परे वाले को। कल्पनातीत को।

च=(अव्यय) और।

कूटस्थम्=(वि० पु०)√कूट्+अच्=कूट+स्थ=कूटस्थ+द्विती० ए० व० कूटस्थ को। शिखर पर बैठे हुए को। सर्वोच्च को। सदा एकरस रहने वाले को। माया में स्थित को। सुषिवत् कुछ न करते हुए को।

[श्री स्वामी शंकराचार्य जी ने इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

"दृश्यमानगुणम् अन्तर्दोषं वस्तु कूटं कूटरूपं कूटसाक्ष्यम् इत्यादौ कूटशब्दः प्रसिद्धो लोके। तथा च अविद्यादि अनेकसंसारबीजम् अन्तर्दोषवद् मायाव्याकृतादिशब्दवाच्यं "माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे० उ० ४।१०) "मम माया दुरत्यया" (गी० ७।१४) इत्यादौ प्रसिद्धं यत् तत् कूटम्। तस्मिन् कूटे स्थितं कूटस्थं तदध्यक्षतया।

अथवा राशिः इव स्थितं कूटस्थम्॥

अर्थ—जो वस्तु बाहर से गुणयुक्त प्रतीत होती हो, और भीतर दोषों से युक्त हो उसका नाम 'कूट' है। संसार में भी "कूटरूप", "कूटसाक्ष्य" इत्यादि प्रयोगों में "कूट" शब्द (इसी अर्थ में प्रसिद्ध है। वैसे ही जो अविद्यादि अनेक संसारों की बीज-भूत, अन्तर्दोषों से युक्त, माया (प्रकृति) "व्याकृत" आदि शब्दों द्वारा कही जाती है एवं—

"प्रकृति को तो 'माया' और महेश्वर को 'मायापति' समझना चाहिए (श्वे० उ० ४।१०)", "मेरी माया दुस्तर है (गी० ७।१४)", इत्यादि श्रुति-स्मृति के वचनों में जो माया नाम से प्रसिद्ध है, उसका नाम 'कूट' है। उस कूट (माया) में जो उसका अधिष्ठाता रूप से स्थित हो रहा हो, उसका नाम 'कूटस्थ' है।

अथवा—

राशि (ढेर) की भान्ति जो (कुछ भी क्रिया न करता हुआ) स्थित हो उसका नाम 'कूटस्थ' है॥]

अचलम्=(वि०)√चल्+अच् (नञ् तत्पु०, नञ् बहुव्री०)+(पुं०) द्विती० ए० व०=अचल को। स्थिर को। सदा रहने वाले को।

ध्रुवम्=(वि० पुं०)√ध्रु+अच् वा क=ध्रुव+द्विती० ए० व०=ध्रुव को। सदा एक ही अवस्था में रहने वाले को। अटल को। (३)

सन्नियम्य=सम्-नि√यम्+ल्यप्=अच्छी तरह वश में करके। अच्छी तरह रोक कर। [सम्यग् नियम्य (संहृत्य)]

इन्द्रिय-ग्रामम्=(पुं०) इन्द्रियाणां ग्रामम् (समुदायम्)=इन्द्रियों के समूह को। [√ग्रस्+मन्, आदन्तादेश:=ग्राम (पुं०)+द्विती० ए० व०]

सर्वत्र=(अव्यय) [सर्वस्मिन् काले] सर्व+त्रल्=सर्वत्र। सब में।

सम-बुद्धय:=(वि०, पुं०) समा (तुल्या) बुद्धि: यस्य=समबुद्धि+प्र० ब० व० (बहुव्री०)=सम-बुद्धि वाले। समान भाव वाले (योगी लोग)।

ते=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=वे।

प्राप्नुवन्ति=प्र√आप् (स्वा० पर० सक०=प्राप्त होना)+लट्० प्र० पु०, ब० व०=प्राप्त होते हैं।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को।

एव=(अव्यय) ही।

सर्व-भूत-हिते-रता:=(पुं०) सर्वेषां भूतानां हिते रता: (षष्ठी० तत्पु०) प्र० ब० व०=सब भूतों (प्राणियों) के हित में लगे हुए॥

अर्थ—और जो सर्वत्र सम बुद्धि वाले लोग सब भूतों के हित करने में लगे हुए, इन्द्रियों के समूह को अच्छी तरह से रोक कर, अक्षर, अकथनीय, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और अटल (परमेश्वर) को उपासते हैं। वे मुझ को ही प्राप्त होते हैं॥ ३, ४॥

व्याख्या—संसार में परमेश्वर से मिलकर जन्म-मरण से मुक्त हो जाने वाले दो प्रकार के लोग होते हैं। १. ब्रह्मज्ञानी या निर्गुण ब्रह्म के उपासक। जिन को भगवान् ने—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गी० ७।१८) अर्थात् ज्ञानी को तो मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ। कहा है।

सगुण ब्रह्म के उपासक भक्त, जिन की प्रशंसा इस अध्याय में की गई है। ये भक्त लोग अक्षर, ब्रह्म को अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रग, अचिन्त्य, कूटस्थ अचल और ध्रुव तो अच्छी तरह से समझते हैं। परन्तु परमेश्वर के मूर्तिमान् होकर सामने आने के बिना इन की तृप्ति ही नहीं होती है ये उस मूर्तिमान् हरि को जो कि इन की इच्छा, प्यार और सत्कार के वशीभूत हो कर इन के दृष्टिगोचर होता है। तब वे माता पिता, भाई बन्धु आदि समझ कर उस से प्यार करते हैं। उसकी पूजा अर्चा करते हैं तथा उस के प्रेम में तल्लीन होकर उसी का रूप धारण कर लेते हैं। अन्त में उसके अव्यक्त अचिन्त्य, अक्षर, अनिर्देश्य, सर्वत्रग, कूटस्थ, अचल और ध्रुव रूप में मिलकर वैसे ही हो जाते

हैं। परन्तु ब्रह्म ज्ञानी या निर्गुण ब्रह्म के उपासक लोग ब्रह्म के स्वरूप को चर्मचक्षुओं से कभी देखते ही नहीं हैं। देखें भी कैसे ? जबकि वह अक्षर ब्रह्म अव्यक्त है अर्थात् इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि की पहुंच से अतीत है। फिर वह अक्षर अनिर्देश्य है अर्थात् किसी प्रकार के शब्द द्वारा कथन नहीं किया जा सकता कथन भी कैसे किया जा सके, जबकि वह अव्यक्त है। कथन तो उस वस्तु का किया जा सकता है जो जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध इन चार धर्मों से युक्त हो। परन्तु अक्षर ब्रह्म में तो इन चारों धर्मों में से कोई भी विद्यमान नहीं है। ब्राह्मण, सिंह, मक्खी आदि जीव-जातियाँ है। इन के नाम अपने-अपने अर्थ में प्रवृत होते हैं। नीला, पीला आदि गुण हैं। पढ़ाई लिखाई आदि क्रियाएँ हैं। पिता, पुत्र, कलत्र आदि सम्बन्ध वाचक शब्द हैं। परन्तु अक्षर ब्रह्म की न कोई जाति या श्रेणी है न कोई रंग या रूप है न वह कोई क्रिया ही करता है, और न उस का किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध है इसी से वह अनिर्देश्य या अकथनीय है। फिर वह अक्षर-ब्रह्म सर्वत्रग या सर्वव्यापी है कोई स्थान उस से शून्य या खाली नहीं है। नैयायिक विद्वान् लोग काल, दिशा और आकाश इन तीनों को उक्त चारों गुणों से रहित मानते हैं और इन का स्वरूप अक्षर ब्रह्म जैसा बतलाते हैं परन्तु वह उन की भूल है क्योंकि "आत्मन-आकाश संभूत:" अर्थात् आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार आकाश की तरह दिशा और काल की भी उत्पत्ति होती है और महा-प्रलय काल में इन तीनों में से एक भी शेष नहीं रहता। परन्तु अक्षर ब्रह्म सदैव अचल और ध्रुव है। वह न ही चलता है और न ही नष्ट होता है। श्रुति में कहा है—

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह-इति"

अर्थात् मन सहित वाणी जिस अक्षर ब्रह्म को न पाकर वापस लौट जाती है॥

वह अक्षर ब्रह्म कूटस्थ है अर्थात् मायापति है। माया झूठी है परन्तु प्रतीत सच्ची होती है। वह अक्षर ब्रह्म ही सत्य है जो इस माया में स्थित है जिस की सत्ता से ही सारे कार्य सम्पन्न होते हैं। परन्तु वह परमेश्वर ढेर या राशि की भान्ति कुछ भी क्रिया न करता हुआ अचल रूप में सदा स्थित रहता है। वह प्रभु सर्वोच्च और महानतम् है। सदा एक रस रहता है। निर्विकार है। अचल होने से ही वह अक्षर ब्रह्म ध्रुव है। अटल है। अनादि काल से है। सदैव रहेगा।

इस प्रकार के अक्षर शुद्ध ब्रह्म मुक्त परमेश्वर को ज्ञानवान् लोग चिन्तन करते हैं तथा विषय भोगों की वासनाओं को अच्छी तरह से रोक कर प्राणी मात्र के हित में रत रहते हैं। एवं हर्ष विषाद, इच्छा, द्वेष आदि से रहित होकर

सर्वत्र सब को अक्षर ब्रह्ममय जान कर समबुद्धि या समदृष्टि हो जाते हैं। वे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मस्वरूप होकर मुझ को ही प्राप्त होते हैं। ये लोग अपने साधनाकाल में—

"अभयं सर्वं भूतेभ्यो मत्तः स्वाहा" इस मन्त्र द्वारा अभय दान देते हैं और "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" अर्थात् यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। यह श्रुति उस पर अक्षरशः पूरी तरह से लागू हो जाती है। इस लिए वास्तव में ब्रह्म-ज्ञानी और अनन्य भक्त अपने-अपने मार्गों पर चलकर युक्तम उपाधि के भागी बन जाते हैं॥

इस श्लोक पर महात्मा ज्ञानेश्वर जी के विचार इस प्रकार हैं—

"हे अर्जुन! जो और दूसरे लोग आत्म साक्षात्कार प्राप्त करते हैं, वे निर्गुण अविनाशी तत्त्व को देखते हैं। जिसके पास तक मन पहुँच ही नहीं सकता है और जिस में बुद्धि की किरण का प्रवेश भी नहीं हो सकता है, उस का साधन भला इन्द्रियों से कैसे हो सकता है? केवल यही नहीं वह तो ध्यान को भी प्राप्त नहीं होता और इसी लिए वह किसी एक स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता और न किसी आकार में ही हो सकता है जो सभी स्थानों पर, सभी भावों में और सभी कालों में रहता है। परन्तु जिसकी कल्पना करते-करते चिन्तन शक्ति भी चिन्तित होने लगती है तथा जिस के सम्बन्ध में न तो यही कहा जा सकता है कि यह है और न यही कहा जा सकता है कि यह नहीं है और इसी लिए उसकी साधना करने में कोई उपाय नहीं चलता। वह न चलता है और न हिलता है। न कभी समाप्त होता है और न कभी दूषित होता है॥ ३, ४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

क्लेशः+अधिकतरः+तेषाम्+अव्यक्त+आसक्त-चेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिः+दुःखम्+देहवद्भिः+अवाप्यते॥

क्लेशः=(पुं०)√क्लिश् (दिवा० आत्म० अक०=पीड़ित होना)+घञ्=क्लेश+प्र० ए० व०=क्लेश। पीड़ा। कष्ट। झंझट। परिश्रम।

अधिकतरः=(वि०) अधि+क=अधिक+तर=अधिकतर+(पुं०) प्र० ए० व०=बहुत जियादा। बहुत अधिक। अधिकतर। (होता है।)

तेषाम्=तद् (सर्व)+(पुं०) षष्ठी० ब० व०=उन के।

अव्यक्त+आसक्त-चेतसाम्=(वि० पुं०) अव्यक्ते आसक्तं चेतो येषां ते अव्यक्तासक्तचेतसः तेषाम् (अव्यक्तासक्तचेतसाम्) [बहुव्री०]=अव्यक्त में आसक्त चित्त वालों के। [आसक्त=आ√सञ्ज्+क्त=अनुरक्त लीन] सच्चिदानन्द घन निराकार ब्रह्म में आसक्त हुए चित्त वालों के। [साधन में]

अव्यक्ता=(वि० स्त्री०) वि√अञ्ज्+क्त (नञ् तत्पु०)=अव्यक्त+आ= अव्यक्ता। अक्षरात्मिका। अप्रत्यक्ष। अप्रकट। अव्यक्त विषयक।
हि=(अव्यय) क्योंकि।
गतिः=(स्त्री०)√गम्+क्तिन्=गति+प्र० ए० व०=गतिः=मार्ग। गति। प्राप्ति। उपाय। यात्रा।
दुःखम्=(नपुं०)√दुःख्+अच् वा घञ्=दुःख+द्वितीय० ए० व०=दुःख से। कष्ट से। कठिनता से।
देहवद्भिः=(पुं०)√दिह्+घञ्=देह+मतुप् वत्व, (वत्—मतुप् प्रत्यय से पूर्व शब्द के अन्त में 'अ' या 'आ' हो तो 'म्' को 'व्' हो जाता है)= देहवत्+तृती० बहु० व०=देहवद्भिः=देहधारियों द्वारा। देहाभि-मानियों से।
अवाप्यते=अव√आप् (चुरा० स्वा० पर० सक०=प्राप्त करना। पाना)+ लट्० (कर्मवाच्य)+प्र० पु०, ए० व०=प्राप्त की जाती है। पाई जाती है॥

अर्थ—उन अव्यक्त (अक्षर परब्रह्म) में आसक्त (अनुरक्त या लीन) चित्त वालों को (साधन में, साकार उपासकों की अपेक्षा) क्लेश (कठिनाई या परिश्रम) अधिकतर होता है। क्योंकि देह-धारियों द्वारा अव्यक्त-गति (अव्यक्त उपासना का मार्ग या सृति) दुःख (कठिनाई) से प्राप्त की जाती है॥ ५॥

व्याख्या—हे अर्जुन! निर्गुण या अव्यक्त ब्रह्म का तत्त्व अत्यन्त गहन है जैसा कि इस श्रुति में कहा है—श्रुति, "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत कवयो वदन्ति।" यह अव्यक्त उपासना का मार्ग उस्तरे (क्षुरे) की धार के समान अत्यन्त तीक्ष्ण और दुर्गम है। इस प्रकार ज्ञानी विद्वान् लोग कहते हैं। अध्याय ७ श्लोक ३ में मैं ने स्वयं कहा है—

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥"

अर्थात् हजारों मनुष्यों में कोई एक ही (अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति रूप) सिद्धि के लिये यत्न करता है और उन यत्न करने वाले सिद्धों (साधन-सम्पन्न पुरुषों) में भी कोई एक ही मुझे तत्त्व से जानता है॥"

जिसकी बुद्धि शुद्ध, स्थिर और सूक्ष्म होती है और जिसका शरीर में स्नेह तथा अभिमान नहीं होता, वही अक्षर अव्यक्त ब्रह्म को समझ सकता है। साधारण मनुष्यों की समझ में यह नहीं आता। इसलिये निर्गुण उपासना के साधन के आरम्भ काल में परिश्रम अधिक होता है। वैसे तो इस श्रुति के अनुसार "सा काष्ठा सा परा गतिः" अर्थात् वह निर्गुण ब्रह्म ही सब का

अन्तिम् अवधि रूप है तथा परागति रूप है। वह निर्गुण ब्रह्म नेत्रादि इन्द्रियों का विषय तो है ही नहीं। इस से वह अव्यक्त कहलाता है। यद्यपि सगुण ब्रह्म के उपासकों और निर्गुण ब्रह्मवेत्ता दोनों को अन्त में एक ही फल मोक्ष की प्राप्ति होता है तथापि उस फल को जो पुरुष दुष्कर उपाय से प्राप्त करता है उसकी अपेक्षा सुगम उपाय से उसी फल को पा लेने वाला पुरुष अधिक श्रेष्ठ कहा जाता है। आज कल मशीनों का युग है मशीनों के द्वारा सम्पूर्ण कार्य शीघ्र सुगम और सुचारु रूप से सम्पन्न हो जाता है। परन्तु वही कार्य बिना युक्त-साधनों के दुर्गम और कठिन होता है। भगवान् का सगुण रूप भी मशीन के तुल्य है अथवा विमान, पोत या मोटर के समान है जिस प्रकार इन साधनों के द्वारा नभ, समुद्र और स्थल में सुगमता से भ्रमण किया जा सकता है। परन्तु इन साधनों अथवा इन जैसे अन्य साधनों के विना यह कार्य सुगमता से नहीं किया जा सकता। यद्यपि योगी लोग योग बल से उड़ कर सब स्थानों पर चले जाते हैं और सारा ब्रह्माण्ड उनके अन्तःकरण में प्रकट होता है। कोई बात उनकी दृष्टि से ओझल या परोक्ष नहीं होती। परन्तु यह अवस्था सिद्धाऽवस्था में ही प्राप्त होती है और ब्रह्म का रूप बन जाने से होती है। हे अर्जुन! तेरा प्रश्न इन दोनों मार्गों के सम्बन्ध में है जबकि अनन्य-भक्त और अक्षर अव्यक्त उपासक दोनों मार्गों में ही होते हैं और अपने सांझे अन्तिम लक्ष्य से अभी बहुत दूर होते हैं। यद्यपि निर्गुण ब्रह्मवेत्ता पुरुष सीधा निराकार ब्रह्म में मिल जाता है और सगुण का उपासक या अनन्य भक्त अपने इष्ट सगुण ब्रह्म में मिलने के बाद निराकार ब्रह्म का रूप धारण करता है। परन्तु यह कोई विशेष बात नहीं है क्योंकि वास्तव में सगुण ब्रह्म भी निर्गुण ब्रह्म का ही रूप होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि एक तो अपने भक्तों को दिखाई देता है दूसरा किसी को भी दिखाई नहीं देता॥

ब्रह्मवेत्ता पुरुष की बड़ी कठिनाई यह है कि देह की ममता त्याग कर उसको जनक की तरह विदेह बनना पड़ता है। जो साधारण देहधारियों के लिये अत्यन्त कठिन कार्य होता है बल्कि सच तो यह है कि देह की ममता का त्याग साधारण-बुद्धि वाले पुरुषों के लिए असम्भव है और इस कारण से उनको अव्यक्त की उपासना का मार्ग अत्यन्त कष्टसाध्य और दुर्गम होता है। सगुण उपासना में भी देह-गेह की ममता का त्याग तो करना ही होता है परन्तु भगवान् की मधुर मनोहर मूर्ति का प्यार इस कमी को पूरा कर देता है और दुष्ट मोह-माया सात्विक प्रेम में परिवर्तित हो जाती है जिस से मेरे अनन्य भक्त का मार्ग अत्यन्त सुगम और सुखद हो जाता है। इसी से लोग उसे युक्ततम कहते हैं॥ ५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्+पराः । अनन्येन+एव योगेन माम्+ध्यायन्तः+उपासते ॥ ६ ॥

तेषाम्+अहम्+समुद्धर्ता मृत्यु-संसार-सागरात् । भवामि न-चिरात् +पार्थ ! मयि+आवेशित-चेतसाम् ॥ ७ ॥

ये=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ब० व०=जो । (पुरुष—लोग)

तु=(अव्यय) परन्तु । और ।

सर्वाणि=(वि० सर्व०) सर्व+(नपुं०) द्विती० ब० व०=सब को ।

कर्माणि=(नपुं०) कर्म+द्विती० ब० व०=कर्मों को ।

मयि=अस्मद् (सर्व०)+सप्त० ए० व०=मुझ में ।

संन्यस्य=सम्+नि√अस्+ल्यप्=अर्पण करके । सौंप कर । फैंक कर । छोड़ कर ।

मत्-पराः=(वि० पुं०) अहं परो येषां ते (बहुव्री०) प्र० ब० व०=मैं ही जिन की परमगति हूँ वे मेरे सगुण रूप के उपासक । मेरे परायण हुए (भक्त जन) ।

(मत्=अस्मद्+पंच० ए० व० ।)

अनन्येन=(वि०) [नञ् बहुव्री०, नञ् तत्पु०]

अनन्य+(पुं०) तृती० ए० व०=अन्य से सम्बन्ध न रखने वाले से । अद्वितीय से । अनन्य से । अविद्यमानम् अनयद् आलम्बनं विश्व रूपं देवम् आत्मानं मुक्त्वा यस्य सः=विश्वरूपं परमात्मा को छोड़ कर जिस में अन्य अवलम्ब नहीं ।

एव=(अव्यय) ही ।

योगेन=(पुं०)√यज्+घञ्=योग+तृती० ए० व०=योग से । ध्यान योग से । समाधि योग से ।

माम्=अस्मद् (सर्व०)+द्विती० ए० व०=मुझ को । मुझ (कृष्ण रूप परमेश्वर) को ।

ध्यायन्तः=√ध्यै (भ्वा० पर० सक०=ध्यान करना)+शतृ=ध्यायत्+(पुं०) प्र० ब० व०=ध्याते हुए । ध्यान करते हुए । चिन्तन करते हुए ।

उपासते=उप√आस (अदा० आत्म० सक० अक०)+लट्० प्र० पु०, ब०

व०=उपासते हैं। उपासना करते हैं। सेवा करते हैं। पूजन करते हैं। भजते हैं ॥ ६ ॥

तेषाम्=तद् (सर्व०) 'पु०' षष्ठी० ब० व०=उनका ।

अहम्=अस्मद् (सर्व०) प्र० ए० व०=मैं ।

समुद्धर्ता वि० पुं०) सम्, उद्√हृ+तृच्=समुद्धर्तृ+प्र० ए० व० =उद्धार करने वाला।

मृत्यु-संसार-सागरात्=(पुं०) मृत्युयुक्तः संसारो मृत्युसंसारः स एव सागर इव सागरो दुस्तरत्वात् तस्माद् मृत्युसंसार-सागरात्=(कर्म धारय०, पंच० ए० व०)=मृत्युयुक्त संसार का नाम "मृत्यु संसार" है। वही पार उतारने में कठिन होने के कारण सागर की तरह सागर है। मृत्यु रूप संसार समुद्र से।

भवामि=√भव+लट्० उ० पु०, ए० व०=होता हूँ।

न-चिरात्=न (अव्यय) न, नहीं।

चिर (√चि+रक्)+(पुं०) पंच० ए० व०=चिरात्=देर से। देर से नहीं (अर्थात् शीघ्र ही ।)

पार्थ !=हे पृथा-(कुन्ती-) पुत्र अर्जुन ! (पुं० सम्बो० ए० व०)।

मयि=अस्मद्+सप्त० ए० व०=मुझ में ।

आवेशित-चेतसाम्=(वि०) आवेशितं (समाहितं-प्रवेशितं) चेतो येषां (बहुव्री०) ते आवेशितचेतः, तेषाम्=(मुझ में) अपना चित्त समाहित कर दिया है। जिन्होंने 'आवेशितचित्' कहलाते हैं उनका (मुझ में) लगाए हुए चित्त वालों का ।

अर्थ—और जो मेरे परायण हुए सारे कर्मों को मुझ में समर्पण करके, अनन्य योग से मुझ को ही ध्याते हुए उपासते हैं ॥ ६ ॥ हे पार्थ ! उन मुझ में लगाए हुए चित्त वालों का मैं जल्दी ही मृत्युरूप संसार-सागर से उद्धार (पार उतारा) करने वाला होता हूँ ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! तू पृथा पुत्र है अर्थात् अपनी भक्त माता के प्रभु-भक्ति रूपी संस्कारों से युक्त है। तुझ को भक्ति रूपी सुधा माता के दूध के साथ ही पान करने का अवसर मिला है। इस लिए तुम मेरे सगुण रूप की उपासना को समझने के लिए पूरी तरह से योग्य हो। सगुण उपासना में भक्त को सदा मेरे परायण रहना पड़ता है अर्थात् मुझ को ही परम गति मानना होता है। उसे मेरे बिना और कोई अन्तिम लक्ष्य दृष्टिगोचर ही नहीं होता। ऐसा मेरा अनन्य भक्त अपना कोई कार्य अपने लिए नहीं करता। प्रत्येक कार्य मेरे निमित्त ही करता है और अपने आयु-भर किए हुए कार्य मेरे अर्पण कर देता है। उसे

सब कामों को करता हुआ केवल मेरा हाथ ही दिखाई देता है। जिस प्रकार सूर्य के निकलने में, वर्षा के बरसने में तथा सम्पूर्ण संसार के उत्पन्न होने में उसे अपने इष्टदेव सगुण ब्रह्म का हाथ दिखाई देता है उसी प्रकार अपने सारे कर्म उसी के द्वारा सम्पन्न होते हुए दिखाई देते हैं। जब उन कर्मों का कर्ता ही वह अपने को नहीं मानता है तो फिर वह उन कर्मों के फल की इच्छा ही कैसे कर सकता है? ऐसे अनन्य भक्त का मेरे ध्यान में लीन होना तेल धारा की भान्ति निरन्तर होता है। मेरे बिना उसे और कुछ दीखता और सूझता ही नहीं है। धरती पर, आकाश पर, घर के भीतर, घर के बाहर सब जगह मैं ही उसके दृष्टिगोचर रहता हूँ। मेरा विग्रह उसे सदा सुन्दर और प्रेमभरा दिखाई देता है। मेरी अपनी मधुर मुस्कान से उसके चित्त में निरन्तर अमृत का संचार होता रहता है। इसी प्रकार सगणोपासक निरन्तर मेरी उपासना करते रहते हैं। मस्ती में मेरे नाम की रट लगाते हैं मेरा भजन और मेरी पूजा अर्चा करते हैं और जिस प्रकार मेघों को देख कर मोर नाच उठता है। इसी प्रकार मुझ को देख कर इन का तन और मन नाचने लगता है।

हे अर्जुन! यह मृत्युमय संसार विकराल सागर के तुल्य है जिसे सब को तैरना पड़ता है बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो इस मृत्यु रूप संसार सागर से पार होकर ब्रह्म रूप को प्राप्त होते हैं क्योंकि अधिक संख्या उन जीवों की है जो बीच में ही डूब जाते हैं। ऐसा होने पर भी मैं अपने सगुणोपासक उन अनन्य भक्तों का इस मृत्युरूप संसार सागर से उद्धार करता हूँ जो सदा मत्परायण, सर्वकर्मों को मुझे अर्पण करने वाले अनन्ययोग से मेरी उपासना करते हैं। मैं इन भक्तों का पार उतारा करने में थोड़ी देर नहीं लगाता हूँ ॥ ६, ७ ॥

मय्येव मन आधित्स्व मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय ॥ ८ ॥

मयि+एव मनः+आधित्स्व मयि बुद्धि निवेशय। निवसिष्यसि मयि+एव अतः+ऊर्ध्वम् न संशयः ॥

मयि=अस्मद् (सर्व०)+सप्त० ए० व०=मुझ में।

एव=(अव्यय) ही।

मनः=मनस् (नपुं०)+द्वितीο ए० व०=मन को।

आधित्स्व=आ√धा (जहो० उभ० सक०=रखना, स्थापित करना, लगाना) +लोट्० म० पु० ए० व=(तू) स्थापित कर। लगा। स्थिर कर।

मयि=मुझ में (ही)।

बुद्धिम्=(स्त्री०)√बुध्+क्तिन्=बुद्धि+द्विती० ए० व०=(निश्चय करने वाली) बुद्धि को।

निवेशय=नि√विश् (तुदा० पर० सक०=प्रवेश करना)+निच्+लोट् म० पु० ए० व०=(तू) प्रविष्ट कर। लगा।

निवसिष्यसि=नि√वस् (भ्वा० पर० अक०=बसना+लृट्० म० पु० ए० व० =निवास करेगा।

मयि=मुझ में।

एव=ही।

अत:=अतस् (अव्यय) [इदम्+तसिल्)=इस से। इसके।

ऊर्ध्वम्=(वि०) उद्√हा+उ, पृषो० ऊर् आदेश=ऊर्ध्व+(नपुं०) प्र० ए० व०=ऊर्ध्वम् (अव्यय रूप)=पश्चात्। उपरान्त। अनन्तर।

न=(अव्यय) न। नहीं।

संशय:=(पुं०) सम्√शी (अदा० आत्म० अक०=लेटना, पड़ना, सोना)+ अच्=संशय+प्र० ए० व=शक। सन्देह। दुविधा। संशय।

अर्थ—(तू) मुझ में ही मन को स्थापित कर, मुझ में (ही) बुद्धि को स्थिर कर। इसके पश्चात् (फिर तू) [मर कर] मुझ में निवास करेगा, (इसमें कुछ भी) सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे पार्थ! तूने मेरी प्रतिज्ञा तो सुन ही ली है, कि मैं अपने भक्त को शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार सागर से पार कर देता हूँ अर्थात् अपने स्वरूप में मिला लेता हूँ। जिस से फिर कभी उसका जन्म-मरण नहीं होता। इस बात को अच्छी तरह समझ लो और सफल होने के लिए तू मुझ विश्वरूप ईश्वर में ही अपने मन को स्थिर कर समुद्र की तरंगों की तरह इसमें उठ रहे संकल्प-विकल्पों को शान्त कर दे जो कि विषय-वासना, तृष्णा और इच्छाओं की झंझा वात के कारण उठ कर विकराल रूप धारण कर सकते हैं और मृत्यु रूपी संसार सागर की मंझदार में ले जाकर डुबो देते हैं। तेरी बुद्धि नावक के तुल्य है। इसको मेरे स्वरूप के प्रेम में स्थिर कर दे जिस से यह तेरे मन को सदा मुझ में स्थित रखे तुझे मेरे स्वरूप के तट तक पहुँचाने में सहायता कर सके। तू अपने जीवन काल में मेरे दर्शनों के अमृत से तृप्त होता रहेगा और मेरे सामीप्य से दु:ख द्वन्द्वों से रहित रहेगा तथा देह-पतन के उपरान्त मेरे स्वरूप में मेरा रूप होकर सदा निवास करेगा। मेरी कही हुई यह बात सौ प्रतिशत ठीक है। इसमें तू थोड़ा भी संशय न कर ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अथ चित्तम्+समाधातुम्+न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यास-योगेन ततः+माम्+इच्छ+आप्तुम्+धनंजय! ॥

अथ=(अव्यय) यदि ।

चित्तम्=(नपुं०)√चित्+क्त=चित्त+द्विती० ए० व०+चित्त को । मन को ।

समाधातुम्=सम-आ√धा+तुमुन्=एकाग्र करने के लिए । स्थापन करने के लिए ।

न=(अव्यय) न । नहीं ।

शक्नोषि=√शक् (स्वा० पर० अक०=समर्थ होना)+लट् म० पु०, ए० व० =समर्थ है ।

मयि=अस्मद् (सर्व)+सप्त ए० व०=मुझ में ।

स्थिरम्=(त्रि०)√स्था+किरच्=स्थिर+(नपुं०) द्विती० ए० व०=स्थिरम् =अचल । स्थिर । सदैव रहने वाला ।

अभ्यास-योगेन=(पुं०) अभ्यासस्य योगेन (षष्ठी० तत्पु०) अथवा अभ्यासेन योगे (षष्ठी० तत्पु०)=अभ्यास रूप योग से ।

[चित्तस्य एकस्मिन् आलम्बेन सर्वतः समाहृत्य पुनः पुनः स्थापनम् अभ्यासः तत्पूर्वको योगः समाधानलक्षणः तेन अभ्यास योगेन—(श्री स्वामी शंकराचार्य) अर्थ-चित्त को सब ओर से खींच कर बार-बार एक अवलम्बन में लगाने का नाम अभ्यास है; उससे युक्त जो समाधान रूप योग है, ऐसे अभ्यास योग के द्वारा] ।

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्=तब । फिर । तो ।

माम्=(सर्व०) अस्मद्+द्विती० ए० व०=मुझ को ।

इच्छ=√इष् (तुदा० पर० सक०=इच्छा करना)+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) इच्छा कर ।

आप्तुम्=√आप्+तुमुन्=प्राप्त होने के लिए ।

धनंजय !=(सम्बो० ए० व०) हे धनंजय । हे धन को पाने वाले (अर्जुन) !

अर्थ—हे धनंजय ! यदि (तू) चित्त को मुझ में अचल स्थापन करने के लिए समर्थ नहीं है तो अभ्यास रूप योग द्वारा मुझ को प्राप्त करने की इच्छा कर ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन तू शूरवीर है । अपने बाहु बल से अनेक राजाओं को जीत कर धन लाने वाला है । अब शत्रु मन को जीत कर तत्त्वज्ञान रूप धन को हर लेगा और चित्त को मुझ में स्थापन करने में भी समर्थ है । परन्तु फिर भी तू यदि अपने चित्त को मुझ में सुदृढ़ रूप से लगा नहीं सकता तो प्रतिदिन निरन्तर अभ्यास के द्वारा मुझ में चित्त को लगाने की इच्छा किया

कर। मैं सबके हृदयों की जानने वाला हूँ। जिससे मैं तुम्हारी इस शुभ इच्छा को सफल कर दूंगा। अभ्यास की महिमा सर्वसाधारण को भली भान्ति विदित है जैसा कि किसी कवि ने कहा है—

करत करत अभ्यास के मूर्ख होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल परत निसान ॥

अर्थात् अभ्यास करते-करते मूर्ख भी चतुर बन जाता है जैसे कूएँ में से बार-बार पानी निकालने से कूएँ की दीवार के पत्थरों में बार-बार रस्सी के आने-जाने से गहरे चिन्ह बन जाते हैं। एकलव अभ्यास के बल से अर्जुन के तुल्य धनुर्विद्या में प्रवीण हो गया था। बार-बार अभ्यास करने से नट लोग पाँवों में सींग बाँध कर कई घड़े सिर पर उठाए हुए पतली रस्सी पर चलने लगते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अभ्यास के द्वारा प्राप्त न हो सकती हो। कई लोग अभ्यास के बल से सिंहों, साँपों, रीछों, बन्दरों और हाथियों से खेलते हैं। मृत्यु कूप में मोटर साईकल चलाते हैं। आकाश से पैराशूटों द्वारा पृथिवी पर उतरते हैं।

राकेटों में जाकर गगनमण्डल में तैरते हैं और चन्द्रमण्डल पर उतर कर भ्रमण करते हैं। मोती, स्पंज निकालने वाले विकराल जलराशि युक्त गहरे समुद्रों में पैठ कर अपने कार्य करते हैं। इसलिए अभ्यास से कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं है। अतः हे साहसी धनंजय! तू भी अब योग (मेल) द्वारा मुझ को प्राप्त करने का प्रयास सदा किया कर। निरन्तर ऐसा करने से अवश्यमेव तेरा चित्त मेरे स्वरूप में स्थिर हो जायेगा। तू सदा मेरे नाम रूप, गुण और लीला आदि को सुनने समझने और स्मरण करने में लगा रह। निरन्तर ऐसा करने से तेरा मन विषयों से उपरत होकर मुझ में युक्त हो जायेगा। यह कार्य प्रेम पूर्ण इच्छा से किया जाना चाहिए। न कि मजबूरी और हठ से अश्रद्धा पूर्वक। मेरा स्वरूप अपार प्रकाश का पुंज है जिसके देखने का अभ्यास प्रातः काल आँखें बन्द करके सूर्य के निकलने के सन्मुख बैठ कर करना चाहिए। प्रभुयशकीर्तन, दत्तचित्त हो कर, श्रवण करना चाहिए। संध्यावन्दनादि धार्मिक कृत्य करने से मुझ प्रभु के चरणों में मन जोड़ने का अभ्यास हो जाता है। सारांश यह है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए और मुझ सगुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अभ्यासे+अपि+असमर्थः+असि मत्+कर्म-परमः+भव। मत्+अर्थम्+अपि कर्माणि कुर्वन् +सिद्धिम्+अवाप्स्यसि ॥

अभ्यासे=(पुं०) अभि√अस् (दिवा० पर० सक०=फेंकना)+घञ्=अभ्यास +सप्त० ए० व०=अभ्यास में। बार-बार ध्यान लगाने की क्रिया में।

अपि=(अव्यय) भी।

असमर्थ:=(वि०) न समर्थ: (नञ् तत्पु०) (पुं०) प्र० ए० व०=अशक्त। असमर्थ।

असि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० म० पु०, ए० व०= (तू) है।

मत्+कर्म-परम:=मदर्थ कर्म का नाम 'मत्कर्म' है उस में तत्पर=मत्कर्मपरम +(पुं०) प्र० ए० व०=मेरे लिए कर्म करने वाला ['मत्' अस्मद् (सर्व०) शब्द को मेरा (मम, मे) अर्थ में मदादेश हो जाता है*।]

भव=√भू+लोट्० म० पु०, ए० व०=(तू) हो।

मत्+अर्थम्=मेरे निमित्त। मेरे लिए।

***टिप्पणी**—स्वार्थ को छोड़ कर और परमात्मा को परम-आश्रय तथा परम-गति मान कर निष्काम-भाव से मन, वाणी और शरीर द्वारा परमात्मा के ही लिए यज्ञ, दान, व्रत, तप आदि सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों के करने का नाम "भगवान् निमित्त कर्म करने के परायण" होना है।

[परम=(वि०) परम् उत्कृष्टं माति,√मा+क=परम=सब से उत्कृष्ट। हद दर्जे का। मेरे लिए कर्म करने में सर्व से उत्कृष्ट।]

कर्माणि=(नपुं०) कर्मन् (√कृ+मनिन)+द्विती० ब० व=कर्मों को।

कुर्वन्=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+शतृ=कुर्वत्+(पुं०) प्र० ए० व०=करता हुआ।

सिद्धिम्=(स्त्री०)√सिध्+क्तिन्=सिद्धि+द्विती० ए० व०=सिद्धि को।

अवाप्स्यसि=अव√आप् (चुरा० स्व० पर० सक०=प्राप्त करना। पाना)+ लृट्० म० पु०, ए० व०=प्राप्त होगा॥

अर्थ—(यदि तू पहले श्लोक में कहे हुए) अभ्यास करने में भी असमर्थ है। (तो) मेरे (ही) निमित्त कर्मों को करने वाला हो। (जिस से तू) मेरे लिए कर्मों को करता हुआ भी सिद्धि को प्राप्त हो जाएगा॥ १०॥

व्याख्या— हे धनंजय! यदि तू इधर उधर भटकते और ठोकरें खाते हुए मन को बार-बार रोक कर नियन्त्रित नहीं कर सकता तथा उस विषय-वासनाओं से रोके हुए मन को मुझ में युक्त करने का निरन्तर अभ्यास नहीं कर सकता तो मन, वचन और काया से होने वाले भले बुरे सब कर्मों को मेरे कर्म बना दे। उन में से अपना बना कर कोई भी न रख। यदि मारने वाला

भगवान् को मानता है तो परिश्रम फल देने वाला भी उसे ही समझ। क्योंकि करना और न करना तो एकमात्र विश्व-चालक परमात्मा के ही बस की बात है जो कर्म मेरी प्रसन्नता के लिए किए जाते हैं वे मत्कर्म (मुझ परमेश्वर के निमित्त किए हुए कर्म) कहलाते हैं और वे कर्म अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जैसे —श्लोक—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्म-निवेदनम्॥

[अर्थ—मेरे यश और कीर्ति का सुनना, मेरे नाम और गुणों का कीर्तन करना, मेरे विष्णुरूप का ध्यान और स्मरण करना, राम-कृष्णादि मेरे स्वरूपों के चरणों का सेवन करना, मेरी मूर्ति का जल, वस्त्र चन्दन, चावल, पुष्प, तिलक, धूपदीप, पूंगीपल और नैवेद्य आदि से पूजन अर्चन करना, मन, वचन काया से मेरी प्रतिमा को मेरा स्वरूप समझ कर नमस्कार करना, मुझे स्वामी मान कर अपने को मेरा दास मानना, मुझे पिता मान कर अपने को मेरा पुत्र जानना, मुझे अपना हितैषी और सखा-भाव से देखना और अपने शरीर को मेरा समझ कर सदा अर्पण करने के लिए उद्यत रहना अर्थात् धर्म और लोक-हित के लिए शरीर को तुच्छ समझ कर त्याग कर देना। सारे संसार के धर्मों के चलाने वालों को मेरा रूप जानना और उनके धर्म स्थानों को भी मेरे घर ही समझना, सांप्रदायिकता या संकुचिता से बचने का सदा यत्न करना, न्याय के समय पक्षपात से ऊपर उठना इत्यादि कर्म मत्कर्म कहलाते हैं। संसार में मेरी मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं जिनकी पूजा अर्चा आदि की जाती है। एक मूर्तियाँ तो सोने, चाँदी, लकड़ी, लोहे, पत्थर, चूने या मिट्टी आदि से बनी हुई हैं जो मन्दिरों और पूजा स्थानों में स्थापित की हुई हैं वे चलती फिरती नहीं हैं अपने प्रतिष्ठित स्थानों पर ही स्थिर रहती हैं। दूसरे प्रकार की मेरी मूर्तियां चलने फिरने वाली हैं। जिन में उच्चकोटी के त्यागी ब्रह्मचर्य साधु महात्मा, ब्रह्मचारी, विद्यार्थी, शरणार्थी, दीन, हीन, बच्चे, बूढ़े और असहाय अबलाएँ सम्मिलित हैं। दीन दुःखी जीव जन्तु भी इसी श्रेणी में समझे जाते हैं। इस सम्बन्ध में यह श्लोक भी प्रसिद्ध है—

द्वे रूपे वासुदेवस्य चलं चाचलमेव च।
चलं संन्यासिनो रूपमचलं प्रतिमादिकम्॥

अर्थात् मुझ वासुदेव भगवान् के 'चल' और 'अचल' दो ही रूप हैं। चल रूप संन्यासी आदि महात्मा लोग (और सहायता योग्य अन्य प्राणी) हैं और 'अचल' मेरी सोने, पत्थर आदि से निर्मित मूर्तियाँ और चित्र हैं। शास्त्रों में जिन धर्मों को भागवत धर्म कहा गया है। उन भागवत धर्मों को तू मत्कर्म समझ कर अनुष्ठान कर। जिस से तेरा अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल हो जाएगा और अन्त में तू मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाएगा॥ १०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अथ+एतत+अपि+अशक्तः+असि कर्तुम्+मत्+योगम्+आश्रितः ।
सर्व-कर्म-फल-त्यागम्+ततः कुरु यत+आत्मवान् ॥

अथ=(अव्यय) यदि ।

एतत्=एतद् (सर्व०)+(नपुं०) द्वितीं० ए० व०=इस (ऊपर कहे हुए मत्कर्म परायण होने) को ।

अपि=(अव्यय) भी ।

अशक्तः=(वि०) न शक्तः (नञ् तत्पु०) (पुं०) प्र० ए० व०=असमर्थ । अशक्त ।

असि=√अस् (अदा० पर० अक०=होना)+लट्० म० पु०, ए० व० =(तू) है ।

कर्तुम्=√कृ+तुमुन्=करने के लिए ।

मत्+योगम्=(पुं०) ['मत्' अस्मद् (सर्वं०) शब्द को (मम, मे) "मेरा अर्थ में मदादेश हो जाता है] किये जाने वाले सारे कर्मों को मुझ में समर्पण करके उनका अनुष्ठान करना 'मद्योग' कहलाता है ॥ मद्योग के ।

आश्रितः=आ√श्रि+क्त=आश्रित+(पुं०) प्र० ए० व०=आश्रित हुआ । आसरे पर रहने वाला हो कर ।

सर्व-कर्म-फल-त्यागम्=सर्वेषां कर्मणां फलानां त्यागम् (षष्ठी० तत्पु०) द्विती० ए० व०=सारे कर्मों के फलों के त्याग को ।

ततः=(अव्यय) तद्+तसिल्=ततस्=(तो) फिर ।

कुरु=√कृ (तना० उभ० सक०=करना)+लोट० म० पु०, ए० व० =(तू) कर ।

यत+आत्मवान्=(वि० पुं०) यतः आत्मवान् [यत=(वि०)√यम्+क्त, मस्य लोपः=जीते हुए । काबू में किए हुए । वश में किए हुए । आत्मवान्—(पुं०) आत्मन्+मतुप्=आत्मवत्+प्र० ए० व० =आत्मवान्=आत्मा (मन, चित्त) वाला]

जीते हुए मन या चित्त वाला ।

अर्थ—यदि इस (ऊपर कहे हुए मत्कर्म परायण होने) को करने के लिए भी (तू) अशक्त है, तो फिर (तू) जीते हुए मन वाला और मेरे योग (किये जा रहे सारे कर्म मुझ में जोड़ना) के आश्रित हुआ, सारे कर्मों के फलों (की इच्छा) को त्याग कर ॥ ११ ॥

व्याख्या—भगवान् ने कहा—हे धनंजय ! यदि तू मेरे लिए कर्म करने के परायण होने में भी असमर्थ है, तो फिर अपने द्वारा किए जाने वाले सारे कर्म मुझ में समर्पण कर तथा मन को जीतने वाला होकर सम्पूर्ण कर्मों के फलों की इच्छा का त्याग कर दे। भाव यह है जब तेरा मन तेरे वशीभूत होगा तो इन्द्रियों के घोड़ों का यह सारथि इन्द्रियों को खोटे कर्म और कुत्सित विषय-भोग करने से रोकेगा। इस के साथ ही जब सम्पूर्ण कर्मों के फलों का त्याग हो जायेगा, तो इन सब कर्मों के शुभाशुभ फल मुझ वासुदेव रूपी अग्नि में हवन होकर भस्म हो जाएँगे। फलों के बीच उगने वाले जो बीज होंगे वे फलों के साथ ही दग्ध हो जाएँगे इस प्रकार जब बाँस ही न रहेंगे तो बाँसुरी कहाँ से बजेगी ? इसी प्रकार जब पुनर्जन्म की उत्पत्ति का कारण बीज हीन रहेगा, तो पुनर्जन्म कहाँ से होगा ? उस के साथ ही बार-बार जन्म-मरण की शृंखला भी भंग हो जाएगी और उन से होने वाले दु:खों का भी सदा के लिए अन्त हो जायेगा।

टिप्पणी—

इस प्रकार इन चार श्लोकों में भगवान् ने सगुणोपासकों को चार ढंग बतलाएँ हैं। जिन में से किसी एक पर चलकर मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है वे ढंग इस प्रकार हैं—

१—सगुण ब्रह्म की उपासना। तथा मन, बुद्धि को भगवान् में लगाना।

२—अभ्यास योग।

३—भागवत कर्मों का करना।

४—मन को वश में करके कर्मों का फल भगवान् में अर्पण करना॥ ११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

श्रेय:+हि ज्ञानम्+अभ्यासात्+ज्ञानात्+ध्यनाम् विशिष्यते
ध्यानात्+कर्म-फल-त्याग:+त्यागात्+शान्ति:+अनन्तरम्॥

श्रेय:=(वि०) अतिशयेन प्रशस्य:, प्रशस्य+ईयसुन्, श्र आदेश=श्रेयस्+(नपुं०) प्र० ए० व०=श्रेय:=बेहतर। उत्कृष्ठतर। उत्कृष्टतम्। श्रेष्ठ।

हि=(अव्यय) क्योंकि।

ज्ञानम् (नपुं०)√ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान+प्र० ए० व०=ज्ञानम्=बोध॥ जानकारी। आत्म-साक्षात्कार।

अभ्यासात्=(पुं०) अभि√अस् (दिवा० पर० सक०=फेंकना)+घञ्, अभ्यास+पंच० ए० व०=अभ्यास से। बार-बार ध्यान लगाने की क्रिया से विवेक पूर्वक किए हुए अभ्यास से।

ज्ञानात्=(नपुं०) ज्ञान+पंच० ए० व०=ज्ञान से।

ध्यानम्=(नपुं०)√ध्यै (भ्वा०, पर० सक०=ध्यान करना)+ल्युट्=ध्यान +प्र० ए० व०=ध्यानम्=भगवान् वासुदेव के रूप का चिन्तन। बाह्य इन्द्रियों को स्थिर करके केवल मन द्वारा ही प्रभु-मूर्ति का चिन्तन। मानसिक प्रत्यक्ष। ज्ञानपूर्वक ध्यान।

विशिष्यते=(वि०)√शिष् (रुधा० पर० सक०=विशेष करना)+कर्मवाच्य, लट्० प्र० पु० ए० व०=विशेष है। श्रेष्ठ है। विशेष किया जाता है।

ध्यानात्=(नपुं०) ध्यान+पंच० ए० व०=ध्यान से।

कर्म-फल-त्यागः=(पुं०) कर्मणां फलस्य त्यागः (षष्ठी० तत्पु०) प्र० ए० व० =कर्मों के फल का त्याग। (श्रेष्ठ है—विशिष्यते)।

त्यागात्=(पुं०)√त्यज्+घञ्=त्याग+पंच० ए० व०=त्याग से। कर्मों के फल के त्याग से।

शान्तिः=(स्त्री०)√शम्+क्तिन्=शान्ति+प्र० ए० व०=शान्ति (होती है)।

अनन्तरम्=(अव्यय) नास्ति अनन्तरम् (व्यवधानम्) यस्य (नञ् बहुव्री०) =तत्काल पश्चात्।

अर्थ—क्योंकि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है (और) ज्ञान से ध्यान विशेष (श्रेष्ठ) है। (तथा) ध्यान से कर्मों के फल का त्याग (श्रेष्ठ है)। (एवं) त्याग के अनन्तर शान्ति (होती है)॥ १२॥

व्याख्या—अभ्यास बहुत अच्छी चीज है बार बार के अभ्यास से ही स्मरण शक्ति बलवती होती है और इष्ट देव में श्रद्धा और भक्ति बढ़ती है। यह अभ्यास वेदादि पुस्तकों के पढ़ने, महापुरुषों के वचन श्रवण करने और किसी को बार-बार देखने, सुनने या समझने से होता है। अच्छी स्मरण शक्ति वह होती है जो काम की बातों को याद रखे, और बेकार की बातों को भूल जाए। यह अभ्यास भी दो प्रकार का होता है एक तो वह है जो समझ सोच कर किया जाता है। दूसरा जो बेसमझ छात्रों की तरह केवल रट्टा घोटा होता है। कोई भी परीक्षा चाहे वह लौकिक हो चाहे पारलौकिक हो बिना अभ्यास के पास नहीं की जा सकती। जिस भी पुरुष ने समझदारी से अभ्यास किया हो और बार बार किया हो वह उत्तीर्ण हो जाता है और अपने लक्ष्य परम-शान्ति को प्राप्त हो जाता है। परन्तु जिस का अभ्यास बेसमझी से युक्त हो या अभ्यास करने वाले में ही वह योग्यता न हो जो उसे उसके ध्येय तक ले जाने वाली हो तो उस अभ्यास से कोई लाभ नहीं हो सकता। मुझे एक छात्रा की बात याद है जिस ने प्रभाकर की परीक्षा दी थी। पाँच साल के बाद भी मैं ने उसे यही परीक्षा देते देखा और उस से पूछा कि

अब कौन सी परीक्षा दे रही हो ? उसने उत्तर दिया कि पांच बार फेल हो कर अब छठी बार परीक्षा में बैठ रही हूँ अब की बार मेरी माता ने कहा है कि बेटी ! तुझे जो कुछ भी आता है वह सब कुछ लिख आना। अतः अब मैं प्रत्येक पत्र में ऐसा ही कर रही हूँ। परन्तु जब परीक्षा का परिणाम घोषित हुआ तो पता लगा कि वह छात्रा सब पत्रों में पहले से भी अधिक बुरी तरह फेल है। संसार में ऐसे उदाहरण भी बहुत मिलते हैं जिन से पता चलता है कि जिन लोगों ने कभी पाठशाला या विद्यालय का मुँह भी नहीं देखा था वे भी अपने अभ्यास के बल से महान् व्यक्ति कहलाए हैं। गुरुदेव टैगोर किस स्कूल में पढ़े थे ? तो भी अपने अभ्यास और अनुभव से संसार के अतिश्रेष्ठ पुरुष कहलाए। इन शब्दों के लिखने वाला भी प्राथमिक शिक्षा के बाद किसी स्कूल या कालेज में पढ़ने के लिये नहीं गया था। हाँ संस्कृत हिन्दी, विज्ञान, अर्बी, फारसी, उर्दू, हाईजीन, इतिहास, भूगोल और गणितादि पढ़ाने के लिये हाई स्कूलों और कालेजों में अवश्य गया था वह भी एक आध साल नहीं १९१८ से १९७० ई० तक पूरे बावन वर्ष। अभ्यास की महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि यह ज्ञानपूर्व किया जाए तो परम-शान्ति तक पहुंचा सकता है। इसलिए ज्ञान, अभ्यास से उत्कृष्ट और श्रेष्ठ होता है क्योंकि यदि अभ्यास को रेलगाड़ी मान लिया जाए तो ज्ञान उस का इंजन है। जिस प्रकार इंजन के बिना गाड़ी का चलना असंभव होता है इसी प्रकार ज्ञान के विना अभ्यास बेकार हो कर रह जाता है। एक आध वैगन को धकेल कर कुली लोग इधर उधर तो कर सकते हैं। परन्तु इस से वह बात नहीं बनती जिस से जीवन-यात्रा समाप्त करके मोक्ष रूपी लक्ष्य पर पहुंचा जा सके। ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ होता है। क्योंकि बार बार के अभ्यास के बाद पूर्ण ज्ञान हो जाने पर भी कुछ नही बनता जब तक कि उस ज्ञान को प्रयोग में लाकर कार्यान्वित न किया जाए। ज्ञान को काम में लाकर कार्य का रूप देना ध्यान कहलाता है। पुस्तकें पढ़ लीं, महात्माओं के वचन भी सुन लिये, ईश्वर की व्यापकता भी बार बार के निश्चय करने से मान ली, जीव ब्रह्म का शुद्ध ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। परन्तु जब तक इन्द्रियों मन और बुद्धि को स्थिर करके ध्यान द्वारा अपने इष्ट देव का साक्षात्कार न किया, तब तक इस अभ्यास की तो बात ही क्या यह ज्ञान भी खरड़ ज्ञान ही बन कर रह जाता है। ऐसे खरड़ ज्ञानी आप को जहाँ तहाँ मिल सकते हैं, जो ज्ञान का उपदेश करते हुए तो धरती आकाश के कलावे मिला देते हैं, परन्तु आँख बचाकर लिंगोटी तक भी चुरा ले जाते हैं और विषयों के पूरे दास बने हुए दीख पड़ते हैं। उन्होंने अभ्यास भी किया है ज्ञान भी प्राप्त कर चुके हैं परन्तु ध्यान की त्रुटि के कारण वे लोग ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सके जिस से पथभ्रष्ट होकर संसार

सागर में जीवन काल में ही डूब रहे हैं। यदि ध्यान द्वारा प्रभु का साक्षात्कार हो जाये तो परम-शान्ति प्राप्त होती है। जिस का दूसरा नाम परमपद या मोक्ष पाना है। इसलिये अभ्यास ज्ञान के बिना बेकार है और ज्ञान ध्यान के बिना कुछ नहीं, जब तक ध्यान के द्वारा साक्षात्कार नहीं होता तब तक पूर्ण शान्ति प्राप्त नहीं होती। निष्काम कर्म के बिना चित्त एकाग्र और स्थिर नहीं होता। कर्मफल की कामना पुरुष के मन को ध्यानावस्था में भी चंचल और मलिन बनाए रखती है। कामनाओं में आसक्त मन सदा चंचल औप अस्थिर बना रहता है। समस्त श्रौत-स्मार्त्त तथा अन्य कर्मों का नाम ही काम है। सब कामनाओं का त्याग ही कर्मफल का त्याग होता है। इन कामनाओं के त्याग से ही परमशान्ति या ईश्वर प्राप्ति होती है जैसा कि श्रुति में कहा है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥"

[कठ० २।३।१४]

[**अर्थ**—इस साधक के हृदय में स्थित जो कामनाएँ हैं। जब वे सम्पूर्ण समूल नष्ट हो जाती हैं। तब यह मरण-धर्मा मनुष्य सदा के लिये अमर हो जाता है। जिससे वह यहीं ब्रह्म का भली-भान्ति अनुभव या साक्षात्कार कर लेता है। इस से यह सिद्ध होता है कि कर्मफल या कामनाओं के त्याग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। भगवान् ने स्वयं कहा है—

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥"

[गी० २।५५॥]

[**अर्थ**—हे पार्थ ! जब यह पुरुष मन में स्थित संपूर्ण कामनाओं को त्याग देता है। तब अपने आप में सन्तुष्ट हुआ स्थिर बुद्धि कहलाता है॥] स्थिर-बुद्धि को ही प्रभु-साक्षात्कार होता है। जिसके फलस्वरूप यह पुरुष, परब्रह्म परमेश्वर में प्रवेश करता है। इसलिये यहाँ भगवान् ने जो सगुण ब्रह्म की उपासना और अभ्यास आदि तीन साधन विधान किए हैं। वे सब निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिये ही सोपान हैं। जैसा कि अन्य शास्त्रों में भी कहा है—

"निर्विशेषं परंब्रह्म साक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः।
ये मंदास्तेऽनुकंप्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥ १॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥ २॥

[**अर्थ**—जो मंदबुद्धि लोग निर्विशेष परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार

करने के लिये समर्थ नहीं होते हैं, वे सगुण ब्रह्म के निरूपण द्वारा अनुकम्पित किये जाते हैं अर्थात् उन मन्द बुद्धि पुरुषों पर अनुकम्पा करने के लिए श्रुतियों और ब्रह्मवेत्ता महात्माओं ने सगुण ब्रह्म का निरूपण किया है ।। १ ।।

फिर जिन का मन सगुण ब्रह्म के ध्यान में लीन या वशवर्ती हो जाता है वे सब उपाधियों की कल्पना से रहित हुए निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं ।।]

यही बात कुछ हेर-फेर से योगशास्त्र में भी कही गई है—

सूत्र—"समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ।। २।४५ ।।"

[**अर्थ**—ईश्वर के प्रणिधान (अत्यन्त भक्ति) से समाधि की सिद्धि (निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार और शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति) हो जाती है ।

सूत्र—ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।। १।२९ ।।

[**अर्थ**—फिर विघ्नों का अभाव और अन्तरात्मा (निर्गुण ब्रह्म) के स्वरूप का भी ज्ञान (प्रत्यक् चेतन का साक्षत्कार) हो जाता है ।।]

"सगुण उपासना के विधान में "क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्" इत्यादि वचनों से जो निर्गुण ब्रह्म की उपासना को कठिन कहा गया है वह केवल सगुण ब्रह्म की उपासना की स्तुति के लिए ही है ताकि मन्द बुद्धि लोग सगुण ब्रह्म की उपासना द्वारा ही ब्रह्मलीन हो सकें ।" वास्तव में निर्गुण ब्रह्म की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना है । "ते प्राप्नुवन्ति मामेव" इस भगवान् के कथन से अर्थात् 'अक्षर निर्गुण ब्रह्म' की उपासना करने वाले मुझ को प्राप्त हो जाते हैं । इस से भगवान् ने मोक्ष प्राप्ति में उनकी स्वतन्त्रता बतलाई है, जो आप ही अपनी करनी से ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं और सगुण ब्रह्म के उपासकों के लिए कहा है 'तेषामहं समुद्धर्ता' अर्थात् उनका मैं उद्धार करने वाला हूँ । इस वचन से उनके लिये परतन्त्रता अर्थात् ईश्वराधीनता दिखलाई गई है । ईश्वर-भाव और सेवक-भाव भी परस्पर विरोधी हैं । इस कारण आत्मा को साक्षात् ईश्वर रूप जान लेने के बाद कोई भो किसी का सेवक बना नहीं रह सकता ।। (श्री स्वामी शंकराचार्य जी)

अभ्यास से स्वभाव बनता है । अभ्यास से आतमा का तत्त्वज्ञान या परोक्ष-ज्ञान बहुत अच्छा होता है । परन्तु बिना साक्षात्कार हुए, ज्ञान बेकार है और साक्षात्कार के लिए ध्यान लगाना आवश्यक है । इस लिये ज्ञान से ध्यान अच्छा होता है । निष्काम कर्म ही चित्त को स्थिर, एकाग्र या ध्यानावस्थित कर सकता है । सकाम कर्म चित्त को चंचल और अशान्त रखता है । इच्छाओं और कर्म-फल के त्याग से चित्तवृत्ति ध्यान में स्थिर रहती है ।

सारांश यह है अभ्यास करना चाहिए, अभ्यास के साथ ज्ञान की प्राप्ति

भी ज़रूर की जाए। ज्ञान के साथ ध्यान भी करना चाहिए और तीनों के साथ क़र्म फल का त्याग भी हो तो फिर परम शान्ति प्राप्त होती है ॥ १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

अद्वेष्टा सर्व-भूतानाम्+मैत्रः करुणः+एव च। निर्ममः+निरहंकारः सम-दु:ख-सुखः क्षमी ॥ १३ ॥

सन्तुष्टः सततम्+योगी यत+आत्मा दृढ़-निश्चयः। मयि+अर्पित-मनः +बुद्धिः+यः मत्+भक्तः सः+मे प्रियः ॥ १४ ॥

अद्वेष्टा=(वि० पुं०) न द्वेष्टृ (नञ् तत्पु०) [√द्विष् (अदा० उभ० सक०= द्वेष या वैर करना)+तृच=द्वेष्टृ]+प्र० ए० व०=अद्वेष्टा=द्वेष न करने वाला।

सर्व-भूतानाम्=(नपुं०) सर्वेषां भूतानाम् (षष्ठी० ब० व०=सब भूतों का। सब भूतों से।

मैत्रः=(वि० पुं०) मित्रभावो मैत्री, मित्रतया वर्तते इति मैत्रः (प्र० ए० व०)= जो मित्रता से युक्त है अर्थात् सब के साथ मित्रता से बर्तता है। मित्र+अण्=मैत्र=मित्र भाव वाला। मित्रता से वर्तने वाला। सबका मित्र बना रहने वाला।

करुणः=(वि० पुं०)√कृ+उनन् (प्र० ए० व०)=कोमलचित्त। करुण-हृदय। दयालु। दयावान्।

एव=(अव्यय) (ऐसे) ही।

च=(अव्यय) ही।

निर्+ममः=(वि० पुं०) [मम=(विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय) अस्मद् शब्द का षष्ठी ए० व० में रूप। मैंपन। ममता।

निर् (उपसर्ग, अव्यय)√नृ+क्विप्, इत्व=बिना। रहित।] (प्र० ए० व०) ममता-रहित।

निर्-अहंकारः=(वि० पुं०) [अहंकार=अहम् (अव्यय) √अह्+अमु+आत्म सम्बन्धी अभिमान। कार=(वि०)√कृ+अण् वा घञ्। अथवा क√ऋ+घञ्=कार। यह समास में अन्तिम शब्द होने से इसका अर्थ ='करने वाला' होता है ॥]

आत्म सम्बन्धी अभिमान न करने वाला।

सम-दुःख-सुखः=(वि० पुं०) समे दुःखे च सुखे च द्वेषरागयोः अप्रवर्तके यस्य सः (बहुव्री०)=सुख-दुःख में सम रहने वाला। जिसके अन्तःकरण में सुख और दुःख, राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करते, वह।

क्षमी=(वि० पुं०)√क्षम्+घिनुण्, वृद्ध्यभावः। (प्र० ए० व०) सहनशील। क्षमा करने वाला। मुआफ़ करने वाला। ["कामं क्षाम्यतु यः क्षमी" इति माघः]। क्षमावान्॥ क्षमाशील॥ १३॥

सन्तुष्टः (वि पुं०)=सम्√तुष् (दिवा० पर० अक०=प्रसन्न होना)+क्त+प्र० ए० व०=खुश हुआ। संतुष्ट रहने वाला।

सततम्=(वि०) सम√तन्+क्त, समः अन्त्यलोपः=सदैव। निरन्तर। सदा। (नपुं० प्र० ए० व०)।

योगी=(वि० पुं०) योग+इनि या √युज्+घिनुण्=योगिन्+प्र० ए० व० =ध्यान योगी। समाहित चित्त वाला। निष्काम कर्म युक्त। कर्मयोगी।

यत+आत्मा=(वि० पुं०) [यत=√यम्+क्त, मस्य लोपः=रोके हुए। काबू में किए हुए। संयत। आत्मा=(पुं०) आत्मन्+प्र० ए० व० (बहुव्री०) आत्मा वाला। मन इन्द्रियों और शरीर वाला।] जीते हुए मन इन्द्रियों और शरीर वाला। संयमी।

दृढनिश्चयः=(वि० पुं०) [दृढ=(वि०)√दृह्+क्त=मजबूत। पक्के। दृढ। निश्चयः=(पुं०) निर्√चि+अप्+प्र० ए० व०=निश्चय वाला। विचार। सन्देह रहित ज्ञान वाला।] दृढ निश्चय वाला।

मयि=अस्मद् (सर्व०) सप्त० ए० व०=मुझ में।

अर्पित-मनः+बुद्धिः=वि० पुं०) संकल्पात्मकं मनः, अध्यवसाय-लक्षणा बुद्धिः अर्पिते (स्थापिते) यस्य (योगी) सः (बहुव्री०) मुझ में अर्पण किए हुए मन बुद्धि वाला।

यः=यद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

मद्भक्तः (मत्+भक्तः)=(पुं०) मम भक्त (प्र० ए० व०)। मेरा भक्त।

सः=तद् (सर्व०)+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

मे=अस्मद् (सर्व०)+षष्ठी० ए० व०=मे, मम=मेरा। मुझ को।

प्रियः=(वि०)√प्री+क+(पुं०) प्र० ए० व०=प्रिय है। प्यारा है॥ (१४)

अर्थ—सब भूतों का अद्वेष्टा (सर्व प्राणियों से वैर न करने वाला), सब के साथ मित्र-भाव वाला, ऐसे ही दयावान्, ममता से रहित, आत्म-सम्बन्धी अभिमान न करने वाला, दुःख सुख में राग-द्वेष से रहित होकर सम रहने वाला, क्षमाशील, (१३) (प्रत्येक अवस्था में) सदा सन्तुष्ट रहने वाला, समाहितचित हुआ नित्य ध्यान योग में युक्त योगी, मन,

इन्द्रियों और शरीर को वश में किया हुआ मुझ परमेश्वर में परिपक्व निश्चय वाला और मुझ में अर्पण किए हुए मन और बुद्धि वाला, जो मेरा भक्त है। वह मेरा अति प्रिय है ।। १४ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरा जो भक्त किसी भी प्राणी से वैर नहीं करता, पहले तो उससे भी कोई वैर नहीं करता यदि उसकी किसी त्रुटि या त्रुटि के आभास के कारण कोई उसे गाली देता है, लठ मारता है, घसीटता है या अन्य किसी प्रकार से अपमानित करता है तो वह यह सब कुछ सुन कर, देखकर या शरीर के अन्य अवयवों द्वारा अनुभव करके भी शान्त-चित्त रहता है तथा उसके अन्तःकरण में लेशमात्र भी विकार या वैर-विरोध उत्पन्न नहीं होता तथा न चेहरे पर कोई वक्र रेखा का प्रादुर्भाव होता है, इसके विपरीत उस का मुख सदा प्रसन्न मुद्रा में दिखाई देता है और वह वैर-विरोध से रहित होकर प्रसन्न-वदन रहता है। वह सब प्राणियों के साथ मित्र-भाव वाला है। एक मित्रता तो किसी कारण से होती है। परन्तु इस भक्त की मैत्री सब प्राणियों से कारण के बिना होती है अर्थात् मेरा यह भक्त सर्वोदय और सबका हित चाहने वाला होता है। जब यह किसी दीन दुःखी, निर्धन रोगी, स्त्री बालक, बूढ़े, युवा प्राणी को विपद-ग्रस्त देखता है तो इसका हृदय दया से पूर्ण या द्रवीभूत हो जाता है और वह मन, वचन और काया से उसके कष्ट को दूर करने का प्रयत्न करता है। सब जीव-संसार उसे अपना ही मालूम होता है। सब को अपना स्वरूप समझता हुआ भी मेरा यह भक्त ममता से रहित होता है। वास्तव में वह किसी भी वस्तु, पदार्थ या प्राणी को अपना करके नहीं मानता यही कारण है कि उसे किसी अप्राप्त की प्राप्ति से हर्ष नहीं होता और न प्राप्त के नाश से विषाद होता है। वह आत्म-सम्बन्धी अभिमान से रहित होता है। वह अपने आप को कुछ भी करता हुआ नहीं देखता है। उसे सब कुछ मुझ ईश्वर द्वारा होता हुआ दिखाई देता है। जब यह बात उसके मन में गन्ने में रस की तरह और तिल में तैल की तरह बसी हुई होती है तो फिर उसमें अहंकार की उत्पत्ति की संभावना भी कैसे सम्भव हो सकती है ? मेरा यह भक्त दुःख और सुख में राग और द्वेष से रहित होकर सदा सम रहता है। उसके तन, मन और बुद्धि पर न दुःख का ही कोई प्रभाव होता है न सुख का ही, वह सदैव दुःख सुख-परूफ़ बना रहता है जिससे राग और द्वेष कभी उसके पास नहीं फटकने पाते। मेरा वह भक्त पृथिवी की तरह क्षमाशील और सहनशील होता है। क्योंकि उसमें हर्ष और शोक का लेशमात्र भी नहीं होता। श्रुति में हर्ष और शोक से रहित होने का यह एक अत्युत्तम उपाय दर्शाया गया है :—

"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥
(कठ० उप० १।२।१२)

अर्थ—जो योग-माया के पर्दे में छिपा हुआ सर्व-व्यापी, सबके हृदय रूप गुफा में स्थित, संसार रूप गहन-वन में रहने वाला सनातनपुरुष है, ऐसे उस कठिनता से देखे जाने वाले परमात्म-देव को, अध्यात्म योग की प्राप्ति के द्वारा, शुद्ध बुद्धि-युक्त साधक (भक्त), अच्छी तरह समझ कर हर्ष और शोक दोनों को त्याग देता है ।

वह परमेश्वर अपनी योग-माया के पर्दे में छिपा हुआ नित्य सबके साथ रहने पर भी लोगों को सहज में दिखाई नहीं देता ।]

मेरा भक्त सब में समबुद्धि होने से किसी घटना में भी किसी का अपराध नहीं मानता, इसलिए वह अपने अपराध के बदले में भी किसी को दण्ड नहीं देता और तिरस्कार होने पर भी क्रोध नहीं करता इसी से वह क्षमावान् या क्षमाशील कहलाता है। वह प्रत्येक अवस्था में सदा सन्तुष्ट रहता है। ईश्वरेच्छा से उसे जो कुछ प्राप्त होता है। उसी को खाकर, पीकर, पहन कर और प्रयोग करके सन्तोष को प्राप्त हो जाता है। बिना खाए, पिए और नंगा रहकर भी सन्तुष्ट रहता है। आवास के लिए चाहे झोंपड़ी भी प्राप्त न हो। आतप, वात, वर्षा और शीत को सह कर भी वह प्रसन्न और खुश रहता है। वह सदा समाहित चित्त हुआ ध्यान योग में युक्त होकर ध्यान-योगी बना रहता है। मन, इन्द्रियाँ और शरीर उसके वश में किए हुए होते हैं। इससे उन में किसी प्रकार के दुर्गुण और दुराचार की सम्भावना नहीं होती। मेरे इस भक्त की मुझ परमेश्वर पर पूरी आस्था और पक्का निश्चय होता है। जिससे उसकी बुद्धि मेरे स्वरूप से कभी विचलित नहीं होती और वह सदा अपने मन और बुद्धि को मेरे अर्पण किए रहता है अर्थात् उस का मन मुझे छोड़ कर और कहीं नहीं जाता अथवा विषय वासनाओं में भटकता नहीं फिरता। इन ऊपर कहे हुए लक्षणों और गुणों से युक्त भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय होता है ॥ १३ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

यस्मात्+न+उद्विजते लोकः+लोकात्+न+उद्विजते च यः ।
हर्ष+अमर्ष-भय+उद्वेगैः+मुक्तः+यः सः+च मे प्रियः ॥

यस्मात्=(सर्व०) यद्+(पुं०) पंच० ए० व०=जिससे । जिस (भक्त) से ।
न=(अव्यय) न । नहीं ।

उद्विजते=उद्√विज् (तुदा० आत्म० अक०=डरना) [विज् धातु प्रायः उद् उपसर्ग सहित ही प्रयुक्त होता है। रुधा० और जुहो० में बिना उपसर्ग भी प्रयुक्त होता है।]

उद्विज्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=उद्वेग करता है। उद्वेग को प्राप्त होता है। संतप्त होता है। क्षुब्ध होता है। उद्वेग युक्त होता है॥

लोकः=(पुं०) लोक+प्र० ए० व०=संसार। जीव लोक। प्राणी समुदाय। कोई जीव।

लोकात्=(पुं०) लोक+पंच० ए० व०=लोक से। संसार से। प्राणी समुदाय से। किसी भी जीव से।

न=(अव्यय) न। नहीं।

उद्विजते=उद्√विज्+लट्० प्र० पु०, ए० व०=दुःखी होता है। सन्तप्त होता है। उद्वेग को प्राप्त होता है। क्षुब्ध होता है।

च=(अव्यय) और।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो (भक्त)।

हर्ष+अमर्ष-भय+उद्वेगैः=हर्षः च अमर्षः च भयं च उद्वेगः च तैः (इतरेतर द्वन्द्व०)=हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से।

[√हृष्+घञ्=हर्ष (पुं०)=प्रसन्नता, आह्लाद, खुशी। प्रिय वस्तु के लाभ से अन्तःकरण को जो उत्साह या उत्कर्ष तथा उल्लास होता है, उसका नाम हर्ष है। रोमांच और अश्रुपात आदि उसके चिह्न हैं॥ √मृष् +घञ् (नञ् तत्पु०)=अमर्ष (पुं०)=असहनशीलता। ईर्ष्या। क्रोध। असहिष्णुता। √भी+अच्=भय (नपुं०)=डर। ख़ौफ़। त्रास। उद् √विज्+घञ्=उद्वेग (पुं०)+तृती० ब० व०। काँपना। घबराहट। विकलता। उद्विग्नता। व्याकुलता।]

मुक्तः=√मुच्+क्त=मुक्त+(पुं०) प्र० ए० व०=छूटा हुआ। मुक्त हुआ। रहित हुआ॥

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह।

मे=(सर्व) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा।

प्रियः=(वि०, पुं०)√प्री+क=प्रिय+प्र० ए० व०=प्यारा। वल्लभ। प्रिय। (है)॥

अर्थ—जिस से संसार दुःखी नहीं होता और जो संसार से दुःखी नहीं होता और जो हर्ष, अमर्ष (क्रोध) भय और उद्वेग से मुक्त है, वह भक्त मेरा (अति) प्रिय है॥ १५॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरा सच्चा भक्त और अनन्य प्रेमी न किसी को जान बूझ कर दुःख, भय और सन्ताप देता है। न स्वभाविक ही उस से किसी को क्षोभ, क्लेश या उद्वेग प्राप्त होता है। क्योंकि वह तो साक्षात् दया और प्रेम की मूर्त्ति होता है। यदि कोई उससे शत्रुता का व्यवहार भी कभी करता है तो वह उसको भी मित्रता-भाव से ही देखता है। यही कारण है, कि वह किसी अन्य के द्वारा भी दुःख, सन्ताप या क्लेश को प्राप्त नहीं होता। उस का अन्तःकरण सदा शुद्ध शान्त और पवित्र रहता है। मेरे भक्त को अनुकूल पदार्थों की प्राप्ति से न हर्ष होता है न ही किसी प्रकार की प्रसन्नता होती है तथा न किसी तरह का रोमांच ही होता है और प्रतिकूल पदार्थों की प्राप्ति से उद्वेग या क्षोभ भी नहीं होता। न उसे किसी अप्रिय घटना को देख कर अमर्ष या क्रोध होता है। वह किसी से भयभीत भी नहीं होता। चोर-चकार, हिंसक-डाकू और सिंह-साँप आदि सब को वह मित्र रूप में देखता है। भूत-प्रेत उसका कुछ भी बिगाड़ते नहीं हैं। हिंसक-बटमार उस के सामने भीगी बिल्ली बन जाते हैं तथा पिछली टाँगों में दुम दबाए हुए कुत्ते की भाँति भाग जाते हैं। उस को देखकर सिंह, बकरी तथा सर्प, नकुल आदि परस्पर विरोधी जीव भी वैर-भाव त्याग कर निर्भय होकर विचरते हैं। मान, बड़ाई तथा ईर्ष्या आदि दुर्गुण मेरे इस भक्त के पास तक नहीं फटकते। इस मेरे भक्त को और तो क्या ? मृत्यु का भी भय नहीं होता। वह किसी को बढ़ता और फूलता देखकर कभी ईर्ष्या नहीं करता। स्मृति कारों ने कहा है—

"यथा पर्वतमादीप्तं नाश्रयन्ति मृग-द्विजाः।
तद्वद्ब्रह्म-विदो दोषाः नाश्रयन्ते कदाचन ॥ १ ॥
मन्त्रौषध-वलैर्यद्वज्जीर्यंते भक्षितं विषम्।
तद्वत्सर्वाणि कर्माणि जीर्यन्ते ज्ञानिनः क्षणात् ॥ २ ॥

[**अर्थ**—जैसे अग्नि द्वारा सब ओर से समूचे जलते हुए पर्वत को वन-पशु और पक्षी आश्रय स्थान नहीं बनाते हैं, वैसे ही ब्रह्म ज्ञान से देदीप्यान (ब्रह्म-वेत्ता) पुरुष को हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेगादि दोष कभी अपना आश्रय नहीं बनाते हैं ॥ १ ॥

और जैसे किसी के द्वारा खाया हुआ विष मन्त्र, औषधि आदि उपचारों के बल से प्रभाव-हीन होकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञानी भक्त के शुभाशुभ सकल कर्म प्रभु-कृपा से तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥]

इस प्रकार कथित गुणों वाला जो मेरा भक्त है। वह मुझे अति-प्रिय होता है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

अनपेक्षः, शुचिः+दक्षः+उदासीनः+गत-व्यथः । सर्व+आरंभ-परित्यागी यः+मत्+भक्तः सः+मे प्रियः ॥

अनपेक्षः=(वि०, पुं०) नास्ति अपेक्षा यस्य सः (नञ् बहुव्री०) । अनपेक्ष+प्र० ए० व० । अपेक्षा, चाह या परवाह न करने वाला । निरपेक्ष । निःस्पृह ।

[अप√ईक्ष+अ-टाप्=अपेक्षा (स्त्री०)=चाह आकांक्षा । आवश्यकता । परवाह ।] ॥

शुचिः=(वि०, पुं०)√शुच्+इन्=शुचिन्+प्र०, ए० व० । पवित्र । स्वच्छ भीतर बाहर से शुद्धि वाला । निष्कपट । धर्मात्मा । ईमानदार ।

दक्षः=(वि० पुं०)√दक्ष् (भ्वा० आत्म० अक०=बुद्धि बढ़ाना)+अच्=दक्ष +प्र० ए० व० । किसी विषय को शीघ्र समझने तथा सुचारु रूप से तत्काल कार्य करने की शक्ति वाला । कुशल । निपुण । चतुर । माहर । अनेक कर्त्तव्यों के प्राप्त होने पर उन में से शीघ्र ही यथार्थ कर्त्तव्य को निश्चित करने में समर्थ ॥

उदासीनः=(वि० पुं०) उद्√आस्+शानच=उदासीन प्र० ए० व० । तटस्थ । विरक्त । पक्षपात से रहित ।

गत-व्यथः=(वि०, पुं०) गता व्यथा यस्य सः, (बहुव्री०) । दूर हुई व्यथा वाला । दुःखों और कष्टों से छूटा हुआ । तीन प्रकार के तापों की पीड़ा से रहित हुआ । प्र० ए० व० ।

सर्व-आरम्भ-परित्यागी=(वि० पुं०) सर्वेषाम् आरम्भानां परित्यागी (बहुव्री०) । सारे आरम्भों का त्याग करने वाला ।

[सर्व=सारे ।

आ√रभ्+घञ्, मुम् च=आरम्भ (पुं०)=काम । कर्म । शुरुआत । कार्यों के आरम्भ । उद्योग । चेष्टा । प्रयत्न । लोक और परलोक में फल प्राप्ति की इच्छा से किए जाने वाले कर्मों के आरम्भ (आगाज़) ।

मन, वाणी और शरीर द्वारा होने वाले कार्यों के कर्तापन को । राग-द्वेष आदि के अधीन होकर किए जाने वाले कर्मों के आरम्भ को ॥

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो ।

मत्+भक्तः=(वि० पु०) प्र० ए० व०=मेरा भक्त ।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वह ।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा । मुझ को ॥

प्रियः=(वि० पुं०)√प्री+क=प्रिय+प्र० ए० व०=प्यारा । प्रिय । वल्लभ ॥

अर्थ—अनपेक्ष, शुचि, दक्ष, उदासीन, गत-व्यथ और सारे आरम्भों को भली भान्ति त्यागने वाला जो मेरा भक्त है वह मेरा (अर्थात् मुझे) अति प्रिय है ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरा भक्त जब अनन्य भक्ति और एक निष्ठा के अभ्यास से ध्यान योग में परिपक्व हो जाता है, तो उस अवस्था में संसार के लोग उस को देख कर चकित और विस्मित हो कर रह जाते हैं। तथा उस की ओर अधिक आकर्षित हो जाते हैं। किसी को वह पुत्र-दाता के रूप में दिखाई देने लगता है, तो किसी को धनदाता या लक्ष-दाता प्रतीत होने लगता है। तो किसी को रोग हर्ता भासमान होता है और कोई एक उस के द्वारा स्वर्ग में जाना चाहता है। तो कोई उस के माध्यम से भगवान् से मिलना चाहता है। ये सब स्वार्थी लोग कुत्ते की भान्ति पूछ उठाए उसके पीछे पीछे लगे फिरते हैं। अपने स्वार्थ की पूर्ति को लक्ष्य करके कोई उस के लिए भोजन लाता है। कोई मिठाई लाता है। कोई पैसे देने का प्रयत्न करता है तो कोई रजाई कम्बल आदि वस्त्र भेंट करता है। परन्तु मेरा वह भक्त इन सब वस्तुओं से निरपेक्ष अर्थात् अनपेक्ष होता है। चाह रहित होता है। आकांक्षा हीन होता है। ला-परवाह होता है। सब वस्तुओं और पदार्थों को जहां की तहां पड़ी हुई छोड़ कर चल देता है। पीछे लौट कर देखता भी नहीं है। कि उन का कौन उपभोग कर रहा है। अथवा उनको उठा कर कौन ले जा रहा है।

मिट्टी, पत्थर, सोना चाँदी आदि सब पदार्थ उस की दृष्टि में एक समान होते हैं। उस को उन में से किसी वस्तु की भी आवश्यकता नहीं होती। इस मेरे भक्त का हृदय अत्यन्त निर्मल और पवित्र होता है। उसके अन्तःकरण में काम वासना का स्फुरण नाम मात्र को भी नहीं होता क्योंकि वह सब शरीरों को मिट्टी से बने हुए नाशवान् और आत्मा से अलग अनुभव करता है। उस में लोभ का सर्वथा अभाव होता है। क्रोध का भी नाश हो गया होता है। नरक के तीनों द्वारों काम, क्रोध और लोभ के तो वह कभी दर्शन भी नहीं करता। परन्तु वह मूर्ख और पागल बिल्कुल नहीं होता। बहुत दक्ष, निपुण और चतुर होता है। इस कारण से कोई उसे धोखा नहीं दे सकता। न भ्रम में डाल सकता है न कोई उसे सत्पथ से भ्रष्ट या च्युत कर सकता है। उस की दृष्टि सदा अपने लक्ष्य पर लगी रहती है। वह अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए अत्यन्त कार्य-कुशल और दक्ष होता है। संसार से सदा उदासीन, विरक्त और तटस्थ रहता है। कोई कुछ करता फिरे, लड़ता फिरे। पाप करे, पुण्य करे।

उस को इन झगड़ों टण्टों से कोई सरोकार नहीं होता। लड़ाई, झगड़ा, युद्ध शान्ति आदि सम्बन्धी घटनाएँ उस पर कोई प्रभाव नहीं डालतीं। तथा उसे न कोई कायक व्यथा होती है, न वाचक कष्ट होता है, न मानसिक दु:ख होता है। वह तो दु:खातीत और द्वन्द्वातीत हो जाता हैं। उसे दूर हुई व्यथा वाला कहा जाता है। वह किसी भी कार्य का आरम्भ नहीं करता। न किसी आरम्भ में कोई योजना बनाता या कुछ सोचता है। जिस से वह संसार जाल में उलझा ही रहे और जन्म मरण के चक्र से कभी छूट ही न सके। कोई कार्य तो आरम्भ वह तब करे, जब उसको कोई आकांक्षा हो मन मैला और लोभी हो, मूर्ख बे समझ और पागल हो, संसार में लिप्त और आसक्त हो, अथवा दु:खों सन्तापों पीड़ाओं और रोगों से घिरा हुआ हो। इस लिए अनपेक्ष, शुचि, दक्ष, उदासीन गत-व्यथा और सर्व-आरम्भ-परित्यागी भक्त मेरा अत्यन्त प्रिय होता है। मेरा यह भक्त ध्याननिष्ठ और ब्रह्मनिष्ठ दोनों प्रकार का होता है।। १६ ।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।। १७ ।।

यः+न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति। शुभ+अशुभ-परित्यागी भक्तिमान्+यः सः+मे प्रियः ।।

यः=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ए० व०=जो।

न=(अव्यय) न। नहीं।

हृष्यति=√हृष् (दिवा० पर० अक०=प्रसन्न होना)+लट्० प्र० पु०, ए० व० =हर्ष करता है। खुश होता है। हर्षित होता है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

द्वेष्टि=√द्विष् (अदा० उभ० सक०=द्वेष करना)+लट्० प्र० पु०, ए० व०= द्वेष करता है। वैर करता है।

न=(अव्यय) न। नहीं।

शोचति=शुच् (भ्वा० पर० अक०=शोक करना)+लट्० प्र० पु, ए० व०= शोक करता है। चिन्ता करता है। दु:ख करता है। खेद करता है ।।

न=(अव्यय) न। नहीं।

काङ्क्षति=√काङ्क्ष (भ्वा० उभ० सक०=इच्छा करना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=इच्छा करता है। कामना करता है। चाहना करता है ।।

शुभ+अशुभ-परित्यागी=(वि०, पुं) शुभाशुभे कर्मणी परित्यक्तुं शीलम् अस्य (बहुव्री०)। शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करने वाला। अच्छे बुरे सब प्रकार के कर्मों और उनके फलों को छोड़ देने वाला ।।

[√त्यज्+घिनुण्=त्यागिन् (वि०, पु०)+प्र० ए० व०=त्यागी= त्यागने वाला। छोड़ने वाला।

भक्तिमान्=(वि०) भक्ति (स्त्री०)+मतुप=भक्तिमत्+(पुं०) प्र०, ए० व० =भक्तिमान्। भक्ति वाला॥

यः=(सर्व०) यद्+(पु०) प्र०, ए० व०=जो।

सः=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र०, ए० व०=वह।

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा।

प्रियः=(वि०, पुं०)√प्री०+क=प्रिय+प्र०, ए० व०=प्रिय (है) प्यारा (है)॥

अर्थ—जो न हर्षित होता है, न (कभी) द्वेष करता है। न चिन्ता करता है, न शोक करता है। न कामना या इच्छा करता है। शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों तथा उन के फल का परित्यागी है, (साथ ही) मेरी भक्ति वाला है। वह मेरा प्रिय है॥ १७॥

व्याख्या—साधारण मनुष्य को इष्ट वस्तु की प्राप्ति से जिस प्रकार हर्ष होता है। मेरे भक्त को उसी प्रकार अनिष्ट वस्तु के वियोग से भी प्रसन्नता होती है। मेरा भक्त तो न प्रिय वस्तु को पाकर हर्षित होता है और न अप्रिय वस्तु सर्प, सिंह और शत्रु आदि के दूर भाग जाने पर ही प्रसन्न होता है। वह न किसी जीव-जन्तु या प्राणी से द्वेष करता है। उसे न किसी मित्र के मिलने से हर्ष होता है। न वह किसी को शत्रु समझता है और न किसी से द्वेष करता है। उसे किसी के मरने से भी दुःख नहीं होता है तथा न किसी के जन्मने या जीने से सुख होता है। वह न किसी वस्तु या व्यक्ति की प्राप्ति या अप्राप्ति की चिन्ता करता है और न किसी के वियोग का शोक करता है। न किसी वस्तु की इच्छा करता है। न कभी अनिच्छा करता है। न उसे कोई आकांक्षा होती है। न कामना होती है न कोई वासना होती है। अशुभ (पाप) और शुभ (पुण्य) इन दोनों को वह त्याग देता है। इन से वह इसी प्रकार बेखबर हो जाता है, जिस प्रकार चमकता हुआ सूर्य रात और दिन दोनों से बे-खबर होता है। क्योंकि रात को तो उसने कभी देखा ही नहीं है और रात रूपी प्रतिद्वन्द्वी न देखा जाने के कारण दिन का उसे पता ही नहीं लगता। कुछ ऐसी ही अवस्था मेरे इस भक्त की होती है। क्योंकि पापों को वह कभी अनुभव ही नहीं करता। इसलिए पुण्य भी उसे शून्य-वत् हो जाते हैं। मेरा भक्त आलसी नहीं होता। आठों पहर निरन्तर मेरी भक्ति में तत्पर और सजग रहता है। मुझ को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में देखता है। वह मेरा प्रिय भक्त होता है। इस में कोई भी सन्देह नहीं है॥ १७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जित ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मान+अपमानयोः । शीत+उष्ण-सुख-दुःखेषु समः संग-विवर्जितः ॥

तुल्य-निन्दा-स्तुतिः+मौनी सन्तुष्टः येन केनचित् । अनिकेतः स्थिर-मतिः +भक्तिमान् मे प्रियः+नरः ॥

समः=(वि०)√सम्+अच्=सम+(पुं०) प्र० ए० व०+एक सा । समान । बराबर । तुल्य । सदृश । (है) ।

शत्रौ=√शद् (भ्वा० पर० अक०=पतन होना । नाश होना । सड़ना)+क्रुन् =शत्रु (पुं०)+सप्त० ए० व०=शत्रु में । दुशमन में ।

च=(अव्यय) और ।

मित्रे=(नपुं०) मिद्यति=स्निह्यति,√मिद्+त्र । अथवा तनोति, मानं करोति, √वि+क्त्र=मित्र+सप्त० ए० व०=मित्र ।

च=(अव्यय) और ।

तथा=(अव्यय) तेन प्रकारेण, तद्+थाल्=तथा । वैसे ही । उस प्रकार ।

मान-अपमानयोः=(पुं०) माने च अपमाने च (इतरेतर द्वन्द्व स०) । सप्त० द्वि० व०=मान अपमान में ।

[मान=(पुं०)√मान् (पूजना)+घञ्=सम्मान । प्रतिष्ठा ।

अपमान=(पुं०) अप+√मान्+घञ् । अथवा अप√मन्+घञ् । या-अप √मा+ल्युट् । निरादर । बे इज्ज़ती ।]

शीत+उष्ण-सुख-दुःखेषु—(नपुं०) शीतोष्णयोः च सुखदुःखयोः च । (इतरे० द्वन्द्व०) सर्दी और गर्मी में तथा सुख और दुःख में । [√श्यै+क्त=शीत (नपुं०)=सर्दी । जाड़ा । ठण्ड ॥ √उष्+नक्=उष्ण (पुं०)=गर्मी । ताप ।√सुख+अच्=सुख (नपुं०) आनन्द । सुख । √दुःख्+अच् या घञ्=दुःख (नपुं०) । कष्ट । क्लेश । तकलीफ़ ।

समः=(पुं०) एक सा । समान । बराबर ।

सङ्गः-विवर्जितः=(वि०, पुं०) सङ्गात् विवर्जितः यः सः (बहुव्री०)=संग से छूटा हुआ । आसक्ति से रहित हो चुका ।

[√सञ्ज्+घञ्=सङ्ग (पुं०)=मेल । सयोग । संसर्ग । संस्पर्श । अनुराग । विषय-वासना से सम्बन्धित कोई भी क्रिया ।

विवर्जित:=(वि० पुं०) वि√वृज्+क्त=विवर्जित+प्र० ए० व०= त्यागा हुआ। छोड़ा हुआ। रहित ॥] (१८)

तुल्य-निन्दा-स्तुति:=(वि० पुं०) निन्दा च स्तुति: च=निन्दास्तुती ते तुल्ये यस्य स:=तुल्य-निन्दास्तुति: (बहुव्री०)=निन्दा और स्तुति को एक सा जानने वाला। (प्र० ए० व०) ॥

मौनी=(वि०, नपुं०) मुने: भाव:, मुनि+अण्=मौण+इनि=मौनिन्+प्र० ए० व०=मौनी=चुप रहने वाला। संयत-वाक्।

सन्तुष्ट:=(वि०, पुं०) सम्√तुष्+क्त=सन्तुष्ट+प्र० ए० व०=प्रसन्न। तृप्त। खुश। सन्तुष्ट ॥

येन-केनचित्=(सर्वं०) यद्+(पुं०) तृती० ए० व०=येन। किम्+(पुं०) तृती० ए० व०=केन+चित्=केनचित्। येन केनचित्। जिस किसी से। सब से।

[येन केनचित् शरीर-स्थिति मात्रेण=जिस किसी प्रकार से भी शरीर-स्थिति (निर्वाह) मात्र से—(श्री स्वामी शंकराचार्य जी)] ॥

अनिकेत:=(वि०) नास्ति निकेत: नियमेन वासो यस्य। (नञ् बहुव्री०)। (पुं०) प्र० ए० व०। रहने के स्थान में निर्मम। अपने निवान स्थान में ममता से रहित ॥

स्थिर-मति:=(वि०, पुं०) स्थिरा मति: यस्य स: (बहुव्री०)। प्र० ए० व०। स्थिर बुद्धि वाला।

भक्तिमान्=(वि०) भक्ति (स्त्री०)+मतुप्=भक्तिमत्+(पुं०) प्र० ए० व० =भक्तिमान्। भक्ति वाला।

मे=(सर्वं०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मम, मे=मेरा।

प्रिय:=(वि० पुं०) प्रिय+प्र० ए० व०=प्यारा।

नर:=(पुं०)√नृ+अच्=नर+प्र० ए० व०=मनुष्य। नर। आदमी। (१९)

अर्थ—शत्रु मित्र में, मान, अपमान में, सर्दी, गर्मी में तथा सुख दु:ख में एक जैसा रहने वाला, संग या आसक्ति से रहित हुआ, निन्दा और स्तुति में तुल्य रहने वाला, संयत-वाक्, हर हालत में सन्तुष्ट और तृप्त रहने वाला, रहने के स्थान में निर्मम, स्थिर-बुद्धि और मेरी (अनन्य) भक्ति वाला पुरुष मेरा प्यारा है ॥ १८, १९ ॥

व्याख्या—भगवान् ने इस अध्याय के श्लोक १३ से श्लोक १९ तक जिस मार्ग का उपदेश किया है। यह सर्वश्रेष्ठ मार्ग जीवित अवस्था में ही जीव को संसार से छुड़ा कर ब्रह्म में मिला देता है और देह तक से नाता तुड़वा कर शान्त कर देता है। परन्तु यह मार्ग अत्यन्त कठिन और दुर्गम

है। पद पद पर च्युत और स्खलित होने का भय बना रहता है। परन्तु मार्ग की समाप्ति पर देह के जीवित रहते हुए भी स्वयं ईश्वर रूप हो जाता है और सब शक्तियां उस की सहज स्वभाव इच्छा के अनुसार कार्य करने लगती हैं। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, इन सब में वह सदा एक सा हो जाता है। आसक्ति या संग की भावना उस के हृदय से काफूर की तरह उड़ जाती है। उसे इस बात का ध्यान भी नहीं होता, कि कौन उस की निन्दा करता है और कौन उस की स्तुति करता है। उस को किसी से बोलने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि वह कभीकभार कुछ थोड़ा बोलता भी है, तो सुनने वालों के कुछ पल्ले नहीं पड़ता। लोग अपनी बुद्धि के अनुसार उस का अर्थ ग्रहण करते हैं, कोई उसे दड़े का अंक समझता है। कोई पुत्र के लिए आशीर्वाद मानता है। कोई उसे अपने रोग की नाशक दवाई मानते हैं। इत्यादि जैसा जिसकी मांग होती है। वैसा ही समझा हुआ उस का अर्थ होता है। परन्तु—

"'भीखा' बात अगम की, कुछ कहन सुनन की न।
जो जाने सो कहे न, जो कहे सो जाने न॥"

उसे खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं होती। देवयोग से मुँह में पड़ा हुआ खा लेता है। जहाँ देखता है, सो लेता है। नंग-ढक की भी कोई परवाह नहीं होती। यह भक्त चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री रूप में हो अपने गुप्त अंगों के ढांपने से भी बेपरवाह होता है। उसका अपना कोई घर दर भी नहीं होता। वह सदा अडोल और स्थिरचित्त रहता है। इन लोगों में पूर्णावस्था को पहुंचा हुआ तो लाखों में से कोई एक ही होता है और बीसियों अपने मार्ग पर चल रहे होते हैं। जिन में अभी कई त्रुटियां होती हैं अर्थात् ये कभी गाली निकालते हैं। कभी गुस्से होते हैं तथा ईंट पत्थर लेकर पीछे भागते हैं परन्तु पागलों और इन में महद् अन्तर होता है। यदि एक का मुख पूर्व को माना जाए तो दूसरे का पश्चिम को समझना चाहिए। अर्थात् सब से बड़ा अन्तर तो यह है कि पागल मुझ से अधिक से अधिक दूर और दूरतर होता है तथा आवा-गमन में भ्रमण करने वाला होता है। तथा मेरा प्रिय-भक्त मेरा समीपतर और आवागमन से छूटने वाला होता है। महाभारत में कहा है—

"येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः।
यत्र क्वचनशायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

(महा० शान्ति० २४५।१२)

[अर्थ—जो जिस किसी अन्य द्वारा ही ढका जाता है। जिस किसी अन्य

द्वारा ही भोजन कराया जाता है। और जहाँ कहीं भी सोने वाला होता है देवता लोग उस को ब्राह्मण (साक्षात् ब्रह्म रूप हुआ) समझते हैं।।]

यद्यपि टीकाकार इस बात को भली भान्ति समझता है कि किसी देश में इन मुमुक्षु जनों की गणना अधिक नहीं होनी चाहिए। इस के दो कारण हैं पहले तो पूर्व जन्मों के अभ्यास से यह सर्वोच्च अवस्था प्राप्त होती है। प्रत्येक नर-नारी यदि इसी डगर पर चल पड़े तो वे सब मार्ग में ही रह जाएंगे। धोबी के कुत्ते की तरह न घर के रहेंगे, न घाट के रहेंगे जैसा कि सब तीर्थों पर अनेक ढोंगी लोग साधु वेष धारण किए हुए मिलते हैं। जिन की लोभ भरी चेष्टाओं और दुष्कर्मों को देख कर सच्चे गृहस्थों की आस्था भी धर्म-कर्म से उठती जा रही है।

दूसरे इस संसार की रचना करने वाला अपने इस संसार को बढ़ता, फूलता और फलता देखना चाहता है। सबको मोक्ष प्रदान करके संसार को समय से पूर्व समाप्त करना नहीं चाहता है और ऐसा होने से सारा संसार या कोई समूचा देश मिथ्या त्यागी बन कर कर्म और पुरुषार्थ हीन हो सकता है और वह संसार का भाग या देश शताब्दियों तक दासता की श्रृंखलाओं में बंध जाता है। इस लिए भगवान् ने जहाँ इस अध्याय में अत्युच्चतर अवस्था के मार्ग का उपदेश दिया है। वहाँ पर अन्य अध्याओं में उपदेश कर्मवीर कर्म-योगी बनने के सम्बन्ध में भी दिया है। अर्जुन को युद्धवीर बना कर युद्ध में विजय प्राप्त करवाना इस का प्रज्वलित प्रमाण है। अब हम अपने जीवन में देखे हुए कुछ भक्तों के सम्बन्ध में थोड़ा लेख लिख कर इस श्लोक की व्याख्या को समाप्त करते हैं।

१—कसबा राहों में इस उपरोक्त अवस्था को प्राप्त हुए एक महात्मा थे, जिन का शुभ नाम पंडित राम रत्न जी था। वे जब इस अवस्था में प्रवेश करने लगे, तो उन्होंने अपने संगी पुरोहित मुनी लाल लाल आदि अपने मित्रों से कहा कि तुम सब लोग जन्म-मरण के चक्र से छूट कर ब्रह्मलीन होने के लिए मेरे साथ यात्रा करो। परन्तु मित्रों की समझ में यह बात न आई। थोड़े ही दिनों में पूज्य पण्डित जी का सम्बन्ध घर से टूट गया और वे टूटे फूटे घरों और खण्डरों मे बैठे हुए दिखाई देने लगे। इस श्लोक में कहे हुए प्रभु-प्रिय भक्त के सब लक्षण उन में चमक उठे। अब तो उन्हें न कोई तन की चिन्ता रही, न धन की, न भक्षण की। न कोई शत्रु रहा न मित्र। न घर रहा न दर रहा। न आतप, वर्षा, वात और शीत की कोई चिन्ता रही। रोना, हँसना, चीखना, चिल्लाना और बोलना सब क्रियाएं शान्त हो गईं। सोना-जागना सहज-स्वभाव ही रह गए। श्रद्धालु उन्हें सदा ढूँढते दिखाई देने लगे। एक दिन यह लेखक भी उन के दर्शनों के लिए राहों गया। पता चला कि आप इस समय एक टूटे फूटे उजड़े हुए

गृह में बैठे हैं और पवित्र चेहरे पर ईश्वरी नूर बरस रहा है। एक मुसलमान महिला आई। जिस के हाथ में एक प्याली थी जिस में उबले हुए चावल भरे हुए थे। उस ने अपने दाहने हाथ से पण्डित जी के ओष्ठों को स्पर्श किया तो उन्होंने मुख खोल दिया और तीन चमक चावल डलवा कर मुँह फिर बन्द कर लिया। अब इस समय वे देह त्याग कर ब्रह्मलीन हो चुके हैं ॥

२—अखाड़े वाले साधुओं का एक जत्था धर्म प्रचार के सम्बन्ध में पंजाब में धर्मप्रचारार्थ भ्रमण कर रहा था। उस के साथ साधु रूप धारी एक सुन्दर युवक कीर्तन किया करता था। जब वह अखाड़ा झिगड़ाँ ग्राम में पहुँचा। तो वहाँ पर उस युवक साधु की भेंट एक ब्रह्म ज्ञानी से हो गई। पूर्व-पुण्यों के प्रभाव से ज्ञान चक्षु खुल गए। जिस से वह साधु अखाड़े का संग छोड़ कर ध्यान योग के द्वारा ब्रह्म रूप बन गया और भगवानदास के स्थान पर राजा साहिब कहलाने लगा। इस समय उन की स्मृति में राजा साहिब के मजारा में एक विशाल भवन बन चुका है। मैं ने स्वयं भी राजा साहिब के दर्शन किए थे और उनकी अलौकिक शक्ति का अनुभव अपने शरीर के अंगों द्वारा किया था।

३—एक बार एक महात्मा मेरे पास आए और उन्होंने मुझे 'मैली' चलने के लिए प्रेरणा की। आषाढ़ मास की तेज धूप के दिन थे। वर्षा ऋतु का आरम्भ होने वाला था। यह स्थान हुशियार पुर के बीस मील पूर्वी पर्वत में स्थित है। मैं एक सेवक के साथ कड़कती धूप मैं मैली के लिए चला पड़ा। मार्ग में एक सेवक से साईकल ले लिया। दिन के बारह बजे महात्मा जी के आश्रम में पहुँचे जो बसती से चार मील दूर वन में दस बारह एकड़ भूमि को घेरे हुए है। हमारे जाने की सूचना 'गुरुदेव' को पहले से ही किसी शक्ति विशेष से मिल चुकी थी। क्योंकि साधुओं को हमारे ठहराने के लिए पहले ही आज्ञा दी जा चुकी थी।

आश्रम का वातावरण पूर्ण शान्ति से परिपूर्ण था। धरती इतनी साफ सुथरी थी। मानो जीभ से चाटी गई हो। उगे हुए सीधे सरल बांस आश्रम की शोभा को बढ़ा रहे थे बड़ का एक सुन्दर पेड़ अपनी शोभा में अद्वितीय था जिसके हरे बड़े बड़े पत्ते और सुन्दरी के सुनहले बालों के सदृश लटकती हुई चारों ओर अनेक जटाएं मन को हरण कर रही थीं। सारे आश्रम से सुगन्धि की लपटें उठ रही थीं। सुन्दर पक्के आम वृक्षों के नीचे गिरे हुए थे। परन्तु उन को उठाने वाला कोई भी दिखाई न देता था। बहुत सी गौएँ बिचर रही थीं। बहुत से साधु स्त्री पुरुष इधर उधर घूम रहे थे। आश्रम के समीप थोड़ी दूरी पर भारती ईसाइयों की बहुत साफ सुथरी एक बसती बसी हुई है। वे लोग

हमारा आना सुन कर आए और बसती दिखाने के लिए हमें अपने साथ ले गए। ठीक पौने चार बजे हम आश्रम में वापस आए। उस समय गुरु देव भूगर्भ से बाहर निकल कर लकड़ी से बने हुए एक बड़े छत्र के नीचे चारपाई पर विराजमान हो चुके थे। काफी लम्बा स्त्री का कलेवर था। तेजस्वी चेहरा अग्नि की भान्ति दमक रहा था। राम नाम अंकित ओढ़नी ओढ़े हुए थे। मुसलमान गूजर के घर में जन्म हुआ था। हमें आयु एक सौ बीस वर्ष की बताई गई थी जो ठीक ही मालूम होती थी। मुझे चारपाई के पाए के समीप बैठने का इशारा हुआ। और शेष सब लोग दूर घेरे में बैठकर सस्वर निराकार पर-ब्रह्म सम्बन्धी भाव-भीने-भजन गाने लगे। एक घण्टा तक अमृत वर्षा हो चुकने पर गुरुदेव ने धीमे स्वर से मेरे कान में कहा कि आज आप यहीं ठहरो। मैंने उत्तर दिया गुरुदेव ! मैंने कैण्डुवाल में अमर सिंह के घर रात रहने के लिए सन्देश भेजा हुआ है। वे बोले—यह तो ठीक है वहाँ पर आप के ठहराने का प्रबन्ध भी किया जा रहा है और वे लोग बड़ी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा भी कर रहे हैं। परन्तु अब आप जाओगे कैसे ? उन के ऐसा कहते ही एक ऐसी हवा चली कि जिस के प्रभाव से तत्काल सारा आकाश गूढ़े घने काले मेघों से आच्छादित हो गया। और दो घण्टे मूसलाधार वर्षा होती रही। पर्वत की खड्डें जल से अच्छी तरह से परिपूर्ण हो गईं। उस समय गुरुदेव फिर बोले—अब जाओगे कैसे ? मैंने उत्तर दिया—आप गुरुदेव की कृपा से। यह सुन कर उन्होंने जो कुछ कहा। उसे मैं पूरी तरह से सुन और समझ न सका। परन्तु सब मेघ क्षण भर में ही कहीं उड़ कर लुप्त हो गए मार्गों का सारा पानी बह कर कहीं चला गया। सूर्य अस्ताचल के समीप पहुँचा हुआ दिखाई देने लगा। फिर उन्होंने मेरे कान में निज-शरीर को त्यागने की तिथि कही। सूर्य अस्त हो गया। एक साधु ने उनका इंगित पाकर मेरा साईकल खड्ड में उतार दिया। मैं उन को नमस्कार करके साईकल पर चढ़ा तो क्षण भर में चार मील दूर मैली ग्राम के कूएँ पर था जहाँ बहुत सी लड़कियां जल भर रहीं थीं। और एक लड़की जल पूर्ण पात्र लिए मेरी प्रतीक्षा में खड़ी थी वह बोली गुरुदेव ने आप के पीने के लिए पानी भेजा है। मैं चकित तो पहले ही था। पानी पिया और साईकल पर चढ़ गया। पता नहीं पाँच चार मील का शेष सफ़र चार पाँच मिण्टों में ही मैंने पूरा कैसे कर लिया ?। तत्काल मैं अपने सेवक अमर सिंह के द्वार पर पहुँच गया। मुझे अपने साथी का कोई पता न चला कि वह कहाँ रह गया है। दूसरे दिन उस ने बताया कि अधिक अंधकार होने के कारण मैं तो आश्रम में ही रह गया था। गुरुदेव अपनी निर्धारित तिथि पर देह त्याग कर ब्रह्मलीन हो गए। उनके संसार से चले जाने पर इस पद की सत्यता का अनुभव हुआ—

"पहले आती थी हाले दिल पर हँसी।
अब किसी बात पर नहीं आती ॥"

और भी बहुत से ऐसे महात्माओं के साक्षात्कार हुए जो स्वयं भी मुक्त हुए और दूसरों को भी प्रभु का प्रिय बना कर मोक्ष-मार्ग पर चले गए ॥

कहते हैं कि एक लाखों पति सेठ जी थे जिन के घर में धर्म कर्म का लेश मात्र भी न था । दान देने और कथा श्रवण करने से उस के घर के सब लोग डरे हुए घोड़े की भान्ति दूर भागते थे । देव-पूजन अर्चन और यज्ञ हवन करने से वे सब अनभिज्ञ थे । पाप कर्मों में रत थे । उस के केवल एक ही पुत्र था । इस डूबते हुए वंश को देखकर किसी धर्मात्मा सेठ के अन्त:करण में दया का आविर्भाव हुआ । जिस से उसने अपनी धर्मात्मा और प्रभु-भक्त-पुत्री सेठ जी के पुत्र से व्याह दी । जब बहू घर में आ गई । तो उस ने अपनी प्रभु-भक्ति से इस वंश के सुधार का प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया । एक वर्ष व्यतीत हो गया । एक दिन वह लड़की अपने आंगन में मार्जन कर रही थी उस ने देखा कि भिक्षा के लिए द्वार पर एक महात्मा खड़े हैं । और थोड़े अन्तर पर ही उस की सास बैठी है । उस ने मुख से पर्दा उठाया और दोनों हाथ जोड़ कर महात्मा को नमस्कार किया और मधुर वचन बोली—महात्मन् ! आप को देने के लिए इस घर में कुछ नहीं है । यह सुन कर साधु बोले—तो पुत्री ! आप क्या खाते हैं ? वह बोली—केवल बासी । फिर साधु ने पूछा—पुत्री ! तेरी आयु कितनी है ? वह बोली—बारह वर्ष । तेरे पति की आयु कितनी है ? केवल दो मास । तेरे सास और ससुर कितने कितने वर्षों के हैं ? तब लड़की ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—महात्मन् ! अभी तक तो उन दोनों का जन्म भी नहीं हुआ है । यह सुन कर महात्मा जी वहां से चले गए परन्तु सास जल कर दहकता हुआ अंगारा बन गई । और पति के घर आने पर उस को सब वृत्तान्त कह सुनाया । यह सुन कर उस ने अपनी पुत्र-वधू से कहा कि क्या यह तेरी सास जो कुछ कहती है । ठीक है ?

बहू ने चरण छूकर उत्तर दिया कि पिता जी ठीक है । परन्तु इस का अर्थ और है सो सुनिए—मैंने उस महात्मा को पिता के रूप में देखा था । इस लिए मुँह को नंगा कर लिया था क्योंकि पिता के सामने मुख छुपाना ठीक नहीं है । आप के घर में कभी किसी महात्मा और अतिथि आदि को भोजन-वस्त्र प्रभृति कुछ नहीं दिया जाता है । इस लिए मैंने ठीक ही कहा है कि इस घर में कुछ भी नहीं । मेरी आयु बाईस वर्ष की है परन्तु इसके पहले दस वर्ष बेकार हैं क्योंकि बचपन के कारण उस समय मैं प्रभु को पहचान न सकी थी । मेरे पति देव दो मास से ही प्रभु भक्त बने हैं । इसलिए उसकी आयु केवल दो मास ही गणना के योग्य हैं । और आप दोनों ने आयु भर प्रभु भक्ति नहीं की । इस से सारी आयु व्यर्थ गंवा दी है । इसलिए मेरे विचार में अभी तक

आप दोनों का जन्म ही नहीं हुआ है। इस समय हम लोग केवल उस पुण्य के फल का उपभोग कर रहे हैं जो पूर्व जन्म में किया गया था इसलिए बासी खाते हैं ताज़ा पुण्य तो करते नहीं जिस से "ताज़ा खाते हैं" ऐसा कहना ठीक नहीं है। बहू की इस व्याख्या को सुन कर सास-ससुर की आँखें खुल गईं। पूर्व पुण्य उदय हो गए, जिस से सारा परिवार धर्म, कर्म और दान यज्ञ आदि में प्रवृत्त होकर भगवान् का भक्त और प्रिय बन गया। इस उक्त बहू की तरह महात्मा लोग स्वयं भी प्रभु-प्रिय बन जाते हैं और दूसरों को भी बना देते हैं ॥ १८, १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ॥
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

ये तु धर्म्य+अमृतम्+इदम्+यथा+उक्तम्+पर्युपासते। श्रद्दधानाः +मत्+परमाः+भक्ताः+ते+अतीव मे प्रियाः ॥

ये=(सर्व०) यद्+(पुं०) प्र० ब० व०=जो।

तु=(अव्यय) और।

धर्म्य+अमृतम्=(वि०) धर्माद् अनपेतं धर्म्यं च तद् अमृतं च तद् अमृतत्व हेतुत्वाद्=धर्म से ओतप्रोत का नाम 'धर्म्य' अमृतत्व का हेतु होने से अमृत भी है वह "धर्म्यामृत" है ॥

(श्री स्वामी शंकराचार्य जी)।

धर्मात् अनपेतः, धर्म+यत्=धर्म्य=धर्मयुक्त। (नपुं०) द्विती० ए० व०। धर्म मिले अमृत को। अमृतमय धर्म को।

इदम्=(सर्व०) इदम्+(नपुं०) द्विती० ए० व०=इस को।

यथा=(अव्यय) जैसा।

उक्तम्=√वच्+क्त+उक्त+(नपुं०) द्विती० ए० व०=कहे हुए को। [जैसा पहले या ऊपर कहा गया है, उस को] ॥

पर्युपासते=परि-उप√आस् (अदा० आत्म० अक०, सक०=बैठना)+लट्०, प्र० पु०, ए० व०=अच्छी तरह सेवन करते हैं। भली भान्ति अनुष्ठान करते हैं ॥

श्रद्दधानाः=['श्रत्' एक उपसर्ग जो 'धा' धातु के पूर्व व्यवहृत होता है। √श्री +डति=श्रद्धा, विश्वास।

√धा (जुहो० उभ० सक०=रखना)+शानच्=दधान+(पुं०) प्र०, ब० व०=दधानाः=धारण करते हुए। धारणा करने वाले।] श्रद्धा धारण करते हुए। श्रद्धा ये युक्त हुए ॥

मत्+परमाः=(पुं०) अहम् (अक्षरात्मा) परमो (निरतिशया गतिः) येषां ते (बहुव्री०)=मैं परब्रह्म-परमात्मा जिन की परम-गति हूँ, वे भगत लोग। प्र०, ब० व०। मेरे परायण हुए। मुझ को परम आश्रय मानने वाले।

भक्ताः=(वि०, पुं०)√भज्+क्त=भक्त+प्र० ब० व०=भक्ताः। मुझ को भजते हुए। भक्त लोग ॥

ते=(सर्व०) तद्+(पुं०) प्र० ए० व०=वे ॥

अतीव=(अव्यय) अत्येव इव, अवधारणे प्रा० स०। बहुत ही। अतिशय ॥

मे=(सर्व०) अस्मद्+षष्ठी० ए० व०=मे, मम=मेरे।

प्रियाः=(पुं०) प्रिय+प्र० ब० व०=प्यारे हैं। प्रिय हैं ॥

अर्थ—और जो श्रद्धा को धारण किए हुए, मेरे परायण हुए भक्त लोग इस उपर कहे अमृतमय धर्म को अनुष्ठान करते हैं। वे मेरे अत्यन्त प्रिय हैं ॥ २० ॥

व्याख्या—श्लोक १३ से १९ तक सिद्ध-भक्तों के लक्षण कहे गए हैं। जिन को जन-साधारण की भाषा में मस्त या मलंग कहा जाता है वास्तव में ये लोग जीवन-मुक्त पदाधिकारी होते हैं क्योंकि ये लोग अपने जीवन-काल में ही ब्रह्म और अपने मध्य से शरीर या देह रूपी पर्दे को हटा कर जगत्-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। इनका शरीर तो साथ जुड़ा हुआ भासमान ही होता है परन्तु उनके अपने विचार में उसका कोई मूल्य नहीं होता है। वे तो सदा देह के भीतर बाहर ओत-प्रोत भगवान् को सब जगह जलवागर देखते हैं और किसी बात या दुःख-सुख आदि की कोई परवाह नहीं करते। जब तक उनके शरीर जीवित रहते हैं। तब तक वे लोगों की दृष्टि में देहधारी परमेश्वर ही प्रतीत होते हैं। इस लिए भगवान् ने अर्जुन को यह बात समझाने के लिए उस के सम्बन्ध में "अतीव प्रिय" कहा है, क्योंकि वह अभी संसार में जाग रहा है और ये मलंग संसार में सो कर केवल ब्रह्म में जाग रहे हैं इसलिए "अतीव प्रिय" माने गए हैं। इन मलंगों में ऊपर कहे गए सब लक्षण स्वाभाविक ही होते हैं। इस लिए उन में उन गुणों का दृष्टिगोचर होना कुछ भी आश्चर्यजनक बात नहीं है। एक बड़ी बात यह भी है कि इन भक्तों का भगवान् से स्थायी तादात्म्य सम्बन्ध स्थिर हो जाता है। यों तो माता पिता को छोटे बड़े अपने सब बच्चे प्रिय होते हैं। परन्तु नन्हा शिशु अतीव प्रिय होता है। क्योंकि वह केवल उन हीं के आश्रित होता है। इसी प्रकार जिन एक-निष्ठ साधक भक्तों को अभी तक भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं परन्तु वे इन उक्त श्लोकों में कहे हुए पवित्र अमृत रूप धर्म को ईश्वर के परायण रह कर श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते हैं और अजस्र भगवान् के दर्शन करने के प्रयास में

तत्पर रहते हैं। वे श्रद्धा और विश्वास के बल से अपने मोक्ष रूप लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर होते चले जाते हैं। इसी कारण से वे भक्त-वत्सल भगवान् को अतीव प्रिय होते हैं। यह अतीव प्यार ही अन्त में उन का भगवान् में पूर्ण मेल करा देता है ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

[इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् से गाए हुए (कहे हुए) उपनिषदों के सम्बन्ध में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत, योगशास्त्र-विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में "भक्ति-योग" नामक बारहवाँ अध्याय कथित हुआ है ॥

॥ ॐ सत्सत् ॥

शुभम् । मंगलम्

शुद्धि पत्र

सज्जन पाठक वृन्द ! अशुद्ध शब्दों को शुद्ध करके पढ़ने की कृपा करें

पष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२	व्यक्ति	व्यक्त
४	३४	पत्र	पुत्र
६	५	मनष्य	मनुष्य
९	३	वाय:	वायु:
९	७	बध	बुध
१०	७	हाकरा देश:	हकारादेश:
१०	३३	सकती	सकतीं
१३	१२	का	कर
१३	१६	द्वीयं	द्वीयं
१३	२२	ख	खं
१४	२६	का	की
१५	२१	मत:	मत्त:
१९	३	शातलता	शीतलता
२१	३०	है	ही
२३	१०	ऋषभ: !	ऋशभ !
२३	३४	वान	वान्
२४	८	नहां	नहीं
२४	१३	हा	ही
२४	२४	नञ्	नञ्
२६	११	प्रतीत	अतीत
२७	१	त्रिभिगु	त्रिभिर्गुं
२८	१७	मेरा	मेरे
२८	१७	है	हैं
२८	१९	शक्ति	शुक्ति
३५	२४	अथ	अर्थ
३६	६	शाल	शील
३६	३४	मझ	मुझ
३७	४	स्वप	स्वरूप
३७	८	दयाल	दयालु
३७	९,११	भगवान	भगवान्

पष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७	३४	हा	ही
४६	९	ह्र्ं त	ह्र्ंत
४७	६	जन्मातर	जन्मान्तर
४७	१०	स्वभानुसार	स्वभावानुसार
४९	१०	रमात्मा	परमात्मा
५०	२५	पद्मास	पद्मासन
५१	७	न मी	नमी
५१	१२	तया—	तथा=
५४	१२	मर्त	मर्त्य
५९	१९	(अपनी	(अपनी)
६०	१४	दृष्टिगोचर	दृष्टिगोचर या
६३	६	जो	सो
६६	१	पुण्यों	पुण्य
६६	२०	व	व०
६७	३१	ि गु ण	निर्गुण
६८	५	यु क्त	युक्त
६९	११	हे ने	होने
७३	२	कर्म क्या है	—
७५	३	सर्वोत्कृत्ट	सर्वोत्कृष्ट
८२	१७	स्म्	स्मृ
८२	३३	संशय	संशयः
८४	२४	वापि	वाऽपि
८४	२४	स्मरणन्भावं	स्मरन्भावं
८४	२६	स्मरण्	स्मरन्
८४	२७	भावतिः	भावितः
८७	१५	अणु	अण्
८८	?४	रनेकहा	रहने का
९०	२७	र्णं	र्नं
९५	२	वर्ण	वर्णं
९५	३०	लो ा	लोग
९७	२२	ब्र	ब्रू
९८	२	वचनों ब्रह्म	वचनों से ब्रह्म
९८	२७	रं	रं
९९	२२	ानरुध्य	निरुध्य
१०८	१३	उसने	×

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११२	२१	ब्रह्मा के)	(ब्रह्मा के)
११३	६	आन	मान
११४	४	ञ्रह्मा	ब्रह्मा
११४	५	ब्रह्मा	ब्रह्म
११४	९	ब्रअलोक	ब्रह्मलोक
११५	१०	कर्मभ्य	कर्मभ्यो
१२९	२८	धूम	धूमा
१३०	९	प्रफार	प्रकार
१३०	१३	शुक्राण	शुक्राणु
१३०	१७	लेते ।]	लेते हैं ।]
१३२	१४	प्रयात:	प्रयाता:
१३३	२०	१/३०	$\frac{१}{३०}$
१३४	५	१८६००	१८६०००
१३४	१७	ती ों	तीनों
१३५	८	यद्ध	युद्ध
१३६	१६	कृत्‍ण	कृष्ण
१३६	२७	ध्रुप	ध्रुव
१३७	१४	काण्ड	काण्डी
१३७	१५	क र्ि	कर्म
१३८	२	यञ्जना	व्यञ्जना
१३८	२१	मेरा	मेरी
१३८	२१	—ी	की
१३९	७	क	के
१३९	३३	—ई	हुई
१४०	३२	जाती	जाता
१४१	६	जाता	जाता है ।
१४१	२४	जन	जन्म
१४४	८	सयो	समयों
१४४	१२	ऊद्यम	उद्यम
१४९	५	से	×
१५०	८	वेद	उद्
१५०	२०	यन्	यत्
१५२	११	शाश	नाश

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५४	५	नान	नानक
१६०	६	मस्स्थानि	मत्स्थानि
१६२	१६	मास्तव	वास्तव
१६२	२४	कवल	केवल
१३३	११	९	६
१६३	२४	०	प्र०
१६४	१३	तरा	तारा
१६४	२९	सर्वज्ञ	सर्वत्र
१६५	३०	हो जाता है	हो जाती है
१६८	२७	बीचों	बीजों
१६९	२	वनस्पति	वनस्पति उत्पन्न
१६९	१३	माम् तानि	माम्+तानि
१६९	१४	असक्तम् तेषु	असक्तम्+तेषु
१७०	६	जा	जो
१७०	२४	किस	किसी
१७१	२२	प्रकुति:	प्रकृति:
१७२	१	सूयत	सूयते
१७५	२	गेरे	मेरे
१७५	३	र्ख	मूर्ख
१७५	४	ुच्छ	तुच्छ
१७६	१	मनि	मुनि
१७७	२	श्रित:	श्रिता:
१७७	२४	डभ०	उभ०
१७९	३०	बैटे	बैठे
१८१	११	हैं ॥	हैं] ॥
१९१	३०	प्रभु.	प्रभु:
१९६	४	हुआ	हुआ)
१९९	२२	निलित्त	निमित्त
२०१	३	मत्ये	मर्त्यं
२०१	३१	पुक्त	युक्त
२०२	४	कोवे	कौवे
२०२	३५	उनस काम	उन सकाम
२०५	४	वि०	(वि०
२०५	१५	थान्य	धान्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०६	२५	आप=भी	×
२०७	२१	शिब	शिव
२०८	७	द्रवचा	द्र्याच
२०९	१४	यच्छा	यच्छ्रा
२०८	१६	ह्नन	येन
२०९	१६	अबतार	अवतार
२०९	३०	हो है।	ही है।
२१३	१२	(मरकर	(मरकर)
२१६	१४	शाकपान	शाकपात
२१७	२७	कोन्तेय !	कौन्तेय !
२१८	१०	ए० व०=	×=
२२१	२४	हो	ही
२२१	३३	प्राणियो	प्राणियों के
२२६	१७	ओर	और
२२७	३१	स	से
२३०	४	श्वपाकानापि	श्वपाकानपि
२३०	२९	=	=(
२३१	८	ब	व०
२३३	७	क्यों न	क्यों
२४०	११	में	मैं
२४१	२२	भबन्ति	भवन्ति
२४१	२६	वियेष	विशेष
२४४	२	अज्	अच्
२४६	१२	महर्षि के	महर्षियों
२४६	२२	मन	मनु
२४७	१२	महर्षितों	महर्षियों
२४८	१८	मे=वेरी	मे=मेरी
२४९	२८	में	मैं
२५१	३१	मदग प्राणा	मद्गत प्राणा
२५२	२	अर्थाथ्	अर्थात्
२५६	४	अर्थ	अर्थ्
२५६	१०	मिथ्य	मिथ्या
२५६	३२	पुक्त	युक्त
पृष्ठ २४५—२६ शीर्ष		नवम अध्याय	दशम अध्याय
२५९	९	नोर	और

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५९	२५	से	भी
२६१	३१	स्वरूप	स्वस्वरूप
२६४	१०	=	×
२६४	१९	(पु०)	(पुं०)
२६५	२४	मृत्य	भृत्य
२६६	२५	शक्ती	शक्ति
२७१	२१	योगिन	योगिन् !
२७३	२१	॥ १८ ॥	॥ १९ ॥
२७३	२७	कय्	कथ्
२७४	१	प्राधानत:	प्राधान्यत:
२७५	२	यज्ञ	यक्ष
२७७	१९	अंशुमान	अंशुमान्
२७८	१४	गर्भ पीडा	गर्भ-पीडा
२८२	१३	रुद्रानाम्	रुद्राणाम
२८३	१०	यक्ष	यज्ञ
२८४	१४	है	हे
२८९	१८	यक्ष	यज्ञ
२८९	३१	मिधि	विधि
२८९	३१	पज्ञो	यज्ञो
२९०	१	श्रेष्ठा	श्रेष्ठ
२९०	६	और और	और
२९०	२५	प्राणा	प्राणी
२९१	१८	वृक्षणाम्	वृक्षाणाम
२९१	२०	यन्त्र	मन्त्र
२९२	७	एक	एव
२९३	१६	नाराणाम्	नराणाम्
२९३	१८	व	व०
२९४	२५	चाबुधं	चांबुधे
२९६	१२	ये	यह
२९८	५	के	के लिये
३०१	३१	जाता में	जाता है
३१३	४	सल	सब
३१४	१९	लोर	लोग
३१६	१७	वष	वर्ष

पष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१६	३४	मन्त्री	मन्त्रों
३१७	६	मे	में
३१७	२८	हुआ अच्छी	हुआ भोजन अच्छी
३१९	३५	कि कि	कि
३२०	२	भा	भी
३२०	५	हाती	होती
३२६	१०	रो	×
३२६	११	विस्त मवा	विस्तरोमया
३२७	१८	एक	एव
३२७	१८	अवगच्छत्वम्	अवगच्छ त्वम्
३२९	३३	तृ (ती०	तृती०
३३०	१५	विभ्तार	विस्तार
३३४	१८ से बाद १९ से पहले)		॥ १ ॥
३३५	३०	चित	चि
३३६	१५	यद्=थाल	यद्+थाल्
३३७	२६	अन्त में ॥ ३ ॥	× ॥ ३ ॥
३४०	२६	में	मैं
३४४	२८	आंख	आंख के
३४४	२९	उत्तच	उत्तल
३४५	२७	परण्तु	परन्तु
३४६	६	विद्युती	विद्युतो
३४८	४	निकल	निगल
३४८	२०	(वि)	(वि०)
३४८	२४	रूप	रूपे
३४९	२९	सकती।	सकती है।
३५०	३२	सकता	सकता है
३५४	३२	सवां	सर्वां
३५४	३३	ब्रह्माणा	ब्रह्माण
३५४	३६	स्थश्	स्थम्
३५५	१०	भत	भूत
३५५	१३	विभक्ति	विभक्त
३५६	३	त्रिष्णु	तथा विष्णु को
३५७	७	परमात्मान्!	परमात्मन्!

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५८	२४	अर्क	अर्कः
३५९	३	जटिल	जटित
३५९	३	बहुमल्य	बहुमूल्य
३५९	१५	त्वमव्य:	त्वमव्यय:
३६०	५	शाश्वत्(	शश्वत्(
३६१	१८	परमधर	परमघर
३६३	१५	दिशा:	दिश:
३६३	२२	मधवर्ती	मध्यवर्ती
३६५	३०	सु०	सु
३६६	२	महा	मह
३७०	११	बाहु-बाहु	बहु-बाहु
३७२	९	देदीव्यमान्	देदीप्यमान्
३७२	२५	ा ुझ	तुझ
३७३	३३	ओर	और
३७४	९	समानों (सदृशों प्रज्वलितों)	समान (सदृश प्रज्वलित)
३७५	५	हे भगवान् !	हे भगवन् !
३८२	२९	सन्मतात्	समन्तात्
३८३	२२	तजस्	तेजस्
३८४	२४	महत्ती	महती
३८४	२५	जगन्ननाथ	जगन्नाथ
३८७	३	+प्रवृध	प्रवृद्ध
३८७	६	समू	सम्
३८७	१८	करणादि	कर्णादि
३८८	१५	हा	ही
३९१	२६	दु:शाला	दु:शला
३९१	२२	गए हैं ।]	गए हैं, ऐसा मैं समझता हूँ ।]
३९२	२४	विधि	विधि०
३९२	२७	आत्मा०	आत्म०
३९४	३२	स्वं०	स्वा०
३९५	३	त्राम	नाम
३९७	६	जगा	जग
४०५	१९	नवस्कार	नमस्कार

पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१०	२३	हूँ ॥	हूँ] ॥
४१०	२४	रूप	रूप को
४१०	३०	पुकारना	पुकारता
४११	३५	में	मे
४१२	९	कुत्तो	कुतो
४१३	१३	अतुल्य	अतुल
४१४	६	= = =	+ + +
४१४	१०	सो ु म्	सोढुम्
४१५	२७	आत्म	आत्म०
४१६	१३	प्रमी	प्रेमी
४२५	३०	अन्येक	अन्येन
४२७	१७	स्वाभाव	स्वभाव
४२८	५	(सबं)	(सर्वं)
४२९	३१	अवशासन	आश्वासन
४३१	२८	(अव्ययय)	(अव्यय)
४३१	३१	वृच्	वृत्
४३४	१४	अर्थ	अर्थ—
४३७	१७	मुझे	मुझ
४४०	२५	निवर	निडर
४४५	१७	रूप	रूप का
४४७	१	वहात्मा	महात्मा
४४७	१३	सनि	सन्नि
४४७	१३	पाम्	माम्
४४७	३०	व्यज्यने	व्यज्यते
४४७	३२	पर्य	पर्यु
४४८	८	पु	पुं
४५६	२१	थोड़ी	थोड़ी भी
४६०	१९	वं	व०
४६८	२६	उवसर्ग	उपसर्ग
४६९	१	सभे	समे
४६९	७	वि '	वि०,
४७७	१५	मेरे भक्त को	×